समाजवाद से सर्वोदय तक

आधुनिक सामाजिक एवं राजनीतिक विचारधाराओं का विवेचनात्मक अध्ययन

धर्म नारायण मिश्र
एम. ए., पी-एच.डी.

राजनीति शास्त्र विभाग
गवर्नमेन्ट कॉलेज, अजमेर

अनुराग प्रकाशन, अजमेर

प्रकाशक
वि. ल. मिश्र, एम. ए.
अनुराग प्रकाशन
अजमेर

वितरक:
मिश्रा ब्रदर्स
पुरानी मन्डी, अजमेर

प्रथम संस्करण :
1972–73

मूल्य : 20.00

मुद्रक:
नेशनल प्रेस, अजमेर

श्रद्धार्पण

स म र्पि त

गुरु और गोविन्द

दोनों को

ही

प्रवेश

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। चिन्तन उसकी मूल प्रवृत्ति है। यही गुण तो मनुष्य और पशु मे भेद स्थापित करता है। किन्तु मनुष्य से पाशविक प्रवृत्ति का अन्त नहीं हुआ है। यह पशु-पक्ष किसी न किसी रूप में अपने लिए विचार या व्यवहार मे उद्बोधित करता है। यही कारण है कि चिन्तन इतिहास में हमें अच्छी-बुरी, प्रगतिशील और विध्वंसक सभी प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं।

'आइडियोलॉजी' (Ideology-विचारधारा) शब्द का निर्माण सर्वप्रथम फ्रान्सीसी दार्शनिक डेस्टट द ट्रेसी (Destutt de Tracy) ने लगभग अठारहवीं शताब्दी के अन्त में किया था। विचारधारा से उसका तात्पर्य असंदिग्ध सत्य से था।[1] इसके बाद यह शब्द अधिक लोकप्रिय होता चला गया। नेपोलियन, कार्ल मार्क्स आदि ने अपने विचारों को विचारधारा का आवरण पहनाने का प्रयत्न किया।

विचारधारा की प्रकृति के विषय में कई दृष्टिकोण हैं। इसे एक आधुनिक विकास माना जाता है, जो सम्भवतः सही नहीं है। इसे धर्म-निरपेक्ष स्वभाव का कहा जाता है, इसे एक वैज्ञानिक विवेचन भी स्वीकार किया जाता है। विचारधारा के विषय मे इतने विचार उपलब्ध हैं, जिनमें इतना परस्पर-विरोध है कि इसके सही अर्थ और महत्व को पूर्णतः और स्पष्टतः समझना असम्भव सा हो गया है।

1. Preston King, An Ideological Fallacy in Politics and Experience, edited by Preston King and B. C. Parekh, Cambridge, 1968, p. 341.

'विचारधारा' शब्द की व्यापक व्याख्या हुई है। स्ट्रॉस-ह्यूप एवं पॉसनी ने 'विचारधारा' को सिद्धान्तों और प्रतीकों का समूह बतलाया है। इसमें विश्व का सामाजिक समाज के साथ-साथ भविष्य के आदर्श समाज या राज्य व्यवस्था का विवरण रहता है, जिसके अनुरूप समाज की व्यवस्था की जाय।[2] डेनियल बेल के मतानुसार विचारधारा का अर्थ विचारों का समाज मे प्रभाव उत्पन्न करने वाले साधनों मे परिवर्तित करना है। एक विचारक के लिए सत्य उसके कार्य में निहित रहता है।[3] विभिन्न विश्वासों की भाँति विचारधाराएं विश्व मे 'कारण और परिणाम' के व्यावहारिक सिद्धान्त तथा मानव स्वभाव की व्याख्या है।[4]

विभिन्न विद्वानों द्वारा विचारधारा का अर्थ पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाया है। उनके शब्दों में विचारधारा का दार्शनिक जटिलता और भी बढ़ जाती है। विचारधारा विचारों का विज्ञान है। जिसके अन्तर्गत मानव-स्वभाव और सामाजिक परिवर्तनों की व्याख्या के साथ-साथ भविष्य में आदर्श समाज की व्यवस्था तथा उन व्यवस्था की प्राप्ति के लिये साधन-पद्धति का समावेश रहता है। इस सन्दर्भ में बहुत कम ऐसी विचारधाराएं हैं, जो पूर्ण विचारधाराओं की श्रेणी में सम्मिलित की जा सकें।

आधुनिक युग में विचारधाराओं का अत्यधिक महत्व है। राष्ट्रीय शक्ति के साधनों का किस प्रकार प्रयोग किया जाय, उन्हें शक्ति के रूप में किस प्रकार परिवर्तित किया जाय, इनका मार्ग दर्शन विचारधाराएं ही करती हैं। किसी भी देश की राजनीतिक व्यवस्था तथा आर्थिक विकास उस विचारधारा पर आधारित रहता है जिसका कि वह देश पालन करता है। विचारधारा देश की एकता बनाये रखने में भी सहायक होती है। सोवियत संघ मे कई राष्ट्रीयताएं निवास करती हैं, किन्तु साम्यवादी विचारधारा उन्हे एकता के सूत्र में पिरोये हुए है।

व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय आचरण और व्यवहार का भी विचारधाराओं द्वारा निर्धारण होता है। क्या वांछनीय है, क्या त्याज्य है, यह सब विचारधाराओं के सिद्धान्त सूत्रों का आधार मानकर सोचा एवं समझा जाता है। अन्य शब्दों में, अच्छे-बुरे का निर्णय करने के लिये विचारधाराएं नैतिक माप-दण्ड प्रदान करती हैं। फासीवाद, नात्सीवाद, साम्यवाद आदि विचारधाराएं कहाँ तक अच्छी या

2. Strausz Hupe and Possony, International Relations, pp. 417–18.
3. Daniel Bell, The End of Ideology, pp. 370–71.
4. Ideology, Lane, Robert E., Political p. 15.

दुरी हैं, हम लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर ही कह सकते हैं, क्योंकि लोकतान्त्रिक विचार-पुञ्ज ही हमारे चिन्तन का आधार हैं। इसी प्रकार दूसरी विचारधाराएं भी लोकतान्त्रिक विचारधाराओं की समीक्षा करती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास में विचारधाराओं का विशेष योगदान रहा है। विश्व में जो भी प्रगति एवं विप्लव हुए हैं, उनके पीछे कोई न कोई विचारधारा रही है। मध्य युग में धार्मिक युद्ध, फ्रान्स की क्रान्ति, रूस की क्रान्ति आदि विचारधाराओं से ही प्रेरित थीं। आज की विचारधाराएं किसी एक राष्ट्र की सीमाओं तक ही सीमित नहीं रहतीं, वे राष्ट्रीय सीमाओं को लांघ-कर अन्य राज्यों के लोगों को प्रभावित करती हैं। साम्यवाद, पूंजीवादी-लोकतन्त्र, लोकतान्त्रिक समाजवाद किसी एक देश की ही धरोहर नहीं हैं, ये पूर्णतः अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराएं हैं। सामान्यतः यह माना जाता है कि यदि राज्यों में राष्ट्रीय हितों का कोई विशेष संघर्ष नहीं है, तब एक ही विचारधारा के समर्थक राज्यों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्वाभाविक है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में परस्पर-विरोधी, स्पर्धा-लीन विचारधाराओं ने सदैव तनाव एवं संघर्ष को प्रोत्साहित किया है। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त शीत-युद्ध के प्रादुर्भाव एवं विकास में पूंजीवाद और साम्यवाद के परस्पर-विरोध की प्रमुख भूमिका रही है। आक्रामक विचारधाराएं जैसे फासीवाद, नात्सीवाद, साम्यवाद विस्तारवाद पर जीवित रही हैं, जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कई संकट उत्पन्न किये हैं।

विदेश नीति के सन्दर्भ में प्रोफेसर हेन्स मॉरगेन्थो (Hans J. Morgenthau)[5] ने विचारधाराओं के दो प्रमुख कार्यों का उल्लेख किया है। प्रथम, विचारधारायें राष्ट्रीय हैं और इस प्रकार आवश्यक हितों की श्रेणी में आती हैं। ये राष्ट्रों की सांस्कृतिक धरोहर होती हैं, जिनकी सुरक्षा एवं संरक्षण के लिये देश युद्ध करने के लिये भी तत्पर रहते हैं। 1962 में भारत-चीन युद्ध; 1965 और 1971 में भारत-पाक युद्धों के समय हमारे नेतृत्व ने समय-समय पर इसी विचार की पुनरावृत्ति की, कि हम पर ये युद्ध थोपे गये थे तथा हम अपने उद्देश्य, संस्कृति, जीवन-पद्धति की रक्षा के लिये सब कुछ करने को तत्पर हैं। वास्तव में यह सत्य भी है। भारत ने ये युद्ध किन्हीं आदर्शों की रक्षा के लिये, विस्तार-वाद और सैनिकवाद के विरुद्ध लड़े।

---

5. Morgenthau, Hans J., Politics Among Nations, Chapter 7, The Ideological Element in International Policies.

एक दूसरे तत्व की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए प्रोफेसर मॉरगेन्थो का कहना है कि आजकल की विश्व राजनीति में राज्य विचारधारा का प्रयोग आवरण के रूप में अपने गलत विचारों और कार्यों को छुपाने के लिये करते हैं। इसलिये आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कथनी और करनी में व्यापक अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इंग्लैण्ड ने प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्धों को शान्ति एवं विश्व में आत्म-निर्णय तथा लोकतान्त्रिक शक्तियों को सुदृढ़ करने की बात कही थी। लेकिन यह भुलावा था। यह सभी जानते थे कि इंग्लैण्ड साम्राज्यवादी देश था तथा अपने उपनिवेशों में लोकतन्त्र सिद्धान्तों का ही गला घोंट रहा था। लेकिन फिर भी अपनी नीच नीतियों पर आवरण डालने के लिये विचारधाराओं का प्रयोग किया गया। शान्ति के लिये भयानक विश्व-संहारक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण की बात कहना, लोकतन्त्र की रक्षा के लिये वियतनाम में निरन्तर अमरीकी बम्ब बरसते रहना, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिये पूर्वी यूरोप के राज्यों में रूस का समय-समय पर हिंसात्मक हस्तक्षेप इसी श्रेणी में आते हैं। बहुत से राज्य अपने कुकर्मों पर विचारधाराओं से सफेदी करने का प्रयत्न करते हैं।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि वास्तविकता को समझने के लिये आज के युग में विचारधाराओं का कितना महत्व है तथा उनका अध्ययन कितना आवश्यक हो गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में केवल आधुनिक विचारधाराओं का ही सामावेश किया गया है। ये समस्त आधुनिक विचारधाराएं या तो समाजवाद के विभिन्न सम्प्रदाय हैं या किसी न किसी रूप में समाजवाद से सम्बन्धित हैं। समाजवाद ही इन सभी विचारधाराओं में सामान्य सूत्र है। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में आज के युग को समाजवादी युग कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। आजकल प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक राज्य किसी न किसी पक्ष को लेकर समाजवादी है।

भारतीय लोकतन्त्र में धर्म पर सबसे प्रबल प्रहार हुआ है। वैसे हम धर्म-निरपेक्षता के हामी हैं, लेकिन सामान्यतः हमारी धर्म-निरपेक्षता गैर-धार्मिक है। शैक्षणिक संस्थाओं में भी धर्म-सिद्धान्तों की शिक्षा को हम धर्म-निरपेक्षता पर न्योछावर कर रहे हैं। हम यह भूल जाते हैं कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था की सफलता नागरिकों के नैतिक स्तर पर निर्भर करती है। तथा इस नैतिकता को धर्म-सिद्धान्त ही प्रदान कर सकते हैं। हमारे सामने सबसे बड़ा संकट 'चरित्र संकट' (crisis of character) है जो हमारी राष्ट्रीय प्रगति में बहुत बड़ा रोड़ा माना जाता है। जब तक हम धर्म-सिद्धान्तों की महत्ता को नहीं समझते तब

तक यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि गांधीवाद का अध्ययन हमारी शैक्षणिक संस्थाओं में अत्यन्त आवश्यक है। गांधीवाद के अतिरिक्त सम्भवतः ही कोई ऐसा 'वाद' हो जिसमें नागरिकों के नैतिक-स्तर तथा आत्म-बल की अभिवृद्धि करने की क्षमता हो। इसलिये, भारत में ही नहीं, अपितु जहाँ पर भी लोकतान्त्रिक व्यवस्थाएं हैं, गांधीवाद के अध्ययन की अवहेलना करना, चरित्र संकट में वृद्धि करना ही होगा।

हिन्दी भाषी पाठकों के लिये अच्छी पाठ्य पुस्तकों की अति आवश्यकता है। सम्भवतः यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी भाषी लेखकों ने इस उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह नहीं किया है। अंग्रेजी भाषा में कुछ पुस्तकें अवश्य ही उत्तम हैं। एलेग्जेन्डर ग्रे, कोल, लास्की, फ्रान्सिस कोकर, जोड, सेबाइन, गैटिल आदि के ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं। अंग्रेजी में लिखे गये ये ग्रन्थ हिन्दी भाषी पाठकों को अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी स्तर से ऊपर अवश्य ही प्रतीत होंगे। ये ग्रन्थ पढे जायं, इसलिये इनमें से बहुतों का हिन्दी में अनुवाद भी हो चुका है। किन्तु हिन्दी अनुवाद सामान्यतः इतने क्लिष्ट हैं कि समस्या को सुलझाने के स्थान पर इन अनुदित पुस्तकों को समझना ही एक समस्या बन गया है। प्रस्तुत पुस्तक की रचना में यह भी एक उद्देश्य रहा है कि इन श्रेष्ठ लेखकों के विचारों को सरलतापूर्वक, साधारण किन्तु उपयुक्त भाषा में प्रस्तुत किया जाय।

पुस्तक की रचना में कई महत्वपूर्ण ग्रन्थो की सहायता ली गई है। इन ग्रन्थों का स्थान-स्थान पर 'पृष्ठ-पग' (foot notes) में उल्लेख है। प्रत्येक अध्याय से सम्बन्धित विशेष और व्यापक अध्ययन के लिये सभी अध्यायों के अन्त में कुछ पाठ्य-ग्रन्थों की सूची भी दी गई है, जो आवश्यक एवं उपयोगी सिद्ध होगी। किन्तु व्यापक एवं सम्पूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची इस पुस्तक के अन्त में दी गई है। यह सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची सम्भवतः सब दृष्टि से पूर्ण है।

चूंकि, यह पुस्तक उपयोगी अंग्रेजी ग्रन्थों पर आधारित है, इससे उन ग्रन्थों के कहीं-कहीं अनुवाद करने की समस्या भी उपस्थित हुई। अनुवाद करते समय जहाँ अक्षरशः रूपान्तर नहीं हो सकता, वहाँ भाव को ध्यान में रखते हुए अनुवाद किया गया है। जहाँ तक मूल तकनीकी शब्दों का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यही प्रयत्न रहा है कि वे प्रचलित शब्द जैसे समाजवाद, साम्यवाद आदि जिनसे पाठक पूर्व परिचित हैं, उन्हें वैसा ही ग्रहण किया जाय। किन्तु विशेष शब्दों का अनुवाद न कर हिन्दीकरण किया गया है जैसे—Syndicalism के लिये

'सिन्डीकलवाद' (श्रम संघवाद नहीं), Guild Socialism को गिल्ड समाजवाद (श्रेणी समाजवाद नहीं) का प्रयोग किया गया है। इसका उद्देश्य यही है कि हिन्दी भाषी पाठक मूल शब्द से अलग न हट जाऐ तथा उनसे अनभिज्ञ न रहें।

मेरे गुरुजन मेरे लिये सदैव ही प्रेरणा के स्त्रोत रहे हैं। इसलिये परमपिता परमेश्वर के साथ-साथ मैंने यह पुष्प अपने गुरुजनों को ही श्रद्धाभाव भेंट किया है।

इस पुस्तक की रचना में मुझे अपने गुरु प्रोफेसर ए. बी. माथुर से सर्वाधिक प्रोत्साहन मिला है। विभिन्न विचारधाराओं की जटिलताओं को समझने में उनसे मुझे समय-समय पर मार्ग-दर्शन मिलता रहा, इसके लिये मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धा और आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

विजयादशमी
अक्टूबर 17, 1972.

धर्म नारायण मिश्र

अनुक्रम

1

समाजवाद्

प्रारम्भिक एवं सामान्य विवेचन

समाजवाद उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बहुचर्चित तथा बीसवीं शताब्दी के चिन्तन में प्रमुख स्थान रखने वाली विचारधारा है। यह आधुनिक युग का दर्शन है, नव-चिन्तकों के लिए प्रमुख आकर्षण है। समाजवादी विचारधारा इतनी लोकप्रिय है कि लगभग प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को समाजवादी सम्बोधित किये जाने में गौरवान्वित तथा प्रगतिशील समझता है। प्रतिक्रियावादी एवं समाजवाद के शत्रु हिटलर ने भी अपने दल का नाम 'राष्ट्रीय समाजवादी दल' (National Socialist Party) रखा था।

लगभग सभी लोग इस बात में विश्वास करने लगे हैं कि आज के युग में राज्य को कल्याणकारी बनाने के लिये समाजवाद के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नही है। रेमान्ड ऐरॉन (M. Raymond Aron) ने लिखा है कि पश्चिम में समाजवाद का एक भ्रान्ति (myth) के रूप में अन्त हो गया है एवं यह वास्तविकता का अंग है।[1] पंडित जवाहरलाल नेहरू जब एक बार अमेरिकी यात्रा पर थे, कल्याणकारी गतिविधियों के संदर्भ में यह कह कर कि अमेरिका कई समाजवादी राज्यों से अधिक समाजवादी है, श्रोताओं को आश्चर्य मे डाल दिया। निश्चय ही आज प्रत्येक व्यक्ति तथा राज्य किसी न किसी दृष्टि से समाजवादी है। यह बात आज ही सही नही है किन्तु उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में ही सर विलियम हरकोर्ट (Sir William Harcourt) ने घोषणा की थी कि "अब हम सब समाजवादी हैं"।[2]

समाजवाद की व्याख्या : एक समस्या

समाजवाद क्या है? समाजवाद के कौन-कौन से तत्त्व हैं? इन प्रश्नो का कोई सामान्य या संतोषजनक उत्तर नही दिया जा सकता। समाजवाद एक सिद्धान्त प्रणाली के रूप में जितना लोकप्रिय है उतना ही अनिश्चित है। समाज-

---

1. Aron, M. R., The Century of Total War, Verschoyle, 1954, p. 355.
2. Crosland, C. A. R., The Future of Socialism, p 101.

वाद का अर्थ और विशेषताओं की व्याख्या अनेक चिन्तकों और विद्वानों ने की है लेकिन वे इस विषय पर एकमत नही हैं। यदि उनमें सहमति है तो सिर्फ इस बात पर कि समाजवाद की अन्तिम या निश्चित व्याख्या नहीं हो सकती। वे समाजवाद को परिभाषित करने की जोखिम नहीं ले सकते। समाजवाद की व्याख्या एक समस्या बन गई है।

समाजवाद की व्याख्या स्पष्ट या सही ढंग से नहीं हो सकी या नही हो सकती। इसके निम्नलिखित कारण दिये जाते हैं[3] :—

प्रथम, समाजवाद शब्द का एक विचारधारा और राजनीतिक आन्दोलन, दोनो के ही रूप मे प्रयोग किया जाता है।

द्वितीय, समाजवाद सिर्फ एक विचारधारा मात्र नही है। यह एक आदर्श, एक दर्शन, एक विश्वास, एक जीवन प्रणाली आदि सभी रूपों में प्रयुक्त होता है। जोड (C. E. M. Joad) के अनुसार समाजवादी दर्शन को पूर्णतः या मुख्यतः राजनीतिक समझ लेना त्रुटि होगी। इसका राजनीतिक एवं आर्थिक पक्ष एक दूसरे से घनिष्टतापूर्वक सम्बन्धित है। "इसके केवल राजनीतिक पक्ष का विवरण देना न केवल अव्यावहारिक है अपितु अवांछनीय भी"।[4] वास्तव में आज यह प्रश्न नहीं है कि समाजवाद क्या है किन्तु यह कहना चाहिये कि समाजवाद क्या नहीं है।

तृतीय, समाजवादी बहुत से परस्पर-विरोधी सम्प्रदायों मे विभक्त हैं। ये सम्प्रदाय अपने लक्ष्यों और पद्धतियों में एक दूसरे से सर्वदा भिन्न हैं। इन विचारधाराओं के अलग-अलग स्पष्ट नाम हैं जैसे सिन्डीकलवाद (Syndicalism), गिल्ड समाजवाद (Guild Socialism), अराजकतावाद (Anardeism), साम्यवाद (Communism) आदि। इन सम्प्रदायों के कई प्रवक्ता हैं और प्रत्येक प्रवक्ता के हाथों में समाजवाद भिन्न सिद्धान्त प्रतीत होता है। इस प्रकार हमारे सामने समाजवाद के अनेक भिन्न-भिन्न रूप चित्रित होते हैं। इन समस्त समाजवादी सम्प्रदायों के कार्यक्रमों, साधनों आदि की दृष्टि से यदि समाजवाद के वास्तविक अर्थ तथा रूपों का अध्ययन किया जाये तो यह

---

3. इस सम्बन्ध में देखिये—
   जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ० 33-34;
   Crosland, C. A. R., The Future of Socialism, p 100;
   Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p. 1-2.
4. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ० 33

कह सकना प्रायः असम्भव हो जायेगा कि वास्तव में समाजवाद क्या है तथा किस विचारधारा, आन्दोलन या नीति को समाजवाद कहा जाय। सभी अपने-अपने समाजवाद के वास्तविक होने का दावा करते हैं।

चतुर्थ, समाजवाद के समर्थकों की संख्या लगभग असीमित है। इनके द्वारा इस विचारधारा की इतनी व्यापक और वृहद् सामग्री प्रस्तुत की गई है कि विशुद्ध समाजवाद क्या है, यह बतलाना अत्यन्त कठिन है। संक्षेप में समाजवाद ऐसी टोपी बन गया है जिसकी आकृति बहुत अधिक पहने जाने के कारण बिगड़ चुकी है।"[5]

समाजवाद का सम्बन्ध किसी एक राज्य या महाद्वीप से नहीं है। प्रारम्भ मे अवश्य ही यूरोप मे इसका प्रादुर्भाव हुआ लेकिन अब यह विश्व-व्यापी विचारधारा बन गया है। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त एशिया और अफ्रीका के देश जैसे-जैसे स्वाधीन हुए, लगभग सभी ने अपनी औपनिवेशिक अर्थ व्यवस्था में सुधार करने हेतु समाजवाद का आश्रय लिया। फलस्वरूप एशियाई समाजवाद अफ्रीकी समाजवाद, चीनी समाजवाद, भारतीय समाजवाद, अरब समाजवाद, आदि कई स्थानीय या क्षेत्रीय समाजवादी स्वरूप हमारे सामने आये। इनमें कुछ तो प्रजातांत्रिक राज्य हैं, बहुत से राज्यों में सैनिक तानाशाही है, लेकिन सभी स्वयं को समाजवादी कहते हैं। इस परिस्थिति ने समाजवाद के प्रति भ्रम में और भी वृद्धि की है।

भारतीय समाजवाद का विवेचन भी आसान नहीं है। भारत का कौनसा व्यक्ति या राजनीतिक दल समाजवादी है, तथा किस प्रकार का समाजवादी है, यह बताना असम्भव है। भारत के कई राजनीतिक दलों ने समाजवाद को अपने कार्यक्रम का मुख्य आधार माना है। यहाँ तक कि भारतीय जनसंघ ने भी एक प्रकार से समाजवादी कार्यक्रम स्वीकार किया है। किन्तु इन सभी दलों के सदस्य कुछ बड़े-बड़े पूंजीपति भी हैं। बड़े-बड़े उद्योगपति जो आर्थिक विषमता, शोषण, काला-बाजारी आदि में थोड़ा बहुत योगदान देते है, वे भी स्वयं को समाजवादी कहते हैं। यहाँ का भूतपूर्व नरेश वर्ग भी स्वयं को प्रगतिशील प्रदर्शित करने के लिये समाजवादी आवरण पहनने में कोई संकोच नहीं करता। इन परिस्थितियो के संदर्भ में भारत में समाजवाद व्यावहारिक कार्यक्रम न होकर एक नारा या राजनीतिक फैशन बन गया है। एक साधारण नागरिक यह समझने में असमर्थ है कि देश में कौन प्रगतिशील है, कौन समाजवादी है।

---

5. उपरोक्त, पृ० 34.

इसका तात्पर्य यही हुआ कि समाजवाद का अर्थ सुनिश्चित नहीं है। सम्भवत: क्रॉसलैंड (C. A. R. Crosland) के विचार सही प्रतीत होते हैं कि "समाजवाद का न तो कोई निश्चित अर्थ हुआ है, और न होगा भी"।[6] किन्तु फिर भी यह सर्वग्राह्य विचारधारा है।

परिभाषा

उपरोक्त परिस्थितियों एवं कारणों से यह तो स्पष्ट है कि समाजवाद की कोई निश्चित या सर्व-सम्मत व्याख्या नहीं की जा सकती जो सम्पूर्ण समाजवादी चिन्तन का प्रतिनिधित्व कर सके। लेकिन इसके साथ यह बात भी है कि समाजवाद के कुछ ऐसे तत्व एवं लक्ष्य हैं, जिन्हें अधिकांश समाजवादी वांछनीय मानते हैं। इन आधारों पर कुछ विद्वानों ने इसे परिभाषित करने का प्रयत्न किया है जिससे यदि आंशिक रूप में भी समाजवाद का अर्थ समझा जा सके तो विवेचन की समस्या थोड़ी बहुत हल हो सकती है।

समाजवाद की कई परिभाषाएँ हमारे सामने आती हैं। पेरिस के एक पत्र-Le Figaro - ने 1892 में जब समाजवाद की परिभाषाओं को एकत्र करने का प्रयास किया तो लगभग 600 परिभाषाओं का अस्तित्व पाया गया। डोन ग्रिफिथ्स (Don Grifiths) ने अपनी पुस्तक - What is Socialism : a Symposium (1924) - में समाजवाद की लगभग 261 परिभाषाएे दी हैं। आजकल जिन पुस्तकों में समाजवाद की समीक्षा मिलती है उनमें यही कुछ परम्परागत परिभाषाऐं प्राय: देखने में आती हैं। प्रो० ऐली के मतानुसार "समाजवादी व्यक्ति वह है जो राज्य के अन्तर्गत संगठित समाज को इस दृष्टि से देखता है कि वह आर्थिक वस्तुओं का न्याय संगत वितरण करने, तथा मानवता को ऊंचा उठाने में सहायक हो।" इसी प्रकार अंग्रेज दार्शनिक बर्ट्रेन्ड रसल (Bertrand Russell) के विचारों को उद्धृत किया जाता है जिन्होंने 'समाजवाद को भूमि तथा सम्पत्ति के सामाजिक स्वामित्व का समर्थक बताया है।" एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopaedia Britannica) की बहुचर्चित परिभाषा के अनुसार—

> "समाजवाद उस नीति या सिद्धान्त को कहते हैं जिसका उद्देश्य एक केन्द्रीय लोकतन्त्रीय सत्ता द्वारा प्रचलित व्यवस्था की अपेक्षा धन का उत्तम वितरण एवं उसके अधीन रहते हुऐ धन का उत्तम उत्पादन उपलब्ध करना है।"[7]

---

6. Crosland, C A. R., The Future of Socialism, p. 100
7. Socialism is that policy or theory which aims at securing by the action of the central democratic authority a better distribution and in due subordination thereto a better production of wealth than now prevails".

इनके अतिरिक्त कुछ प्रसिद्ध समाजवादी तथा विद्वानों के विचारों को देना अधिक उपयुक्त होगा।

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध समाजवादी राजनीतिज्ञ रेमजे मेकडोनेल्ड (J. Ramsay MacDonald)—

"सामान्य रूप से समाजवाद की इससे अच्छी परिभाषा नहीं हो सकती कि समाजवाद का उद्देश्य समाज के आर्थिक तथा भौतिक शक्तियों का मानवीय शक्तियों द्वारा संगठन एवं नियन्त्रण करना है।" 8

डग्लस जे (Douglas Jay)

"समाजवाद का अर्थ है कि प्रत्येक मानव प्राणी को सुख तथा अन्य बातें जो जीवन को मूल्य प्रदान करते हैं, का समान अधिकार है; और इस अधिकार से युक्त विश्व-समाज या उसके निकट पहुँचना सामूहिक, सामाजिक, न कि सिर्फ व्यक्तिवादी तरीकों से अच्छी तरह उपलब्ध हो सकता है।" 9

एलेक्जेन्डर ग्रे (Alexander Gray)

"बिना किसी परिभाषा का सुझाव देते हुऐ, समाजवाद के अन्तर्गत हम वह सब स्वीकार करते हैं जो न्याय या समानता की भावना से प्रेरित, वर्तमान विश्व की बुराइयों से भावातुर होकर उत्तम विश्व की प्राप्ति, सुधारों से नहीं किन्तु विध्वंसात्मक (विध्वंस का शाब्दिक एवं तटस्थ रूप में प्रयोग) साधनों द्वारा—या यदि प्राथमिकता दी जाये तो समाज के स्वरूप एवं ढाचे में मूलभूत परिवर्तन करे।" 10

---

8 "No better definition of socialism can be given in general terms than it aims at the organisation of the material economic forces of Society and their control by the human forces."
Ramsay MacDonald J., Socialism : Critical and Constructive, p. 60.

9. "*Socialism means the belief that every human being has an* equal right to happiness and whatever else gives value to life, and that a world society enshrining this right can best be achieved, or approached, by collective, social, and not just individualist, methods."

Jay, Douglas, Socialism in the New Society, p. 2.

10. For the present, therefore, without suggesting that it even remotely foreshadows a definition, we shall accept all who, urged by a passion for justice or equality, or by a sensitiveness to the evils of this present world, seek a better world, not by way of reform, but by way of subversion (using the word in its literal and neutral sense)—or if it be preferred, by a fundamental change in the nature and structure of society."
Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p. 2.

कोल (G. D. H. Cole)

"समाजवाद से मेरा तात्पर्य उस सामाजिक व्यवस्था से है जिसमें मनुष्यों का विरोधी आर्थिक वर्गों में विभाजन नहीं होता, किन्तु लगभग सामाजिक और आर्थिक समानता की दशाओं के अन्तर्गत साथ-साथ रहते हैं, तथा सामाजिक कल्याण की अभिवृद्धि के लिये उपलब्ध साधनों का सामान्य प्रयोग करते हैं।"[11]

समाजवाद की उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजवाद की कोई सुनिश्चित, स्पष्ट तथा संतोषप्रद परिभाषा नहीं हो सकती। इनसे समाजवाद की संकीर्णता या व्यापकता का अनुमान लगाना असम्भव है। जब सिडनी वेब (Sidney Webb) ने कहा कि "समाजवाद जनतान्त्रिक आदर्श का आर्थिक पहलू है,"[12] इसके अन्तर्गत सब कुछ सम्मिलित किया जा सकता है। कुछ परिभाषाएं व्यापक होते हुए भी समाजवाद के सम्पूर्ण पक्षों का समावेश नहीं कर पायी हैं। ये साम्यवादी-समाजवाद को सामान्यतः अपने क्षेत्र में सम्मलित नही करती। सम्भवतः साम्यवाद को क्रान्तिकारी और अधिनायकवादी व्यवस्था मान कर इसे अलग ही रक्खा गया है। साम्यवाद का स्वरूप कैसा भी क्यों न हो उसे समाजवाद के अध्ययन से अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए ऐलेक्जेन्डर ग्रे के अनुसार समाजवाद की सभी परिभाषाएं बड़ी धूमिल आशा प्रस्तुत करती हैं। इनमें मूर्खता, उथलापन, संकीर्णता, विरोधाभास सब कुछ है। कुछ परिभाषाएं अवश्य ही आंशिक प्रशंसनीय हैं।[13]

समाजवाद के सैद्धान्तिक आधार (तत्व एवं विशेपताएं)—

जब परिभाषाओं से समाजवाद की पूर्ण एवं सही अभिव्यक्ति नही हो सकती तो समाजवाद को कैसे समझा जा सकता है? इसके दो ही मार्ग हो सकते हैं। प्रथम, समाजवाद के विभिन्न तत्वों को स्पष्ट करना। दूसरे, समाजवाद के विकास तथा उसकी विभिन्न शाखाओं का अध्ययन करना।

11. "By socialism I mean a form of society in which men and women are not divided into opposing economic classes, but live together under conditions of approximate social and economic equality, using in common the means that lie to their hands of promoting social welfare." Cole, G. D. H, The Simple Case for Socialism, p. 7.

12 "Socialism is the economic side of democratic ideal" Sidney Webb, quoted by Crosland in The Future of Socialism, p. 101.

13. Gray, Alexander, The Socialist Tradition, pp. 1-2.

जो कठिनाइयां समाजवाद को परिभाषित करने में है उन्ही ने समाजवाद के प्रमुख तत्वों को स्पष्ट करने में भी उलझनें प्रस्तुत की है। जब समाजवाद के प्रमुख विषय पर कोई एक मत नही है तो किस समाजवाद की विशेषताओं का उल्लेख किया जाये ? कई बातो में समाजवादी सम्प्रदायों में सहमति नहीं है; कुछ बातों में वे परस्पर विरोधी भी हैं। फिर भी इतना सब होते हुए "समाजवादी आधार" को किसी सीमा तक समझा जा सकता है क्योंकि इन सभी में कुछ ऐसे सामान्य तत्व हैं जो एक धागे की तरह सभी समाजवादी मोतियों को पिरोये हुए हैं। क्रॉसलैंड के शब्दो में—

> "सभी प्रकार के विविध एव विचित्र समाजवादी सिद्धान्तो में जो समान स्थिर तत्व है वह यह है कि समाजवाद मे कुछ नैतिक मूल्य एवं आकाक्षाएं निहित हैं। व्यक्ति स्वयं को समाजवादी इस लिये कहते है क्योकि वे इन आकांक्षाओं में स्वयं को भागीदार समझते है, यही अलग-अलग समाजवादी विचारधाराओं मे कड़ी के समान हैं।"[14]

सभी समाजवादी चाहे वे किसी भी शाखा से सम्बन्धित क्यों न हों, निम्न-लिखित बातों को अवश्य स्वीकार करते हैं :—

समाजवाद व्यक्तियो की अपेक्षा समाज पर अधिक बल देता है। सामाजिक हितो की अपेक्षा व्यक्तिगत हितों की महत्ता कम होती है। व्यक्तिवादिता के स्थान पर सामाजिकता को प्राथमिकता दी जाती है।

समाजवाद पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करना चाहता है क्योकि यह व्यवस्था—

(i) सामाजिकता, सामाजीकरण आदि का विरोध करती है;
(ii) श्रमिक तथा अन्य दलित वर्गों के शोषण में सहायक होती हैं;
(iii) व्यक्तिगत लाभ का समर्थन करती है;
(iv) एकाधिकार की भावना को प्रोत्साहित करती है, जिससे राष्ट्रीय-सम्पत्ति कुछ ही व्यक्तियो या परिवारो में संचित एवं सीमित हो जाती है, आदि।

स्पर्द्धा की भावना का विरोध

समाजवादी स्पर्द्धा को व्यक्तिवादी एवं पूंजीवादी व्यवस्थाओं का एक दुर्गुण समझते हैं। स्पर्धा में धनिक अधिक धनी तथा निर्धन अधिक निर्धन होता जाता है। समाजवादी स्पर्द्धा के स्थान पर सहयोग की भावना का समर्थन करते हैं।

---

14 Crosland, C A.R., The Future of Socialism, p 101.

निजी सम्पत्ति का विरोध

सभी समाजवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private Property) को असमानता और शोषण का मूल कारण मानते हैं। यही पूंजीवादी व्यवस्था और समाज की अपेक्षा व्यक्ति को महत्ता प्रदान करती है। इसलिये समाजवादी निजी सम्पत्ति में एकाधिकार तथा असीमित संचय का विरोध करते हैं। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के दुर्गुणों को दूर करने के लिये उसके नियन्त्रित, मर्यादित और सामाजीकरण के पक्ष में हैं।

समाजवादी आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के लिये इस विचारधारा के समर्थकों का विचार है कि—

(I) उत्पादन और वितरण के साधनों पर व्यक्तिगत नियंत्रण को हटाकर राज्य का नियंत्रण तथा उत्पादन के सभी खण्डों का राष्ट्रीय-करण व सामाजीकरण चाहते हैं।

(iI) उत्पादन सामाजिक आवश्यकता के आधार पर होना चाहिये।

(Iii) व्यक्तिगत लाभ की भावना के स्थान पर सामाजिक सेवा का सिद्धान्त स्वीकार किया जाना चाहिये।

समानता में विश्वास

समानता समाजवाद का मूल मन्त्र है। समाजवाद वास्तव में समता की ही मांग का दूसरा नाम है। इसका तात्पर्य यह है कि सबको अपनी प्रगति के समान अवसर प्राप्त होने चाहिये। यह विषमता की उन अवस्थाओं को दूर करना चाहता है जिसमें कुछ व्यक्ति बिना परिश्रम किये ही ऐश-आराम का जीवन व्यतीत करते हैं तथा समाज के अधिक व्यक्ति परिश्रम करके जीवन की आवश्यकता के साधन भी नही जुटा पाते।

डगलस जे (Douglas Jay) के अनुसार राजनीतिक समानता तो जनतान्त्रिक व्यवस्था का अंग होती ही है। समाजवाद में आर्थिक समानता अधिक महत्वपूर्ण है। आर्थिक समानता का तात्पर्य सामाजिक न्याय तथा समाज में कम से कम असमानता है।[15]

राज्य का कार्य-क्षेत्र

समाजवादी समर्थक व्यक्तिवादी एवं यद्भाव्यम् (Laissez-Faire) नीति के विरुद्ध हैं। वे पूंजीवादी व्यवस्था के दोषों को दूर कर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय की स्थापना चाहते हैं। इसके लिए आर्थिक विकास आवश्यक

---

15. Jay, Douglas, Socialism in the New Society, pp.7-10

है। आर्थिक विकास सुनियोजित ढंग से होना चाहिये। सामाजिक हित में समाजवादी इन सभी कार्यों का उत्तरदायित्व राज्य पर छोड़ते है। इसलिए समाजवादी व्यवस्था का केन्द्र राज्य है। ये राज्य के व्यापक कार्य-क्षेत्र का समर्थन करते है।

समाजवाद की विशेषताओं के सन्दर्भ में यह समझ लेना आवश्यक है कि जिन तत्वों का ऊपर उल्लेख किया गया है उन पर समस्त समाजवादी सम्प्रदाय सहमति व्यक्त करते हैं लेकिन वे किस पक्ष का कहां तक पालन करते हैं, उनको किस अंश तक महत्व आदि देते हैं, इनमें बहुत कुछ अन्तर है। पूंजीवाद, निजी सम्पत्ति तथा स्पर्द्धा का जितना प्रबल विरोध मार्क्सवादी, समाजवादी, अराजकतावादी करते हैं उतना फेबियनवादी, गिल्ड समाजवादी, राज्य समाजवादी आदि नही करते। इसी प्रकार मार्क्सवादी-साम्यवादी उत्पादन व वितरण के समस्त साधनों पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण स्थापित करना चाहते हैं किन्तु जनतान्त्रिक समाजवादी एक प्रकार की मिश्रित व्यवस्था स्वीकार करते हैं। ऐसा अन्तर समाजवादी शाखाओं के प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है।

साध्य एवं साधन

समस्त समाजवादी शाखाओं में मुख्यतः सैद्धान्तिक अन्तर साध्य एवं साधनों के विषय में है। मार्क्सवादी-समाजवादियों तथा अराजकतावादियों का उद्देश्य शोषणरहित वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना है जिसमें राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। हालांकि साम्यवादियो एवं अराजकतावादियो में राज्य के महत्व के विषय में गम्भीर मतभेद हैं किन्तु अन्य समाजवादी सम्प्रदाय राज्य के महत्व को स्वीकार करते हैं। वे राज्य की समाप्ति की बात नही करते।

समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति में भी इनमें गम्भीर मतभेद है। साम्यवादी वर्ग-संघर्ष एव क्रान्ति में विश्वास करते हैं। अराजकतावादी और सिन्डीकल समाजवादी भी इस सम्बन्ध में साम्यवादियों के ही निकट हैं। किन्तु जितने भी विकासवादी जनतान्त्रिक समाजवादी हैं वे रक्त क्रान्ति में विश्वास नहीं करते। वे समाजवाद की स्थापना शान्तिपूर्ण जनतान्त्रिक साधनों से ही करना चाहते हैं।

समाजवाद का विकास

मानव इतिहास के प्रारम्भ से अब तक समाज में असमानता, आर्थिक विषमता तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण किसी न किसी रूप में रहा है। यह स्थिति राजनीतिक चिन्तकों द्वारा आलोचना का प्रमुख विषय रही है। उन्होंने निर्धन वर्ग के शोषण एवं सामाजिक और आर्थिक विषमता के कारणों का

उन्मूलन कर उनकी दशा सुधारने के लिए समय समय पर सुझाव दिये हैं। अन्यायपूर्ण परिस्थितियों में सुधार के लिये विचार या कार्यक्षेत्र में जो कुछ भी किया है वहीं से समाजवाद का आरम्भ होता है।[16] इस आधार पर समाजवादी सिद्धान्तों के पूर्ण इतिहास का क्षेत्र बड़ा व्यापक होगा। इस में प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक भिन्न-भिन्न समय के अनेक लेखों और अनेक विचारधाराओं का कुछ न कुछ समावेश करना पड़ेगा।

एलेग्जेंडर ग्रे (Alexander Gray) ने अपनी पुस्तक[17] में समाजवादी परम्परा का उद्‌भव प्राचीन काल से मानकर विचारकों की एक लम्बी शृंखला का उल्लेख किया है। ग्रे के अनुसार प्राचीन यहूदी परम्परा में भी समाजवादी लक्षण देखने को मिलते हैं। यहूदियों के धर्म ग्रन्थ ओल्ड टेस्टामेन्ट (Old Testament) में उनके सामुदायिक नियम, व्यवहार, रहन-सहन आदि एक विभिन्न समाजवादी व्यवस्था प्रस्तुत करते थे। समानता, भ्रातृत्व, सामूहिक सम्पत्ति एवं खान-पान उस समय यहूदी जीवन की विशेषताएं थीं।

मूसा ने अपने प्रवचन (Mosaic Law) में यहूदियों के एक ही छत्रछाया में रहकर समान स्रोत से भोजन उपलब्ध करने आदि बातों का उल्लेख किया है।[18] यहूदियों की एसेनेस (Essenes) साम्प्रदायिक व्यवस्था भी सामाजीकरण पर आधारित थी। इस सम्प्रदाय के सदस्य अपना सर्वस्व समाज के लिये त्याग देते थे। एसेनेस के सदस्यों की कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होती थी। वे दिन में जो कुछ धन उपार्जित करते थे वह सम्प्रदाय के समस्त लोगों के काम आता था।[19]

सम्भवत: प्लेटो से पूर्व ग्रीस में अरिस्टोफेंस (Aristophanes, 444-380 B. C.) ने तत्कालीन सामाजिक स्थिति और उसमें सुधार करने हेतु जो विचार व्यक्त किये वे किसी सीमा तक समाजवादी ही थे। अरिस्टोफेन्स ने लिखा है —

> "वह शासन जिसके निर्माण की मैं घोषणा करता हूँ, कि सब समान एवं संयुक्त भागीदार होंगे, समस्त सम्पत्ति और आनन्द में, अब यह नहीं चलेगा कि एक धनी हो और दूसरा निर्धन, कि एक के बाद

16 Cole, G. D. H., The Simple Case for Socialism, p 15
17 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, Moses to lenin, 1948
18. Gray, A., The socialist Tradition, pp. 32-35.
19. Ibid., pp. 35-38;
Vergilus Ferm (Ed), Encyclopaedia of Religion, p. 256

एकड़ों भूमि—दूर तक विस्तारपूर्वक फैली हुई, और दूसरे के पास इतना भी न हो कि जिसमें कब्र भी बन सके, कि बुलाने पर एक के सैंकड़ों नौकर प्रस्तुत हों, दूसरे के पास कुछ भी नहीं, इन सब में मैं सुधार और संशोधन करना चाहता हूं, अब सब सुविधाओं में सब स्वतंत्र भागीदार होंगे, जहां एक प्रकार का जीवन और एक ही व्यवस्था सभी के लिये होगी।"[20]

प्लेटो (Plato, 427-347 B. C.) के साम्यवादी विचार भी अधिक उग्रवादी माने जाते हैं। अपनी पुस्तक रिपब्लिक (Republic) में प्लेटो के निम्नलिखित विचार समाजवाद की ओर संकेत करते हैं :—

"एकता वहां है जहां सुख और दुःख सामूहिक हो, (अथवा पूरे समुदाय का हो), जहां सुख और दुख के अवसरों पर सभी नागरिक सामान्यतः प्रसन्न या दुखी हों। वह अव्यवस्थित राज्य है—जहां एक ही घटना पर, आधे नागरिक उल्लसित हों, आधे शोक में डूबे हों, निश्चय ही यह अन्तर वहां आरम्भ होता है जहा यह मतभेद हो कि यह "मेरा है" और मेरा नहीं 'उसका है' उसका नहीं।"[21]

प्लेटो के ग्रन्थों में से इस प्रकार के विचार अन्य अनेक उद्घृत किये जा सकते हैं।

यह आश्चर्य की बात नहीं है कि पश्चिम के देश, जिनके जन-जीवन पर ईसाई धर्म का गहरा प्रभाव रहा है, इस धर्म की शिक्षाओं में समाजवादी तत्वों को खोजने का प्रयत्न करते हैं। वे बाइबिल के नवीन भाग न्यू टेस्टामेन्ट (New Testament) में ईसा मसीह, अन्य धर्म गुरु तथा पादरियों के कथनों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि वे मनुष्य की व्यापक स्वतंत्रता, समानता, दलित-वर्ग का उत्थान आदि का समर्थन करते थे। वे चर्च-व्यवस्था को समाजवादी व्यवस्था कहते हैं।[22] इस सम्बन्ध में क्लीमेन्ट एलेक्जेन्ड्रिया (Clement of Alexandria), सन्त एम्ब्रोस (Saint Ambrose), सन्त टॉमस एक्वना (Saint Thomas Acquinas) आदि के नामों का उल्लेख

---

20. Gray, A., (quoted), The Socialist Tradition, pp. 25-26.
21. Ibid., p. 17.
22. Ibid., pp. 38-45

किया जाता है।[23] संत एक्वना ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन तो किया लेकिन वे इसका प्रयोग जनहित में एक 'ट्रस्ट' (Trust) के रूप में करने के पक्ष में थे। इस सन्दर्भ में सिर्फ यही कहा जा सकता है कि यहूदियों की व्यवस्था को छोड़कर अन्य धार्मिक व्यवस्थाओं या सिद्धान्तों को समाजवादी कहना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। फिर तो भारत में बौद्ध धर्म, एवं जैन धर्म से सम्बन्धित और व्यवस्थाएं भी समाजवादी थीं। 'प्रत्येक धर्म की शिक्षाएँ मानवतावाद पर आधारित हैं किन्तु उसे समाजवादी, जैसा कि हम आज समझते हैं, नहीं कहा जा सकता। उन्होंने धर्म की समाजवादी नहीं किन्तु आध्यात्मिक व्याख्या की है।

सोलहवीं शताब्दी में टॉमस मोर (*Thomas More, 1478-1535*) ने अपने समय के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। मोर ने निर्धन वर्ग की दुर्दशा का चित्रण करते हुए यह स्वीकार किया है कि इस का उत्तरदायित्व उच्च धनिक वर्ग पर था। मोर के अनुसार धनिक वर्ग ने सम्पत्ति का संचय भ्रष्टाचार, जालसाजी और षड्यंत्रों द्वारा किया। इस स्थिति में सुधार करने के लिये मोर ने यूटोपिया (Utopia,,1516) में एक नवीन समाज की कल्पना की है जो स्वतंत्रता और समता पर आधारित होगी। मोर के विचारों में समाजवाद की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है।[25]

इसी प्रकार अन्य अनेक विद्वानों और चिन्तकों आदि का उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने किसी न किसी पक्ष को लेकर समाजवाद के समर्थन में कुछ न कुछ लिखा है हालांकि उन्होंने न तो समाजवाद शब्द का प्रयोग किया और न स्वयं को समाजवादी ही कहा। उनके समाजवादी विचार आज के समाजवाद से स्वरूप और क्षेत्र (nature and scope), दोनों में ही भिन्न थे।[26]

आधुनिक समाजवाद

आधुनिक समाजवाद का विकास अठ्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में हुआ। अठ्ठारहवीं शताब्दी के यूरोप में निरंकुशवाद और सामन्तवाद अपनी चरम सीमा पार कर

23. Gray, A., The socialist Tradition, pp 45 60
24. ईसाई धर्म सिद्धान्तों के आधार पर उन्नीसवीं शताब्दी में ईसाई समाजवाद (Christian Socialism) का प्रचलन चला। धार्मिक परम्पराओं पर खड़ा यह समाजवाद मनुष्य के विवेक को प्रभावित नहीं कर सका।
Hallewell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought p. 375.
25 Catlin, George, A History of the Political Philosophers, p. 544;
26 Ibid p 369.

चुके थे । मुट्ठी भर व्यक्तियों के हाथों में राज-सत्ता और अर्थ-व्यवस्था केन्द्रित थी। भोग विलास, क्रूरता, दमन, शोषण इस व्यवस्था की विशेषताएं थी। उच्च वर्ग के थोड़े से व्यक्तियों द्वारा असीमित बहुमत का शोषण करना, उनके अधिकारों का गला घोंटना यूरोप में एक सामान्य और साधारण बात थी।

इस अन्यायपूर्ण स्थिति के विरुद्ध सर्वप्रथम विचार बगावत प्रारम्भ हुई। फ्रांस की क्रान्ति (French Revolution, 1789-1815) के पूर्व तथा उसके समकालीन कुछ ऐसे दार्शनिक एवं लेखक हुए जिनके विचारों में आधुनिक समाजवादी तत्वों का पूर्ण आभास मिलता है। रूसो (Jean Jacques Rousseau, 1712-1778) द्वारा समानता का समर्थन, विशेष सम्पत्ति के प्रति घृणा और किसी रूप में उसके वर्ग-संघर्ष के स्वप्न ने समाजवाद की उत्पत्ति को प्रभावित किया। समानता के समर्थन के विषय में यही बात बेवूफ (Francis Noel Babeuf, 1764-1797) के लिये कही जा सकती है।[27]

इस स्थिति और ऐसे विचारों के समन्वय से विस्फोट अवश्यम्भावी था। फ्रांस की क्रान्ति वास्तव में इन्हीं की अभिव्यक्ति थी। इस क्रान्ति ने विशेष हितों पर आधारित तत्कालीन व्यवस्था और संस्थाओं को चुनौती दी थी। इससे निर्धन वर्ग को अपनी स्थिति सुधरने की आशा थी। क्रान्तिकारी परम्परागत व्यवस्था के स्थान पर एक नवीन व्यवस्था की स्थापना चाहते थे। फ्रांस की क्रान्ति असफल तो हुई किन्तु उसने समकालीन और आगे आने वाली पीढ़ियों के विचार-चिन्तन को झकझोर दिया। उच्च वर्ग के विशेषाधिकारों के विरुद्ध जो आवाज उठी वह वर्षों तक गूंजती रही। सैद्धान्तिक रूप में आधुनिक समाजवाद अठारहवी शताब्दी में फ्रांस के दार्शनिकों के विचारों का विस्तार है तथा समाजवादी आन्दोलन फ्रांस की क्रान्ति का ही परिणाम है।[28]

उन्नीसवीं शताब्दी को औद्योगिक क्रान्ति का भी युग माना जाता है। औद्योगिक क्रान्ति की प्रगति से यूरोप की आर्थिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन हुए। वैज्ञानिक आविष्कारों ने उत्पादन मे अभूतपूर्व वृद्धि की। बड़ी-बड़ी फेक्ट्रियां और उद्योग अस्तित्व में आये। किन्तु इस क्रान्ति का लाभ मुख्यतः उच्च और धनिक वर्ग को ही मिला। बड़े-बड़े उद्योगों पर राज परिवार के सदस्यों, सामन्तों का आधिपत्य था। बड़े बैंक मालिको ने भी इन उद्योगों में धन लगाया।

27. Gray, Alexander, The Socialist Tradition,p 3;
Hallowell, J.H., Main Currents in Modern Political Thought, p.379.
28. Kilzer and Ross, Western Social Thought. p. 237;
Engels. Frederick, Socialism : Utopian and Scientific, p. 1.

परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था पर शासकों, सामन्तो,बैंक मालिकों का नियंत्रण हो गया। इनका शासन व्यवस्था पर भी प्रभाव था। रैमजे मेकडोनल्ड (J.Ramsay MacDonald) ने इस व्यवस्था को 'आर्थिक राज्य'(Economic S ate) कह समस्त बुराइयों की जड़ बतलाया।[29]

दूसरी ओर औद्योगिक क्रान्ति से श्रमिक वर्ग का भी जन्म हुआ। जो दयनीय दशा कृषि-श्रमिक, छोटे-छोटे कारीगरों की थी वही हालत औद्योगिक श्रमिकों की भी हो गई। औद्योगिक क्रान्ति से अनेक व्यक्ति बेकार हुए। श्रमिकों को फैक्ट्रियो और खानों में अमानवीय दशाओं में कार्य करना पड़ता था। उन्हे प्रतिदिन 18-20 घण्टे काम करना पड़ता तथा विश्राम का प्रश्न ही नहीं उठता था। मेहनत करने के बाद उन्हें जो धन मिलता था वह उनके लिये उस दिन की जीविका के लिये भी पर्याप्त नही होता था। एक ओर श्रमिक वर्ग बेकारी, भूख और बीमारी का शिकार था, दूसरी ओर रिआयती वर्ग (privileged class) धन और विलास में डूबा जा रहा था। इस परिस्थिति से उच्च वर्ग के प्रति दलित वर्ग में वैमनस्य की भावना फैलने लगी।

इस अन्यायपूर्ण स्थिति का समर्थन उस समय प्रचलित एक महत्वपूर्ण विचारधारा ने भी किया। व्यक्तिवाद (Individualism) उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक एक सम्मानित विचारधारा और उपासना का विषय थी। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ने तत्कालीन चिन्तन को बहुत प्रभावित किया। इसके अन्तर्गत समाज एवं राज्य के स्थान पर व्यक्ति को प्रधानता दी जाती थी। यद्यपि यह विचारधारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता की प्रबल समर्थक थी, व्यावहारिक रूप में इसने पूंजी वर्ग की सहायता की। समय बीतने के साथ-साथ व्यक्तिवाद निजी उद्योग और पूंजीवाद के साथ जुड़ता गया।[30] आर्थिक क्षेत्र में यह विचारधारा मुक्त प्रतियोगिता, शासन का न्यूनतम नियन्त्रण तथा लाभ सिद्धान्तो पर आधारित थी।

प्रमुख व्यक्तिवादी अर्थशास्त्री माल्थस (T. R. Malthus, 1766-1834) का विचार था कि श्रमिक वर्ग की दयनीय दशा अवश्यम्भावी और स्थाई थी। रिकार्डो (David Ricardo, 1772-1823) ने अर्थ व्यवस्था में बड़े-बड़े जमीदारों और पूंजीपतियो के महत्वपूर्ण योगदान का समर्थन किया। हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer, 1820-1903) के 'सबल का अस्तित्व सिद्धान्त'

29. Ramsay MacDonald J., Socialism: Critical and Constructive, p 53.
30. आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ. 607

(Survival of the fittest) को यदि तार्किक रूप से आगे बढ़ाया जाय तो इसका यही तात्पर्य था कि धनी व्यक्ति ही समाज में जीवित रह सुखी जीवन व्यतीत कर सकता था। इसने पूंजी वर्ग की शक्ति और श्रमिक वर्ग के शोषण में वृद्धि की। समाजवाद का प्रादुर्भाव तत्कालीन पूंजीवादी व्यवस्था के विरोध स्वरूप ही नहीं हुआ, साथ ही साथ यह व्यक्तिवाद और इससे सम्बन्धित सभी सिद्धान्तों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया एवं प्रतिरोध था।[31]

वियना कांग्रेस (Vienna Congress, 1815) में प्रतिपादित यूरोपीय राज्य व्यवस्था प्रतिक्रियावादी थी जिसने निरंकुशवाद और पूंजीवाद के हाथ और भी मजबूत किये। इस व्यवस्था से दलित वर्ग को अपने भाग्य के सुधार की कोई आशा नहीं थी। शोषण के विरुद्ध सामूहिक प्रयत्न प्रारम्भ करने का विचार सामने आने लगा।[32] फ्रांस की क्रान्ति ने आन्दोलनों का मार्ग पहले ही प्रशस्त कर दिया था। अब यूरोप में आन्दोलन और क्रान्तियों की एक शृंखला सी लग गई। 1830 में कई छोटी-मोटी क्रान्तियां हुईं जिनसे फ्रांस, बेलजियम, हॉलेन्ड, पोलेन्ड, रूस, स्पेन, पुर्तगाल, इटली तथा जर्मनी के राज्य प्रभावित हुए। इंग्लेन्ड भी अछूता नही रह सका। वहां चार्टिस्ट आन्दोलन (Chartist Movement) ने जोर पकड़ा। इस चार्टर (विनय पत्र) में राजनीतिक और आर्थिक सुधारों की मांग की गई थी। आन्दोलनकारी सिर्फ प्रदर्शन आदि से ही सन्तुष्ट नहीं थे। 1839-40 में उन्होंने कई जगह सरकार से लोहा भी लिया। चार्टिस्ट आन्दोलन का दमन तो हो गया किन्तु इसने समाजवाद और श्रमिक आन्दोलन को एक नवीन प्रेरणा प्रदान की।[33] यूरोपीय महाद्वीप में चल रहे आन्दोलनों और क्रान्तियों की विभिन्न सीढ़ियों में जैसे-जैसे प्रगति हुई लगभग उसी अनुपात में समाजवाद का विकास होता गया।

यूटोपियायी समाजवाद
Utopian Socialism

आधुनिक समाजवाद को एक व्यवस्थित विचारधारा के रूप में प्रारम्भ करने का श्रेय यूटोपियायी समाजवादियों को है। अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुछ चिन्तन हुए जिनमें

31. Dunning, W. A., A History of Political Theories, from Rousseau to Spencer, p 342
32 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 236.
33. Beer, M., A History of British Socialism, Vol. II, pp 93—105; Dunning, W. A, A History of Political Theories, from Rousseau to Spencer, p. 343.

सेन्ट साइमन (Saint Salmon, 1770-1825), चार्ल्स फोरिये (Charles Fourier, 1772-1837) और रॉबर्ट ओवन (Robert Owen, 1771-1858) सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने तत्कालीन पूंजीवादी व्यवस्था, स्पर्द्धा, निजी सम्पत्ति आदि की कटु आलोचना की। ये मूलतः मानवतावादी थे। उस समय श्रमिकों की जो दुर्दशा थी उससे इनका हृदय द्रवित हो उठा। वे पूंजीपतियों और श्रमिकों के सहयोग से एक ऐसी व्यवस्था चाहते थे जिससे श्रमिकों का उत्थान और प्रगति हो। इस सम्बन्ध में इन्होंने कुछ सुझाव दिये तथा कुछ प्रयोग भी किये। सेन्ट साइमन की सेवेन्ट्स (Savants), फोरिये की फेलेन्क्स (Phalanx) तथा ओवन की न्यू लेनार्क (New Lanark) योजनाएँ समाजवादी व्यवस्था के लिये ही थी।

सेन्ट साइमन, फोरिये ओवन आदि के विचारों के संदर्भ में ही सर्वप्रथम समाजवाद शब्द का प्रयोग किया गया था। समाजवाद का सबसे पहले प्रयोग 1827 में ओवन तथा उनके अनुयायियों द्वारा प्रकाशित (Co-operative Magazine) में हुआ। फ्रान्स में इस शब्द का प्रचलन 1832 से हुआ।

साइमन, फोरिये, ओवन आदि के समाजवादी विचारों को यूटोपियायी (आदर्शवादी या स्वप्नवादी) कहा जाता है क्योंकि इनके सुझाव एवं योजनाएँ केवल आदर्श मात्र थे जिन्हें व्यापक ढंग से व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सकता था। इसके अतिरिक्त इनका समाजवाद किसी आन्दोलन के लिये प्रेरक नहीं था। वे पूंजीपतियों के हृदय-परिवर्तन और उदारवादिता के आधार पर अपनी समाजवादी योजनाओं की सफलता की कामना करते थे। इसलिये कार्ल मार्क्स ने इन समाजवादियों को अपमानित करने के लिये घृणात्मक शब्दों में 'यूटोपियायी' की संज्ञा दी थी।[34] तभी से इन्हें यूटोपियायी समाजवादी कहा जाने लगा।

मार्क्सवाद : वैज्ञानिक समाजवाद
Marxism : Scientific Socialism

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में मार्क्सवाद (कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक ऐन्जिल्स के विचार) ने समाजवाद को एक नया मार्ग दर्शन कराया। समाजवाद को वास्तव में व्यवस्थित, वैज्ञानिक, आन्दोलनकारी एवं क्रान्तिकारी रूप देने में मार्क्सवाद का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। मार्क्सवाद को सर्वप्रथम

34. Manifesto of the Communist Party, p. 89;
Engels, Frederick, Socialism · Utopian and Scientific, p 12

वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है क्योंकि उस समय यूरोप में चल रहे आन्दोलन एवं क्रान्तियों का विवेचन कर कार्ल मार्क्स ने उन्हें सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया। इनके विचार इतिहास का नया विवेचन तथा मानव स्वभाव पर आधारित है जिन्हें तर्क-संगत बनाने का कार्ल मार्क्स ने भरसक प्रयत्न किया। वैज्ञानिक समाजवाद की अभिव्यक्ति मार्क्सवाद के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त आदि में पूर्णतः होती है।

मार्क्सवाद के ही समानान्तर एक और समाजवादी विचारधारा का प्रचलन हुआ जिसे अराजकतावाद (Anarchism) कहते हैं। काल एवं विकास की दृष्टि से मार्क्सवाद या अराजकतावाद में किसे प्राथमिकता दी जाय इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हो सकता। अराजकतावाद के प्रमुख समर्थक विलियम गॉडविन (Wiliam Godwin, 1756-1836), हाजस्किन (Thomas Hodgskin, 1787-1869), प्रधों (P. J. Proudhon, 1809-1865), बाकुनिन (Michael Bakunin, 1814 - 1876), पीटर क्रोपाटकिन (Peter Kropotkin, 1842-1921), थे। अराजकतावादी भी पूंजीवाद, व्यक्तिगत सम्पत्ति, राज्य, धर्म के पूर्ण विरोधी थे। वे वर्ग-विहीन, राज्य-विहीन और शोषण विहीन समाज की रचना के समर्थक थे।

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय (First International) सिद्धान्त-संघर्ष

इस समय तक यूरोप का श्रमिक आन्दोलन काफी शक्तिशाली हो चुका था। श्रमिक आन्दोलनों को एकता के सूत्र में बांधने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संस्था की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। कार्ल मार्क्स की प्रेरणा से 1864 में एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन की स्थापना हुई जिसे प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय (First International, 1864-76) कहते हैं। इस संस्था में दो विचार-धाराओं का संघर्ष रहा। एक विचारधारा का नेतृत्व कार्ल मार्क्स और ऐन्जिल्स कर रहे थे। दूसरी ओर अराजकतावादी थे जिसके प्रबल समर्थक माइकल बाकुनिन थे। बाकुनिन ने मार्क्स के अधिनायकवादी केन्द्रीकरण करने वाले कार्यक्रम का विरोध तथा राजनीतिक परित्याग पर जोर दिया। मार्क्स के समर्थकों का कम से कम उस समय विश्वास था कि समाजवादी क्रान्ति के पश्चात भी राज्य संस्था को किसी न किसी रूप में रखना पड़ेगा। किन्तु अराजकतावादी, जिन्हे इटली और फ्रांस के समाजवादियों का समर्थन प्राप्त था, राज्य का पूर्ण उन्मूलन चाहते थे। किसी भी प्रकार की शासन व्यवस्था पर उनकी किंचित मात्र आस्था नहीं थी।[35]

---

35. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 70-71.

इन दोनों समाजवादी विचारधाराओं के सैद्धान्तिक मतभेदों ने खुले संघर्ष का रूप धारण कर लिया। फलस्वरूप 1872 में अराजकतावादियों ने 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' से अलग होकर फेडरल यूनियन (Federal Union) की स्थापना की। चार वर्ष बाद ही 1876 में 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' संस्था टूट गई।

सिन्डीकलवाद (श्रमिक संघवाद)
Syndicalism

मार्क्सवाद और अराजकतावाद के सिद्धान्त-संघर्ष के परिणामस्वरूप फ्रांस में एक नये समाजवादी पंथ का जन्म हुआ जिसे सिन्डीकलवाद कहते हैं। इसके प्रमुख प्रवक्ता जार्ज सोरेल (George Sorel, 1847-1922) थे। 1884 में फ्रांस में कानून द्वारा श्रमिक संघ स्थापित करने तथा हड़ताल आदि करने का पुनः अधिकार दिया गया। 1886 में मजदूर सभाओ के राष्ट्रीय संघ (National Federation), 1887 में कई लेबर एक्सचेन्ज (Labour Exchange) जो श्रमिको के कार्य एवं समस्याओ के सुलझाने के केन्द्र थे, तथा 1895 में जनरल फेडरेशन आफ लेबर (Confederatior Generale du Travail) की स्थापना से फ्रांस में सिन्डीकलवाद के प्रचलन मे वृद्धि हुई।

सिन्डीकलवाद में मार्क्सवाद और अराजकतावाद के अनेक तत्व सम्मिलित थे। मार्क्सवाद से इसने वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त एवं लगभग क्रान्तिकारी जैसे साधन तथा अराजकतावाद से राज्य के प्रति गहरी घृणा एवं शत्रुता की भावना ग्रहण की। किन्तु यह इन दोनो विचारधाराओ का मिश्रण मात्र ही नही था। इसकी अपनी स्वयं की विशिष्टता थी जिसके कारण इसे एक अलग समाजवादी शाखा के रूप मे स्वीकार किया जाता है।[36]

सिन्डीकल समाजवाद की लोकप्रियता मुख्यतः फ्रांस तथा इटली मे रही। लेकिन यह अधिक दिनो तक नही टिक सका तथा इसका पतन होता चला गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात सिन्डीकलवाद की एक अन्तिम झलक एवं ध्वनि फासीवाद (Fascism) में दृष्टिगोचर हुई। आज एक समाजवादी सम्प्रदाय के रूप में सिन्डीकलवाद समाप्त सा हो गया है।

मार्क्सवाद कभी भी ऐसी विचारधारा के रूप मे व्यवस्थित नही हो पाया जिसे सभी समाजवादी सर्वसम्मति से स्वीकार करले।[37] कार्ल मार्क्स के जीवन के अन्तिम वर्षों में तथा मृत्योपरान्त इनमे मतभेद प्रारम्भ हो चुके थे। (प्रथम

---

36. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 288, 258
37. Sabine, H. B., A History of Political Theory, p 665.

अन्तर्राष्ट्रीय' में मार्क्सवादियों और अराजकतावादियों के मतभेद थे ही। अब उनमें इस बात पर असहमति थी कि विभिन्न राज्यों और परिस्थितियों के अनुसार साम्यवादी क्रान्ति के लिये क्या नीति अपनाई जाये। कुछ ने मार्क्सवाद में संशोधन का सुझाव दिया। कुछ अनुयायियों ने इसे क्रान्ति के स्थान पर शान्तिपूर्ण विकासवादी विचारधारा के रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया।[38] 1889 में समाजवादी दलों ने जब एक नये अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Second International) की स्थापना की तो इसमें भी सैद्धान्तिक मतभेदों तथा मार्क्सवाद में विमोचन का क्रम चलता रहा।

मतभेदों के परिणामस्वरूप जिन-जिन समाजवादी सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव एवं प्रचलन चला उन्हें मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

प्रथम, वे सिद्धान्तकार जो सामान्यतः मार्क्सवादी सिद्धान्तों को स्वीकार करते थे। ये क्रान्ति तथा हिंसा के द्वारा नये समाज की रचना का समर्थन करते थे। 1871 में पेरिस कम्यून (Paris Commune) जैसी व्यवस्था को ये बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। इन्हे लोकतान्त्रिक प्रणाली के अन्तर्गत समाजवादी व्यवस्था की स्थापना में विश्वास नही था। कार्ल मार्क्स के बाद फ्रेडरिक ऐन्जिल्स तथा ऐन्जिल्स के बाद ट्राटस्की (Leon Trotsky 1879-1940) और लेनिन इस विचार-मार्ग के प्रमुख प्रवक्ता थे। लेनिन ने इन्हीं सैद्धान्तिक आधारों को रूस में कार्यान्वित किया और 1917 में रूस की क्रान्ति हुई। आधुनिक साम्यवाद इसी विचार और व्यवहार की उपज है।

द्वितीय, समाजवाद के वे सम्प्रदाय जो न तो मार्क्सवाद की विवेचना को पूर्णतः स्वीकार करते थे और न ही हिंसा या क्रान्ति द्वारा समाजवादी परिवर्तन करना चाहते थे। ये शान्तिपूर्ण और लोकतान्त्रिक पद्धति का समर्थन करते थे। संशोधनवाद (Revisionism), फेबियनवाद (Fabianism), गिल्ड समाजवाद (Guild Socialism) आदि इस श्रेणी में आते हैं।

लोकतान्त्रिक, विकासवादी, शान्तिवादी, समाजवादी सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण विकास माना जाता है। मार्क्सवादी समाजवाद से इस ओर जो झुकाव हुआ उसके कई कारण थे।

---

38. Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political T... p. 447.

कार्ल मार्क्स की भविष्यवाणियां गलत सिद्ध होती जा रही थीं। मार्क्स ने कहा था कि वर्ग-संघर्ष में वृद्धि होगी तथा श्रमिक-वर्ग निरन्तर निर्धन होता चला जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। श्रमिक सुधार कानूनों से श्रमिकों की स्थिति में सुधार हुआ तथा पूंजीपतियों और श्रमिकों में वह कटुता नहीं आई जैसा कि मार्क्स समझता था।

समाजवादी आन्दोलन अब श्रमिकों तक ही सीमित नहीं रहा। इसे अब मध्य वर्ग का भी समर्थन मिलने लगा। बुद्धिजीवी भी इसकी ओर आकर्षित हुए। परिणामस्वरूप मार्क्सवाद के वर्ग-संघर्ष और क्रान्तिकार तत्वों में शिथिलता बढ़ती गई।

'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' एवं 'द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय' संघों के अधिवेशनों के अवसरों पर जो स्वतन्त्र विचार विनिमय होता था उससे यूरोपीय देशों में समाजवादी दलों के निर्माण में प्रेरणा एवं सहायता मिली। कई राज्यों, विशेषतः जर्मनी, में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी (Social Democratic Party) की स्थापना हुई। अब विभिन्न देशों के समाजवादी अपने देश की उदीयमान पार्टी के राजनीतिक कार्यों में अधिक रुचि लेने लगे। क्रान्तिकारी विचारधारा की ओर उनका आकर्षण कम हो चला था।

फ्रान्स तथा दूसरे राज्यों की सरकारों ने अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर परिषद के कार्यों पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया था क्योंकि 1871 में पेरिस कम्यून से उनका सम्बन्ध बतलाया जाता था। इन प्रतिबन्धों से इसके सदस्यों ने क्रान्ति के स्थान पर शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा अपने राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये।

इंग्लैण्ड की भूमि कभी भी क्रान्तिवादी विचारधाराओं के उपयुक्त नहीं रही है। वे परम्परागत विकासवादी हैं। वे तर्क-संगत बात को ही मान्यता देते हैं इसलिए मार्क्सवाद की धर्मान्धता वे स्वीकार नहीं कर सकते थे। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश श्रमिक 1867 तथा बाद में सुधारों द्वारा अधिकार प्राप्त कर तथा जीवन की अवस्थाओं में सुधार हो जाने के कारण विकासवादी-शान्तिपूर्ण साधनों का और भी उग्र समर्थन करने लगे। इंग्लैण्ड में समाजवादी प्रयोगों ने यूरोप की समाजवादी प्रगति को प्रभावित किया। अब यह स्वीकार किया जाने लगा कि क्रान्ति के अतिरिक्त प्रगति एवं श्रमिक सुधारों के और भी विकल्प हो सकते हैं। यदि 1917 में रूस में साम्यवादी क्रान्ति द्वारा मार्क्सवाद को बल न मिलता तो पता नहीं इस समय मार्क्सवाद का क्या भविष्य होता। सम्भवतः मरणावस्था में होता।

फेबियनवाद, गिल्ड समाजवाद आदि जन साधारण को प्रभावित नही कर सके। कुछ तो इनमें सैद्धान्तिक त्रुटियां और अव्यवहारिकता थी तथा इनके सदस्यों ने इन समाजवादी सम्प्रदायों को स्वतन्त्र विचारधारा बनाने का प्रयत्न नही किया। इनके बहुत से सदस्यो ने अन्य श्रमिक एवं समाजवादी दलों की सदस्यता स्वीकार कर ली। धीरे-धीरे इन विचारधाराओं का अस्तित्व समाप्त होने लगा। अन्त में इस प्रकार की सभी समाजवादी धाराओं का एक स्थान पर संगम हुआ जिसे हम राज्य एवं लोकतान्त्रिक और विकासवादी समाजवाद कहते हैं। राज्य-समाजवाद की कोई एक निश्चित विचारधारा एवं व्यवस्था नहीं है। कुछ समान मूल आधारों को छोड़कर अलग-अलग राज्यो मे समाजवादी व्यवस्था में भिन्नता है। किन्तु इस समय लोकतान्त्रिक राज्य समाजवाद ही सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रचलित है।

1917 में रूस मे साम्यवादी क्रान्ति मे विश्व में मार्क्सवाद-साम्यवाद को महत्ता में वृद्धि हुई। देश-देश में साम्यवादी दलों की स्थापना हुई। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् पूर्वी यूरोपीय राज्य और चीन साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत आ गये। बाद में क्यूबा तथा कुछ समय पूर्व में चिली ने भी साम्यवादी व्यवस्था स्वीकार कर ली है।

दोनों विश्व युद्धों के मध्य इटली में फासीवाद (Fascism) तथा जर्मनी में नाजीवाद (Nazism) का प्रादुर्भाव हुआ। इन्हे भी समाजवादी सम्प्रदायों में स्वीकार किया जाता है। सामान्यतः इन्हें अधिनायकवादी समाजवाद और राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism) भी कहा जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध में इटली तथा जर्मनी की पराजय ने इन राज्यों से इन विचारधाराओं की समाप्ति कर दी है किन्तु ये पूर्णतः नष्ट नही हुई हैं। इनके अवशेष इन राज्यो तथा लेटिन अमरीकी राज्यों में अभी भी मौजूद हैं।

वास्तव में आजकल मुख्यतः दो ही प्रकार का समाजवाद है। साम्यवादी समाजवाद और लोकतान्त्रिक समाजवाद। इस समय इन दोनो में ही स्पर्द्धा है तथा ये एक दूसरे का विकल्प बनने का प्रयत्न कर रहे हैं।

पाठ्य-ग्रन्थ

1. कोकर — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन
अध्याय 3, समाजवादी आन्दोलन तथा मार्क्स के कट्टर अनुयायी, प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व

2. Crosland, C. A. R., — The Future of Socialism
Part II, The Aims of Socialism

3. Dunning, W. A., — A History of Political Theories : From Rousseau to Spencer
Chapter IX, Societarian Political Theory

4. Hallowell, J. H., — Main currents in Modern Political Thought
Chapter XI, The Origins of Modern Socialism

5. Jay, Douglas, — Socialism in the New Society
Part I, What Socialism means

6. जोड, सी. ई. एम., — आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका
अध्याय 3, समाजवाद विशिष्टत: समष्टिवाद से सम्बन्धित

7. Ramsay Mac Donald, J., — Socialism : Critical and Constructive
Chapter III, Socialism : Its Organisation and Idea

8. Wanlass, Lawrence, — Gettell's History of Political thought
Chapter XXII, Rise of Democratic Socialism

2

यूटोपियायी समाजवाद[1]

UTOPIAN SOCIALISM

यूटोपियायी (Utopian) शब्द का अर्थ

समाज में प्रचलित दोषों से मुक्ति पाने का प्रयास प्रत्येक युग में राजनीतिक चिन्तकों के चिन्तन का विषय रहा है। यूटोपियायियों का विषय प्रस्तुत समाज के दोषों को ध्यान में रखना तथा न्याय एवं नैतिक भावनाओं की जागृति कर उन्हे दूर करना होता है। वे एक ऐसे आदर्श लोक की कल्पना करते हैं जिसमें उनके अभीष्ट मूल्यों का साम्राज्य रहता है। उनका इतिहास में न तो कोई ठोस आधार होता है और न ही उन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान किया जा सकता है। ऐसे विचार स्वप्न-मात्र होते हैं किन्तु ये विश्व के समक्ष कभी-कभी अत्यन्त उपयोगी आदर्श प्रस्तुत करते हैं जो आगे चल कर अन्य विचारों के अग्रणीय बन जाते हैं।

यूटोपियायी चिन्तन के इतिहास की खोज प्राचीन काल से ही की जा सकती है। लगभग सभी ग्रीक विचारक स्वप्नवादी थे। उस समय दुर्गुणों से ग्रसित सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था की मुक्ति के लिये उन्होने बड़े-बड़े स्वप्नदर्शी सुझाव दिये। सुकरात (Socrates, 470-399 B. C.) का ज्ञान-शासन (Rule of Knowledge), प्लेटो (Plato, 427-347 B. C.) का दार्शनिक-शासक ((Philosopher King) तथा अरस्तु (Aristotle, 384-322 B. C.) व्यावहारिक चिन्तक होते हुए भी मूलतः स्वप्नवादी ही था।

प्लेटो की प्रसिद्ध पुस्तक रिपब्लिक (Republic) के पश्चात् यूटोपियायी लेखों में सबसे प्रसिद्ध टॉमस मोर (Thomas More, 1478-1535) की पुस्तक

---

1. 'Utopian Socialism' का कोई विशेष, स्पष्ट और निश्चित हिन्दी रूपान्तर नहीं है। हिन्दी भाषी लेखकों ने इसके लिये आदर्श समाजवाद, कल्पनावादी समाजवाद, स्वप्नलोकीय समाजवाद आदि शब्दों का प्रयोग किया है। प्रस्तुत पुस्तक में सिर्फ इसका हिन्दीकरण 'यूटोपियायी समाजवाद' का ही प्रयोग किया गया है। वैसे कहीं-कहीं कल्पनावादी या स्वप्न-लोकीय शब्दों को भी उल्लखित किया है।

यूटोपिया (Utopia, 1615 में रचित) मानी जाती है। मोर के विचार तीव्र राजनीतिक *व्यंग थे न कि व्यावहारिक कार्यक्रम*।[2] केम्पनेला (Campanella, 1568-1639) का ग्रन्थ The City of the Sun, 1623-तथा फेनलॉन (Fanelon, 1651-1715) आदि के विचार भी यूटोपियायी श्रेणी में आते हैं जिन्होंने समाज में प्रचलित बुराइयों को दूर करने के लिये विचारों के हवाई महलों का निर्माण किया। इन सभी में सुधारों के प्रति जो लगन थी उनके महत्व की अवहेलना नहीं की जा सकती। लेकिन इन्हें समाजवादी चिन्तकों के किसी भी सम्प्रदाय में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। इन यूटोपियायी चिन्तकों के विचार यदा कदा ही समाजवाद के कुछ मूल आधारों से मेल खाते हैं।

यूटोपियायी समाजवादी विचारक

यूटोपियायी समाजवाद क्या है, यूटोपियायी समाजवाद के अन्तर्गत कौन-कौन विचारक आते है, तथा इनके समाजवादी विचारों को यूटोपियायी क्यों कहा गया? समाजवादी चिन्तन के इतिहास मे 'यूटोपियायी समाजवादी' शब्द का प्रयोग सिर्फ एक मुट्ठी भर लेखकों के समूह के विचारों के लिये किया जाता है। अट्ठारहवी शताब्दी का फ्रान्स यूटोपियायी विचारकों का घर था। फ्रान्स के सुप्रसिद्ध कल्पनावादी विचारक सेन्ट साइमन (Saint Simon, 1760-1825) तथा चार्ल्स फोरिये (Charles Fourier, 1772-1837), और इनके अंग्रेज समकालीन रॉबर्ट ऑवन (Robert Owen, 1771-1858) तो सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। वास्तव में 'समाजवाद' शब्द की उत्पत्ति सर्वप्रथम विचारकों के *सन्दर्भ में ही हुई थी*।[3] इनके अतिरिक्त फ्रान्स के ही कुछ अन्य विचारक जैसे केबेट (Etienne Cabet, 1788-1856), सिसमोन्दी (Jean de Sismondi, 1773-1842), लुई ब्लाँ (Louis Blanc, 1813-1882), प्रधों (Pierre Joseph Proudhon, 1809-1865) को भी हम यूटोपियायी समाजवादियों की श्रेणी में सम्मलित करते हैं। इन्होंने उस समय के सामाजिक दोषों को दूर करने, पूंजीवादी व्यवस्था से सम्बन्धित शोषण तथा अन्य व्यवस्थाओं जैसे व्यक्तिगत सम्पत्ति, स्पर्द्धा आदि का विरोध कर श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये कुछ समाजवादी योजनाएँ सुझाई। कार्ल मार्क्स ने इनके विचारों को घृणात्मक तथा

2. Hallowell, J H., Main Currents in Modern Political Thought, p 374
3. Dunning, W. A, A History of Political Theories, From Rousseau, to Spencer, p. 348

कटाक्ष ढंग से यूटोपियायी कह कर निन्दा की ।[4] तभी से इन विचारकों को सामान्यतः यूटोपियायी समाजवादी कहा जाता है । इस सम्बन्ध में एलेग्जेन्डर ग्रे ने लिखा है कि—

> "वे स्वप्नवादी थे, क्योंकि मुख्यतः इस प्रारम्भिक चरण में समाजवाद एक साधारण विश्वास था (जैसाकि मार्क्स को प्रतीत हुआ) कि अच्छे विश्व का निर्माण सद्भावपूर्ण व्यक्तियो द्वारा कुछ करने, ऊपर से की हुई कार्यवाही, जैसे संसदीय विधेयक, राजकीय घोषणाएं तथा पूंजीवादियों की मानव कल्याण की भावना के द्वारा हो सकता था ।"[5]

कार्ल मार्क्स ने अपने पूर्व तथा समवर्ती विचारकों को यूटोपियायी माना है। वह सिर्फ अपने ही विचारों को वैज्ञानिक, तर्क-संगत तथा तथ्यों पर आधारित मानता था । मार्क्स एवं ऐन्जिल्स तथा अन्य आलोचकों ने इन्हें यूटोपियायी या स्वप्नलोकीय समाजवादी होने की संज्ञा क्यों दी इसके पहिले इन समाजवादी विचारकों तथा उनकी योजनाओं के विषय में जानना आवश्यक है ।

सेन्ट साइमन

Count Henri-Claude De Rouvroy De Saint-Simon
1760—1825

सेन्ट साइमन का जन्म फ्रांस के एक प्राचीन परिवार में हुआ था । सम्मान सहित इनका पूरा नाम काउन्ट हेनरी क्लॉड द रूराय द सेन्ट साइमन था। नवीन योजनाओं में इनका मस्तिष्क खूब लगता था । फ्रास की क्रान्ति का भी इन्होने कुछ ज़ायका लिया । परिणामस्वरूप एक वर्ष जेल में भी रहे । इसी समय इन्होने अपनी उपाधियों को त्याग दिया ।

सेन्ट साइमन ने लगभग 42 वर्ष की उम्र में सर्वप्रथम अपने विचारों की अभिव्यक्ति एक ग्रन्थ लिख कर की । इसका नाम था—

Letters from an Inhabitant of Geneva to his Contemporary, 1802.

---

4 Manifesto of the Communist Party, p 89.

5 Gray Alexander, The Socialist Tradition, pp 4-5

इसके पश्चात् उन्होंने और भी ग्रन्थ लिखे जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं-

The Reorganisation of European Society, 1821
(युरोपीय समाज का पुनर्गठन)

The Industrial System, 1821
(औद्योगिक प्रणाली अथवा व्यवस्था)

The New Christianity, 1825
(नवीन ईसाई धर्म)

सेन्ट साइमन ने जिस युग को अपने विचारो से प्रभावित किया वह एक प्रकार से संक्रमण-युग था। यह सामन्तवाद का अन्तिम चरण तथा औद्योगिक युग का प्रारम्भ था। सेन्ट साइमन का अनुमान था कि औद्योगिक क्रान्ति से एक नये युग का प्रादुर्भाव हो रहा है जिससे एक नवीन समाज की पुनर्रचना होगी। साइमन के विचारों का अध्ययन करने से पता चलता है कि उन्होंने स्वयं ही अपने विचारो द्वारा आने वाले नये युग के पथ-प्रदर्शक का कार्य किया। वे एक ऐसी नवीन लौकिक एवं आध्यात्मिक शक्ति खोजने को उत्सुक थे जो भविष्य में मानव जाति के उच्चतर विकास के लिये मार्ग-दर्शन कर सके तथा नवीन समाज रचना मे सहायक हो सके। साइमन के ही शब्दो में—

"मानव जाति का स्वर्ण-युग भूतकाल में नहीं भविष्य में है, यह सामाजिक व्यवस्था की पूर्णता में निहित है। हमारे पूर्वजों ने इसे कभी नहीं देखा; हमारी सन्ताने एक दिन वहां पहुँचेगी; हमें उनके लिये मार्ग स्पष्ट करना है।"[6]

सेन्ट साइमन का विश्वास था कि समाज की प्रगति तब तक सम्भव नही है जब तक कि व्यक्तिगत सम्पत्ति संस्था मे आधारभूत परिवर्तन न किये जायें। उन्होंने इस प्रकार की सम्पत्ति के प्रति आपत्ति की जो निष्क्रिय है, जिसे रखने का कोई भी नैतिक औचित्य नही हो सकता था। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति से सम्बन्धित उस स्पर्द्धा के भी वे विरुद्ध थे जिस पर कोई सामाजिक नियन्त्रण न हो।[7]

---

6. Markham, F. M. H. (Ed). Henry Comte de Saint-Simon, 1760-1825: Selected Writings, Basil Blackwell, Oxford, 1952, p. 68
7. Catlin, George, A History of the Political Philosophers, Allen and Unwin, London, 1950, p. 533.

लेकिन सेन्ट साइमन वैयक्तिक सम्पत्ति प्रथा का उन्मूलन करने के पक्ष में नही थे । वे मूलतः भूमि के स्वामित्व मे परिवर्तन करना चाहते थे । उनके विचार से स्वामित्व के कानूनी स्वरूप में परिवर्तन होना चाहिये।[8] उन्होंने सम्पत्ति की सार्वजनिक उपयोगिता तथा सम्पत्ति के सामाजीकरण का अनुमोदन किया।

सेन्ट साइमन ने एक ऐसे नूतन समाज की कल्पना की जिसमें गरीबी, विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग तथा सीमित व्यक्तियो द्वारा विलासपूर्ण जीवन का अन्त हो । इसके लिये यह आवश्यक था कि समाज का संगठन और निर्देशन बुद्धिपूर्वक हो । किन्तु यह असम्भव सा प्रतीत हो रहा था क्योंकि साइमन ने यह स्वीकार किया कि मनुष्य में धर्म का प्रभाव घटता जा रहा था । धार्मिक सिद्धान्तों से विमुख होने पर नैतिकता का अभाव स्वाभाविक ही था। उनकी धारणा थी कि नैतिक सिद्धान्तों का ईसा की धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाओं के प्रकाश में अभिनवीकरण किया जाय । इस नवीन नैतिक आधार को उन्होंने सकारात्मक अथवा रचनात्मक नैतिकता (positive morality) की संज्ञा दी ।[9]

मानव प्रगति के लिये साइमन ने रचनात्मक नैतिकता के साथ-साथ विज्ञान की सहायता को अत्यन्त आवश्यक माना था। उनके अनुसार दरिद्रों की उन्नति तथा उनका जीवन स्तर उठाने के लिये वैज्ञानिक प्रगति और ईसाई धर्म की शिक्षा का समन्वय होना चाहिये। अपनी योजनाओं में साइमन ने वैज्ञानिक आधार को अत्यधिक महत्व दिया ।

नयी सामाजिक व्यवस्था की योजना

सेन्ट साइमन ने जो नवीन सामाजिक योजना सुझाई उसका सिद्धान्त-आधार था कि धन के उत्पादन में जिनका भी योगदान होता है उन सबका अपने परिश्रम के अनुसार धन में भाग होना चाहिये।

साइमन की सर्वसाधारण या जन-नेताओं के प्रति कोई विशेष श्रद्धा नहीं थी। वे समाज का नेतृत्व औद्योगिक वर्ग, वैज्ञानिकों तथा तकनीशियनों के हाथों मे देना चाहते थे । उनका विश्वास था कि औद्योगिक नेताओं में सामाजिक प्रगति और संगठन की अधिक क्षमता होती हैं। यदि समाज की शक्ति समुचित विवेकशील उद्योगपतियों के हाथों में आ जाये तो उनमें उत्तरदायित्व

8 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p. 155.
9. Ramsay MacDonald J., Socialism : Critical and Constructive, p. 56;
Kilzer and Ross, Western Social Thought, pp. 239-40.

की भावना जागृत होगी। वे स्वयं को दरिद्रों का 'ट्रस्टी (trustee) समझेंगे, तथा उनके जीवन-स्तर को ऊंचा उठाकर सर्वसाधारण के कल्याण के लिये कार्य करेंगे।[10]

इन उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए सेन्ट साइमन समाज के तीन वर्गों के सहयोग (Fraternite) को अति आवश्यक मानते थे। ये थे—उद्योग वर्ग (*industrials*), कलाकार एवं कारीगर वर्ग (*artists*), और वैज्ञानिक वर्ग (*savants*)। इन तीनों वर्गों के समन्वय के लिये साइमन ने एक संसद का सुझाव दिया था। इस संसद के निम्नलिखित तीन सदन होंगे —

प्रथम, आविष्कार सदन (*chambre d'invention*), जिसमें 200 इन्जीनियर, 50 कवि तथा 50 विभिन्न कलाओं के दस व्यक्ति होंगे। यह सदन कानूनों को प्रस्तावित करेगा।

द्वितीय, परीक्षा सदन (*chambre d'examen*), जिसमें 100 जीव विज्ञान शास्त्री, 100 भौतिक विज्ञान शास्त्री तथा 100 गणितज्ञ होंगे। इस सदन का कार्य कानूनों को पारित करना होगा।

तृतीय, कार्यकारी सदन (*chambre d'execution*), जिसमें सभी औद्योगिक शाखाओं के नेता होंगे। इनका कार्य कानूनों को क्रियान्वित करना होगा।[11]

इस संसदीय आधार पर सेन्ट साइमन एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जो फैक्ट्री के नमूने पर बना हो, जिसमें सम्पूर्ण समाज उत्पादक समुदाय का रूप ले तथा किसी भी प्रकार का वर्ग-भेद न हो। अन्य शब्दों में सेन्ट साइमन एक औद्योगिक राज्य (Industrial State) की स्थापना की धारणा लेकर चल रहे थे जो चर्च की सत्ता का स्थान ग्रहण करे।[12] इस सम्बन्ध में उनकी नीयत एवं उद्देश्य तो ठीक थे पर योजना अवश्य ही ऊटपटांग प्रतीत होती है। वे वैज्ञानिकों को मध्ययुगीन पोप तथा पादरियों जैसा शक्तिशाली बनाना चाहते थे जिनके द्वारा समाज का समस्त श्रम व्यवस्थित एवं नियन्त्रित हो।[13]

---

10 Kilzer and Ross, Western Social Thought, pp 239-40.

11. Gide C., and Rist C. A., History of Economic Doctrine, George Harrap & Co., London, 1948, p. 214.

12. Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political thought, p. 380.

13. Ramsay MacDonald J., Socialism : Critical and Constructive, P. 56.

चार्ल्स फोरिए
Charles Fourier, 1772—1837

चार्ल्स फोरिए भी फ्रान्स के एक प्रमुख समाजवादी विचारक हुए हैं। समाजवादियों में ये यूटोपियायी विचारकों की श्रेणी में आते हैं। इनके विचारो का प्रारम्भ अनियन्त्रित व्यक्तिवाद तथा पूंजीवाद के दोषों की प्रतिक्रिया और आलोचना के रूप में हुआ। बचपन से ही फोरिए ने इन समस्त दोषों को अपनी आंखो से देखा। एक बार इन्होंने अपने पिता के व्यापार के विषय में किसी को कुछ बतला दिया। इससे इनके पिता बहुत नाराज हुए। फोरिए उस समय यह नही समझ पाये कि चर्च में उन्हे सच बोलने को कहा जाता है लेकिन व्यापार में झूठ। इसी प्रकार एक दिन मार्सालीज (Morseilles) बन्दरगाह में फोरिए ने देखा कि चावल को समुद्र में फेंका जा रहा था ताकि मूल्य में गिरावट न आ जाये। अधिक लाभ के लिये मालिकों ने चावल को समुद्र में फेंकना उचित समझा। इस घटना ने फोरिए को यह सोचने के लिये बाध्य कर दिया कि इस आर्थिक व्यवस्था में क्या आधारभुत दोष हैं जिसमें भोजन को सड़ने दिया जाता है जबकि समाज को उसकी घोर आवश्यकता होती है।

फोरिए ने इस व्यवस्था को समझने का प्रयत्न किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि आर्थिक अव्यवस्था और अपव्यय के कारण प्रचलित आर्थिक प्रणाली में ही निहित थे जो व्यक्तिगत लाभ तथा पूर्ण स्पर्द्धा पर आधारित थी।[14] इसलिये फोरिए स्पर्द्धा के आधार पर क्रय-विक्रय की जटिल प्रणाली को निन्दनीय मानते थे तथा समस्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दुर्गुणों के लिये औद्योगिक एवं व्यवसायी वर्ग को उत्तरदायी समझते थे।[15]

नवीन समाज की कल्पना

फेलेन्क्स योजना (Phalanx Project)[16]

जनसाधारण को सुविधा प्रदान करने, श्रमिकों की दशा सुधारने तथा आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन के लिये फोरिए ने दो महत्वपूर्ण (जिन्हें वे मत्त्हव-पूर्ण समझते थे) सुझाव दिये। प्रथम, नवीन समाज की योजना तथा द्वितीय, न्यूटन के सिद्धान्त पर आधारित श्रमिकों के लिये आकर्षण नियम (Law of Attraction) को लागू करना।

---

14. Selections from the Works of Fourier, translated by J. Franklin, London, 1901, pp. 17-18.
15. Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p. 179.
16 Gray, A., The Socialist Tradition pp 184-86;
Hallowell, Main Currents in Modern Political Thought, pp.

फोरिए सामाजिक विकास क्रम को ऐतिहासिक ढंग से समझाते हुए बतलाता है कि प्रत्येक अवस्था में प्रतिवाद के रूप मे स्वयं के विकास लक्षण होते हैं। यदि सामाजिक बुराइयों को दूर न किया जाये तो वे समाज और मानवता को नष्ट कर देती है। इस बात को ध्यान में रखते हुए फोरिए ने एक योजना प्रस्तुत की।

फोरिए की सामाजिक योजना की सबसे पहली और छोटी इकाई एक व्यावसायिक समूह (group) है। प्रत्येक समूह मे एक ही स्वभाव व धन्धे के कम से कम सात व्यक्ति होंगे।

पांच या अधिक व्यावसायिक समूह मिलकर एक अन्य संगठन का निर्माण करेंगे जो सिरीज (Series) कहलायेंगे।

पच्चीस से अट्ठाईस सीरीज मिलकर फेलेन्क्स (Phalanx) का निर्माण करेंगे। फेलेन्क्स सामाजिक संगठन की सबसे बड़ी इकाई होगी। कई फेलेन्क्स एक संयोजक शासक के अधीन एक ढीले संघात्मक संगठन के अन्तर्गत आ जायेंगे।

एक फेलेन्क्स में लगभग 1600 व्यक्ति होंगे जिनमे श्रमजीवी, कारीगर तथा पूंजीपति सम्मलित होंगे। इसमें जो भी उत्पादन होगा वह सब व्यक्तियों के सहयोग से होगा। प्रत्येक फेलेन्क्स के पास लगभग 500 एकड़ भूमि होगी जहां वे सब मिलकर रहेंगे। प्रत्येक फेलेन्क्स में भोजनालय, स्कूल, लाइब्रेरी, पूजाघर आदि होंगे। या, यह कहना चाहिये कि प्रत्येक दृष्टि से फेलेन्क्स आत्म-निर्भर होंगे। ये उत्पादक और उपभोक्ता दोनो ही होंगे। फेलेन्क्स प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक परिवार को निश्चित न्यूनतम वेतन मिलेगा तथा बची हुई शेष आय को श्रमजीवी, पूंजीपति, तथा कुशल श्रमिको में 5 : 4 : 3 के अनुपात में विभाजित किया जायेगा। कार्य एवं वितरण के विषय में फोरिए यह सिद्धान्त स्वीकार करता है कि "प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार काम करे और प्रत्येक व्यक्ति को उसके काम के अनुसार लाभ मिले।[17]

फेलेन्क्स व्यवस्था की स्थापना से फोरिए का विचार था कि समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों में सहयोग होगा तथा पूंजी और श्रम के बीच समुचित सम्बन्ध स्थापित करने से उत्पादन में वृद्धि होगी। साथ ही साथ प्रतिस्पर्धा के दुष्परिणाम भी दूर हो जायेंगे।

---

17. फोरिये के अलावा अतिरिक्त यूटोपियायी समाजवादियों में लुई ब्लां के भी लगभग ऐसे ही विचार थे।
Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 255.

फोरिए का विश्वास था कि फेलेन्क्स व्यवस्था की स्थापना आन्दोलन या हिंसा के आधार पर नहीं होगी बल्कि जनता उन्हें स्वेच्छा से स्वीकार करेगी।

आकर्षण नियम (Law of Attraction)

फोरिए स्वयं को न्यूटन (Sir Isaac Newton, 1642-1727) से कम नही समझता था। उद्योग में आकर्षण नियम को सम्पादित कर फोरिए का दावा था कि उसने अन्वेषण के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। फोरिए का उद्योग के क्षेत्र में श्रमिकों के लिये यह आकर्षण नियम (या सिद्धान्त) श्रम-विभाजन और फेलेक्स व्यवस्था का मुख्य आधार था।

फोरिए के आकर्षण नियम के अनुसार मनुष्य को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य मिलना चाहिए। मनुष्य वह कार्य अधिक योग्यता, कुशलता और लगन से करता है जो उसे आकर्षित करता है। मनुष्य को जब अपनी इच्छानुसार काम नही मिलता तो ऐसे कार्य करने में वह अपने श्रम का अपव्यय करता है।

कार्य किस प्रकार आकर्षक हो सकता है इसके लिये फोरिए सात आवश्यक दशाओं (Conditions) का उल्लेख करता है जो निम्नलिखित हैं :— [18]

1. प्रत्येक श्रमिक अपने कार्य में भागीदार हो।
2. श्रमिक को वेतन के स्थान पर अपने कार्य का हिस्सा मिलना चाहिये।
3. कार्य करने का समय अधिक से अधिक दो घन्टे का होना चाहिये।
4. अलग-अलग कार्य भिन्न मन्डलियों द्वारा मिलकर करना चाहियें।
5. प्रत्येक कार्य में पारस्परिक उपयोगी स्पर्द्धा होनी चाहिये।
6. अधिक से अधिक श्रम विभाजन हो जिससे प्रत्येक व्यक्ति को कार्य के अधिक अवसर उपलब्ध हों।
7. मनुष्य जो कार्य करे उससे उसे इतना धन प्राप्त हो सके कि वह जीवन की आवश्यकताओं की चिन्ता से मुक्त रहे।

जब इस प्रकार की दशाएं उपलब्ध होंगी तब फेलेन्क्स योजनाएं अधिक सफलतापूर्वक कार्यान्वित की जा सकती हैं। मनुष्य स्वयं उत्पादक और उपभोक्ता होगा, वह गीत गाते हुऐ वह आनन्दपूर्वक अपना कार्य करेगा। इस स्थिति को फोरिए हारमनी (Harmony) कहता है। यही उसकी योजनाओ का उद्देश्य है। [19]

---

18 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, pp 185-86.

19. Ibid., pp. 184-86.

फोरिए को अपने जीवन काल में न तो इतना धन उपलब्ध हो सका और न कोई अवसर ही हाथ लगा कि वह अपनी योजनाओं को कार्यरूप प्रदान करता। वह प्रतीक्षा करते करते मर गया कि कोई उदार पूंजीपति उसके पास आयेगा और उसकी नवीन समाज योजना की स्थापना में सहायक होगा। किन्तु फोरिए की मृत्यु के बाद उसके विचारों को अमेरिका मे कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया गया। न्यू जेरसी (New Jersey) में—The North American Phalanx, मेसेचुसेट्स (Massachusetts) में—Brook Farm—आदि की स्थापना की गई। अमेरिका में लगभग तीस योजनाओं को हाथ में लिया गया लेकिन कोई भी पांच या छः साल से अधिक नहीं चल सकी।[20]

रॉबर्ट ओवन
Robert owen, 1771—1858

रॉबर्ट ओवन को इंग्लैन्ड में समाजवाद और सहकारी आन्दोलन का जनक समझा जाता है। इनका जीवन बड़ा भव्य एवं सतरंगी था। बाल्यकाल से ही इन्हे जीवन अनुभवों से गुज़रना पड़ा। नौ वर्ष की उम्र से ही ओवन ने एक दुकान पर नौकरी प्रारम्भ की। आगे चलकर वह लन्दन तथा अन्यत्र भी इसी प्रकार का कार्य करते रहे। उन्नीस वर्ष की अवस्था मे ओवन मेनचेस्टर में तीन सौ पौन्ड वार्षिक वेतन पर एक रुई मिल के मैनेजर नियुक्त किये गये। यहा पर पूर्ण अनुभव प्राप्त करने के उपरान्त ओवन ने 1797 में, कुछ अन्य साझीदारो के सहयोग से, स्कॉटलैन्ड में एक औद्योगिक ग्राम—न्यू लेनार्क (New Lanark)—डेल (Dale) परिवार से खरीदा। इसके साथ-साथ ओवन ने इस परिवार की पुत्री से विवाह भी कर लिया। न्यू लेनार्क में ही, 1800 से, ओवन ने अपने उदारवादी और समाजवादी प्रयोग प्रारम्भ किये।[21] ओवन के जीवन के विषय मे कोल (G. D. H. Cole) ने लिखा है कि कोई भी व्यक्ति एक ही साथ इतना व्यावहारिक और स्वप्नद्रष्टा, इतना प्रेमपात्र तथा अपने साथ काम करने में इतना असम्भव, इतना उपहास-केन्द्र किन्तु प्रभावशाली नही हुआ जितना कि ओवन थे।

ओवन के विचार कई छोटी-छोटी पुस्तकों, निबन्धों और प्रतिवेदनों में मिलते हैं। उनके प्रारम्भिक ग्रन्थों में सबसे महत्वपूर्ण एक निबन्ध संग्रह है *जिसका नाम — A New View of Society or Essays on the* Formation of Human Character है। इसका प्रकाशन 1893 में हुआ।

---

20 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p. 387.

21. Gray, A, The Socialist Tradition, pp 199-200.

रॉबर्ट ओवन द्वारा तात्कालीन युग के विवेचन से स्पष्ट है कि उस समय औद्योगिक क्रान्ति के दुष्परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे थे। पूंजीपतियों और श्रमिकों के मध्य आर्थिक विषमता में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण अपनी चरम सीमा पर था। ओवन के मतानुसार आविष्कारों तथा औद्योगिक क्रान्ति से धन में जो वृद्धि हुई वह कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में आई। तमाम व्यक्तियों के परिश्रम से उत्पन्न यह सम्पत्ति मुट्ठी भर व्यक्तियों ने हड़प ली।[23] डगलस जे ने लिखा है :—

> "ओवन का पूर्ण विश्वास था कि औद्योगिक क्रान्ति से जो अधिक सम्पत्ति सम्भव हुई है उसका दुरुपयोग किया जा रहा है क्योंकि इसका संचालन, स्पर्द्धा और बाजार की अन्धी शक्तियों (blind market forces) द्वारा हो रहा है न कि सामाजिक उद्देश्यों से।"[24]

ओवन का विचार था कि मनुष्य अपने सामाजिक तथा आर्थिक पर्यावरण की सृष्टि है। औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पादन में तो वृद्धि की किन्तु व्यक्ति का पतन हुआ। इस पतन का कारण वे दरिद्रता और असमानता को मानते थे। लेकिन इन सबके पीछे पूंजीवादी व्यवस्था ही सबका मूल कारण थी।

ओवन पूंजीवाद से सम्बन्धित दोषों का निदान चाहते थे। किन्तु वे पूंजीपतियों और श्रमिकों में प्रतिस्पर्द्धा या संघर्ष के समर्थक नहीं थे। उनके विचार से इन दोनों का सम्बन्ध सहयोग के आधार पर होना चाहिये।

श्रमिक वर्ग का कल्याण ओवन का मुख्य उद्देश्य था। उन्होंने हमेशा इस बात पर जोर दिया कि—

(i) एक मालिक द्वारा श्रमिकों को अपने लाभ का साधन समझना भूल है;
(ii) श्रमिकों को उचित मजदूरी मिलनी चाहिये;
(iii) श्रमिकों के कार्य-अवधि में कमी हो तथा
(iv) श्रमिकों के लिये स्वच्छ वातावरण और उनके बच्चों की शिक्षा आदि का समुचित प्रबन्ध होना चाहिये।

सामाजिक प्रगति के लिये ओवन शिक्षा तथा कानूनी व्यवस्था में सुधार चाहते थे। ओवन के अनुसार उस समय कानून का आधार यह सिद्धान्त था कि मनुष्य जो कुछ भी करता है उसका उत्तरदायित्व स्वयं उसका ही है। यह

---

23 Report to the County of Lanark, Everyman, London, p 258
24. Jay, Douglas, Socialism in the New Society, p 3.

भ्रमात्मक विचार था। मनुष्य जो कुछ भी करता है उसका उत्तरदायित्व वातावरण पर भी है। कानून निर्माण करते समय इस तथ्य को भी ध्यान मे रखना चाहिये।

न्यू लेनार्क प्रोजेक्ट (New Lanark Project)

ओवन ने जब न्यू लेनार्क खरीदा उस समय वह एक भ्रष्ट और शोषित ग्राम था। इस ग्राम का प्रारम्भिक अवलोकन करने के बाद ओवन ने निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य के चरित्र का निर्माण उसके वातावरण पर निर्भर है। मनुष्य के वातावरण मे सुधार करने से मनुष्य के चरित्र में भी सुधार हो सकता है।[25]

मनुष्य के चरित्र-निर्माण में ओवन शिक्षा को सबसे अधिक महत्व देता है। न्यू लेनार्क में उसने बच्चो के लिये उत्तम शैक्षणिक संस्थाओ की स्थापना की। चरित्र निर्माण को ओवन ने इतना महत्व दिया कि एक जनवरी 1816 को उसने एक चरित्र निर्माण संस्था की स्थापना की। धीरे-धीरे न्यू लेनार्क एक आकर्षक प्रगतिशील स्थल बन गया। न्यू लेनार्क प्रयोग अवलोकन करने के लिये देश-विदेश से सभी वर्ग के लोग आया करते थे।

ओवन का विचार था कि न्यु लेनार्क जैसे प्रयोग पूरे विश्व में किये जा सकते हैं और इसलिये उसने अमेरिका में भी कुछ सहयोगी ग्रामो जिन्हे ओवन समान्तर चतुर्भुज (Parallelograms) कहा करता था, की स्थापना की। इन सहयोगी ग्रामो में इन्डिआना (Indiana) मे न्यू हारमनी (New Harmony); हैम्पशायर तथा ग्लासगो के निकट और भी अन्य ग्रामो की स्थापना की लेकिन यहां उसके साम्यवादी या सामुदायिक प्रयोग सफल नही हो सके। न्यू लेनार्क मे भी उसके साझीदार उसका विरोध कर रहे थे। अंत में उसने उद्योग से हटकर दो प्रमुख संस्थाओ 'ग्रान्ड नेशनल केन्सोलीडेटेड ट्रेडस यूनियन' और 'नेशनल इक्वीटेबल लेबर एक्सचेन्ज' की स्थापना की।

केबेट
Etienne Cabet, 1788—1856

केबेट की गणना भी यूटोपियायी विचारकों में की जाती है। हालाकि वह उतना प्रभावशाली एवं ख्याति-प्राप्त नही था जितने कि अन्य यूटोपियायी चिन्तक थे। वह फ्रांस की राजनीति में सक्रिय था इसलिये उसका प्रमुख

25 Owen, R. A New View of Society, p 20.

उद्देश्य 'व्यावहारिक युटोपिया' का निर्माण करने का था जिसे विचार कल्पना की सीमा को लांघकर कार्यान्वित किया जा सके।

केबेट अपने लिये फोरिए का शिष्य कहता था किन्तु वह ओवन के विचारो से अधिक प्रभावित था। 1846 मे उसने एक उपन्यास लिखा जिसका शीर्षक Voyage en Icarie (or, Voyage to Icaria) था। इस पुस्तक में केबेट कल्पना करता है कि एक नई भूमि पर किस प्रकार शासन, श्रम, वाणिज्य, शिक्षा तथा सामाजिक व्यवस्था की जा सकती है। केबेट के यूटोपियायी विचार स्पष्टतः समाजवादी थे।[26]

अपने विचारों को कार्यरूप देने के लिये केबेट ने 1848 में अपने अनुयायियो के साथ अमेरिका प्रस्थान किया जहा उसने वडी मुश्किल से कुछ भूमि प्राप्त कर साम्यवादी सिद्धान्तो के आधार पर व्यवस्था करना प्रारम्भ किया।[27] परिवार को छोड़कर समस्त बातों पर सामुदायिक नियन्त्रण स्थापित किया गया। केबेट स्वयं ही इस योजना का अध्यक्ष था किन्तु उसकी तानाशाही प्रवृत्ति से उसकी योजनाऐं अधिक दिनो सफलतापूर्वक नही चल सकी।

लुई ब्लां
Louis Blanc, 1813–1882

लुई ब्लां फ्रांस के प्रमुख समाजवादी थे। ये एक सफल चिन्तक, इतिहासकार पत्रकार और सक्रिय राजनीतिज्ञ थे। इनके विचारो को यूटोपियायी और मार्क्सवाद के बीच की कड़ी कहते हैं। इन्होंने पूंजीवादी व्यवस्था तथा आर्थिक स्पर्द्धा का विरोध किया। किन्तु मार्क्स की तरह उसे क्रान्ति या हिंसा द्वारा समाप्त नही करना चाहते थे। वे इस सम्बन्ध मे उदार थे। वे यूटोपियाइयों की भांति उच्च वर्ग से उदारता और सहयोग की अपेक्षा करते थे।[28]

लुई ब्लां राज्य को श्रमिक-शोषण का साधन नही मानते। उनका विचार था कि राज्य एक शक्तिशाली और कल्याणकारी संस्था के रूप में श्रमिकों के उत्थान और संरक्षण का एक प्रमुख साधन बने। किन्तु जैसे ही श्रमिक वर्ग शक्तिशाली ओर सबल हो जायेगा राज्य की महत्ता कम हो जायेगी। मार्क्सवाद की तरह वे राज्य समाप्ति के समर्थक नहीं थे।[29]

26 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 253.
27 Ibid, p 253.
28 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p. 228.
29. Ibid., p. 220.

लुई ब्लां श्रमिक वर्ग के प्रबल सहायक थे। वास्तव में उन्हे फ्रांस में 1848 की क्रान्ति का जनक कहा जाता है लेकिन उन्होने वर्ग-संघर्ष का समर्थन नहीं किया। यूटोपियाइयों की तरह ब्ला ने एक नई व्यवस्था का प्रतिपादन किया। यह व्यवस्था राज्य द्वारा संचालित श्रमिक सामाजिक वर्कशॉप (Social Workshop) थी जिसमें समस्त श्रमिकों को रोजगार मिलने की व्यवस्था थी। ये प्रोजेक्ट 1848 में क्रान्ति के समय बड़े प्रभावशाली सिद्ध हुए।[30]

1848 की क्रांति के समय फ्रांस में जो अस्थाई सरकार बनी, लुई ब्ला उसके सदस्य थे। इस अवसर का लाभ उठाकर ब्लां अपनी योजनाओ को कार्यान्वित करना चाहते थे किन्तु राजनीतिक संघर्ष के कारण वे सफल नहीं हो सके। यही नहीं उन्हें फ्रास छोड़ने के लिए मजबूर भी किया गया।[31] तत्पश्चात उन्होंने इंग्लैंड में शरण ली जहां वे लगभग 22 वर्ष रहे। 1871 मे नेपोलियन तृतीय के पतन के बाद ये फिर फ्रांस वापस आये। किन्तु उस समय तक इनके समाजवादी विचारों में काफी शिथिलता आ चुकी थी।[32]

लुई ब्लां यूटोपियायी विचारकों की श्रेणी में आते हैं किन्तु इनके विचार यूटोपियायी और कार्ल मार्क्स के विचारों से भिन्न और मिले-जुले दोनों ही थे। वास्तव में ब्लां ने यूटोपियायी समाजवाद से सर्वहारा समाजवाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया। वे यूटोपीयायी समाजवाद तथा मार्क्सवाद के मध्य एक कड़ी थे।[33]

जोसेफ प्रधों

Pierre Joseph Proudhon, 1809–1865

प्रधों को किसी एक विचारधारा के अन्तर्गत बांधना अत्यन्त ही दुर्लभ कार्य है। कहीं वे साम्यवादी हैं, कही यूटोपियायी तो कही अराजकतावादी। आगे चलकर कार्ल मार्क्स से विचार-द्वन्द में उन्होंने मार्क्सवादी-साम्यवाद से अपने लिये पृथक कर लिया। इन्हे अन्तिम यूटोपियायी विचारक तथा अराजकतावाद के एक जनक के रूप में स्वीकार किया जाता है।[34]

---

30. Opp 225.
31. Dunning, W. A., cit. A History of Political Theories, from Rouseau to Spencer, p. 344.
32. Ross and Kilzer, Western Social Thought, p. 256
33. Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p 219.
34. Ross and Kilzer, Western Social Thought, pp. 259-60.

प्रधों का जन्म फ्रांस के श्रमिक परिवार में हुआ। बाल्यकाल से ही इन्हें जीविका कमाने के लिए संघर्ष करना पड़ा। बचपन से इन्हें अध्ययन का शौक था तथा अपने जीवन काल में कई प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की। इनकी निम्नलिखित प्रसिद्ध पुस्तकें थी :—

1. What is Property ? An Enquiry into the Principle of Rights and of Government, 1840.
2. Warring to Property Owners, 1842.
3. System of Economic Contradictions or the Philosophy of Poverty, 1846.
4. War and Peace, I and II vols., 1861 etc.

वैसे प्रधों के विचारों की काफी व्यापकता है किन्तु यहां उनके यूटोपियायी योगदान तक ही सीमित रहना है। उन्होंने सम्पत्ति संस्था पर करारा प्रहार किया तथा श्रमिकों की दशा सुधारने,मजदूरी सिद्धान्त में परिवर्तन करने आदि के सुझाव दिये हैं। यूटोपियायी विचारक के रूप में, 1848 में, उन्होने एक जनता बैंक (Bank of the People) तथा 'पारस्परिक संगठनों' (Mutualist Organisation) की योजनायें प्रस्तुत कीं। इन योजनाओं में उन्होंने उस अर्थ-व्यवस्था की कल्पना की जिसमें श्रमिकों को कार्य करने के लिये मुफ्त ऋण मिलेगा, जहां व्यक्तियों को सेवा के बदले सेवा, मूल्य के बदले मूल्य तथा जनता बैंक द्वारा 'मुफ्त ऋण नोट'(Free Credit Notes)का प्रचलन किया जायेगा। प्रधों द्वारा कल्पित समाज में न कोई अधिनायकवाद होगा और न कोई राज्य हस्तक्षेप। व्यक्तियों द्वारा निर्मित संघों के आधार पर विकेन्द्रित व्यवस्था होगी।[35]

प्रधों के ये विचार यूटोपियायी सिद्ध हुए। उनको कोई विशेष व्यावहारिक रूप नहीं दिया गया। चूंकि प्रधों को अन्तिम यूटोपियायी माना जाता है, इनका विशेष योगदान अराजकतावाद के क्षेत्र में है।

---

35 opp. city. pp 258-259.

यूटोपियायी समाजवाद के विचार-सूत्र

व्यक्तिवाद एवं यदभाव्यम् का प्रतिरोध

जिस समय यूटोपियायी समाजवादियों ने अपने विचार व्यक्त किये उस समय औद्योगिक क्रान्ति प्रगति की ओर बढ़ती जा रही थी। औद्योगिक क्रान्ति जन-जीवन के समस्त पहलुओं को पूर्णतः प्रभावित करती जा रही थी। इस क्रान्ति से व्यक्तिवादी तथा यद्भाव्यम् (Laisses Faire) विचारधारा को भारी प्रोत्साहन मिला। इससे पूंजीवाद का भी प्रादुर्भाव हुआ। व्यक्तिवादी और पूंजीवादी व्यवस्था से सम्बन्धित व्यक्तिगत सम्पत्ति, लाभ, स्पर्द्धा आदि का भी जन्म हुआ। इन सभी ने उत्पादन में तो वृद्धि की लेकिन तमाम सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक कुरीतियों, त्रुटियों और बुराइयों को समाज में छोड़ दिया। यूटोपियायी समाजवादियों ने इस प्रकार की सभी व्यवस्थाओं को निन्दनीय बतलाया है। उन्हें व्यक्तिवाद और पूंजीवाद के दुखद परिणामों को देख कर ग्लानि हुई।[36] व्यक्तिवादी विचारधारा का खन्डन करते हुए रॉबर्टओवन ने एक स्थान पर लिखा है—

> "आजकल प्रचलित यह विचार कि एकता और पारस्परिक सहयोग के स्थान पर व्यक्तिगत हित अधिक लाभप्रद सिद्धान्त है जिस पर सर्व कल्याण सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जा सकती है, यह धारणा सत्य के बिलकुल ही विपरीत है।"[37]

ओवन नहीं मानते थे कि जन-कल्याण की अधिकाधिक प्राप्ति 'लैसे फेयर' (यद्भाव्यम्) नीति द्वारा हो सकती है। व्यक्तिवाद में व्यक्ति के अधिकारों पर जोर दिया जाता है किन्तु यूटोपियायी समाजवादी सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण चाहते थे। उन्होंने मानवी सम्बन्धों के सामाजिक तत्व पर बल दिया।

पूंजीवाद की आलोचना

यूटोपियायी समाजवादियों ने पूंजीवादी अर्थतन्त्र पर भी आक्रमण किया है। यद्यपि यह प्रहार अधिक कठोर नहीं है किन्तु पूंजीपतियों को अपनी कटु आलोचना से अछूता नहीं छोड़ता। वे पूंजीवादी व्यवस्था को अन्यायपूर्ण मानते थे क्योंकि यह व्यवस्था शोषण पर आधारित है। इससे न केवल सामाजिक तथा आर्थिक असमानता उत्पन्न होती है बल्कि नैतिक चरित्र का पतन भी होता है। इस सम्बन्ध में यूटोपियायी समाजवादियों के विचार व्यक्त करते हुए हेलोवेल लिखते हैं:—

---

36. Dunning, W. A., *A History of Political Theories, from Rousseau to Spencer*, pp. 349—50.
37. Owen, Robert, *Report to the County of Lanark*, Everymán, p.269.

> "जैसा यूटोपियायी कहते हैं, पूंजीवाद द्वारा मानवीय पतन तथा निर्धनता की ओर ले जाना अवश्यम्भावी है। यह शोषण का अवतार (या मूर्तरूप है। यह श्रमिको का इतना पतन कर देता है कि उनका अन्य वस्तुओं की तरह क्रय-विक्रय किया जा सकता है तथा उन्हे मानवीय महत्ता से वंचित रखता है। इसके परिणामस्वरूप धन का वितरण न कि सिर्फ असमान किन्तु अन्यायपूर्ण भी होता है!"38

यद्यपि यूटोपियायी समाजवादी पूंजीवाद के कटु आलोचक हैं, किसी ने भी इसके उन्मूलन के लिये नहीं कहा है। वे केवल इससे सम्बन्धित दोषों का निवारण चाहते थे।

व्यक्तिगत सम्पत्त का विरोध

पूंजीवाद से सम्बन्धित अन्य संस्थाएं जैसे व्यक्तिगत सम्पत्ति, लाभ, स्पर्द्धा आदि की भी यूटोपियायी समाजवादियो ने कटु आलोचना की है। व्यक्तिगत सम्पत्ति पर प्रहार करते हुए ओवन ने कहा—

> मानव कानूनों से उत्पन्न व्यक्तिगत सम्पत्ति चरित्रहीनता और घृणा उत्पन्न करने वाली शक्तियों में से एक है तथा अनेक अपराधों और घोर अन्याय का कारण है। सम्पत्ति के ही कारण मनुष्य अपने साथियो को शत्रु की भांति देखता है, यह आगन्तुकों और पड़ोसियों के कार्यों के प्रति शंका उत्पन्न करती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के दुर्गुण सर्वत्र प्रभाव डालते हैं।"39

पूंजीवाद की तरह यूरोपियायी समाजवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति के तीव्र आलोचक होते हुऐ भी व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति के पक्ष में नहीं हैं। वे स्वामित्व, सम्पत्ति से सम्बन्धित लाभ तथा अन्य विशेषाधिकारों को न्यूनतम करना चाहते हैं। फ्रांस की संसद में, 1829 में, सेन्ट साइमन के अनुयायियों ने इस सम्बन्ध में अपनी विचारधारा व्यक्त करते हुऐ कहा कि वे सम्पत्ति को सामुदायिक बनाने के पक्ष में नहीं हैं। वे समस्त विशेषाधिकार, वंश-परम्परागत स्वामित्व के अधिकार, बहुमत के शोषण का अन्त चाहते हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति आलस्य की आदत डालती है तथा दूसरे के श्रम पर जीवनयापन करने के

38. Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, pp 396-97.

39. Quoted by Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p 211.

सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करती है। इन कारणों से यूटोपियायी समाजवादियों ने व्यक्तिगत सम्पत्ति की कठोर निन्दा की है।[40]

लाभ

लाभ पूंजीवादी व्यवस्था और व्यक्तिगत सम्पत्ति से घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित है। यूटोपियायी समाजवाद लाभ को इसलिए निन्दनीय मानते हैं क्योंकि इसका वितरण उन सब व्यक्तियों में नहीं होता जिनके श्रम या अन्य कार्य से लाभ प्राप्त होता है। यह कुछ ही व्यक्तियों की मुट्ठियों को गरमाता है। यह अन्याय है। प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यतानुसार कार्य करे और जो कुछ श्रम वह किसी कार्य में लगाता है उसका लाभ उसके श्रम के अनुसार मिलना चाहिये। फोरिए तो लाभ को बिलकुल ही मान्यता नहीं देता। वह सभी व्यक्तियों को, जो किसी कार्य में लगे हैं, अनुमानतः समान भागीदार मान लाभ का उसी प्रकार वितरण चाहता है। लाभ को असामाजिक एवं अन्यायपूर्ण मानते हुये यूटोपियायी समाजवादियों का दृष्टिकोण है कि—

> "लाभ प्रणाली शक्ति और धोखाधड़ी पर एक महीन आवरण है जिसके द्वारा श्रमिक को अपने श्रम के वास्तविक मूल्य से ठग लिया जाता है। इस प्रथा के स्थान पर उनका सुझाव है कि प्रत्येक अपनी योग्यतानुसार कार्य करे तथा उसके श्रम (या जैसा कुछ कहते हैं आवश्यकतानुसार) के अनुसार ही उसे प्रतिफल मिलना चाहिये।" [41]

प्रतिस्पर्द्धा

स्पर्द्धा पर आधारित क्रय-विक्रय प्रणाली पूंजीवादतन्त्र का एक अंग है। अनियन्त्रित प्रतिस्पर्द्धा यदभाव्यम (Laisses faire) नीति का मूल-मंत्र है। वास्तव में स्पर्द्धा पर आधारित अर्थ व्यवस्था बड़े-बड़े पूंजीपतियों के लिये ही अधिक हितकर है। यूटोपियायी समाजवादी स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित आर्थिक व्यवस्था के विरोधी थे। उनका विचार था कि जब तक स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा पर सामाजिक व्यवस्था आधारित है तब तक किसी भी सुधार आशा नहीं की जा सकती।

---

40 Gide C. and Rist C., A History of Economic Doctrine, George G. Harrap and Co., London, 1948, p. 214.

41 Hallowell J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p. 397.

दरिद्र-वर्ग का समर्थन

यूटोपियायी समाजवाद का प्रादुर्भाव औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि में हुआ था। औद्योगीकरण के फलस्वरूप जो भी कुरीतियां व बुरे प्रभाव द्रष्टिगोचर हो रहे थे उनसे निर्धन-वर्ग ही सबसे अधिक प्रभावित हुआ। एक ओर तो मिल मालिक और पूंजीपतियों द्वारा वैभव और विलासपूर्ण जीवन व्यतीत किया जा रहा था, दूसरी ओर गरीब वर्ग बेकारी में वृद्धि तथा दरिद्रता की जंजीर से निरन्तर जकड़ा हुआ चला जा रहा था। श्रमिकों को बड़ी ही दूषित और कष्टप्रद परिस्थितियों में रहना और कार्य करना पड़ता था। अमानवीय वातावरण में दिन-रात काम करने से श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं चरित्र पर बड़ा कुप्रभाव पड़ा। यह निम्न-वर्ग के शोषण की सीधी-साधी कहानी थी। यूटोपियायी समाजवादियों ने इस असहाय वर्ग की दशा सुधारने का पूर्णतः अनुमोदन किया। इस प्रकार उनके विचार यूरोप में हो रही औद्योगिक क्रान्ति के दुष्परिणामों की प्रतिक्रिया थे।

वर्ग-सामन्जस्य एवं सम्पूर्ण समाज कल्याण

यूटोपियायी समाजवादियों ने व्यक्तिवाद तथा पूंजीवादी व्यवस्था की कटु आलोचना की है। दूसरी ओर उन्होंने निर्धन वर्ग के उत्थान और प्रगति का समर्थन किया है। किन्तु पूंजीवाद के दोषों को दूर करने तथा गरीबों की भलाई के लिये उन्होंने किसी भी दशा में इन दोनों वर्गों में संघर्ष की बात स्वीकार नहीं की। वर्ग संघर्ष उनकी विचारधारा का अंग नहीं था। उनका उद्देश्य एक वर्ग का समर्थन कर दूसरे वर्ग को समाप्त करना नहीं था। वास्तव में वे सम्पूर्ण समाज का कल्याण चाहते थे।[42]

समस्त समाज के कल्याण के लिये यूटोपियायी समाजवादियों का विचार था कि उच्च-वर्ग और श्रमिक-वर्ग के सम्बन्ध सहयोग एवं सद्भावना पर आधारित हों। उत्पादन मे सभी सम्बन्धित कारकों का योगदान हो तथा लाभ में सभी का अनुपातिक हिस्सा हो। फोरिए की (Fraternite) का यही आशय था। यूटोपियायी समाजवाद वर्ग-भेद या वर्ग-वैमनस्य पर नहीं, किन्तु वर्ग सामन्जस्य, वर्ग शान्ति तथा समस्त वर्गों के हितों का रक्षक था।

यूटोपियायी योजनाएं (Utopian Projects)

तत्कालीन समाज में औद्योगिक क्रान्ति, पूंजीवाद आदि से प्रचलित दुर्गुणों को दूर करने; पूंजीपतियों और श्रमिकों में सहयोग प्राप्त करने; निम्न वर्ग की

---

42. Cole, G. D. H., The Simple Case for Socialism, p. 194.

प्रगति एवं महत्ता में वृद्धि करने हेतु सभी यूटोपियायी समाजवादियों ने कुछ न कुछ योजनाऐं प्रस्तुत कीं। हेलोवेल के शब्दों में—

> "सामान्यतः ये समाजवादी विश्वास करते थे कि समाजवादी आधार पर कुछ आदर्श समुदायों की स्थापना सम्भव थी जो पूंजीवाद के विकल्प के रूप मे उदाहरण प्रस्तुत करेगी। व्यापकरूप में इन योजनाओं को ग्रहण करने से राष्ट्र और विश्व में समाजवाद की विजय (या स्थापना) होगी।"[43]

सेन्ट साइमन की संसद जिसमें वैज्ञानिक-वर्ग एवं उद्योग-वर्ग (Savants) का प्रमुख योगदान हो; फोरिए की फेलेंक्स (Phalanx) योजना, तथा रॉबर्ट ओवन का न्यू लेनार्क (New Lanark) प्रोजक्ट कुछ इस प्रकार की योजनाऐं सुझाई गई जिनके माध्यम से यूटोपियायी समाजवादी अपने आदर्शों की प्राप्ति करना चाहते थे। इन योजनाओं को इन्होंने कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया तथा रॉबर्ट ओवन ने न्यू लेनार्क में कुछ सफलता भी प्राप्त की।

समुदायवादी (Associationists)

यूटोपियायी विचारक अपनी समाजवादी योजनाओं को छोटे ग्राम या समूहों पर प्रयोग करना चाहते थे। व्यक्ति इन ग्रामों या समूहों में समाजवादी जीवन-पद्धति अपना कर रहे। धीरे-धीरे इन समूहों का जाल सारे विश्व में फैल जाय। किन्तु मूलतः इनकी योजनाओं का आधार छोटे-छोटे समूह या समुदाय ही थे, इसलिये इन्हे समुदायवादी भी कहा जाता है।[44]

साधन (Means)

अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये यूटोपियायी समाजवादी न तो वर्ग-संघर्ष और न क्रान्ति या हिंसात्मक परिवर्तन में विश्वास करते थे।[45] वे समझते थे कि स्वेच्छानुसार समाजवाद की स्थापना की जा सकती थी। वे अपने विचारों

---

43. Hallowell, J. H, Main Currents in Modern Political Thought, p. 396.
44 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, pp 3-4.
45 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 19.

में जितना आर्थिक पक्ष का समर्थन करते थे उतना ही नैतिकता, शिक्षा और सदभावना को महत्व देते थे। 46 उनका विश्वास था कि यदि एक बार लोगों ने सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन के लिये समाजवादी अच्छाइयों को समझ लिया तो वे स्वतः ही समाजवाद को ग्रहण कर लेंगे। श्रमिकों को अपनी समृद्धि के लिये धनिकों के अधिकारों का उलंघन करने की आवश्यकता नहीं होगी। कोल (G. D. H. Cole) के अनुसारः—

"यूटोपियायी समाजवादी यह आशा करते थे कि मनुष्य की अपनी भावनाओं को उभार कर, ज्ञान प्रसार करने तथा अमीर और निर्धन दोनों को ही समझाने से समाज का पुनरुत्थान होगा तथा वे ऐसे वर्ग-विहीन समाज मे 'जहां आर्थिक दृष्टि से सब समान हो, वास्तव में सुखी होगें।" 47

यूटोपियायी अपने प्रयोगो को सफलता के लिए श्रमिकों का सहयोग तो अपेक्षित समझते ही थे लेकिन वे धनिक-वर्ग या पूंजीवर्ग की उदारता पर अधिक निर्भर करते थे। वे यह मानते थे कि धनी व्यक्ति श्रमिक कल्याण के लिये उनके प्रयोगों को सफल बनाने मे अवश्य ही सहयोग देंगे। मार्च 19, 1810 को श्रमिको के समक्ष बोलते हुए रॉबर्ट ओवन ने स्पष्ट करते हुए कहा कि धनिक-वर्ग भी उनकी दशा सुधारने के लिये अत्यन्त ही इच्छुक है। 48

इस सम्बन्ध में गेटल के विचार भी उल्लेखनीय हैं। यूटोपियायी समाजवादियों के विचार, योजनाओ तथा सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या करते हुए गेटल लिखते हैं:—

"यूटोपियायी समाजवादी मनुष्य की उत्तमता (या परिपूर्णता) सम्बन्धी उस समय प्रचलित आशावादी विचारो से प्रभावित हुए। वे मनुष्य जाति को शैक्षणिक प्रयोगों द्वारा नव-जीवन देने की अपेक्षा करते थे। आदर्शवादी विचारों के आधार पर वे एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की आशा रखते थे। वे क्रान्ति और वर्ग-संघर्ष

---

46. Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p. 396
47. Cole, G. D. H., The Simple Case for Socialism, p. 194
48 An address to the Working Class, March 19, 1819, Everyman series, (Ed. by G. D. H. Cole), pp. 150-51.

के विरोधी थे, वे व्यापकरूप से अपने दृष्टिकोण में मानवतावादी थे तथा उन्होंने उच्च वर्ग से अपील की कि वे निर्धनों की सहायता करे। 49

इनके विचार-सूत्रों के विषय में फ्रान्सिस कोकर ने भी लगभग यही लिखा है। कोकर के शब्दो में:—

"इन सुधारकों ने उन मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक मान्यताओं को चुनौती दी जिन पर व्यक्तिगत सम्पत्ति का आधुनिक प्रचलित *अनुमोदन आधारित है, तथा अनियन्त्रित प्रतियोगिता के अस्वाभाविक* तथा अमानवीय परिणामों पर भी प्रकाश डाला। वे न्याय तथा परोपकार की भावना से प्रेरित मनुष्यों के शान्तिमय प्रयासों द्वारा इन दूषणों का प्रतिकार चाहते थे।"50

यूटोपियायी समाजवाद का विमोचन

यूटोपियायी समाजवादियों की व्यक्ति और विचारों को लेकर कटु आलोचना हुई है। एलेग्जेन्डर ग्रे ने सेन्ट साइमन को एक 'महान सनकी' की संज्ञा दी है तथा उनके लेखों को 'अव्यवस्थित जंगल' बतलाया। यही बात फोरिए के विषय में है। उसे भी बचकाना तथा पागल कहा है।52 रॉबर्ट ओवन को भी ग्रे ने एक रहस्यवादी, भ्रम में डालने वाला तथा उस पीढ़ी का सबसे बड़ा नीरस और बोरियत करने वाला कहा है।53 इनके विषय में हेलोवेल तथा

49. The Utopians "were influenced by the prevalent optiomistic ideas of human perfectability, and they expected to regenerate mankind by educational experimentation. They reasoned from ideal speculation and hoped to establish an ideal social order. They opposed revolution and class conflict, were broadly humanitarian in their outlook and applealed to the dominant classes to aid the poor from above."
Wanlass, L. C., Gettell's History of Political Thought, p. 337.
50. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 18.
51. Gray, Alexander, The Socialist Tradition, pp. 136, 138.
52. "Such was Fourier, a strange mixture of a child and of one hovering perilously near the thin line which divides sanity from insanity, with all the directness of a child and the strange intution of madman. He is a figure never far removed from absurdity. Yet when we finished smiling, it is strangely pathetic, wistful lonely figure that our unheroic hero presents." Ibid; p. 195.
53. Ibid., pp. 202-203.

अन्य लेखकों ने भी लगभग ऐसे ही व्यंगात्मक, एवं निन्दात्मक शब्दों का प्रयोग किया है।[54]

विचार-भिन्नता

इस समाजवादी सम्प्रदाय में कई यूटोपियायी विचारक आते हैं। लेकिन इनमें काफी विचार-भिन्नता है। उस समय प्रचलित बुराइयों और सामाजिक दोषों से मुक्ति दिलाने के लिये इन्होने अलग-अलग योजनाऐं प्रस्तुत की जो एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। इनमें ऐसे बहुत कम विचार-सूत्र थे जिनके आधार पर इन्हे एक विचार-मंच पर खड़ा किया जा सकता था।

काल्पनिक एवं अव्यावहारिक

यूटोपियायी समाजवादियों के विरुद्ध सबसे प्रमुख आलोचना उनके विचारों का अव्यावहारिक होना है। यूटोपियायी चिन्तकों ने अपने समय की बुराइयों को दूर करने के लिये आदर्श प्रस्तुत किये। सेन्ट साइमन की वर्गहीन समाज की कल्पना, फोरियर की फेलेन्क्स योजना, ऑवन की न्यू लेनार्क योजना, लुई ब्ला का सामाजिक वर्कशाप (Social Workshop) सिर्फ आदर्श ही थे। उन्होंने इस बात की चिन्ता नहीं की कि जो कल्पनाएं वे कर रहे थे वे व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव थीं या नहीं तथा समाज में इनका व्यापक प्रयोग हो सकता था या नहीं। उन्होंने जो भी योजनाएँ प्रतिपादित कीं वे सिर्फ कल्पनाओं की छलागें थीं। इसलिये ही इनके विचारों को यूटोपियायी या कल्पनावादी कहा गया।

इनके विचारों का अव्यावहारिक होने का एक कारण यह भी था कि यूटोपियायी विचारकों में, विशेषतः सेन्ट साइमन तथा फोरिए का सम्पूर्ण जीवन अव्यवस्थित, निराशाओं से परिपूर्ण, असफल और अशान्तिपूर्ण रहा।[55] इनके जीवन का अध्ययन करने पर कभी कभी डॉन क्युगज़ोट (Don Quixote) का स्मरण हो आता है। ऐसे व्यक्तियों से विवेकपूर्ण व्यावहारिक विचारों की अपेक्षा करना व्यर्थ था।

---

54. Hallowell, J.H., Main Currents in Modern Political Thought, p. 383. Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 249.

55. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 32-36.

मानव-स्वभाव की त्रुटिपूर्ण व्याख्या

यूटोपियाइयों की मूल भूल मनुष्य स्वभाव का सही मूल्यांकन नहीं करना था। वे मनुष्य को मूलतः अच्छा मानते थे तथा उनका विचार था कि सामाजिक बुराइयों का अन्त मनुष्य के स्वभाव की जागृति कर, हृदय परिवर्तन एवं सहयोग द्वारा हो सकता था। मनुष्य-स्वभाव की उनकी यह विवेचना एकपक्षीय थी। इस कारण उनके विचार आदर्श के घेरे से बाहर नहीं निकल सके।

सभी यूटोपियायी विद्वान अपनी विचारों की उड़ानों में उलझे रहे। उस समय प्रत्येक देश में राजनीतिक, आर्थिक सुधारों की माग प्रतिदिन जोर पकड़ती जा रही थी। समय की पुकार थी कि दार्शनिक तथा विचारक कोई सुधार कार्यक्रम जनता एवं सरकार के समक्ष रखते। किन्तु किसी भी यूटोपियायी विचारक ने गम्भीरतापूर्वक उस समय अपेक्षित आवश्यक सुधारों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। यद्यपि इन विचारकों ने गरीबों के प्रति संमवेदना प्रकट की किन्तु उन्होने स्वयं को श्रमिक-वर्ग के ध्येय से एकरूप नहीं बनाया जैसा कि आगे चल कर कार्ल मार्क्स ने किया। ये दरिद्र वर्ग के सिर्फ शुभचिन्तक-वादी ही सिद्ध हुए।

साध्य-साधन विषमता

यूटोपियायी समाजवादियों के उद्देश्य एवं उनको प्राप्त करने के साधनों में भारी विषमता थी। वे जिस सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे उसके साधन तथा माध्यम के सम्बन्ध में उनके विचार नहीं के ही बराबर थे। साध्यों की प्राप्ति के लिये साधनों की स्पष्ट व्याख्या न करके इन्होंने अपने विचारों को स्वप्नमात्र तक ही सीमित रहने दिया। वे किसी भी प्रकार का मार्ग-दर्शन नहीं कर सके।

यूटोपियायी समाजवादी वैधानिक सुधारों में ही विश्वास करते थे। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिये कोई ठोस आन्दोलनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं किया। वे सुझावात्मक थे, आन्दोलन के लिये प्रेरित नहीं करते।

अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने में यूटोपियायी विचारकों का धनिक वर्ग से उदारता और सदभावना की अपेक्षा करना भूल एवं भ्रम था। आजकल इन

साधनो में कोई विश्वास नहीं करता।[56] उस समय की आर्थिक व्यवस्था निहित-हित, एकाधिकार तथा स्वार्थ पर आधारित थी। वे थोड़ी-बहुत उदारता का प्रदर्शन तो कर सकते थे लेकिन यूटोपियायी योजनाओ को कार्यरूप देने के लिये कोई भी आगे नही आया। फिर भी यूटोपियायियो का उन पर विश्वास था। चार्ल्स फोरिए की धारणा थी कि उसकी फेलेन्क्स व्यवस्था को विश्व-व्यापी बनाने के लिये कोई पूंजीपति उसके पास धन लेकर अवश्य ही आयेगा। इस विश्वास से उसने प्रतिदिन अपने घर पर एक निश्चित समय पर रहना प्रारम्भ कर दिया था ताकि कोई धनी पूंजी लेकर आये और फोरिए के न मिलने पर वापस न चला जाय। बेचारे फोरिए ने वर्षों तक इस प्रकार प्रतीक्षा की और मर गया लेकिन कोई धनिक व्यक्ति उसके प्रयोगो के लिये धन लेकर नही आया।[57]

पूंजीपतियो तथा धनिक व्यक्तियों द्वारा इनके प्रयोगो को पूंजी देना तो अलग रहा बल्कि उन्होने इन योजनाओ का विरोध भी किया। यूटोपियायी समाजवादियो ने उन लोगों की विरोध-शक्ति का ठीक अनुमान नही लगाया जो उस समय प्रचलित आर्थिक व्यवस्था से लाभ उठा रहे थे। वे यथा-स्थिति मे कोई परिवर्तन नहीं चाहते थे। ओवन की 'ग्रेन्ड ट्रेड यूनियन' के टूटने का कारण पूंजीवादियो का कटु विरोध था। न्यू लेनार्क में भी उसे अपने साझीदारों से विरोध का सामना करना पड़ा। उन्हे ओवन के परोपकारी कार्यों से कोई लगाव नही था। इस विरोध के होते हुए भी ओवन ने जब अपने विचारो को कार्यरूप देने का प्रयत्न किया तथा अपनी समुदायवादी विचारधारा को गम्भीरतापूर्वक प्रसार करना प्रारम्भ किया तो धनिक एवं सरकारी वर्ग उससे क्षुब्ध हो गया और अन्त में उसे असफलता का मुंह देखना पड़ा।[58]

यूटोपियायियों के विरुद्ध एक आलोचना, जो सन्दिग्ध प्रतीत होती है, यह थी कि इस समाजवादी सम्प्रदाय के अधिकाश विचारक उच्च-वर्ग के धनी व्यक्ति थे। उनका शिक्षा द्वारा सुधार, सद्भावना एवं संवैधानिक साधनो के प्रति निष्ठा इसलिए थी कि ये धनिक-वर्ग के समर्थक थे। उन्होने श्रमिकों के हित में जो विचार प्रस्तुत किये, उससे वे श्रमिक-वर्ग को भुलावे में रखकर अपने हित

56 Crosland, J A.R., The Future of Socialism, pp. 101-102.
57. Gray, Alexander, The Socialist Tradition, pp 195-96.
58. Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p 212.

साधन में लगे रहे। ओवन के विषय में यह सही हो सकता है। तभी तो इन्होंने मनुष्य के विवेक पर जोर देकर आन्दोलन को प्राथमिकता नही दी। सम्भवतः उन्होने अपने विचारो से आगे होने वाले इस प्रकार के श्रमिक आन्दोलनों को कुंठित करने या उन्हे नई शान्तिपूर्ण दिशा देने का प्रयत्न किया हो।

यूटोपियायी समाजवादियों के विरुद्ध मार्क्सवादी आलोचना

यूटोपियायी समाजवादियों के सबसे कटु आलोचक कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक ऐन्जल्स थे। इन्होंने इन समाजवादियों के विचारों के किसी भी सूत्र को आलोचना से अछूता नही छोड़ा। यूटोपियाइयो के विरुद्ध मार्क्सवादी आलोचना 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' (Manifesto of the Communist Party, 1848) के तृतीय भाग और ऐन्जिल्स द्वारा लिखित पुस्तक—Socialism : Utopian and Scientific—में मिलती है।

मार्क्स तथा ऐन्जिल्स का इन समाजवादियों के विरुद्ध सबसे तीव्र प्रहार यह था कि ये यूटोपियायी हैं। इन विचारकों ने सामाजिक विकास तथा सामाजिक बुराइयो के कारणों की खोज के लिये किसी वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण नही किया। उनकी योजनाओं का आधार न तो ऐतिहासिक विवेचना थी और न ही उनकी तथ्यो द्वारा ही पुष्टि होती है। इस समुदाय ने कोई ऐसा वैज्ञानिक सिद्धान्त स्थिर नही किया जिसके आधार पर एक सुनिश्चित तर्कसंगत सामूहिक कार्यक्रम खड़ा किया जा सकता था। मार्क्स ने इस समाजवादी विचारधारा को 'तर्क के आधार पर स्वयं-पराजित' (dialectical y self-defeating) कहा है।[59]

ऐन्जिल्स के अनुसार कोई भी समाजवाद यदि विज्ञान बनना चाहे तो उसे तथ्यों पर खडा होना होगा।[60] यूटोपियायी समाजवाद तर्क एवं तथ्यों से तनिक भी सम्बन्धित नही था।

'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' के तृतीय भाग में इन प्रारम्भिक समाजवादियो की पूर्ण भर्त्सना की गई है। साम्यवादी घोषणा पत्र में मार्क्स तथा एन्जिल्स ने निम्नलिखित आधारो पर यूटोपियायी समाजवादियो की आलोचना की है:—

---

59 Sabine, H. S., A History of political theory, p. 661.

60 Engels, F., Socialism: Utopian and Scientific, p 27

(i) यूटोपियायी सामाजवादियों ने अपने विचार उस समय व्यक्त किये जब सर्वहारा तथा पूंजी वर्ग का संघर्ष अविकसित अवस्था में था। इस प्रकार वर्ग संघर्स और क्रान्ति का इनके विचारों में कोई स्थान नहीं है।

(ii) यूटोपियायी समाजवादियों ने सीमित रूप में इन वर्गों में द्वेष एवं संघर्ष के कुछ तत्व और तत्कालीन समाज में भ्रष्ट एवं पतित तत्वों को स्वीकार किया है। चूंकि सर्वहारा वर्ग उस समय शैशव अवस्था में तथा उच्च वर्ग पर आश्रित था इसलिये यूटोपियायी समाजवादी स्वतंत्र राजनीतिक आन्दोलन का समर्थन नही कर सके।

(iii) इनमें सर्वहारा-वर्ग के हित का प्रतिनिधित्व कोई भी नहीं कर सकता था। क्योंकि ये उच्च-वर्ग के होने के कारण निम्न-वर्ग की समस्याओं से सर्वदा अनभिज्ञ थे।

(iv) औद्योगिक विकास के साथ-साथ वर्ग-वैमनस्य में भी वृद्धि होती है। लेकिन ये समाजवादी सर्वहारा-वर्ग की मुक्ति के लिये कोई साधन प्रस्तुत नही करते।

(v) अविकासित वर्ग-संघर्ष तथा इन विचारकों के रहन-सहन का वातावरण इस प्रकार का था, कि वे अपने लिये वर्ग-संघर्ष के ऊपर समझते थे। वे समाज के उच्च वर्ग सहित सभी व्यक्तियों की दशाओं में सुधार करना चाहते थे। उच्चवर्ग के लोग वर्ग-वैमनस्य को समझने तथा किसी प्रकार की प्रगतिशील व्यवस्था ला सकते मे असमर्थ थे।

(vi) यूटोपियायी समाजवादी राजनीतिक और क्रान्तिकारी कार्यों का समर्थन नहीं करते। वे अपने उद्देश्यों की प्राप्ति शांतिपूर्ण साधनों, छोटे-छोटे अनुभवों एवं प्रयोगों के द्वारा करना चाहते थे। इनका असफल होना अवश्यम्भावी था।

अन्त मे यूटोपियायी समाजवादियो की आलोचना के विषय में ऐन्जिल्स के विचार लिखना अधिक उपयुक्त होगा। इन समाजवादियो के यूटोपियायी होने के कारणों की आलोचना करते हुऐ ऐन्जिल्स ने लिखा है:—

"सामाजिक समस्याओं का समाधान अविकसित आर्थिक दशाओ मे छुपा हुआ है। यूटोपियाइयो ने इसका हल मस्तिष्क से

विकसित करने का प्रयत्न किया" । 61

इनकी समाजवादी योजनाओं के विषय में ऐन्जिल्स ने कहा—

"इन नई सामाजिक व्यवस्थाओ का स्वप्नवादी होना अवश्यम्भावी था, इन्हे जितना विस्तार से कार्यरूप देने का प्रयत्न किया गया उतनी ही ये कल्पनालोक की ओर बढती गई ।" 62

"हम इन्हे तुच्छ साहित्य तथा कल्पना की उड़ान के रूप में छोड़ सकते हैं जिन पर आज हंसी आ जाती है, जो अपने रिक्त विवेक की श्रेष्ठता पर चिल्लाते हैं, जिसकी पागलपन से तुलना की जा सकती है" 63

इनके समाजवादी होने का औचित्य

यूटोपियायी समाजवादियों की आलोचना का अध्ययन करने के उपरान्त एक शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है । जिस प्रकार उनके विचारो पर, विशेषत: मार्क्स तथा ऐन्जिल्स द्वारा, तीव्र प्रहार हुऐ है उससे मस्तिष्क में यह बात उठती है कि क्या ये विचारक वास्तव मे समाजवादी थे भी या नहीं । क्या इन्हें समाजवादी कहना उपयुक्त होगा ? इस विषय मे कई विद्वानो ने अपनी शंकाऐं व्यक्त की हैं । मार्क्सवादियों को छोड़ कर जोड (C E M. Joad) ने इन्हे कई जगह 'तथाकथित समाजवादी' कह कर सम्बोधित किया है ।64 ऐलेग्जेन्डर ग्रे तो इनके विचारक और समाजवादी दोनों ही होने के दावे को बहुत उथला बतलाते हैं । ग्रे के ही शब्दो में:—

---

61 "The solution of the social problems, which as yet lay hidden in undeveloped economic conditions, the Utopians attempted to evolve out of the human brain."
Engels, F., Socialism : Utopian and Scientific, p. 12-12.

62 "These new social systems were foredoomed as utopian; the more completely they were worked out in detail, the more they cauld not avoid drifting off into pure phantasies" Ibid., p. 12.

63. We can leave it to the literary small fry to solemnly quibble over these phantasies, which to-day only make us smile, and to crow over the superiority of their own bald reasoning, as compared with such insanity" Ibid, 12

64. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 35-36.

"इस सम्प्रदाय के समाजवादी प्रतिनिधि एक विचित्र और मनोरंजक विवरण प्रस्तुत करते हैं जिसे अधिक नहीं तो उच्च श्रेणी की सनक कहा जा सकता है तथा कुछ मामलो में तो उन्हे समाजवादी मानना भी संदिग्ध है।" 65

ऐलेग्जेन्डर ग्रे के विचारों में कुछ अतिशयोक्ति की मात्रा अवश्य है। यूटोपियायी समाजवादियो के जीवन, लेखो, योजनाओ आदि के विषय में कई मत हो सकते हैं किन्तु उन्हे समाजवादियों की श्रेणी से अलग नही किया जा सकता। उनके कटु आलोचक फ्रेड्रिक ऐन्जिल्स ने भी यह स्वीकार किया है कि ये लोग कम से कम समाजवादी तो थे।66 उनके विचारों में समाजवादी तत्व अवश्य ही विद्यमान थे।

यूटोपियायी विचारकों के समाजवादी होने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं:—

प्रथम, इन सभी यूटोपियायी विचारकों ने उस समय प्रचलित व्यक्तिवाद, पूंजीवाद, विशेषाधिकार, व्यक्तिगत सम्पत्ति, लाभ, स्पर्द्धा आदि की कटु आलोचना की है। ये सभी विचार समाजवादी परम्परा के पूर्ण अनुरूप हैं। उन्होने तत्कालीन समाज के सभी सिद्धान्तों का खण्डन किया। इस योगदान को 'साम्यवाद घोषणा पत्र' मे भी स्वीकार किया गया है।67

द्वितीय, इन्होंने श्रम की महत्ता को स्वीकार किया है। बिना श्रम किये हुए विलासितापूर्वक जीवन को इन्होने भर्त्सना की। सब व्यक्तियों को रोजगार मिलने का इन्होंने समर्थन किया।

तृतीय, यूटोपियायियों ने श्रमिक वर्ग की दशा सुधारने, उन्हें कार्य में साझीदार बनाने, तथा विभिन्न वर्गों मे व्यापक खाई को कम कर समानता सिद्धान्त के आधार को मान्यता प्रदान की। इस सम्बन्ध में फौरिए की फेलेन्क्स व्यवस्था विशेषतः उल्लेखनीय है।

---

65. Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p. 4.
66. Engels, F., Socialism Utopian and Scientific, pp. 6, 15.
67. Manifesto of the Communist Party, p. 91.

ओवन ने हमेशा इस बात पर जोर दिया कि—

(i) एक मालिक का मजदूरों को अपने लाभ का साधन समझना गलत है;

(ii) श्रमिकों को उचित मजदूरी दी जाये;

(iii) मजदूरों के काम करने के घन्टों में कमी होनी चाहिये;

(iv) उनके लिये स्वच्छ वातावरण तथा उनके बच्चों की शिक्षा एवं स्वास्थ्य का समुचित प्रबन्ध करना सामाजिक तथा उद्योगपतियों का उत्तरदायित्व है।

चतुर्थ, सभी यूटोपियायियों ने सम्पत्ति के सामाजिक हित में प्रयोग करने का समर्थन किया है।

अन्त में, इन्होंने राजनीति में आर्थिक पहलू के महत्व को स्वीकार किया है। 1816 में सेन्ट साइमन ने घोषणा की कि राजनीति उत्पादन का विज्ञान है। उन्होंने राजनीति का अर्थशास्त्र में विलय कर देने की बात कही।[68]

यूटोपियायी विचारकों के समाजवादी होने के दावे को स्वीकार करने के साथ साथ इन्हें समाजवाद का जनक, अग्रसर, तथा सन्देशवाहक भी माना जाता है। यह पहिले ही उल्लेख किया जा चुका है कि सर्वप्रथम समाजवाद शब्द का प्रयोग इन्हीं विचारकों के सन्दर्भ में किया गया।[69] राबर्ट ओवन ने 1800 में ही न्यू लेनार्क (New Lanark) में समाजवादी प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे। 1820 से 1844 तक (कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो के प्रकाशन के चार वर्ष पूर्व) ओवन ने समाजवादी सहकारी आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। इसलिये समाजवाद के प्रवर्तक होने का श्रेय इन्हीं यूटोपियायियों को ही मिल सकता है।[70]

यही नहीं, कुछ विद्वानों ने यूटोपियायी समाजवादियों के विचारों को वैज्ञानिक होने का श्रेय दिया है। किल्ज़र एवं रॉस (*Kilzer and Ross*) के अनुसार सेन्ट साइमन ने समाज के वैज्ञानिक अध्ययन पर जोर दिया। उन्होंने

---

68. Engels, F., *Socialism: Utopian and Scientific*, p. 15.
69. Ebenstein, W., *Political Thought in Perspective*, p. 448.
देखिये प्रथम अध्याय, पृ. 16.
70. Jay, Douglas, *Socialism in the New Society*, p. 1-4.

अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान को प्रभावित किया। [71] हेलोवेल (J. H. Hallowell) का कहना है कि सेन्ट साइमन ने समाजवाद को एक व्यवस्थित विचारधारा के रूप में विकसित करने का प्रयत्न किया। उनकी तत्कालीन समाज की आलोचना नैतिकता के साथ साथ आर्थिक तथ्यो एवं तर्कों पर आधारित थी। [72]

राबर्ट ओवन ने जिस प्रकार समाज के विभिन्न दोषो की विवेचना की तथा उन दोषो को दूर करने के लिये जिस प्रकार रचनात्मक विचार प्रस्तुत किये रेमजे मेकडोनेल्ड के अनुसार समाजवाद के विकास में यह सर्वप्रथम वैज्ञानिक विवेचन का प्रयास था। [73]

सूक्ष्म में, यूटोपियायी समाजवादियों का निम्नलिखित योगदान अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है:—

(i) उन्होंने अपने युग को समाजवादी विचारों से प्रभावित किये रखा तथा विचारों को नई दिशा दी।[74]

(ii) उन्होने उस समय की प्रचलित राजनीति तथा यथा-स्थिति रखने वाली व्यवस्था को मानवतावादी बनाने का प्रयत्न किया।[75]

(iii) इन्होंने विकासवादी राजनीति को प्रोत्साहित किया। ये पूंजीवाद और समाजवाद के बीच की कड़ी थे।[76]

(iv) ये प्रगतिशील सिद्धान्तो में विश्वास करते थे तथा मार्क्सवादी विचारों को आधार प्रदान करते हैं।[77]

यूटोपियन समाजवाद में व्यावहारिकता की कमी तथा स्वप्नवाद अधिक था। उनके विचारों की आलोचना भी खूब हुई। बाद में जब कार्ल मार्क्स तथा

---

71. Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 239.
72. Hallowell, J.H., Main Currents in Modern Political Thought, p. 380.
73. Ramsay MacDonold, J , Socialism : Critical and Constructive, p. 60.
74. Engles, F., Socialism: Utopian and Scientific, p. 26.
75. Ramsay Macdonald, J., Socialism· Critical and Constructive, p 55.
76. Ebenstein, William, Political Thought in Perspective, p. 448.
77. Vereker, Charles, The Development of Political Theory, p. 162.

फ्रेड्रिक ऐन्जिल्स ने क्रान्तिकारी वैज्ञानिक समाजवाद का प्रचार किया। उसने यूरोप के लगभग सभी बुद्धिजीवियों और श्रमिकों को सोचने या आन्दोलन करने के लिये प्रेरित किया। मार्क्सवाद इतनी शीघ्रतापूर्वक लोकप्रिय हुआ कि यूटोपियायी समाजवाद पहिले तो पृष्ठभूमि मे हुआ तथा धीरे धीरे इसका प्रभाव क्षीण होता चला गया।

यद्यपि कल्पनावादी समाजवाद का अब कोई अस्तित्व नहीं रह गया है और न साइमन, फोरिये और ओवन द्वारा सामाजिक पुनर्रचनाओं की योजनाओं में किसी की दिलचस्पी ही शेष है, आधुनिक राजनैतिक चिन्तन के इतिहास में इन समाजवादी संदेशवाहकों की पूर्णतः अवहेलना नहीं की जा सकती। इनके विचारों में किसी न किसी रूप में समाजवाद का पूर्वाभास मिलता है। इन्होंने समाजवादी चिन्तन हेतु मार्ग प्रशस्त किया। वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्तन हेतु इन लोगो ने पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की। इन्हे समाजवाद का अग्रसर कहना उपयुक्त ही होगा।

सारांश

आधुनिक समाजवाद का सबसे प्रारम्भिक सम्प्रदाय यूटोपियायी समाजवाद है। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध में यूटोपियायी समाजवाद प्रचलन मे था। वैसे इस समाजवादी सम्प्रदाय के प्रतिपादकों में कई चिन्तकों के नाम सम्मलित किये जा सकते हैं किन्तु यूटोपियायी समाजवाद का प्रतिनिधित्व मुख्यतः सेन्ट साइमन, चार्ल्स फोरिए तथा रॉबर्ट ओवन ही करते हैं। वास्तव में 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम इन्ही चिन्तको के विचारो के सन्दर्भ में किया गया था।

इन समाजवादियो को यूटोपियायी कई कारणो से कहा जाता है। प्रथम, इनके विचारों का वैज्ञानिक विवेचन नहीं है।

द्वितीय, चूंकि इन समाजवादियों ने उस समय प्रचलित व्यवस्थाएं जैसे व्यक्तिवाद, पूंजीवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति, स्पर्द्धा, लाभ आदि के दोषो को बतलाया तथा इन दोषों से मुक्ति पाने के लिए ये जो सुझाव या योजनाओं का निरूपण करते हैं (जैसे फोरिए की फेलेन्क्स व्यवस्था, ओवन का न्यू लेनार्क प्रयोग आदि) वे अव्यावहारिक हैं। इन योजनाओं में इन्होंने आकाश-भेदी विचार व्यक्त किये जो केवल कल्पनाओं की छलांग एवं उड़ान ही सिद्ध हो सके हैं।

तृतीय, यूटोपियायी समाजवादी मनुष्य के अच्छेपन तथा विवेकपूर्ण स्वभाव में विश्वास करते हैं। इनके अनुसार उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कोई क्रान्ति या आन्दोलन की आवश्यकता नहीं। ये उच्च वर्ग तथा पूंजी वर्ग से अपील करते हैं कि वे श्रमिक तथा दलित वर्ग के उत्थान के लिए उनकी योजनाओं को कार्यान्वित करने में सहयोग दे।

यूटोपियायी समाजवाद की कई दृष्टिकोणों से आलोचना हुई; इनके स्वयं के प्रयोग भी असफल हुए। उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे जैसे ही मार्क्सवाद का प्रादुर्भाव हुआ इस समाजवादी सम्प्रदाय का पतन प्रारम्भ हो गया।

यूटोपियायी समाजवाद का प्रचलन अधिक नही हो सका,तथा इसमे त्रुटियां भी थी किन्तु यह सभी मानते हैं कि ये समाजवाद के प्रथम सन्देशवाहक एवं अग्रसर थे। इन्होने मार्क्सवाद के लिए पृष्ठभूमि पहिले ही तैयार कर दी थी। विकासवाद-समाजवादी इनके योगदान को अभी भी स्वीकार करते हैं।

पाठ्य ग्रन्थ

1. Cole, G.D.H., — A History of Socialist Thought
   The Forerunners, 1789-1850

2. Cole, G.D.H., — The Simple Case for Socialism,
   Chapter XI, Marxism and Utopians

3. Engels, Freerick — Socialism : Utopian and Scientific.
   Part I deals with theUtopian character of Socilism.

4. Gray, Alexander, — The Socialist Tradition
   Chapter VI, Saint-Simon and the Saint-Simonians
   Chapter VII, Charles Fourier
   Chapter VIII, Robert Owen

5. Hallowell, J.H., Main Currents in Modern Political Thought
Chapter 11, The Origins of Modern Socialism

6. Kilzer and Ross Western Social Thought
Chapter 14, Saint-Simon and Early Socialism

7. Ramsay Mec-Donald J., Socialism. Critical and Constructive
Chapter III, Socialism : Its Organisation and Idea

8. Wanlass, S. C., Gettell's History of Political thought
Chapter XXII, Rise of Democratic Socialism

3

मार्क्सवाद : वैज्ञानिक समाजवाद

Marxism : The Scientific Socialism

Karl Marx (1818-1883), Frederick Engels (1820-1895)

कार्ल मार्क्स का जन्म 5 मई, 1818 को ट्रीव्ज (Treves), जर्मनी में एक औसतन धनी परिवार में हुआ। मार्क्स के माता-पिता यहूदी थे किन्तु जिस समय मार्क्स की आयु 6 वर्ष की थी, इनके माता-पिता ने प्रोटेस्टेन्ट (ईसाई धर्म की शाखा)धर्म अंगीकार कर लिया। 17 वर्ष की आयु में मार्क्स ने बोन(Bonn) विश्व-विद्यालय में कानून तथा बाद में दर्शन शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया। बर्लिन (Berlin) तथा जेना (Jena) विश्व-विद्यालयों में भी मार्क्स ने अध्ययन किया। विद्यार्थी जीवन मे ही ये हीगल के विचारों से बड़ा प्रभावित हुए। 1841 में मार्क्स ने जेना विश्व-विद्यालय से डॉक्टोरेट (Doctorate) प्राप्त की। मार्क्स के शोध-ग्रन्थ का विषय था—The Difference Between the Natural Philosophy of Democritus and of Epicurus.

दो वर्ष के उपरान्त 1843 में, मार्क्स का विवाह प्रशा (Prussia) के एक उच्च घराने की लड़की जेनी (Jenny Von Westphalen) के साथ हुआ। मार्क्स के साहित्यिक तथा क्रान्तिकारी जीवन का सबसे अधिक विपरीत प्रभाव उसकी पत्नि जेना पर पड़ा जिसने जीवन भर एक महान व्यक्ति की तरह समस्त व्यथाओं को सहन किया।

लगभग इसी समय मार्क्स उग्रवादी विचारक तथा क्रान्तिकारी बनता जा रहा था। उसके इस प्रकार के विचारों से उसे विश्व-विद्यालय में कार्य नहीं मिल सका। यदि मार्क्स को उस समय विश्व-विद्यालय मे शिक्षक का कार्य मिल जाता तो सम्भवतः इस समय इतिहास कुछ और ही होता। तदुपरान्त मार्क्स उग्रवादी पत्रकारिता के क्षेत्र मे उतर पड़ा। परिणामस्वरूप उसे प्रशा(Prussia) से निर्वासित किया गया। इसके बाद मार्क्स ने 1848 तक क्रान्तिकारी जीवन व्यतीत किया तथा उसे यूरोप में निरन्तर इधर से उधर भागना पड़ा। 1848 से अपनी मृत्यु तक मार्क्स इंग्लैंड में लगभग निर्वासित होकर रहा।

कार्ल मार्क्स मार्क्सवाद का एक प्रमुख आधा भाग है। मार्क्सवादी अंग का दूसरा भाग फ्रेड्रिक एन्जिल्स है। ऐन्जिल्स का जन्म बार्मन (Barmen),जर्मनी में, 1820 मे एक धनी परिवार में हुआ। ऐन्जिल्स इंगलैण्ड में अपने पिता के

व्यवसाय की देखरेख करता था। मार्क्स और ऐन्जिल्स का मिलन एक पत्र के माध्यम से हुआ। पेरिस में प्रकाशित एक पत्र Deutsch--Franzosische Fahrbucher--के एक अंक मे मार्क्स और ऐन्जिल्स दोनो के ही लेख प्रकाशित हुऐ। दोनों एक ही दूसरे के लेखों से बड़े प्रभावित हुऐ तथा 1842 से ये ऐसे घनिष्ठ मित्र हुए कि साहित्यिक जगत में इस प्रकार की युगलबन्दी का उदाहरण मिलना सम्भव नही है।

मार्क्सवाद को इन दोनो व्यक्तियो का क्या योगदान है इसको अलग-अलग आंकना सम्भव नही। ये दो व्यक्ति किन्तु एक साहित्यिक आत्मा थे। 1847 मे मार्क्स तथा ऐन्जिल्स ने लन्दन मे कम्युनिस्ट लीग (Communist League) की स्थापना की। इस लीग के उद्देश्य एवं कार्यक्रम के रूप में मार्क्स तथा ऐन्जिल्स द्वारा 1848 में कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो (The Manifesto of the Communist Party) की रचना हुई। यही से वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) का युग प्रारम्भ होता है।[1] ऐन्जिल्स ने कई ग्रन्थ मार्क्स के साथ लिखे तथा कुछ का सम्पादन किया। मार्क्स की 'केपिटल' (Capital) के द्वितीय तथा तृतीय खण्डों का सम्पादन ऐन्जिल्स ने ही किया था।

ऐन्जिल्स ने मार्क्स की साहित्यिक क्षेत्र में ही सहायता नहीं की किन्तु उसके परिवार के भरण-पोषण मे भी धन राशि की मदद देता रहा। 1860 के पश्चात् तो वह मार्क्स के परिवार को 350 पौन्ड वार्षिक नियमित रूप से देने लगा। इतना सब होते हुऐ भी ऐन्जिल्स को मार्क्स का चिड़चिड़ा स्वभाव सहन करना पड़ता था। ऐन्जिल्स मार्क्स को हमेशा ही आगे रख स्वयं पृष्ठभूमि मे रहा। ऐन्जिल्स के विषय मे ऐलेग्जेन्डर ग्रे ने लिखा है:—

> "इतिहास में इस प्रकार के कई दृष्टान्त हैं जहा मनुष्य ने औरत के लिये तथा औरत ने मनुष्य के लिये सब कुछ न्यौछावर कर दिया है। लेकिन ऐन्जिल्स जैसा उदाहरण इतिहास मे मिलना मुश्किल है कि बिना किसी रक्त-सम्बन्ध के एक सामान्य उद्देश्य के लिये उसने मार्क्स के लिये अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पण कर दिया। ऐन्जिल्स ने स्वतन्त्र रूप से महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु उसने मार्क्स के अनुचर के रूप मे ही रहना उचित समझा।"[2]

---

1 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 263
2 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p 298.

मार्क्स तथा ऐन्जिल्स ने यूरोप में क्रान्तिकारी आन्दोलनों को संगठित करने का काफी प्रयत्न किया तथा 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' की स्थापना की । 1883 में मार्क्स की मृत्यु के पश्चात् ऐन्जिल्स अपनी मृत्यु तक मार्क्सवाद का प्रमुख अग्रणी प्रवक्ता रहा । इतिहास ने मार्क्स को ही अधिक सम्मान दिया है किन्तु मार्क्स को ऐन्जिल्स के बिना नही समझा जा सकता ।

मार्क्स तथा ऐन्जिल्स के निम्नलिखित प्रमुख ग्रन्थो में मार्क्सवाद की पूर्ण व्याख्या मिलती है:—

Engels, F., Condition of the working Classes in England, 1844.
Marx and Engels, The Holy Family, 1844.
Karl Marx, The Poverty of Philosophy, 1847.
Marx and Engels, The Manifesto of the Communist Party, 1848.

साम्यवादी घोषणा-पत्र छोटी किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना है । वास्तव में इनकी बाद की रचनाएें इसी घोषणा-पत्र की व्यापक टीकाएें है ।[3]

Karl Marx, The Critique of Political Economy, 1859.
Karl Marx, Value, Price, Profit, 1865.
Engels F., Anti Duhring
Karl Marx, Das Kapital (Capital) Vol. I., 1867.
Engels F., Socialism, Utopian and Scientific, 1880.
Karl Marx, Das Kapital, Vol. II, edited by Engels, 1885,
Karl Marx, Das Kapital, Vol. III, edited by Engels, 1895

वैज्ञानिक समाजवाद

मार्क्स अपने सहयोगी ऐन्जिल्स के साथ श्रमिक-वर्ग के आन्दोलन के लिए वैज्ञानिक समाजवाद का जन्मदाता माना जाता है । मार्क्सवाद को प्रायः सर्वहारा समाजवाद (Proletarian Socialism), क्रान्तिकारी समाजवाद (Revolutionary Socialism) तथा वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) भी कहा जाता है । कार्ल मार्क्स का दावा था कि जिस समाजवाद का वह प्रतिपादन कर रहे थे वह वैज्ञानिक था । इसके लिए उसने उस समय के यूटोपियायी

3. Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 263.

विचारो की आलोचना ही नही की, उसने न तो उनके कोई काल्पनिक आदर्श ही अपनाये तथा न उनसे अपना कोई विचार-सम्बन्ध रखा। मार्क्स के अनुसार यूटोपियायी समाजवादी सर्वहारा-वर्ग के विषय मे अनभिज्ञ थे; समाजवाद लाने के लिए उन्होने समस्त समाज, विशेषत: उच्च वर्ग से अपील की; उन्होंने भविष्य के बड़े आदर्शवादी-कल्पनावादी स्वप्न देखे, वे नैतिकता तथा मनुष्य की अच्छाई को स्वीकार कर समाजवाद लाना चाहते थे। मार्क्स के अनुसार कल्पनाओ और सद्भावनाओ के आधार पर आदर्श समाज के स्वप्न को पृथ्वी पर साकार नही किया जा सकता क्योकि उनका जीवन से कोई सम्बन्ध नही रहता। इसलिए यूटोपियायी वैज्ञानिक समाजवादी नही हो सकते थे। मार्क्स तथा प्रधों के विचार-संघर्ष के परिणामस्वरूप मार्क्स के विचारों में बड़ी प्रगति हुई। प्रधों की पुस्तक Philosophy of Poverty के प्रत्युत्तर मे मार्क्स ने 1947 मे Poverty of Philosophy लिखी। यह ग्रन्थ ही मार्क्स-ऐन्जिल्स द्वारा लिखित साम्यवादी घोषणा-पत्र की भूमिका तैयार करता है।[4]

इसी घोषणा-पत्र में सर्वप्रथम वैज्ञानिक समाजवाद का विवेचन किया गया है। साम्यवादी घोषणा-पत्र मे मार्क्स-ऐन्जिल्स ने लिखा है:—

> "साम्यवाद अपने शाब्दिक अर्थ मे अवश्य ही एक विधि का सिद्धान्त है। यह उन नियमों को स्थापित करता है जिनके द्वारा पूंजीवाद को समाजवाद में बदला जा सकता है।"[5]

ऐलेग्जेन्डर ग्रे ने मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद को स्पष्ट करते हुए लिखा है:—

> "जैसा कि मार्क्स ने प्रस्तुत किया है शास्त्रीय अर्थ में वैज्ञानिक समाजवाद कम से कम इतिहास का दर्शन है, वर्ग-संघर्ष का मूर्तरूप, आर्थिक तर्कों पर आधारित शोषण का सिद्धान्त तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का स्वप्न है।"[6]

---

4. Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 263.
5. Preface to the Communist Manifesto.
6. "......In its classic form as presented by Marx (1818-1883), scientific socialism comprises at least a philosophy of history, embodying the class struggle; a theory of exploitation, based on presumed economic reasoning and a vision of the dictatorship of the proletarist."
   Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p. 5.

ऐसी अवस्था में मार्क्स ही पहला समाजवादी लेखक है जिसके कार्यों को वैज्ञानिक माना जा सकता है। उसने न केवल उस समाज का चित्र अंकित किया जिसे वह वाछनीय समझता था, अपितु उसने विस्तारपूर्वक उन दशाओं का वर्णन किया जिनसे होकर उस आदर्श समाज को विकसित होना चाहिए।"[7]

मार्क्स ने अपने समाजवाद को वैज्ञानिक बतलाते हुए कहा है कि यह इतिहास के विकास का परिणाम है न कि मस्तिष्क की कल्पना, यह उस विधि विधान पर आधारित है जिसके द्वारा मानव इतिहास प्रगति करता है।

लेन लंकास्टर (Lane W.Lancaster) के अनुसार मार्क्सवाद के वैज्ञानिक समाजवाद होने के दो प्रमुख आधार थे। प्रथम, यह वास्तविकता (realistic) पर आधारित है न कि कल्पना पर। द्वितीय, यह पूर्व तथा पुरानी व्यवस्था को ही वैज्ञानिक तरीके से नहीं समझाता किन्तु नई व्यवस्था प्राप्त करने के लिए भी वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाता है।[8]

वास्तव में मार्क्स के समाजवाद का वैज्ञानिक होना तत्कालीन युग की भी देन तथा उनका स्वयं का दृष्टिकोण था। इस सम्बन्ध में मिलोवन जिलास (**Milovan Djilas**) लिखते हैं:—

> "मार्क्स के विचार उस समय के वैज्ञानिक वातावरण से प्रभावित हुए, विज्ञान के प्रति उनका स्वयं का अध्ययन तथा अपनी क्रान्तिकारी आकांक्षाओं से वे श्रमिक-वर्ग आन्दोलन को वैज्ञानिक आधार देना चाहते थे।"[9]

हेरॉल्ड लास्की (**Herold Laski**) का मत है कि मार्क्स ने समाजवाद को एक कार्यक्रम एवं एक दर्शन दिया जो वास्तविक तथ्यों पर आधारित था। इसके पहले ऐसा विकल्प कोई नहीं था।[10]

---

7. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका, पृ० 36
8. Lancaster, L. W., Masters of Political Thought, vol. III, p. 163.
9. "Marx's ideas were influenced by the scientific atmosphere of his time, by his own learnings towards science and by his revolutionary aspiration to give to the working class movement a more or less scientific basis."
   Milovan Djilas, The New Class, p. 5.
10. Laski, H., Marxism after Fifty Years, Current History,

प्रसिद्ध इतिहासकार टेलर (A. J. P. Taylor) का मत है कि मार्क्सवाद में सामाजिक परिवर्तन करने वाली शक्तियों की जो व्याख्या है वह उसे वैज्ञानिकता प्रदान करती है। इसके अलावा इन परिवर्तन करने वाली शक्तियों का विवेचन मानव मनोविज्ञान (Human Phychology) पर आधारित है।[11]

मार्क्स के ग्रन्थों में ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि का परिचय तो प्राप्त होता ही है। उसने जो कुछ भी लिखा है तथा जो वह सिद्ध करना चाहता था वह तथ्यों पर आधारित है। उसके विचारों में कल्पना की छलांग नहीं है। उसके ग्रन्थ तथ्य सम्बन्धी ज्ञान के अपूर्व भण्डार हैं। उसने उस समय प्रचलित ऐतिहासिक लेखन प्रवृत्ति का ही अनुसरण किया है। मार्क्स जब अपने सिद्धान्तों की विवेचना करता है तो वह आदम युग से प्रारम्भ करता है तथा यह स्पष्ट करता है कि मनुष्य किन-किन युगों से निकल चुका है। मनुष्य एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाता है इसका कारण समाज की अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन होना है। यह ऐतिहासिक विवेचना भी वैज्ञानिक पद्धति का एक प्रमुख अंग है।

मार्क्सवाद के कई सिद्धान्त इसी ऐतिहासिक विवेचन के परिणाम हैं। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, पूंजीवादी से सम्बन्धित अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) मार्क्स के प्रमुख अन्वेषण हैं। ऐन्जिल्स के शब्दों में—

> "इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, तथा अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त द्वारा पूंजीवादी उत्पादन का रहस्योदघाटन करना, इन दो महान अन्वेषणों के लिए हम मार्क्स के ऋणी हैं। इन दो खोजों से समाजवाद विज्ञान बन गया। इनके बाद तो सिर्फ इनके सम्बन्ध और विस्तार का ही कार्य रह गया।[12]

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, मार्क्स के पूर्व समाजवादियों ने कोई ऐसा वैज्ञानिक सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जिसके आधार पर एक सुनिश्चित तर्क संगत सामूहिक कार्यक्रम खड़ा किया जा सकता। मार्क्स ने

11. Taylor, A. J. P., Manifesto of the Communist Party, Introduction by A.J.P. Taylor, Penguin Book Co, Middlesex, 1970 p. 10-11
12 'These two great discoveries, the materialistic conception of history and the revelation of the secret of capitalist production through surplus value, we owe to Marx. With these discoveries Socialism became a science. The next thing was to work out all its details and relations."
Engels, F., Socialism : Utopian and Scientific, p. 44.

ग्रन्थो, पुस्तकों, लेखों आदि में इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति के सम्बन्ध में जो भी विचार प्रकट किये हैं वे मुख्यतः परस्पर अनुरूप तथा विरोध-रहित थे।

दूसरे, मार्क्स ने अर्थशास्त्र से सम्बन्धित आर्थिक नियतिवाद (Economic Determinism), मूल्य के निर्धारण में श्रम का महत्व, समाज का विकास आदि का अध्ययन श्रम बद्धता या श्रमिक विकास (Logical Development) पर आधारित उसकी विवेचना में कारण और परिणाम (Causes and Effects) प्रत्येक जगह विद्यमान हैं।[13]

अपने निष्कर्षों को वह निश्चित समझता था। उदाहरणार्थ—

(i) सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारण होते हैं;

(ii पूंजीवादी व्यवस्था परिपक्वता को प्राप्त करते ही पतन की ओर अग्रसर होती है।

(iii) पूंजीवादी अवस्था में पूंजीपतियों और श्रमिकों का संघर्ष अनिवार्य है।

(iv) केवल श्रमिक वर्ग ही क्रान्तिकारी होता है क्योंकि उसके पास अपने श्रम को छोडकर कुछ नही है और न ही उसे विद्यमान सामाजिक व्यवस्था से मोह है।

(v) पूंजीवादी व्यवस्था के बाद समाजवाद का आना अवश्यम्भावी था, तथा

(vi) श्रम, मूल्य का निर्धारक तत्व है।

इसके अतिरिक्त वह द्वन्दात्मक भौतिकवाद को 'अकाट्य विज्ञान' मानता था। उसके अनुसार इतिहास के जो नियम उसने ढूंढ निकाले थे वे वैज्ञानिक सिद्धान्तो की तरह निश्चित और निर्मम थे।

पूंजीवादी व्यवस्था के बाद समाजवाद का आना अवश्यम्भावी था; तथा अन्त, में मार्क्सवाद को वैज्ञानिकता प्रदान करने वाले सभी तत्वों के सार का प्रो. हरमन जड (Heromon Judd) ने इस प्रकार उल्लेख किया है। इनके मतानुसार

> "मार्क्स का दावा था कि उसका समाजवाद यूटोपियायी या ईसाई समाजवाद नहीं किन्तु वैज्ञानिक था। उसे विश्वास था कि किसी भी कार्य-क्रम की स्थाई रूप से सफलता के लिये यह वैज्ञानिक सत्य सिद्धान्तो पर आधारित होना चाहिये। उसके अनुसार

13. Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p

सहयोग सिद्धान्त तथा पूंजी वर्ग के उदार स्वभाव की अपील करना व्यर्थ था। क्योंकि किन्हीं कारणों से वे उस व्यवस्था में परिवर्तन नहीं लायेंगे जिससे उन्हें लाभ होता है। मार्क्स का विश्वास था कि उस समय की दशा के कारणों को जानने के लिए दूरगामी सुधार करने पड़ेंगे तथा उन शक्तियों को खोजना पड़ेगा जो इतिहास को गतिशील बनाती है। इसे केवल वैज्ञानिक अन्वेषण द्वारा ही समझना सम्भव हो सकता है कि क्या गुजर चुका है तथा भविष्य में क्या होगा। कोई अन्य पद्धति, उसे चाहे कैसे भी अच्छे विचारों द्वारा अपनाया जाय व्यर्थ है।" 14

मार्क्स पर प्रभाव तथा उनका वैज्ञानिक विवेचन

कार्ल मार्क्स के विचारो में मौलिकता (Originality) के अभाव की बात सभी विद्वान कहते हैं। यह सत्य अवश्य है। समाज विकास का सिद्धान्त, पूंजीवाद के विकास और सामाजिक परिणाम, अतिरिक्त-मूल्य का सिद्धान्त (theory of surplus value), श्रम सिद्धान्त, सर्वहारा-वर्ग (prolatariate) के प्रति हित कामना, श्रमिकों के लिए संगठित रूप से राजनीतिक कार्य एवं आन्दोलन करने के लिए आह्वान, आदि की पूर्व-ध्वनि मार्क्स के पहले ही गूंज रही थी।

हीगलवाद (Hegalism) उस समय का विचार फैशन (जैसा कि आजकल भारत में समाजवाद है) था। हीगल से कार्ल मार्क्स ने ग्रहण किया कि विकास

---

14. "Marx claimed that his was a scientific rather than a utopian or christian socialism He was convinced that any programme which was to be permanently successful would have to be based upon scientifically valid principles. It was, he thought, totally useless to preach the doctrine of co-operation and to appeal to the benevolent nature of a capitalist class which, for reasons.........was unable consciously to alter the system from which it benefited Refomers. Mrx believed would need to delve more deeply into the causes of the existing situation to investigate the forces that move history itself only through such a scientific investigation possible to understand what has happened, what is happening,and what will happen. Any other approach, no matter how altruistically motivated, is useless"
Judd Hermon M., Political Thought from Plato to the Present, Mc Grow-Hill, New york, 1964, p 392

सिद्धान्त विरोधी तत्वो के संघर्ष में निहित रहता है। फ्यूरबाख (Feurbach) से मार्क्स ने भौतिकवादी (materialism) विचार प्राप्त किये। सम्भवतः वर्ग संघर्ष (class war) की प्रेरणा उसे फ्रांन्स के समाजवादियों से मिली हो क्योंकि कुछ समय जब मार्क्स फ्रान्स में था, वहां के समाजवादियों के सम्पर्क में रहा।[15] उसके अर्थशास्त्र सम्बन्धी विचार अट्ठारहवीं शताब्दी के मरकेन्टाइलिस्ट अर्थशास्त्रियो, विशेषतः रिकार्डो (David Ricardo), फिजियोक्रेट विद्वानों (Physiocrats) तथा अन्य लेखकों के ग्रन्थों में मिलते हैं।[16]

यह नि.सन्देह सत्य है कि मार्क्सवाद के विभिन्न तत्व कई स्त्रोतो से ढूंढ़े जा सकते हैं। उसने ईंट-पत्थरो की भांति सब स्थलो से विचारो को एकत्रित किया। किन्तु जिस विचार-भवन का निर्माण किया वह स्वयं उसकी ही इच्छानुसार था।[17] मार्क्स ने इन सभी विद्वानों के विचारों के तथ्यों की व्यवस्था, उनकी विवेचना आदि स्वयं ही की थी। मार्क्स ने अपने मत की पुष्टि के लिये इन चिन्तको एवं विद्वानों के विचारों का सार ग्रहण किया तथा अपने विचारो को तार्किक दृष्टि से सिद्ध करने के लिये उनका प्रयोग किया। उदाहरणार्थ, हीगल के दर्शन में विचार (idea) और राष्ट्र (nation) की प्रमुखता थी। मार्क्स के अनुसार हीगल का दर्शन ठीक सिर के बल उल्टा खड़ा हुआ था। मार्क्स ने इसे नया रूप देकर पैरों पर खड़ा किया।[18] हीगल के विचार और राष्ट्र के तत्वो को मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष के रूप मे प्रस्तुत किया,[19] तथा इस नियम को एक राष्ट्र तक ही नही अपितु सम्पूर्ण विश्व में लागू होने वाला बतलाया।[20]

मार्क्स का यही विवेचन समाजवाद और क्रान्ति का प्रमुख आधार है जो उसके विचारों को वैज्ञानिकता प्रदान करता है। प्रो लास्की (Herold Laski) के अनुसार उस समय समाजवाद एक अस्त-व्यस्त स्थिति में था किन्तु मार्क्स ने उसे एक आन्दोलन बना दिया। यही नही उसे तर्क-संगत बना

---

15 Gray Alexander, The Socialist Tradition, p. 300.

16. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 44-47.

17. उपरोक्त पृ. 299.

18 Engels, F., Socialism : Utopian and Scientific, p 37

19. Sabine, H. S, A History of Political Theory, p.628.

20. Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 261.

कर एक नया दर्शन और एक नई दिशा प्रदान की। कई विद्वान मार्क्स के विचारों से सहमत नही हैं किन्तु वे भी उसके अध्ययन, विश्लेषण और सूक्ष्मता को स्वीकार करते हैं।

उपरोक्त अध्ययन से यह तो लगभग स्पष्ट है कि मार्क्सवाद वैज्ञानिक समाजवाद है। क्योकि मार्क्सवादी विचार तथ्यो पर आधारित हैं; इसमे ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया गया हैं; यह विवेचनात्मक अध्ययन है; तथा इसे तर्क-संगत बनाकर, 'कारण और परिणाम' के सम्बन्ध को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। मार्क्सवाद के अन्तर्गत नये सिद्धान्त तथा नये निष्कर्षों को स्थापित किया गया है। इतना सब कुछ होते हुए भी मार्क्सवाद के पूर्णरूप से वैज्ञानिक होने मे सन्देह व्यक्त किया जाता है। टेलर (A.J P Taylor) ने मार्क्सवाद को सही वैज्ञानिक अध्ययन नही माना है।[21]

मिलोवन जिलास (Milovan Djilas), जो यूगोस्लेविया (Yugoslavia) के एक विद्रोही साम्यवादी चिन्तक हैं, का मत है कि मार्क्सवाद का विज्ञान के रूप मे कभी भी महत्व नही रहे है। मार्क्स ने हीगल के विज्ञान को ही आगे बढाया। इसमें उसका मूल योगदान कुछ भी नही था।[22]

कोल (G.D H Cole) का विचार है कि मार्क्सवाद वैज्ञानिक समाजवाद कम तथा सिद्धान्त शास्त्र या आध्यात्म-शास्त्र (Metaphysics) अधिक है। यह उसके अतिरिक्त-मूल्य सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) से स्पष्ट हो जाता है।[23]

मार्क्सवाद के वैज्ञानिक समाजवाद के रूप मे सबसे बडी त्रुटि यह थी कि मार्क्स का अध्ययन निष्पक्ष नही था। उसने जो भी तथ्य एकत्रित किये, उनका जो विवेचन किया, उसका मुख्य उद्देश्य क्रान्ति द्वारा सर्वहारा-वर्ग की सत्ता की स्थापना करना था। इसके समर्थन मे उसे जो तथ्य मिले उनका उसने प्रयोग किया तथा जो तथ्य उसके निष्कर्ष के विपरीत जाते थे उनकी अवहेलना की। इस प्रकार एकपक्षीय अध्ययन को पूर्ण विज्ञान कहना उपयुक्त नहीं होगा।

---

21. Taylor, A.J.P., The Manifesto of the Communist Party, pp.10–11.
22. Djilas, Milovan, The New Class, p 6.
23. *Cole*, G.D.H, A History of Socialist Thought, Vol II, pp.288 - 89; Jay, Douglas, Socialism in the New Society, pp 57—88

आगे के पृष्ठों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अध्ययन से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है।

कार्ल मार्क्स तथा ऐन्जिल्स वैज्ञानिक समाजवाद के प्रमुख प्रवक्ता है, किन्तु कुछ ऐसे भी समाजवादी हैं जो मार्क्स-ऐन्जिल्स के विचारों के कुछ तत्वों को स्वीकार करते हैं तथा कुछ को अस्वीकार। किन्तु उन्हे भी वैज्ञानिक समाजवाद का समर्थक माना जाता है। इनमे कार्ल रॉडबर्टस (Karl Rodbertus, 1805-1875) तथा फर्डीनेन्ड लासेल (Ferdinand Lassale, 1825—1864) के नाम प्रमुख हैं। मार्क्स-ऐन्जिल्स तथा इनमें मतभेद इस बात पर हैं कि समाजवाद लाने के लिये तुरन्त क्या कार्यक्रम हो तथा राज्य के विषय में वास्तव में क्या दृष्टिकोण होना चाहिये। वैज्ञानिक समाजवाद के विषय में इन्होने मार्क्स-ऐन्जिल्स की मान्यताओं का लगभग समर्थन किया है हालांकि उनके कारण एवं परिणाम कुछ भिन्न ही हैं।[24]

द्वन्दात्मक भौतिकवाद
Dialectical Materialism

कार्ल मार्क्स की विचारधारा का आधारभूत सिद्धान्त द्वन्दात्मक भौतिकवाद है। द्वन्द का अर्थ तर्कसम्मत विचार-विमर्श है। किसी भी तथ्य की वास्तविकता के ज्ञान की प्राप्ति इस तर्क-सम्मत विचार विमर्श से ही सम्भव होती है। सामाजिक विकास-क्रम का ज्ञान करने के लिये सर्वप्रथम द्वन्दात्मक सिद्धान्त को हीगल ने ग्रहण किया था। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि ऐतिहासिक घटना-क्रम कुछ निश्चित नियमों के अनुसार चलता है। इन्ही नियमों के आधार पर सामाजिक परिवर्तनों को समझा जा सकता है।

हीगल ने समाज को गतिमय तथा परिवर्तनशील बतलाते हुए विश्व-आत्मा (World Spirit) को उसका नियामक कारण माना है। हीगल ने द्वन्दात्मकता के अन्तर्गत होने वाले बौद्धिक क्रम का 'अस्तित्व में होना' (being), अस्तित्व मे न होना' (non-being) और 'अस्तित्व में आना' (becoming) के रूप में देखा। हीगल ने इन तीनों क्रमों को 'वाद' (thesis), 'प्रतिवाद' (anti-thesis) और 'सम्वाद' (synthesis) से सम्बोधित किया है। कोई भी 'अमूर्त' (abstract) 'विचार' (idea) से प्रारम्भ होता है। विचार में 'विरोध' (contradiction) उत्पन्न होता है जिसे प्रतिवाद कहा जाता है। वाद और

---

24. Gray, Alexander, The Socialist Tradition, pp 332, 334, 343—44.

प्रतिवाद में द्वन्द के परिणामस्वरूप एक नये विचार का प्रादुर्भाव होता है जिसे हीगल सम्वाद कहता है। यही सम्वाद आगे चल कर वाद, फिर प्रतिवाद और सम्वाद के द्वारा पुनः नये विचार के रूप में उत्पन्न होता है। यह क्रमचक्र निरन्तर चलता रहता है।

हीगल परिवार को वाद के रूप में, समाज को परिवार के प्रतिवाद के रूप में, तथा राज्य को सम्वाद के रूप में एक विचार मानता था। इस प्रकार हीगल का द्वन्दवाद आदर्शात्मक था। हीगल के द्वन्दवाद के सार को कोल (G. D. H. Cole) ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है:—

> "हीगल ने विश्व को दैविक न्याय की एक अभिव्यक्ति के रूप में देखा जो निरन्तर विरोध और संघर्ष की प्रक्रिया द्वारा अपने को प्रसारित करता है। सम्पूर्ण मानव-इतिहास और केवल उसी से हमारा यहा सम्बंध है–उसके समक्ष विचारात्मक सघर्ष की एक लम्बी प्रक्रिया के रूप में फैल गया जिसका निश्चित परिणाम विश्व-भावना की पूर्ण सहानुभूति मे विरोध का अंतिम रूप से विनाश होगा। भौतिक स्तर पर समाज का विकास उसके लिये इस विचारात्मक प्रक्रिया की एक निषेधात्मक अभिव्यक्ति मात्र थी। मानव इतिहास में जो घटित हो रहा है वह यह नही है जिसकी प्राप्ति होती है बल्कि हर निरपेक्ष विचार में निहित वास्तविकता का क्रमिक तथा प्रगतिशील यथार्थीकरण है। प्रत्येक वस्तु विकास की सम्पूर्ण लौकिक प्रक्रिया मे बीज रूप मे विद्यमान थी परन्तु बीज यथार्थ का रूप विचार के लम्बे संघर्ष द्वारा ही धारण कर सकता था। यह संघर्ष, जैसा कि इतिहास मे दिखाई पड़ता है अपूर्ण विचारो के संघर्ष में होकर स्वानुभूति की ओर अग्रसर होता है।"[25]

हीगल के द्वन्दात्मक सिद्धान्त को मार्क्स ने सामाजिक विकास के सम्बंध में लागू किया। किन्तु मार्क्स भौतिकवादी था। भौतिकवादी सिद्धान्त का तात्पर्य है कि विश्व में परम तत्व पदार्थ (matter) है जिसके मूल में कोई ईश्वरीय अथवा सार्वभौम चेतना नहीं होती। पदार्थ ही प्रथम व प्रधान है। मार्क्स के द्वन्दवाद का आधार पदार्थ है, हीगल की भाति विचार (idea) नही; भौतिक पदार्थ ही इस जगत का आधार है। मार्क्स के भौतिक द्वन्दात्मक सिद्धान्त को

---

25. *Cole, G D.H., Meaning of Marxism, p 270.*

निम्नलिखित ढंग से व्यक्त किया जा सकता हैं —

(i) सावयविक एकता	विश्व एक भौतिक जगत है जिसमें वस्तुऐं तथा घटनाऐं एक दूसरे से पृथक न होकर पूर्णतया सम्बद्ध रहती हैं। अर्थात् प्रकृति के सभी पदार्थों मे सावयविक एकता रहती है।
(ii) गतिशीलता	विश्व अथवा उसकी कोई भी वस्तु स्थिर अथवा अपरिवर्तनशील नहीं है। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ-रेत के छोटे दाने से लेकर सूर्य पिन्ड तक-गतिशील है।
(iii) परिवर्तनशीलता	भौतिकवादी होने के कारण मार्क्स आर्थिक नियतिवाद (economic determinism) का समर्थक है। वह सामाजिक विकास की प्रेरक शक्तियों के रूप में आर्थिक परिस्थितियों को ही महत्व देता है। चूंकि भौतिक जगत में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है इसलिये सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन होता रहता है। द्वन्दवाद विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया है।
(iv) भावात्मक-गुणात्मक परिवर्तन	परिवर्तन भावात्मक (quantitative) तथा गुणात्मक (qualitative) दोनों प्रकार के होते हैं। गेहूँ के एक अंकुर का कई दानों में परिणित हो जाना भावात्मक परिवर्तन है। पानी का बर्फ या भाप में परिवर्तन गुणात्मक कहलाता है।

परिवर्तन-क्रम में एक अवस्था ऐसी आती है जब परिमाणगत से गुणात्मक परिवर्तन एकाएक हो जाता हैं। उदाहरणार्थ, जब पानी सामान्य गर्म होता है उसमें कोई परिवर्तन मालूम नहीं होता। लेकिन जैसे ही उसका तापमान 100° सेन्टीग्रेड पर पहुंचता है वह उबलने लगता है, तथा एकाएक उसके गुण में परिवर्तन हो भाप बनने लगता है। पानी का भाप में परिवर्तन ही गुणात्मक परिवर्तन है। इसी प्रकार सामाजिक विकास क्रम पहिले धीरे धीरे चलता है लेकिन एक स्थिति ऐसी आती है कि उसमें एक दम गुणगत परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन में आर्थिक तत्व प्रधान है न कि हीगल की तरह विचार तत्व।

(v) क्रान्तिकारी प्रक्रिया	वस्तुओं में गुणात्मक परिवर्तन धीरे-धीरे नहो वल्कि सहसा और झटके के द्वारा होता है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक जाने की प्रक्रिया कान्तिकारी हाती है।
(vi) सकारात्मक-नकारात्मक संघर्ष	प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष होते हैं—सकारात्मक (positive) और नकारात्मक (negative)। इनमें निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। संघर्ष के परिणाम-स्वरूप पुराना तत्व मिट जाता है तथा नवीन तत्व उत्पन्न होता है। यह निरन्तर संघर्ष विकास-क्रम निर्धारण करता है।

मार्क्स के इस विचार को कोल (G.D H. Cole) ने व्यक्त करते हुए लिखा है कि इतिहास के प्रत्येक युग में उत्पादन शक्तियां से मनुष्यों में आर्थिक सम्बंध पैदा होते हैं। मानव इतिहास में इन सम्बंधों के फलस्वरूप मनुष्य आर्थिक वर्गों में विभाजित रहे हैं। प्राचीन ग्रीस में स्वतन्त्र नागरिक व दास; रोम मे पेट्रोशियन व प्लेबियन; मध्य युग मे भूमिपति और दास-किसान, तथा वर्तमान युग में पूंजीपति व मजदूर-वर्ग के बीच मे हुए संघर्ष से समाज आगे बढ़ता है।

द्वन्दात्मक भौतिकवाद सिद्धान्त से मार्क्स ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि पूंजीवादी व्यवस्था के स्थान पर साम्यवादी समाज की स्थापना कैसे होगी।

मार्क्स ने अपने द्वन्दवाद में जिस तीव्र गति से परिवर्तन की ओर संकेत किया उससे उसने क्रान्ति के औचित्य को सिद्ध किया है। पूंजीवाद में शोषित वर्ग उन्नति नही किन्तु क्रान्ति द्वारा परिवर्तन करेगा। इस प्रकार मार्क्स द्वन्दवादी व्याख्या द्वारा वर्ग संघर्ष को अवश्यम्भावी बना देता है।

मार्क्स के द्वन्दवादी भौतिकवाद का वाद, प्रतिवाद और सम्वाद आर्थिक वर्ग है। इनमें संघर्ष के परिणामस्वरूप एक ऐसे समाज की स्थापना होगी जिसमे शोषण एवं वर्ग-भेद सदैव के लिए समाप्त हो जायेगा। वर्गरहित समाज की स्थापना अंतिम सम्वाद होगा जिसके बाद प्रतिवाद का जन्म नही होगा। यही पर वर्ग-संघर्ष की द्वन्दात्मक प्रक्रिया रुक जायेगी।

हीगल तथा मार्क्स के द्वन्दात्मक सिद्धान्त में अन्तर

हीगल तथा मार्क्स ने द्वन्दवाद सिद्धान्त की सामाजिक विकास के संदर्भ में व्याख्या की है किन्तु दोनो विचारको के निष्कर्ष भिन्न-भिन्न हैं। हीगल के द्वन्दवाद का आधार विचार (idea) है। इसके विपरीत मार्क्स पदार्थ (matter) को प्रमुखता देता है। हीगल का द्वन्दवाद रहस्यात्मक-आदर्शात्मक है, मार्क्स भौतिकवादी है।

हीगल का विचार था कि यूरोपीय इतिहास की चरम परिणति जर्मन राष्ट्र के विकास में हुई है तथा जर्मनी यूरोप का आध्यात्मिक नेतृत्व ग्रहण करेगा। कार्ल मार्क्स ने सामाजिक इतिहास की चरम परिणति सर्वहारा वर्ग के उत्थान के रूप में स्वीकार की है।

हीगल के समाज दर्शन में प्रेरक शक्ति एवस्व-विकासशील आध्यात्मिक सिद्धान्त है। मार्क्स के दर्शन में यह प्रेरक तत्व स्वविकासशील उत्पादक शक्तिया है जो अपने लिये सामाजिक वर्गों मे व्यक्त करती हैं।

हीगल के लिये प्रगति राष्ट्रों के संघर्ष मे निहित है। किन्तु मार्क्स के लिये प्रगति सामाजिक वर्गों के विरोधाभाव में निहित थी।

अनुदार हीगलवादियों ने हीगल के दर्शन का प्रतिक्रियावादी ढंग से प्रयोग किया। किन्तु इसी सिद्धान्त को मार्क्स ने क्रान्ति का उपकरण बना दिया। 'सोवियत संघ के साम्यवादी दल के संक्षिप्त इतिहास' मे इस सम्बन्ध में लिखा है कि द्वन्दवाद की सहायता से साम्यवादी दल प्रत्येक स्थिति के प्रति सही दृष्टिकोण बना सकता है, सामयिक घटनाओ के आन्तरिक सम्बन्धों को समझ सकता है तथा उनकी दिशा को जान सकता है। वह न केवल यह जान सकता है कि वर्तमान में घटनाएं किस दिशा में चल रही हैं, किन्तु यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि भविष्य में उनकी दिशा क्या होगी। 27

---

26. Sabine, H. S., A History of Political Theory, p. 651,
27. Hunt, Carew, (quoted) Theory and Practice of Communism, p. [illegible]

आलोचना

द्वन्दवादी भौतिकवाद मार्क्सवाद का मूल आधार है किन्तु इस विचार को मार्क्स ने पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं किया है। जगह-जगह पर मार्क्स ने द्वन्दवादी भौतिकवाद की विवेचना की है, वे अपनी रचनाओं में इसे अत्यधिक महत्वपूर्ण दर्शाते हैं, सभी स्थानों पर इसे लागू करने का प्रयत्न करते है, लेकिन विस्तृत रूप से वे इसका कहीं भी विवेचन नहीं करते।

कार्ल मार्क्स सामाजिक तथा राजनीतिक गतिविधियों को समझने के लिये एकमात्र भौतिक तत्व को प्रधानता देता है। वह पदार्थ को चेतना की अपेक्षा प्रमुखता देता है। यह समझ में आना असम्भव है कि किसी चेतना-सत्ता के बिना यह विश्व उत्पन्न और संचालित कैसे हो सकता है। यह मानना सही नहीं है कि सामाजिक जीवन में चेतना का योगदान नहीं है तथा भौतिक तत्वों द्वारा ही समस्त सामाजिक गतिविधियों का नियमन होता है। भौतिक तत्व को एकमात्र निर्णायक तत्व मानना भूल है।

यद्यपि द्वन्दवाद हमें मानव विकास के इतिहास में मूल्यवान क्रान्तियों का दिग्दर्शन कराता है किन्तु मार्क्स का यह दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सत्य का अनुसंधान करने के लिये यही एकमात्र वैज्ञानिक पद्धति है। सामाजिक घटनाओं को द्वन्द की सहायता के बिना भी भलीभांति समझा जा सकता है।

द्वन्दवाद के अध्ययन से यह बात समझ में आना कठिन है कि पदार्थ जो स्वभाव से चेतनाहीन है एक स्वयं विकसित होने वाला सिद्धान्त बन सकता है। इसमें आतरिक शक्तियों को यथार्थ करने की शक्ति नहीं होती और ना ही उसमें विकास की सामर्थ्य होती है। जो भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं वे बाह्य शक्ति द्वारा किये जाते हैं।

सामाजिक जीवन इतना जटिल होता है कि उसमें होने वाले परिवर्तनों में से वाद, प्रतिवाद तथा संम्वाद किसे कहा जाय यह बताना अत्यन्त ही दुष्कर कार्य है।

केरयू हन्ट (Carew Hunt) ने द्वन्दवादी भौतिकवाद की आलोचना निम्नलिखित शब्दों में की है:—

"मार्क्सवादी द्वन्दवाद के विरुद्ध एक गम्भीर आपत्ति उठायी जा सकती है। द्वन्दवाद को विरोधी तत्वों के बीच संघर्ष के द्वारा विचारों के विकास पर लागू करना उचित है, और हीगल उस विकास की एक बुद्धि संगत व्याख्या देता है। यद्यपि द्वन्दवादी भौतिकवाद के भौतिक जगत में कुछ विरोधो के दृष्टान्त केवल एकदम मनमाने हैं, परन्तु यदि वे ऐसे न भी होते तो फिर भी यह तो एक रहस्य ही बना रहता है कि भौतिक जगत में वे दिखाई क्यो पड़ने चाहिये। द्वन्दवादी भौतिकवाद वास्तव मे यह कहता है कि पदार्थ, पदार्थ है किन्तु इसका विकास विचारो की भाति होता है जब कि हम यह तो देख सकते हैं कि विचार उस प्रकार विकसित क्यो होते हैं जिस प्रकार कि वे होते हैं;जैसा कि, उदाहरण के लिये, वाद-विवाद मे, हम किसी ऐसे कारण की कल्पना नही कर सकते कि भौतिक वस्तुओं को भी उसी ढग से विकसित क्यो होना चाहिये।" 28

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या
या
ऐतिहासिक भौतिकवाद
(Materialistic Interpretation of History)

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को समझने से पहिले कुछ सम्बन्धित बातों का उल्लेख आवश्यक है। प्रथम, मार्क्स तथा ऐन्जल्स के **इस सिद्धान्त का नाम ही भ्रम मूलक है।** जिसे वे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कहते हैं वास्तव में वह भौतिकवादी न होकर आर्थिक व्याख्या है। इस सिद्धान्त को भौतिकवाद नही कहा जा सकता क्योंकि 'भौतिक' शब्द का अर्थ चेतनाहीन पदार्थ से होता है। उन्होंने सार्वजनिक परिवर्तनो की बात करते हुए कहा है कि यह परिवर्तन आर्थिक कारणों से होता है। अतः इस सिद्धान्त का नाम 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' होना चाहिए था।29

कोल (G. D. H. Cole) ने भी इस सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि इस सिद्धान्त में मार्क्स ने व्यवहारवादी दृष्टिकोण अपनाया था इसलिए इसका

---

28. Hunt, Carew, Theory and Practice of Communism, p, 33
29. Lancaster, Lane W., Masters of Political. Thought, Vol. III, Hegal to Dewey, 1959, p. 167

नाम 'इतिहास का व्यवहारवादी सिद्धान्त' (Realist Conception of History) होना चाहिए था।[30]

द्वितीय, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या मार्क्सवाद का एक प्रमुख तथा मूल सिद्धान्त है लेकिन उनके किसी भी ग्रन्थ में कही भी इस सिद्धान्त का पूर्ण तथा व्यवस्थित वर्णन नही मिलता। यह उनके ग्रन्थो, लेखो मे इधर उधर बिखरा हुआ है।

तृतीय, इस सिद्धान्त के विषय में मार्क्स की अपेक्षा ऐन्जल्स का योगदान अधिक एवं महत्वपूर्ण है। मार्क्स की पुस्तक—Critique of Political Economy—की प्रस्तावना में इस सिद्धान्त की जो व्याख्या की गई है, इसके बाद ऐन्जल्स ने ही इसकी समय समय पर विवेचना की है।

सिद्धान्त की व्याख्या

द्वन्दवादी भौतिकवाद के आधार पर मार्क्स ने मानव इतिहास की विवेचना की है। तदानुसार द्वन्दात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त केवल प्राकृतिक जगत मे ही लागू नही होते, मानव समाज का विकास भी इन्हीं नियमों के अनुसार होता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद का अर्थ द्वन्दवादी भौतिकवाद के सिद्धान्तों को समाज के विकास के लिये लागू करना है।

मानव समाज निरंतर बदलता रहता है। जो समाज आज से एक हजार या एक सौ वर्ष पहले था वैसा आज नहीं है। उसमें कई ऐसे परिवर्तन हुए हैं जिन्होने समाज की काया पलट दी है। लेकिन प्रमुख प्रश्न यह है कि इस प्रकार के सामाजिक परिवर्तन क्यो होते हैं।

सामाजिक परिवर्तन के विषय में मार्क्स और ऐन्जल्स की दो प्रमुख धारणाएं हैं। प्रथम, प्रकृति के नियम की तरह सामाजिक विकास के नियम भी निश्चित हैं। सामाजिक परिवर्तन न तो आकस्मिक होते हैं और न ही कुछ मनुष्यो की इच्छा पर निर्भर करते हैं। ये विकास नियम वस्तुगत हैं तथा उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है।

द्वितीय, सामाजिक विकास में भौतिक परिस्थितियां ही प्रधान हैं, मन, विचार, भावनाएं आदि गौण हैं। समाज की जिस प्रकार की भौतिक परिस्थितियां होती हैं, उन्हो के अनुरूप सामाजिक एवं राजनीतिक संगठन, धर्म, नैतिकता,

30. Gray, A., The Socialist Tradition, 1948, p. 301.

मूल्य और मान्यताएं होती हैं। अन्य शब्दों में, भौतिक परिस्थितियां ही सामाजिक जीवन का आधार है। उन में परिवर्तन होने का तात्पर्य सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में परिवर्तन होना है।

बोसाके ने इस सिद्धान्त को इस प्रकार व्यक्त किया है:—

"सूक्ष्म में इस दृष्टिकोण का यह तात्पर्य है कि सभ्यता का मूल ढांचा, उदाहरण के लिए परिवार का स्वरूप, समाज मे वर्ग विकास और उनके सम्बन्धो का निर्धारण मानव अस्तित्व की आवश्यकताओ, जलवायु और भोजन दशायें जिनके अन्तर्गत इन आवश्यकताओं की प्राप्ति होती है, से होता है केवल आर्थिक तथ्य ही वास्तविक या आकस्मिक हैं, अन्य वस्तुएं तो इनका बाहरी रूप या प्रभाव-मात्र हैं।"[31]

भौतिक परिस्थितियों से क्या अभिप्राय है ? मार्क्स और ऐन्जिल्स के अनुसार *'उत्पादन के उपादान' ही भौतिक परिस्थितिया हैं। वे यह मानकर चलते हैं* कि व्यक्ति को जीवित रहने के लिए भोजन, वस्त्र, ईंधन, मकान आदि प्राप्त करने पड़ते हैं इनके बिना जीवन सम्भव नहीं हो सकता। इन सब की उपलब्धि उत्पादन के द्वारा होती है। अतः समस्त मानवीय क्रिया-कलापों की आधारशिला उत्पादन प्रणाली है।

वस्तुओं का उत्पादन प्राकृतिक साधन, मशीन, यंत्र, उत्पादन कला, मनुष्य के मानसिक और नैतिक गुणों पर आधारित होता है। इस प्रकार उत्पादन के साधन और उत्पादन के तरीके 'उत्पादन के उपादान' के अन्तर्गत आते हैं।

इन समस्त परिवर्तनशील उत्पादन शक्तियों का सामाजिक सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक युग की सभ्यता, संस्कृति, राजनीतिक, धार्मिक और

---

31. "In sum, the point of view amounts to this - that the fundamental structure of civilisation, the type of the family, for example, and the order relations and development of classes in society, have been and must be determired by the primary necessities of human existence and the conditions of climate and nutrition under which these necessities are met. Economic facts alone, it is enggested, are real and casual; everything else is an appearance and an effect." Bosanquet, B; The Philosophical Theory of State, Macmillan & Co. Ltd. London, 1958, p. 26.

सामाजिक व्यवस्था, दर्शन, कानून और मनुष्यों का समाज के विभिन्न वर्गों में स्थान का निर्धारण उत्पादन और वितरण की प्रणाली के द्वारा होता है। आर्थिक व्यवस्था या उत्पादन के सम्बन्धों में परिवर्तन आते ही उन्हीं के अनुरूप सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन आते हैं।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कार्ल मार्क्स ने निम्नलिखित शब्दों में की है:—

"सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों से घनिष्ठतः सम्बन्धित हैं। नवीन उत्पादक शक्तियों को प्राप्त करने के लिये मनुष्य अपने उत्पादन तरीकों मे परिवर्तन करते हैं; और अपने उत्पादन तरीकों में तथा जीवन उपार्जन के ढंग में परिवर्तन करने से वे अपने समस्त सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन करते हैं। हस्तचालित मशीन से सामन्तवाद तथा चालित यन्त्रों से औद्योगिक पूंजीवाद समाज की स्थापना हुई।"

("Social relations are closely bound up with productive forces. In acquiring new productive forces, men change their mode of production; and in changing their mode of production, in changing the way of earning their living, they change all their social relations. The hand-mill gives you society with the feudal lord; the steam-mill, society with the industrial capitalist.")
The Poverty of Philosophy, p. 92.

फ्रेडरिक ऐन्जल्स ने पृथक रूप से इस सिद्धान्त की व्याख्या की है। ऐन्जल्स के शब्दों में—

"इतिहास का भौतिकवादी विचार इस सिद्धान्त से प्रारम्भ होता है कि उत्पादन, तथा उत्पादन के साथ वस्तुओं के विनिमय, प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था का आधार है; प्रत्येक समाज जिसका इतिहास में अभ्युदय हुआ है, वस्तुओं के वितरण तथा इसके साथ समाज का वर्ग-विभाजन का निर्धारण इस बात से होता है कि क्या और किस प्रकार उत्पादन तथा वस्तुओं का विनिमय किया जाता है। इस विचार के अनुसार सामाजिक परिवर्तनों और राजनीतिक क्रान्तियों के अन्तिम कारणों को, मनुष्यों के मस्तिष्क, सत्य और

न्याय आदि में नहीं किन्तु उत्पादन और विनिमय के तरीकों में देखा जा सकता है; वे दर्शन (Philosophy) में नही किन्तु उस युग से सम्बन्धित अर्थशास्त्र में दृष्टिगोचर होते हैं।"[32]

ऐन्जल्स ने सामान्यत: इस प्रकार के ही विचार अन्यत्र व्यक्त किये हैं। इस विषय मे लेनिन के विचार भी महत्वपूर्ण हैं। लेनिन ने लिखा है

> " यह व्यक्त करके कि बिना किसी अपवाद समस्त विचार और सभी प्रवृत्तियों की जड़ उत्पादन की भौतिक शक्ति सम्बन्धी दशाएं हैं, मार्क्सवाद ने सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओ के उत्थान, विकास और पतन प्रक्रिया के सर्व-समावेश तथा व्यापक अध्ययन के मार्ग को दर्शाया है।"[33]

किसी भी समाज की भौतिक परिस्थितिया एक सी नही रहती, उन में निरंतर परिवर्तन होता रहता है। मनुष्य द्वारा उत्पादन के नये-नये तरीके अपनाये जाते हैं तथा नये-नये औजारों का आविष्कार होता है। उत्पादन के भौतिक तत्त्व बदल जाते हैं और उनका स्थान नये तत्व ले लेते हैं किन्तु उत्पादन के सम्बन्ध पुराने ही स्थिर रहते हैं। पुराने उत्पादन के सम्बन्धों के मध्य उत्पादन के नये भौतिक तत्वो का विकास एवं समुचित समन्वय नहीं हो पाता। अन्य शब्दों में, पुराने उत्पादन तत्व नये तत्वों के विकास में बाधा डालने लगते हैं। अतः दोनों के बीच संघर्ष प्रारम्भ होता है। इस बात की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है कि पुराने उत्पादन साधनों का अंत करके नये सम्बंध स्थापित किये जाय जो उत्पादन के नये तत्वों के अनुरूप हों और उनके विकास को आगे बढ़ा सके। मार्क्स-ऐन्जल्स के अनुसार यही सामाजिक क्रान्तियों का आधार है, तथा इन्ही कारणों से समाज एक युग से दूसरे युग में पदार्पण करता है।

सामाजिक विकास की महत्वपूर्ण अवस्थाएं

उत्पादन प्रणाली के परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक संगठन, वर्ग विभाजन तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन होता है। परिणामस्वरूप एक अवस्था से दूसरी अवस्था आती है। मार्क्स ने उत्पादन सम्बन्धी परिवर्तनों के आधार पर इतिहास में युग परिवर्तनों का उल्लेख किया है, प्रत्येक युग के उद्भव एवं पतन को द्वन्दात्मक भौतिकवाद के आधार पर समझाया है।

32. Anti-Duhring, p. 294, quoted by Gray, A., The Socialist Tradition, p. 304.
33. Lenin, The Teachings of Karl Marx, p. 11.

आदिम साम्यवादी युग (Age of Primitive Communism)

यह मानव जाति का प्रारम्भिक युग था। इस युग में मनुष्य शिकार और फल-फूल खा कर अपना जीवन निर्वाह करता था। मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित थी। न परिवार संस्था थी और न ही व्यक्तिगत सम्पत्ति संचय करने का प्रश्न था। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु पर सबका समान अधिकार था। यह युग सब प्रकार के शोषण से मुक्त था। मार्क्स इसे आदिम साम्यवादी व्यवस्था कहता है।

दासता का युग (Age of Slavery) कृषि का आविष्कार होने पर प्रथम अवस्था में परिवर्तन आने लगा। इस युग में खेती और पशुपालन का रिवाज प्रारम्भ हुआ। कृषि तथा पशुपालन प्रथा से उत्पादन प्रणाली में नया परिवर्तन आया। अधिक उत्पादन और माल का संचय किया जाने लगा। अधिक कृषि उत्पादन के लिये सहायकों की भी आवश्यकता महसूस हुई। युद्ध में पराजित लोगो को इस कार्य के लिये लगाया गया। इस प्रकार दास प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। व्यक्तिगत सम्पत्ति विकसित हुई। भूमि के स्वामित्व तथा स्थाई निवास की आवश्यकता प्रतीत हुई। दास का काम उत्पादन करना और स्वामी का काम उसके श्रम से उत्पन्न की हुई वस्तुओं से आनन्द उठाना था। मालिक वर्ग दासों के श्रम के उपभोक्ता बन गये। यही से स्वामी और दासों के दो वर्गों की सृष्टि हुई।

सामन्तवादी युग (Age of Feudalism)

कालान्तर में उत्पादन के उपादानों मे और भी अधिक प्रगति एवं परिवर्तन हुए। लोहे के हल तथा करघे का प्रचलन हुआ। कृषि के क्षेत्र में वृद्धि हुई। भूमि उत्पादन का मुख्य साधन बन गई। समाज का मुखिया भूमि का मालिक बन गया। वह भूमि का विभाजन सामन्तों के मध्य करता था। ये सामन्त धीरे-धीरे भूमि के मालिक बनने लगे और राजा को कर के रूप में सैनिक सेवा या अन्य सेवाएं प्रदान करने लगे। ये सामन्त कृषि खण्ड कृषकों को तथा कृषक अर्ध-दासों को भूमि दिया करते थे। यही सामन्तवादी संगठन था। कृषि उत्पादन का अधिकांश भाग सामन्तो को प्राप्त होता था। अर्ध-दास वर्ग, जो वास्तव मे भूमि पर कार्य करता था, का शोषण किया जाने लगा। यही सामन्ती व्यवस्था थी। इस युग में किसान दास की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र था और निजी सम्पत्ति रख सकता था। किन्तु इस युग में सामन्तों ने अपने आश्रितों का भयंकर शोषण किया। इस व्यवस्था में सामन्तो और शोषितों के बीच संघर्ष चलता रहा।

पूंजीवादी युग (Age of Capitalist Society)

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक क्रान्ति हुई जिसने उत्पादन के उपादानों में आमूल परिवर्तन किये। मशीनो का आविष्कार हुआ तथा बड़ी बड़ी मिलों और कारखानो की स्थापना हुई। खेती के तरीको में भी परिवर्तन हुआ। इस युग में कारखानों के स्वामी तथा श्रमिकों के मध्य नये सम्बंध स्थापित हुएं। पूंजीपति उत्पादन के साधनों का स्वामी होता किन्तु श्रमिको के पास उत्पादन के साधन नहीं होते, उन्हे पूंजीपतियों को अपनी श्रम शक्ति बेचनी पड़ती थी। फलस्वरूप श्रमिको और पूंजीपतियो के मध्य वर्ग संघर्ष भी तीव्र हुआ।

पूंजीवादी युग के अंतर्गत राजनीतिक संस्थाएं, कानून, नैतिकता, कला, साहित्य, दर्शन आदि सब पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धो के ही अनुरूप व्यवस्थित हुए। पूंजीपतियों का शासन व्यवस्था पर भी धीरे-धीरे नियन्त्रण बढ़ने लगा।

मार्क्स-ऐन्जल्स के अनुसार यही से आधुनिक ढंग से पूंजीपति तथा श्रमिकों में संघर्ष प्रारम्भ होता है। यही संघर्ष पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त कर समाजवाद तथा आगे चलकर साम्यवाद के लिये मार्ग प्रशस्त करेगा।

आलोचना

मार्क्सवाद की ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या एकपक्षीय, अपूर्ण तथा अतिश्योक्तियों से परिपूर्ण है। इतिहास की आर्थिक व्याख्या के साथ-साथ और भी अन्य व्याख्याएं हैं। नीतिशास्त्र सम्बन्धी, राजनीतिक, धार्मिक वैज्ञानिक आदि सभी ऐतिहासिक व्याख्या हैं। भौतिकवादी व्याख्याएं महत्वपूर्ण होते हुए भी सब कुछ नही है। न इसे समाज की सम्पूर्ण व्याख्या कहा जा सकता है। विभिन्न युगों में आर्थिक उत्पादन और वितरण प्रणाली से सामाजिक परिवर्तन सम्बंधित रहे हैं। किन्तु समस्त इतिहास को आर्थिक तत्वों की पृष्ठ भूमि के आधार पर नही समझा जा सकता। कार्ल मार्क्स के इस कथन में अतिश्योक्ति है कि परिवर्तन केवल आर्थिक तत्वों के कारण ही होते हैं।

इतिहास में इस प्रकार के कई उदाहरण हैं कि राजप्रासादों होने वाले षड्यन्त्र, व्यक्तिगत द्वेष, धार्मिक विरोध आदि ने भी इतिहास के क्रम में बड़े-बड़े परिवर्तन किये हैं। मध्ययुगीय योरोप का इतिहास वास्तव में धर्म संघर्ष का इतिहास रहा है। भारत में मुस्लिम काल मे कई बादशाहो ने जजिया कर

लगाया। इसका कारण आर्थिक कम धार्मिक कट्टरता तथा धार्मिक विरोध अधिक था। भारत विभाजन तथा पाकिस्तान का निर्माण आर्थिक कारणों से नहीं, धार्मिक आधार पर हुआ था।

विश्व समाज मे कुछ ऐसे महान व्यक्ति भी हुए हैं जैसे बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि जिन्होने सामाजिक जीवन, सामाजिक मूल्यों एवं धारणाओ में मूलभूत परिवर्तन किये। ऐसा भी कहा जाता है कि मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है। वह केवल भौतिक आवश्यकताओं से ही प्रेरित नही होता। गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी ने, इसके विपरीत, भौतिक सुख को त्याग आध्यात्मिक मार्ग को अपना कर धार्मिक क्रान्तियो को जन्म दिया। इन सब परिवर्तनो की व्याख्या भौतिकवाद के आधार पर नही की जा सकती है।

मार्क्सवाद मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक तथ्यों की उपेक्षा करता है। मनुष्य केवल सम्पत्ति प्राप्ति की भावना से ही नही किन्तु अहंकार, प्रतिस्पर्द्धा लोभ, आनन्द, नारी आदि की भावना से भी काम करते हैं। फ्राइड ने तो काम वासना को ही मनुष्य जीवन में सब से अधिक प्रेरक-तत्व माना है।

हेलोवेल (W. H. Hallowell) के अनुसार महान वैज्ञानिक आविष्कारो में भी शायद ही कोई आर्थिक कारणों से प्रेरित हुआ हो। "जितनी भी सौन्दर्य सृष्टा-कृतियां है, वह अर्थशास्त्र से उतनी ही दूर जितना अर्थशास्त्र से विज्ञान दूर है।"[34]

कार्ल मार्क्स ने आर्थिक परिवर्तनो के आधार पर समाज को जिन अवस्थाओं में विभाजित किया है उसकी ऐतिहासिकता संदिग्ध है। आदिम साम्यवादी अवस्था, दास अवस्था आदि के काल के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता है। मानवशास्त्र (Arthopology) आदिम साम्यवाद के विवरण का समर्थन नही करता।

मार्क्स यह भी कहता है कि समाज इन तमाम अवस्थाओं से निकल कर समाजवादी एवं साम्यवादी अवस्थाओं में प्रवेश करेगा। समाज विकास का यह विश्लेषण यूरोपीय समाज के सन्दर्भ में सही हो सकता है। अफ्रीका में अभी भी कई ऐसी जातीय सभ्यताऐं है जो जनजातीय युग के बाहर ही नहीं निकल पाई

34 उद्धृत, आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 613.

हैं। जो भी अफ्रीकी राष्ट्र अभी तक इस अवस्था में हैं वे पूंजीवादी अवस्था को लाघ कर समाजवादी या अन्य अवस्था की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार समाज विकास प्रक्रिया एवं क्रम भी असत्य होता जा रहा है।

मार्क्सवाद के अनुसार साम्यवादी अवस्था अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था पर आकर विकास क्रम रुक जायेगा। यह विचार व्यक्त कर मार्क्स स्वयं ही द्वन्दात्मक भौतिकवाद पर आक्रमण करता है। द्वन्दात्मक सिद्धान्त के अनुसार विकास क्रम अवरुद्ध नही होता, विकास प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

इस सम्बन्ध मे मार्क्सवाद में और भी अन्तर्विरोध दिखाई देता है। एक ओर तो मार्क्स एवं ऐन्जल्स नियतिवादी हैं और उनके अनुसार जो कुछ भी होता है वह भौतिक परिस्थितियों के कारण होता है। वे मनुष्य को परिस्थितियों का दास बनने देते हैं। दूसरी ओर वे मानव प्रयत्नो को महत्व देते हैं। उनके शब्द, 'अब तक दार्शनिको ने विश्व का विभिन्न प्रकार से निर्वचन किया है, वास्तविक कार्य उसको बदलना है", मनुष्य की कार्यशीलता को प्रोत्साहित करते हैं। इस प्रकार मार्क्सवाद दो विरोधी धारणाओं में उलझा प्रतीत होता है।

यह कहना भी सत्य नही है कि किसी भी प्रकार के परिवर्तन में आन्तरिक परिस्थितियों का ही प्रभाव पड़ता हैं। वाह्य परिस्थितिया भी आन्तरिक परिवर्तनो को प्रभावित करती हैं। भारतीय समाज में जो भी परिवर्तन हुऐ हैं उनमें कुछ वाहरी आक्रमणों का परिणाम हैं। मुसलमानो तथा अंग्रेजो के भारत में आने से देश मे कई प्रकार के समन्वय द्रष्टिगोचर होते हैं।

मार्क्स का कहना था कि जिनके पास आर्थिक शक्ति होती है वे ही राजनीतिक सत्ता का उपभोग करते हैं, उन्हीं का राज्य सत्ता पर नियन्त्रण रहता है। यह विचार सही नही है। वर्तमान युग में सैनिक क्रान्तियों द्वारा परिवर्तन भी हुऐ हैं तथा सैनिक शक्ति के आधार पर राज्य सत्ता पर नियन्त्रण किया गया है।

इस प्रकार मार्क्सवाद का यह सिद्धान्त भ्रान्तियो मे पूर्ण किन्तु आंशिक सत्य है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
Theory of Surplus Value

कार्ल मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का विवेचन अपनी पुस्तक 'दास केपिटल' (Das Capital) मे किया है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त का

प्रतिपादन कर इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि, प्रथम मूल्य निर्धारण का आधार क्या है। द्वितीय, इसके द्वारा वह यह भी बतलाना चाहता था कि पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिक का शोषण किस प्रकार किया जाता है। उपरोक्त तथा कुछ अन्य आर्थिक कारणो से कार्ल मार्क्स के आर्थिक विचारों में अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है।

मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त 'मूल्य सिद्धान्त' (Theory of Value) पर आधारित है। इसलिये 'अतिरिक्त मूल्य—सिद्धान्त' समझने के लिये मूल्य से सम्बन्धित कुछ सह-सिद्धान्तो को समझना आवश्यक है।

सर्वप्रथम मार्क्स उपयोग-मूल्य (Value in Use) तथा विनिमय-मूल्य (Value in Exchange) के अन्तर को स्पष्ट करता है। उपयोग-मूल्य किसी वस्तु की उपयोगिता है जो मानव आवश्यकता की सतुष्टि करती है। विनिमय-मूल्य वस्तुओ का अन्य वस्तुओ से विनिमय का अनुपात है। यह विनिमय अनुपात वस्तुओं की भिन्न-भिन्न उपयोगिता पर निर्भर करता है। किन्तु विनिमय-मूल्य, उपयोग मूल्य पर निर्भर नही करता। उपयोगिता द्वारा मूल्य का निर्धारण नही होता। प्रकृति द्वारा दी गई पेड़ की लकडी की उपयोगिता तथा उपयोग—मूल्य तो है विनिमय-मूल्य नही। किन्तु पेड पर श्रम का प्रयोग होते ही उसका विनिमय-मूल्य प्रारंभ हो जाता है। किसी भी वस्तु के विनिमय मूल्य के लिये श्रम का प्रयोग आवश्यक है। वस्तुओं का विनिमय इसलिये होता है क्योंकि सभी वस्तुओ में श्रम लगा है।

किसी वस्तु के उत्पादन मे कितना श्रम कितने समय तक लगाया गया, इस आधार पर ही मार्क्स अपने अतिरिक्त मूल्य-सिद्धान्त का विकास करता है। श्रम-समय से मार्क्स का अभिप्राय उस अवधि से है जो समाज की परिस्थितियों में औसतन वस्तु उत्पादन के लिये आवश्यक हो। वस्तु उत्पादन मे श्रम-समय की लघुता या अधिकता से ही वस्तु का कम या अधिक मूल्य होता है।

अतिरिक्त मूल्य-सिद्धान्त की व्याख्या निम्नलिखित ढंग से की जा सकती है:—

श्रमिक के पास स्वयं के उत्पादन साधन नहीं होते। वह अपने श्रम और सेवाओं को बेचता है। इस प्रकार श्रम अन्य वस्तुओं की तरह खरीदा और बेचा जाता है।

श्रम का क्या मूल्य है? कार्ल मार्क्स श्रम को उपयोग मूल्य (Use-Value) और विनिमय-मूल्य (Exchange-Value) में अंतर बतलाता है। उपयोग मूल्य

का तात्पर्य श्रम द्वारा निर्मित वस्तु का मूल्य है। श्रम का विनिमय मूल्य श्रमिक का उतना भोजन, कपड़ा, रहने की जगह है जो सिर्फ उसके जीवन अस्तित्व को बनाये रखने के लिये पर्याप्त हो। मार्क्स ने इसे मजदूरी का कठोर नियम **(Iron Law of Wages)** कहा है।

मार्क्स के अनुसार पूंजीपति श्रमिक को सिर्फ उसका विनिमय मूल्य ही देता है और स्वयं उपयोग मूल्य लेता है। श्रम का विनिमय-मूल्य और उपयोग मूल्य का अन्तर ही अतिरिक्त-मूल्य (Surplus Value) है।[35]

अन्य शब्दों में, श्रमिक को अपने मामूली जीवन निर्वाह (Exchange-Value of Labour) के लिये थोड़ी बहुत जो कुछ भी मजदूरी दी जाती है, जब वह उससे अधिक उत्पादन करता है, वही अतिरिक्त मूल्य है। उदाहरणार्थ, एक मजदूर दिन में 10 घंटे कार्य करता है लेकिन जितनी मजदूरी उसे दी जाती है उतना कार्य वह 4 घंटों में ही कर लेता है। शेष छः घन्टे के कार्य का मूल्य उसे नहीं मिलता। यह पूंजीपति ले लेता है। यही अतिरिक्त मूल्य है।

या, एक मजदूर दिन भर में अपनी श्रम-शक्ति के विनिमय मूल्य से कहीं अधिक मूल्य उत्पन्न करता है। इन दोनों का ही अंतर अतिरिक्त मूल्य है।

इसी सिद्धान्त को एक अन्य प्रकार से और प्रस्तुत किया जा सकता है। श्रमिक को अपने श्रम और कला का समुचित मूल्य नहीं मिलता। उसे सिर्फ जीवित रहने के लिये थोड़ी सी मजदूरी ही मिलती है। इस श्रम का बहुत बड़ा भाग ब्याज, किराया और लाभ के रूप में पूंजीपति को मिलता है। वास्तव में ये तीनों तत्व —ब्याज, किराया और लाभ ही अतिरिक्त मूल्य है।[36]

डा. आशीर्वादम् द्वारा की गयी व्याख्या के अनुसार जितना मूल्य श्रमिकों के निर्वाह के लिये आवश्यक है उसके अतिरिक्त जो मूल्य उन्होंने उत्पादित किया वह अतिरिक्त मूल्य हैं। पूंजीपति श्रमिकों को केवल निर्वाह के लिये मजदूरी देकर उनसे इतना श्रम करवाते हैं कि उनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओं का बाजार मूल्य उसकी मजदूरी से अधिक होता है। इस अतिरिक्त मूल्य को पूंजीपति हड़प लेते हैं। संक्षेप में पूंजीपति लाभ किराया, ब्याज के रूप में अतिरिक्त मूल्य

---

35 Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, pp. 418-21

36 Burns, E M., Ideas in Conflict, Metheun & Co London, 1963, p. 151.

को स्वयं ले लेते हैं और उसका उपयोग उत्पादन बढ़ाने, अधिक श्रमिकों को काम पर लगा कर निरन्तर अधिक से अधिक अतिरिक्त मूल्य की प्राप्ति करने में करते हैं।[37]

मार्क्स के अनुसार पूंजी के द्वारा कोई भी वस्तु निर्मित नहीं की जा सकती। पूंजी स्वयं ही श्रम के द्वारा निर्मित होती है। इसलिये पूंजीपति का अतिरिक्त मूल्य पर कोई अधिकार नही होता। पूंजीपतियों द्वारा अतिरिक्त मूल्य को हड़प जाना एक प्रकार की चोरी है और श्रमिकों का शोषण है।

अतिरिक्त मूल्य पूंजी या मशीन से प्राप्त नही किया जा सकता। यह सिर्फ श्रम को लगाकर ही सम्भव होता है। अधिक अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने के लिये पूंजीपति कई उपाय काम में लेते हैं जैसे:—

प्रथम, श्रमिकों के कार्य अवधि में वृद्धि कर, भोजन समय में कमी करना। इस प्रकार एक दिन की मजदूरी देकर उससे अधिक कार्य लेना।

द्वितीय, मशीन का प्रयोग करना। मशीन के प्रयोग से श्रमिक अधिक कार्य कर सकता है। इसका तात्पर्य अधिक उत्पादन और अधिक अतिरिक्त मूल्य।

तृतीय, श्रमिक परिवार की औरतों और बच्चों को भी काम पर लगा कर, तथा उस परिवार के लिये जीवन-यापन योग्य मजदूरी देकर अतिरिक्त मूल्य के अनुपात में वृद्धि की जाती है।

वास्तव में पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य श्रमिक के शोषण के द्वारा ही प्राप्त करता है।[38]

जब पूंजीपति अधिक से अधिक अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करते हैं उससे उनकी पूंजी में वृद्धि होती है। यान्त्रिक साधनों के प्रयोग से श्रम में बचत तथा श्रमिकों की बेकारी में बढ़ती होती है। परिणामस्वरूप श्रमिकों और पूंजीपतियों में संघर्ष प्रारम्भ होता है।

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त में पूर्ण सत्यता नहीं है। मार्क्स ने केवल श्रम को ही मूल्य का मूल निर्धारक तत्व माना है। पूंजीपतियों के लाभ का स्रोत केवल मजदूरों का श्रम ही नहीं है। वह पूंजी लगाता है, जोखिम उठाता है तथा

---

37. आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 610
38. Gray, A., The Socialist Tradition, p. 331.

अपनी व्यावसायिक बुद्धि एवं कौशल का प्रयोग करता है। मूल्य निर्धारण में तथा इससे मिलने वाले लाभ में इन सभी का ही हिस्सा होता है।

मूल्य का निर्धारण एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त के द्वारा होता है जिसे 'मांग एवं पूर्ति का सिद्धान्त' (Theory of Demand and Supply) कहते हैं। यह सिद्धान्त इतना सर्वव्यापी है कि मजदूर इससे प्रभावित रहे बिना नहीं सकते।

इसमें सन्देह नहीं कि मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त की एक बड़े ही तार्किक एवं वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की है। वास्तव में यह अतिरिक्त श्रम का सिद्धान्त, न्यूनतम वेतन का सिद्धान्त, शोषण का सिद्धान्त आदि सब कुछ है। किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री अतिरिक्त मूल्य-सिद्धान्त को आंशिक रूप में ही सत्य मानते हैं।

वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त (Theory of Class-war)

मार्क्सवादी विचारधारा का एक और प्रमुख आधार वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त है। वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त द्वन्दात्मक भौतिकवाद, इतिहास की आर्थिक व्याख्या तथा अन्य आर्थिक सिद्धान्तों का विस्तार एवं परिणाम है। कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो के प्रथम अध्याय मे वर्ग-संघर्ष के कारण, विकास आदि की व्याख्या की गयी है। इस सिद्धान्त के द्वारा मार्क्स-ऐन्जिल्स ने यह दर्शाया है कि सम्पूर्ण मानव जाति का इतिहास वास्तव में वर्ग-संघर्ष का ही इतिहास है। इतिहास में युग-परिवर्तन तथा विकास-क्रम में भौतिक तत्वों की प्रधानता के साथ-साथ मार्क्स ने प्रत्येक युग में दो परस्पर विरोधी सामाजिक वर्गों के अस्तित्व को स्वीकार किया है। विश्व इतिहास राष्ट्रों के युद्ध, व्यक्तियों, सेनापतियों या राजाओं के कारनामों का लेखा जोखा नहीं है। मार्क्स वर्ग-संघर्ष से मानव इतिहास को समझने की कुंजी पाता है। इतिहास के प्रमुख मोड़ तथा परिवर्तन आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति के लिये विरोधी वर्गों में संघर्ष की शृंखला हैं। कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो मे इस सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

> "आज तक के सम्पूर्ण समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। स्वतंत्र व्यक्ति और दास, कुलीन और जनसाधारण, सामन्त और कृषि-दास, संघपति और श्रमिक, सूक्ष्म में, शोषक और शोषित, सदा एक दूसरे के विरोध में खड़े होकर कभी प्रत्यक्ष व कभी परोक्ष रूप से लगातार युद्ध करते रहे हैं।"[39]

39. Marx and Engels, Manifesto of the Communist Party, pp. 40—41

उपरोक्त शब्दों से मार्क्स एवं ऐन्जल्स वर्ग-संघर्ष के विचारों की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक काल और देश में समाज दो प्रमुख विरोधी वर्गों में विभक्त हो जाता है। एक तो विशेषाधिकार प्राप्त और उत्पादन के साधनों के स्वामियों का छोटा सा वर्ग, और दूसरी ओर, एक बड़ा सर्वहारा वर्ग। दास युग में स्वतन्त्र व्यक्ति एवं दास; रोमन काल में कुलीन तथा जन-साधारण; मध्य युग में सामन्त तथा अर्ध-दास; औद्योगिक युग में संघपति और श्रमिक तथा पूंजीवादी युग में पूंजीपति और श्रमिक वर्ग आदि का अस्तित्व एवं संघर्ष रहा है। यह संघर्ष प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चलता ही रहा है। परिणामस्वरूप या तो समाज का क्रान्तिकारी पुनःनिर्माण हुआ है अथवा संघर्षरत वर्गों का विनाश।

वर्ग-संघर्ष के सन्दर्भ में मार्क्स-ऐन्जल्स का मुख्य उद्देश्य पूंजीवादी व्यवस्था तथा इसके अन्तर्गत पूंजीवर्ग और श्रमिक वर्ग के संघर्ष का व्यापक विवेचन करना है। पूंजीवर्ग के विषय में इनका कहना है कि इनके पास पूंजी, कारखाने, उद्योग आदि सब होते है। पूंजीवर्ग के पास समाज की सम्पूर्ण पूंजी एकत्रित रहती है। इनका ही उत्पादन के साधनों आदि पर नियन्त्रण रहता है। वह अपने लिये पूंजी, श्रम, लाभ आदि का स्वामी समझता है और अपनी इच्छानुसार इसका प्रयोग एवं समन्वय करता है।

दूसरी ओर श्रमिक वर्ग होता है जो उत्पादन के साधनों से वंचित है और एकमात्र अपने श्रम का स्वामी है। वह वस्तुओं का उत्पादन अपने लिये नहीं बल्कि अपने मालिकों के लिये करता है, जिन्हें बेचकर वह लाभ कमाता है। श्रमिक अपने श्रम को बेच कर आजीविका कमाता है, वह भूमिपति की भूमि पर काम करता है या पूंजीपति के कारखाने में वस्तु-निर्माण में सहायता देता है। जीवनयापन के लिये उसके पास अपना श्रम न्यूनतम मूल्य पर पूंजीपति के हाथ बेचने के अलावा और कोई विकल्प नहीं रहता।

पूंजीवादी व्यवस्था में दोनों वर्ग एक दूसरे के पूरक एवं आवश्यक हैं। यदि श्रमिक न हों तो काम कौन करे और यदि पूंजीपति न हो तो काम एवं मजदूरी कौन दे। किन्तु दोनों वर्गों को एक दूसरे की चाहे कितनी ही आवश्यकता क्यों न हो उनके हित परस्पर विरोधी है। क्योंकि एक वर्ग को लाभ दूसरे वर्ग की हानि पहुँचा कर ही हो सकता है। पूंजीपति मजदूरों को कम से कम मजदूरी दे कर अधिक से अधिक काम ले कर लाभ प्राप्त करना चाहता है। इसके विपरीत श्रमिक अपने श्रम का अधिकतम मूल्य प्राप्त करना चाहता है। इस

संघर्ष में श्रमिक ही नुकसान में रहता है क्योंकि श्रम नाशवान होता है, श्रम को संग्रह करके नही रखा जा सकता, इसलिये या तो उसके श्रम का खरीददार मिलना चाहिये अन्यथा उदर-पोषण की समस्या प्रतिदिन उसके सामने बनी रहती है। लेकिन पूंजीपति के सामने इस प्रकार की कोई कठिनाई नही होती। वह पूंजी लगाने के लिये प्रतीक्षा कर सकता है। चूंकि पूंजी नाशवान नही होती इसलिये वह श्रमिकों को अपने सामने झुकने के लिये विवश कर सकता है। पूंजीपतियो के हाथो से श्रमिको का दमन एवं शोषण होता है। इस प्रकार एक वर्ग शोषक और दूसरा शोषित हो जाता है।

कार्ल मार्क्स की यह धारणा थी कि पूंजीवर्ग और सर्वहारा वर्ग में वर्ग-संघर्ष अनिवार्य है तथा अन्त में पूंजीवर्ग का विनाश और सर्वहारावर्ग की विजय निश्चित है। मार्क्स पूंजीवर्ग का विनाश और वर्ग-संघर्ष के दो पक्षो पर प्रकाश डालता है—

प्रथम, पूंजीवादी व्यवस्था इस प्रकार की है, कि इसमें स्वयं ही इसके पतन एवं विघटन के तत्व निहित हैं। इसकी आन्तरिक दुर्बलताऐं तथा कार्य प्रणाली स्वयं के विनाश की ओर अग्रसर करेगी।

द्वितीय, पूंजीवादी प्रणाली किस प्रकार वर्ग-संघर्ष की ओर अग्रसर करती है तथा सर्वहारा वर्ग किस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकता है।

पूंजीवादी अर्थतन्त्र के स्वयं-विघटन की व्याख्या करते हुऐ मार्क्स इसके विनाश कारणो पर प्रकाश डालता है जैसे—

(i) पूंजीवादी व्यवस्था मे उत्पादन व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से होता है।

(ii) पूंजीवादी व्यवस्था स्पर्द्धा पर आधारित है परिणामस्वरूप छोटे-छोटे पूंजीपतियों का उन्मूलन हो जाता है। ये छोटे-छोटे पूंजीपति बड़े-बड़े पूंजीपतियो के विरोधी और सर्वहारा वर्ग के समर्थक हो जाते हैं।

(iii) यह बड़े-बड़े पूंजीपतियो के एकाधिकार को स्थापित करता है।

(iv) पूंजीपति अपनी पूंजी का देश विदेश में प्रसार कर अधिकाधिक लाभ और पूंजी-सचय का निरन्तर प्रयत्न करते है।

(v) पूंजीवादी अर्थतन्त्र में समय-समय पर आर्थिक संकट उत्पन्न होते हैं। मशीनों के प्रयोग तथा अति-उत्पादन संकट से श्रमिकों में बेकारी तथा असन्तोष फैलता है।

(vi) पूंजीपति अधिक अतिरिक्त मूल्य का सृजन कर श्रमिक का शोषण करता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है।

जब भी श्रमिकों को अपने शोषण का ज्ञान हो जाता है वे इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं करेंगे। इस शोषण प्रक्रिया के परिणामस्वरूप श्रमिकों में वर्ग-चेतना का प्रादुर्भाव होता है। वे अपने अधिकारों और मांगों के प्रति जागरूक होते हैं। जैसे ही उनमे यह चेतना आयेगी वैसे ही मजदूर संगठित रूप से अपनी मांगे पूरी करने को प्रवृत्त होगे।

चूंकि पूंजीपति अधिक लाभ कमाने के लिए देश-विदेशो में अपने उद्योग, कारखाने खोलते हैं, पूंजीवादी व्यवस्था एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बन जाती है। इससे व्यापक रूप से श्रमिकों का शोषण होता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय वर्ग-चेतना और संगठन को प्रोत्साहन मिलता है। श्रमिको की संख्या में वृद्धि होती है और शोषण के परिणामस्वरूप वे अधिक संगठित होते हैं। कोकर के शब्दों में—

> "पूंजीवादी प्रणाली मजदूरो की संख्या बढ़ाती है, उन्हे वह सुसंगठित समुदायों में एकत्र कर देती है, उनमे वर्ग-चेतना का प्रादुर्भाव करती है और उनमे परस्पर सम्पर्क तथा सहयोग स्थापित करने के लिए विश्वव्यापी पैमाने पर साधन प्रदान करती है, उनकी क्रय-शक्ति को कम करती है, और उनका अधिकाधिक शोषण करके उन्हे संगठित प्रतिरोध करने के लिए प्रोत्साहित करती है।"[40]

श्रमिक वर्ग-चेतना और संगठन को पूंजीपति दबाने का प्रयत्न करेंगे, इससे वर्ग-चेतना आन्दोलन का रूप लेगी। श्रमिको को संगठित होने व क्रांति का आह्वान करते हुए कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो के अंतिम वाक्यों मे मार्क्स एवं ऐन्जिल्स ने लिखा है:—

> "साम्यवादी अपने विचारो व लक्ष्यो को छुपाने से घृणा करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि उनके उद्देश्य तभी प्राप्त हो सकते हैं जब कि

---

40. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 55.

वर्तमान सामाजिक दशाओं को शक्तिपूर्वक समाप्त किया जाये। शासक वर्ग को साम्यवादी क्रान्ति के समक्ष कांपने दो। सर्वहारा वर्ग को अपनी जंजीरों के अलावा और कुछ नहीं खोना है। उन्हे विश्व पर विजय पाना है।
समस्त देशों के मजदूरों एक हो।"[41]

प्रालोचना

मार्क्स-ऐन्जिल्स प्रत्येक समाज को दो वर्गों पूंजीवर्ग तथा सर्वहारावर्ग में विभाजित करते हैं। उनके ये विचार सही नहीं हैं। प्रथम, वर्ग-भेद उतना स्पष्ट नहीं होता, जितना कि मार्क्स आदि ने माना है। प्रत्येक समाज में कई वर्ग होते हैं जिनका वर्गीकरण करना भी दुष्कर रहता है। वर्गों के निर्माण और पुनः निर्माण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। दूसरे, यह भी सही नहीं है कि सिर्फ आर्थिक आधार पर पूंजीवर्ग और सर्वहारावर्ग ही हों। आजकल धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, बुद्धिजीवी, कृषि आदि कई वर्ग होते हैं।

वर्ग-संघर्ष केवल आर्थिक वर्गों तक ही सीमित नहीं रहता है। धर्म, जाति, नस्ल के आधार पर कई संघर्ष हुए हैं। नाज़ी और यहूदियों का मूलतः नस्ल सम्बन्धी संघर्ष था। अमेरिका में नीग्रो व्यक्तियों के साथ भेदभाव का कारण मुख्यतः आर्थिक नहीं है। मार्क्स की यह धारणा कि मनुष्य के सारे संघर्षों का स्रोत वर्ग-संघर्ष है, असत्य है।

वर्ग-संघर्ष के अवसर अब कम होते जा रहे हैं। आजकल अनेक समाजवादी देश वैधानिक कदम उठा कर श्रमिक वर्ग की अवस्था को सुधारने का प्रयत्न कर रहे हैं तथा सफल भी हुऐ हैं। न्यूनतम मजदूरी श्रमिकों को आवास व्यवस्था, पेन्शन व्यवस्था, शिक्षा तथा स्वास्थ्य सुविधाऐं जुटाने से श्रमिकों का शोषण तो दूर रहा उनके मन में वर्ग-संघर्ष की भावना ही घर नहीं कर पाती।

आधुनिक युग में एक नवीन शक्तिशाली वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ है। यह है मध्यम वर्ग। इसी वर्ग में प्रबन्धक, कुशल कारीगर, अफसर, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर आदि सम्मलित हैं। मध्यम वर्ग किसी भी राज्य में बहुमत में रहता है। इसकी विचारधारा भी सामान्यतः मध्यमार्गीय रहती है जो पूंजीवादी और सर्वहारावादी अतिवादिता का समन्वय करने का प्रयत्न करती है। इस वर्ग ने

---

41. Marx and Engels, Manifesto of the Communist Party, p

दो वर्ग सिद्धान्त को ही गलत कर दिया है तथा पूंजीवर्ग और श्रमिक वर्ग में संघर्ष के अवसर भी लगभग समाप्त कर दिये हैं।

वर्ग-संघर्ष के लिये कार्ल मार्क्स विश्व के श्रमिकों को एक होने का आह्वान करता है ताकि समूचे विश्व से पूंजीवाद को उखाड़ फेंका जाय। इस सम्बन्ध में मार्क्स राष्ट्रीय भावना के महत्व को बड़ा ही कम आकता है। प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्धो सहित कई युद्ध पूंजीवर्ग ने अपने स्वार्थ सिद्धि के लिये लड़े हैं लेकिन फिर भी विश्व के श्रमिक वर्ग ने एक एवं संगठित होकर काम नही किया। यही नही मजदूरो ने अपनी-अपनी सरकारो को पूर्ण सहयोग दिया। प्रत्येक देश का व्यक्ति सामान्यतः मातृभूमि और राष्ट्रीय भावना से अधिक प्रभावित होता है न कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिकवाद से।

आजकल साम्यवादी राज्यो में भी जितनी राष्ट्रीयता की भावना प्रबल है उतना अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद सहयोग नही। चीन, युगोस्लाविया, उत्तरी वियतनाम के साम्यवादी अपने राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के लिये न्योछावर नही कर सकते।

यही नही, इन समय साम्यवादी राज्यो में ही संघर्ष चल रहा है। चीन तथा रूस का संघर्ष इस बात का प्रमाण है। वे विचारधारा को नही, राष्ट्रीय हितों को ही प्राथमिकता देते हैं।

इसके विपरीत तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में पूंजीवादी राज्य, जैसे अमेरिका तथा उग्र साम्यवादी राज्य, जैसे चीन एक दूसरे के प्रति सहयोग के लिये हाथ बढ़ा रहे हैं। इन परिस्थितियो मे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे पूंजीवादी और साम्यवादी राज्यो का वर्ग-संघर्ष न तो कुछ मतलब ही रखता है और साथ ही साथ असम्भव भी होता जा रहा है।

वर्ग संघर्ष एक खतरनाक और हानिकारक सिद्धान्त है। यह वर्ग घृणा की शिक्षा देता है। किसी भी देश के अन्दर यह राष्ट्रीय एकता एवं सुरक्षा के लिये स्थाई खतरे के रूप मे अस्तित्व ग्रहण कर लेता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शांति, सहयोग, भाई-चारे के मार्ग में वर्ग-संघर्ष एक बाधा है।

सर्वहारा अधिनायकत्व (Dictatorship of the Proletariat)

मार्क्स तथा ऐन्जिल्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था को क्रान्ति द्वारा नष्ट करने के तुरन्त बाद ही राज्य-विहीन, वर्ग-विहीन, शोषण-रहित साम्यवादी

व्यवस्था की स्थापना होना असम्भव है। इसके उद्देश्य की उपलब्धि में कुछ समय लग जायेगा। इसलिए पूंजीवाद की समाप्ति के बाद एक नई व्यवस्था की स्थापना होगी जिसे 'सर्वहारा अधिनायकत्व' कहा गया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज तथा राज्य की समस्त शक्ति श्रमिकों के हाथों में आ जायेगी। सर्वहारा वर्ग राज्य के समस्त उपकरणों, अभिकरणों, तथा उत्पादन के साधनों आदि को अपने नियंत्रण में करेगा।

सर्वहारा अधिनायकत्व स्थाई नही किन्तु एक संक्रमणकालीन (transitional) व्यवस्था होगी। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व तब तक बना रहेगा जब तक पूंजीवादी व्यवस्था के समस्त अवशेषों को समाप्त नही कर दिया जाता तथा साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना का कार्यक्रम पूरा नहीं हो जाता। यह व्यवस्था अन्तिम साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए अग्रगामी होगी।

सर्वहारा अधिनायकत्व में राज्य संस्था का अस्तित्व बना रहेगा। श्रमिक वर्ग द्वारा राज्य के माध्यम से पूंजीवर्ग के अवशेषों का पूर्ण उन्मूलन किया जायेगा ताकि पूंजीवादी व्यवस्था का भविष्य में किसी भी रूप मे प्रादुर्भाव न हो सके।

संक्रमणकालीन सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत केवल समाजवाद की (साम्यवाद की नही) स्थापना होगी जिसके अन्तर्गत—

प्रथम, उत्पादन तथा वितरण आदि के साधन सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति होंगे। इनका प्रयोग किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष के हित में नही किन्तु सम्पूर्ण समाज के लिए किया जायेगा।

द्वितीय, उत्पादन नियोजित (planned) ढंग से होगा जिसके अन्तर्गत उत्पादन के साधन तथा मानव श्रम का योजनाबद्ध प्रयोग किया जायेगा।

तृतीय, आर्थिक जीवन प्रतियोगिता की समाप्ति तथा इससे उत्पन्न अपव्यय का उन्मूलन किया जायेगा।

चतुर्थ, इस व्यवस्था में पूर्ण समानता या वस्तुओं का समान वितरण नही होगा। समाजवादी समाज 'प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार काम और प्रत्येक को उसके काम के अनुसार वेतन', सिद्धान्त पर आधारित होगा। कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो में इस कार्यक्रम की कुछ विस्तृत रूपरेखा दी गई है।

साम्यवादी व्यवस्था (The Communist Order)

सर्वहारा वर्ग अधिनायकत्व और समाजवादी व्यवस्था सिर्फ सक्रान्ति काल के लिए ही रहेगी। यह पूंजीवादी ढांचे के विनाश और अन्तिम साम्यवादी व्यवस्था के बीच का युग रहेगा। सर्वहारा समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन शक्तियों का विकास, भौतिक परिस्थितियों तथा वातावरण में परिवर्तन के साथ-साथ समाज, राज्य, परिवार, सम्पत्ति, धर्म आदि के विषय में मनुष्य के दृष्टिकोण एवं चरित्र में परिवर्तन होगा। इसके बाद मनुष्य एक नई सामाजिक अवस्था मे प्रवेश करेगा। मार्क्स के अनुसार यह साम्यवादी व्यवस्था होगी। साम्यवाद ही मनुष्यों का अंतिम उद्देश्य और समाज के विकास की अंतिम अवस्था होगी। मार्क्स और ऐन्जिल्स के अनुसार साम्यवादी व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएें होंगी—

(i) राज्य का लोप (Withering away of the State)—साम्यवाद के अन्तर्गत राज्य लुप्त हो जायगा। राज्य के द्वारा पूंजीवर्ग तथा भू-स्वामी वर्ग अन्य वर्गों का शोषण करते हैं। राज्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर दबाव डालने तथा शोषण करने का साधन रहा है। यह उच्च वर्ग की सम्पत्ति और विशेषाधिकारो की रक्षा करता रहा है। राज्य वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति है। किन्तु साम्यवाद में वर्ग-भेद तथा शोषण का अन्त हो जायेगा, इसलिए इस स्थिति में राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। राज्य का उन्मूलन करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी वह स्वयं ही मर जायेगा।

(ii) यह वर्ग-विहीन व्यवस्था होगी। समाज में सभी वर्गों की समाप्ति हो जाएगी।

(iii) यह शोषण-विहीन व्यवस्था होगी। जब समाज में शोषण करने वाले वर्गों का विनाश होगा तब एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण का अन्त स्वतः ही हो जायेगा।

(iv) परिवार, सम्पत्ति तथा धर्म का लोप—वैयक्तिक परिवार और सम्पत्ति का उदय साथ ही साथ हुआ था। साम्यवादी व्यवस्था में इनका लोप हो जाएगा। परिवार की समाप्ति के साथ धर्म का भी लोप हो जायेगा। पूंजीवादी एवं मध्य-वर्गीय नैतिकता के स्थान पर सर्वहारा वर्ग की नैतिकता प्रतिष्ठित होगी।

(v) राज्य का स्थान एक ऐसा सामाजिक उपकरण लेगा जो उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण और उनकी व्यवस्था कर सके। साम्यवाद मे समाज एक परिवार की भांति होगा। इस व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन इतना होगा कि वस्तुओं का वितरण काम के अनुसार नहीं आवश्यकता के आधार पर होगा। मार्क्स ने इस प्रकार की साम्यवादी व्यवस्था का बड़े ही भावुकतापूर्ण ढंग से चित्रण कर लिखा है :

"साम्यवादी समाज की अन्तिम अवस्था में जब कि श्रम-विभाजन की व्यवस्था से उत्पन्न व्यक्ति की दासतापूर्ण पराधीनता नष्ट हो जाएगी; शारीरिक परिश्रम तथा बौद्धिक परिश्रम का पारस्परिक विरोध समाप्त हो जाएगा; परिश्रम जीवन का साधन ही नही बल्कि जीवन की उच्चतम आवश्यकता बन जायेगा। जब व्यक्ति की सभी शक्तियों के विकास के साथ—साथ उत्पादन की शक्तियों में भी तदनुरूप वृद्धि हो जायेगी और सामाजिक सम्पत्ति के स्रोत पहिले से अधिक प्रचुरता के साथ बहने लगेंगे, तभी कहीं पूंजीवादी अधिकारों का सीमित दृष्टिकोण पूर्णतः नष्ट होगा, और समाज अपने ध्वज पर इन शब्दों को अंकित कर सकेगा—'प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यतानुसार काम, प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार उपभोग की सामग्री।"[42]

सर्वहारा-वर्ग की क्रान्ति का सिद्धान्त बहुत कुछ अव्यावहारिक प्रतीत होता है। पूंजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन करने के लिये मार्क्स सर्वहारा-वर्ग को संगठित होने के लिये आह्वान करता है। वह शोषित वर्ग की चेतना को जागृत करना चाहता है। किन्तु श्रमिक वर्ग स्वयं क्रान्ति तथा संगठन की क्षमता नहीं रख सकता। यह कार्य वास्तव में एक अलग ही बुद्धिजीवी वर्ग ने किया है जो साम्यवादी दल के रूप में संगठित होता है। साम्यवादी दल ही सर्वहारा-वर्ग का नेतृत्व करता है तथा सत्ता को ग्रहण कर उपभोग करता है। जिस प्रकार साम्यवादी दल सत्ता का प्रयोग करता है वह सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकत्व न होकर साम्यवादी दल के अधिनायकत्व में परिवर्तित हो जाता है।

मार्क्स ने प्रारम्भ में यूटोपियायी समाजवादियों की कटु आलोचना की है। किन्तु मार्क्स की यह कोरी कल्पना है कि राज्य स्वयं ही समाप्त हो जायगा।

---

42. Marx—Engels, Selected Work, vol. II, p. 23.

वास्तविकता यह है कि मार्क्स जिसे संक्रमण-काल बतलाता है उसी का अन्त होना असम्भव है। आजकल साम्यवादी राज्यों में, विशेषतः क्रान्ति के आधी सदी के बाद भी रूस मे, संक्रमण-युग का अन्त नजर नहीं आता।

समस्त साम्यवादी राज्यों मे जिस प्रकार दिन-प्रतिदिन सत्ता का केन्द्रीयकरण होता जा रहा है, जिस तरह सत्ता का अधिनायकवादी उद्देश्यों की वृद्धि के लिये उपयोग हो रहा है, तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में साम्यवादी राज्य निरन्तर अपनी शक्ति मे अभिवृद्धि करते जा रहे हैं, इन परिस्थितियों मे राज्य के शनैःशनैः लोप होने की बात सोची भी नहीं जा सकती। साम्यवादी राज्य इस मार्क्सवादी सिद्धान्त का अन्धा अनुसरण कर रहे हैं तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये वे सच्चे एवं श्रद्धायुक्त प्रतीत नही होते। सर्वहारा अधिनायकवाद के तत्वाधान मे न तो राज्य की सत्ता और शक्ति में कमी आयेगी और न राज्य की ही समाप्ति होगी।

इस प्रकार जिस साम्यवादी समाज की स्थापना की बात मार्क्सवाद में कही जाती है वह स्वयं ही कोरी कल्पना है।

इस सम्बन्ध में मार्क्स मानव स्वभाव की कमजोरियो की अवहेलना करता है। शक्ति का प्राकृतिक स्वभाव है कि जो उसे प्राप्त कर लेता है वह उसे बढ़ाने और अधिक समय तक बनाये रखने का भरसक प्रयत्न करता है। सर्वहारा-वर्ग जब सत्ता प्राप्त कर लेता है उसे फिर सत्ता से वंचित करना असम्भव एवं अव्यावहारिक है।

वैसे आजकल राज्य सत्ता में वृद्धि को खतरनाक भी नहीं माना जाता। राज्य मनुष्य का शत्रु नहीं वह उसका सबमे अच्छा मित्र है। साम्यवादी अगले दरवाजे से राज्य को बाहर निकालता है और पिछले दरवाजे से उसे किसी अन्य रूप में वापस ले आता है।

शक्ति-संघर्ष द्वारा विरोधी वर्गों का उन्मूलन कर जो भी व्यवस्था स्थापित की जाती है उसे शक्ति से ही कायम रखा जा सकता है। ऐसी व्यवस्था को प्रत्येक क्षेत्र से विरोध का आभास बना रहता है। विरोधियों का उन्मूलन करते करते राज्य पुलिस राज्य का रूप धारण कर लेता है। इस कारण संक्रमण-युग की समाप्ति तथा उसके बाद वर्गविहीन, सहयोगपूर्ण साम्यवादी समाज की स्थापना एक भ्रान्ति ही लगती है।

मूल्यांकन

मार्क्सवाद का विश्व भर में बड़ा व्यापक विवेचन हुआ है। आधुनिक युग का कोई भी ऐसा विद्वान एवं चिन्तक न होगा जिसने मार्क्सवाद के समर्थन या विपक्ष में कुछ टीका-टिप्पणी न की हो। पिछले पृष्ठो में जब विभिन्न मार्क्सवादी सिद्धान्तों का विवरण दिया है उन्ही स्थलो पर उन सिद्धान्तो से सम्बन्धित आलोचना का भी समावेश किया गया है। यहां मार्क्सवाद का सामान्य मूल्यांकन प्रस्तुत है।

पुनर्विचारवादियों या संशोधनवादियों (Revisionists) द्वारा मार्क्सवाद की आलोचना

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तथा बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे मार्क्सवाद विचार एवं विवाद का प्रमुख केन्द्र बन गया। दिन-प्रतिदिन इसकी *आलोचना करने वालो की संख्या में वृद्धि हो रही थी।* बहुत से समाज-वादियों ने यह स्वीकार किया कि मार्क्सवाद की जो आलोचना हो रही हैं उनमें कुछ तथ्य भी हैं।

इसके अलावा परिस्थितियों मे भी परिवर्तन होता जा रहा था। इन बदलती हुई परिस्थितियो के सन्दर्भ में मार्क्सवाद कुछ पिछड़ी हुई सी विचारधारा प्रतीत होने लगी। इसे परिस्थितियों के अनुकूल या परिस्थितियो-संगत बनाना आवश्यक था। इसलिये कुछ समाजवादियो ने मार्क्सवाद पर पुनः विचार करने, उसकी त्रुटियों को दूर करने पर बल दिया। वास्तव में इसने एक छोटे मोटे आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। वे जो मार्क्सवाद मे पुनः विचार कर संशोधन करना चाहते थे उन्हे पुनर्विचारवादी या संशोधनवादी (Revisionist) कहते है तथा यह आन्दोलन (या इसे विचारधारा कहने की जोखिम ली जाय) पुनर्विचारवाद या संशोधनवाद (Revisioi ism) कहलाता है। यूरोप के विभिन्न देशों में इस प्रकार के संशोधनवादी थे जिनमें जर्मनी के एडुअर्ड बर्न्सटाइन (Eduard Bernstein, 1850-1932) प्रमुख थे। मार्क्सवादी समर्थको ने संशोधन-वादियों को बड़ी घृणात्मक दृष्टि से देखा। वे संशोधनवादियो की एक बड़ी सूची प्रस्तुत करते है। संशोधनवादियों ने मार्क्सवाद में निम्नलिखित दोषो की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए बतलाया कि:—

(1) पूंजीवाद का अन्त निकट नही है। इसलिये अनिश्चित काल ... क्रान्ति की प्रतीक्षा में बैठे रहना उचित नहीं;

(ii) वर्ग-संघर्ष में वृद्धि नहीं हुई किन्तु पूंजीवाद के विकास के साथ साथ वर्ग-संघर्ष में कमी होती जा रही है;

(iii) मार्क्स के इतिहास की एक युग से दूसरे युग पर आकस्मिक छलांग की धारणा विश्वसनीय नहीं है,

(iv) इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या संकीर्ण है, इतिहास निर्धारण के अन्य तत्व भी होते हैं;

(v) मूल्य-सिद्धान्त में सत्यता नही है, केवल श्रम ही मूल्य निर्धारण का तत्व नही है; तथा

(vi) उन्होंने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का भी खन्डन किया।

संशोधनवादी तत्कालीन सुधारो मे विश्वास करते थे। वे मार्क्स की क्रान्ति-साधन के स्थान पर विकासवादी-जनतान्त्रिक साधनों मे विश्वास करते थे।

डुग्लस जे (Douglas Jay) द्वारा मार्क्सवाद की आलोचना

प्रसिद्ध समाजवाद-शास्त्री डुग्लस जे, जो लोकतान्त्रिक समाजवाद के प्रबल समर्थक हैं, ने अपनी पुस्तक—Socialism in the New Society (1970)-में मार्क्सवाद की जगह-जगह पर कटु आलोचना की है तथा मार्क्सवादी सिद्धान्तो का खण्डन किया है। डुग्लस जे के अनुसार मार्क्सवादी सिद्धान्तों में जहां-जहा त्रुटियां दृष्टिगोचर होती हैं उसके कुछ आधारभुत एवं मूल कारण थे जिनके जाल मे मार्क्स उलझा रहा।

डुग्लस जे के अनुसार

(i) मार्क्स ने विज्ञान को अपने अध्ययन का जो आधार बनाया वह उस समय शैशव अवस्था में था तथा उसने कोई प्रगति नहीं कर पाई थी।

(ii) मार्क्स दूरद्रष्टा नहीं था। वह अपने युग की आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों से ही प्रभावित हुआ। इन परिस्थितियों में बाद में जैसे-जैसे परिवर्तन हुए मार्क्स के सिद्धान्त भी सत्य से दूर होते चले गये।

(iii) जिस युग में मार्क्स ने अपने विचार व्यक्त किये उस समय आर्थिक और राजनीतिक चिन्तन मे बड़ा असमंजस था। उसके तथ्यों एवं नैतिक अनुमान में बड़ी अस्पष्टता रही है।[43]

मार्क्स पर बड़ा ही तीव्र प्रहार करते हुए डुग्लस जे लिखते हैं:—

"मार्क्स ने कई बातों को कई तरह से त्रुटिपूर्वक ग्रहण किया जिन पर इतने लम्बे समय तक विश्वास किया गया। यह कोई विशेष आश्चर्यजनक नही है। उसके विचार सत्य और असत्य का मिश्रण थे यहां यह स्पष्ट करना है कि सभी बड़े धर्मों की तरह मार्क्सवाद के असाधारण अधकचरे सिद्धान्तों पर करोड़ों लोग इतने लम्बे समय तक विश्वास करते रहे"[44]

मार्क्सवाद के अंतर्गत धर्म की कटु आलोचना की गई है। वे धर्म विरोधी है तथा धार्मिक मान्यताओं पर कटु प्रहार करते हैं। यद्यपि मार्क्सवाद धर्म पर निर्दयतापूर्वक प्रहार करता है पर वह स्वयं मनुष्य का एक धर्म बन जाता है। हैलोवेल लिखते हैं:—

"मार्क्सवाद सिद्धान्ततः धर्म को अस्वीकार करता है पर व्यवहारतः जो तीव्र भावना मार्क्सवाद के पीछे काम करती है, उसकी प्रकृति धार्मिक ही है।"[45]

एक दूसरे स्थान पर हैलोवेल ने लिखा है कि—

"मार्क्सवाद न तो दर्शन, न आर्थिक सिद्धान्त, न आर्थिक कार्यक्रम किन्तु धर्म के रूप में श्रमिकों को आकर्षित करता है। मार्क्स ईश्वर के बदले ऐतिहासिक आवश्यकता को, धर्म-प्रिय लोगों के स्थान

---

43. Jay, Douglas, Socialism in the New Society, p. 34.

44. Marx got so many things so wrong, and that so much error has been so long believed. This is not really strange, if we reflect first that there was much truth, mixed up with the errors which have had to be exposed here; that in all great religions, doctrines of extraordinary crudity have been believed by millions for very long periods" Jay, Douglas, Socialism in the New Society, p. 57.

45. Hallowell, J H., Main Currents in Modern Political Thought, p.443

पर सर्वहारा वर्ग को, धर्म राज्य के स्थान पर साम्यवादी राज्य को स्थानापन्न करता है।"46

डा. आशीर्वादम् इसे आगे बढ़ाते हुए व्यंग लिखते हैं कि "मार्क्सवाद के अपने सिद्धान्त हैं, अपना पुरोहित वर्ग, अपने धर्मकाण्ड तथा अपने पाप मोचक अनुष्ठान हैं।"47 सर्वहारा-वर्ग तथा इसके अन्य समर्थक इसे विवेचनात्मक और तार्किक सत्यता के आधार पर नहीं किन्तु एक धर्मान्ध और विश्वास के रूप में स्वीकार करते हैं। सर्वहारा-वर्ग मार्क्सवादी धर्म का बड़ा ही कट्टर अनुयायी समझा जाता है।

मार्क्सवाद की बहुत-सी धारणाएँ गलत सिद्ध हो चुकी हैं

औद्योगिक प्रगति एवं वर्ग व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए मार्क्स ने कहा था कि साम्यवादी क्रान्ति पहिले अमेरिका तथा इंग्लैंड में होगी। लेकिन इसके विपरीत सर्वप्रथम साम्यवादी क्रान्ति रूस जैसे पिछड़े देश में हुई।

मार्क्स का यह कहना कि साम्यवादी क्रान्ति केवल औद्योगिक दृष्टि से विकसित राज्यों में ही सम्भव है सही नहीं रहा। रूस तथा चीन साम्यवादी क्रान्तियों के समय औद्योगिक युग में नहीं आ पाये थे; वे उस समय व्यापक रूप से कृषि युग में ही थे, लेकिन फिर भी वहाँ क्रान्तियां सम्भव हो सकीं।

यही नहीं, साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना बिना क्रान्तियों के भी हो चुकी है। पूर्वी यूरोप मे रूस द्वारा थोपी गयी साम्यवादी व्यवस्था क्रान्तियों का परिणाम नहीं है।

भारत में केरल में कई बार साम्यवादी शासन की स्थापना हो चुकी है जो वर्ग संघर्ष का नहीं मत-संघर्ष का परिणाम हैं। इसने यह सिद्ध कर दिया है कि साम्यवाद की स्थापना संसदीय प्रणाली के अन्तर्गत भी सम्भव है।

एक और अन्य उदाहरण लेटिन अमरीकी राज्य चिली का दिया जा सकता है जहां 1971 में बिना क्रान्ति के साम्यवादी सत्ता ग्रहण कर चुके हैं।

---

46 Ibid., p. 445.
47. आशीर्वादम, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खंड, पृ. 614.

मार्क्स की यह भविष्यवाणी भी सही सिद्ध नहीं हुई कि निर्धन अधिक निर्धन होते जायेंगे। अमेरिकी तथा अन्य पूंजीवादी राज्यों में गरीबों की हालत में काफी सुधार हुआ है। उन्हे जीवनयापन के लिये ही नही बल्कि सुख सुविधा योग्य वेतन मिलता है।

मार्क्स का पुनः आगमन (The second-coming of Marx)

मार्क्सवाद की जो इतनी आलोचना हुई है तथा मार्क्स के बाद सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों में जो व्यापक परिवर्तन हुए हैं, बहुत से लोगों की मान्यता है कि यदि मार्क्स पुनः वापस आये तो उसे अपने सिद्धातों तथा निष्कर्षों में बड़े परिवर्तन एवं संशोधन करने लिये बाध्य होना पड़ेगा। इस प्रकार के विचारों को व्यक्त करने का उद्देश्य केवल मार्क्सवाद की आलोचना को अधिक गम्भीरता प्रदान करना तथा उसमे संशोधन की बात को और अधिक तूल देना है। मार्क्सवाद का जो विवेचन हुआ है इस महान विचारधारा का जो भी औचित्य है वह पहले ही स्पष्ट है।

योगदान

कार्ल मार्क्स तथा ऐन्जिल्स ने अपनी मार्क्सवादी विचारधारा से सारे संसार को झकझोर दिया। एक मार्क्स विचारक, दार्शनिक तथा इन सबसे अधिक युग-प्रवर्तक थे। उनके विचारों ने राजनीतिक चिन्तन को नया मोड़ दिया। यहा यह प्रश्न नहीं है कि उनकी विचारधारा कहा तक सही है, किन्तु यह निर्विवाद है कि समाजवाद के सभी सम्प्रदाय मार्क्स से किसी न किसी रूप में प्रेरणा लेते हैं। आज विश्व की आधी से भी अधिक जनसख्या मार्क्सवादी प्रभाव के अन्तर्गत है। हन्ट (R. N. Carew Hunt) के अनुसार ईसाई धर्म के अभ्युदय के पश्चात् मार्क्सवाद सबसे महान आन्दोलन था।[48]

मार्क्स ने अपने विचार कई स्रोतो से ग्रहण किये हैं लेकिन इन सब को मार्क्स ने अपना आवरण पहनाया। मार्क्स का सबसे अधिक महत्वपूर्ण योगदान यह था कि दूसरों से उसने जो भी विचार ग्रहण किये उन्हे क्रान्तिकारी रूप प्रदान किया।

मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है। समाजवाद को वैज्ञानिक आधार प्रदान करना मार्क्स-ऐन्जिल्स का महत्वपूर्ण योगदान है। मार्क्स के पूर्व-

---

48 Hunt, R. N. Carew, The Theory and Practice of Communism, p. 3

समाजवाद का विवेचन करने वाले दार्शनिकों ने कपोल-कल्पित धारणाओं के आधार पर यूटोपियायी आदर्श खड़े किये। किन्तु मार्क्स का दृष्टिकोण यथार्थवादी था। उसने ऐतिहासिक तथा आर्थिक अध्ययन के आधार पर वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया। उसने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उन्हें क्रमबद्ध ढंग से सम्बद्ध कर कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित कर अपने विचारों को दर्शन का रूप प्रदान किया।

मार्क्सवाद की अन्य प्रमुख देन या जिनने व्यक्तियों को प्रभावित और आकर्षित किया निम्नलिखित हैं—

(i) इस विचारधारा ने पूंजीवाद के दोषों को विश्व के समक्ष रखा।

(ii) उन्होंने समाजवाद को श्रमिक आन्दोलन का रूप दिया।

(iii) मार्क्स-ऐन्जिल्स ने निम्न-वर्ग और श्रमिक वर्ग को समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान दिया। मार्क्स के पहिले कोई भी ऐसा विचारक नहीं हुआ जिसने समाज के पद-दलित एवं शोषित-वर्ग को इतना महत्त्व दिया हो। मार्क्स पहिला व्यक्ति था जिसने श्रमिक-वर्ग को समाज का आधार स्वीकार किया।

(iv) मार्क्सवाद ने यह सिद्ध कर दिया कि समाज सुधार उच्च वर्ग की देन नहीं, ये क्रान्ति द्वारा सर्वहारा-वर्ग द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं।

(v) उन्होने मनुष्य के ईश्वरीय अंग होने का खन्डन कर यह बतलाया कि मनुष्य पृथ्वी का है, इस लोक का जीवन ही उसके लिये सब कुछ है।

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Cole, G.D.H., A History of Socialist Thought, Vol.–II, Socialist Thought : Marxism and Anarchism
Chapter XI, Marx and Engels.

2. Engels, F., Socialism:Utopian and Scientific

3. Gray, Alexander, The Socialist Tradition.
Chapter XII, Scientific Socialism.

4. Hallowell, J.H., Main Currents in Modern Political Thought.
Chapter 12, Karl Marx and Rise of 'Scientific Socialism'.

5. Hunt, R.N. Carew, The Theory and Practice of Communism-An Introduction.
Part I, The Marxist Basis.

6. Jay, Douglas, Socialism in the New Society.
Part I, Ch. 4, Where Marx Went Wrong
Ch. 5, Marxist and the Second Coming.

7. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत-प्रवेशिका
अध्याय 5, साम्यवाद तथा अराजकतावाद

8. Kilzer and Ross, Western Social Thought
Chapter 15, Marx and 'Scientific' Socialism.

9. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन
अध्याय 2, कार्ल मार्क्स

10. Laski, H.J., Karl Marx: an Essay, London, ...

11. Marx and Engels, Manifesto of the Communist Party, Moscow, 1967.

12. Sabine, G. H., A History of Political Theory Chapter 33, Marx and Dialectical Materialism.

(इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध है)

13. Taylor, A.J.P., Introduction to the Manifesto of the Communist Party.

4

अराजकतावाद
Anarchism

राज्य-रहित समाजवादी व्यवस्था

आधुनिक अराजकतावाद अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तथा उन्नीसवीं शताब्दी की विचारधारा है। 'अराजकता' शब्द का उद्भव एक ग्रीक शब्द 'अनार्किया (Anarchia) से हुआ है जिसका अर्थ 'शासन का अभाव' है। इस प्रकार शाब्दिक आधार पर अराजकतावाद ऐसी विचारधारा की ओर संकेत करता है जो राज्य एवं शासन का उन्मूलन कर उसके स्थान पर राज्य-विहीन एवं वर्ग-विहीन समाज (Stateless and Classless Society) की व्यवस्था करता है, जिसमें सभी प्रकार के शोषण का अन्त और बल प्रयोग का लोप हो।

कोल (G. D. H. Cole) ने अराजकतावाद को परिभाषित करते हुए लिखा है:—

> "एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में अराजकतावाद समाज के संगठन के उन सब रूपों के पूर्ण विरोध से आरम्भ होता है जो बाध्यकारी सत्ता पर आधारित होते हैं। एक आदर्श के रूप में अराजकतावाद का अभिप्राय उस स्वतन्त्र समाज से है जिसमें से बाध्यकारी तत्वों का लोप हो चुका हो।"[1]

फ्रान्सिस कोकर के शब्दों में:—

> "अराजकतावाद का सिद्धान्त यह है कि राजनीतिक सत्ता, किसी भी रूप में, अनावश्यक एवं अवांछनीय है। आधुनिक अराजक-

1. "Anarchism as a philosophic doctrine sets out from a root-and-branch opposition to all forms of society which rest on the basis of coercive authority. Anarchism, as an ideal, means a free society from which the coercive elements have disappeared."
Cole, G. D. H., Marxism and Anarchism, p. 387.

तावाद में राज्य के सैद्धान्तिक विरोध के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति की संस्था का विरोध और संगठित धार्मिक संस्था के प्रति शत्रुता का भी समावेश है।"[2]

प्रसिद्ध अराजकतावादी क्रोपाट्किन (Peter kropotkin) ने अराजकतावाद की व्याख्या करते हुए लिखा है:—

अराजकतावाद जीवन तथा आचरण का ऐसा सिद्धान्त अथवा नियम है जिसमें शासन-विहीन समाज की कल्पना की जाती है— ऐसे समाज में सामंजस्य न तो विधि के समक्ष आत्म-समर्पण कर और न किसी अन्य शक्ति की आज्ञा पालन कर प्राप्त किया जाता है, अपितु वह उन विभिन्न प्रादेशिक और व्यावसायिक समूहों के मध्य किये गये स्वतन्त्र संविदाओं द्वारा प्राप्त किया जाता है, जिनकी रचना स्वतन्त्र रूप से उत्पादन और उपभोग के लिये, तथा सभ्य जीवन की अनन्त इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये की जाती है।"[3]

विकास एवं परम्परा

यदि राज्य-विहीन, वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन, शक्ति-विहीन विचारों का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाये तो आधुनिक अराजकतावाद अपने आप मे कोई नवीन विचारधारा नही है। चीन में लगभग ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व एक विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसे टाओवाद (Taoism) कहते हैं। इस विचारधारा को नियन्त्रण या प्रतिबन्ध विरोधी तथा स्वतंत्रता समर्थन की सबसे पुरानी विचारधारा माना जाता है। प्राचीन चीन में कई विचारधाराओं में इस प्रकार के विचार मिलते हैं। लगभग ईसा के छ सौ वर्ष पूर्व लाओत्से (*Laotse*) और लगभग ईसा के 300 वर्ष पूर्व चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक च्वांग-त्सु (Chuang-tzu) ने कहा था कि एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य पर शासन करना मानव स्वभाव के प्रतिकूल है। प्राचीन ग्रीक में स्टाइक विचारधारा (Stoicism) के अग्रणीय जेनो (Zeno) ने भी एक राज्य-विहीन समाज का प्रतिपादन किया था।

पाश्चात्य विद्वानो ने अक्सर यह मत व्यक्त किया है कि पूर्व के देशों में राजनीतिक दर्शन का अभाव रहा है। इसका वास्तविक कारण यह था कि पूर्व

---

2. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 202.

3. उद्धत, जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ 103-104.

की विचारधाराओं में राज्य का कम तथा स्वतन्त्रता का अधिक महत्व रहा है। प्राचीन भारत में इस प्रकार की विचारधारा का प्रचलन था। शान्ति पर्व में उल्लेख है कि प्राचीन समाज गुण ((virtue) और स्वतन्त्रता (freedam) का आदर्श था। इसी ग्रन्थ में एक स्थल पर उद्धरित है कि—

"न तो राज्य था और न राजा ही, न विधि था न विधान निर्माता। व्यक्ति अपनी आन्तरिक चेतना के कर्तव्य से एक दूसरे की रक्षा करते थे।[4]

मध्य युग में ईसाई सम्प्रदायों में भी अराजकतावाद की अभिव्यक्ति मिलती है। धर्म सुधार (Reformation) युग में पीटर शेलेस्की ने चर्च और राज्य के विषय मे अराजकतावादी सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए राज्य को एक शक्ति पर आधारित सस्था मान कर उसकी निन्दा की है।

पुनर्जागरण (Renaissance) युग में मानवतावादियों (Hpmanists) में रेबले (Rebelais) ने भी उस आदर्श जीवन का वर्णन किया है जिसमे शक्ति एवं सत्ता का कोई नियंत्रण या प्रतिबन्ध न हो।

अट्ठारहवी शताब्दी के साहित्य-विकास में, दीदरो (Dlderot) साहित्यकार का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने व्यक्ति की स्वतंत्रता और प्राकृतिक अधिकारों को विशेष महत्व दिया है।

कुछ आधुनिक अराजकतावादियो ने अपने विचारों का प्रतिपादन कार्ल मार्क्स से भी पहिले किया है। लेकिन इस विचारधारा को आधुनिकता की ओर ले जाने में मार्क्सवादी विचारधारा से विशेष प्रोत्साहन मिला। अराजकतावाद को भी समाजवाद की एक अलग और विशिष्ट शाखा के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। इस विचारधारा को आधुनिक ढंग से प्रतिपादित, व्यवस्थित एवं क्रमवद्ध करने का श्रेय कई चिन्तको को है।

अराजकतावाद के प्रतिपादको को मोटे रूप से दो शाखाओं में विभाजित किया जाता है। प्रथम, व्यक्तिवादी अराजकतावादी, जो राज्य का ही विरोध नही करते, किन्तु यथा-सम्भव हर प्रकार के सामाजिक संगठन के बिना काम

---

4. "There was neither a state nor a king, neither the penal law (danda) nor the law giver. The people protected one another according to their inner sense of duty (Dharm)"
Shanti Parva 58. 84.

चलाना चाहते हैं। इसके अन्तर्गत जर्मनी के मेक्स स्टर्नर (Max Stirner, 1806-1856) तथा अमेरिका के बेन्जमिन टकर (Benjamin Tucker, 1854-1908) के नाम उल्लेखनीय हैं।

दूसरी श्रेणी में समष्टिवादी अराजकतावादी अथवा अराजकतावादी साम्यवादी आते हैं जो बाध्यकारी सत्ता का विरोध करते हैं किन्तु पारस्परिक सहयोग के आधार पर समाज व्यवस्था में विश्वास करते हैं। बाकुनिन (Bakunin, 1814-76) तथा पीटर क्रोपाटकिन (Petor Kropotkin, 1842-1921), के नाम इससे सम्बन्धित हैं। लेकिन कुछ अराजकतावादी जैसे गॉडविन (William Godwin, 1756-1836), प्रधों (Proudhon, 1809-1865) आदि व्यक्तिवादी और समष्टिवादी अराजकतावादियों के मध्य की स्थिति अपनाते हैं।

विलियम गॉडविन (William Godwin, 1756-1836), जो कि एक काल्विन पंथी पादरी के पुत्र और स्वयंपादरी थे, को प्रथम आधुनिक अराजकतावादी कहा जाता है। इन्होंने अपनी पुस्तक—An enquiry Concerning Political Justice and its Influence on General Welfare and Happiness—में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए लिखा है कि यदि पूंजीवाद और मनुष्य के शोषण का अन्त कर दिया जाये तो मनुष्य आपस में प्रेम से रहेंगे, क्योंकि मनुष्य स्वभाव से विवेकशील है। इनके अनुसार राजनीतिक शक्ति अथवा सरकार एक आवश्यक बुराई है। यह शक्ति और हिंसा पर आधारित है। गॉडविन ने राज्य, सरकार, कानूनों, न्यायालयों, सम्पत्ति और परिवार के उन्मूलन का समर्थन किया है।

गॉडविन ने सम्पत्ति को बहुत सी सामाजिक और नैतिक बुराइयों का मूल माना है, जो समाज में आर्थिक विषमता पैदा करती है। सम्पत्ति धनिकों में मिथ्याभिमान और गरीबों में हीनता की भावना प्रोत्साहित करती है।

इस प्रकार गॉडविन ने कई सामाजिक और राजनीतिक बुराइयों की कटु निंदा कर उनका उन्मूलन चाहा है। किन्तु इसका उद्देश्य एक ऐसी उच्च सामाजिक रचना था जिसमें विभिन्न समुदाय स्वायत्त हों।[5]

टॉमस हॉजस्किन (Thomas Hodgskin, 1787-1869) को व्यक्तिवादी-अराजकतावाद की श्रेणी में सम्मलित करते हैं। वैसे इनका

---

5. Gray, A., The Socialist Tradition, p. 132.

अराजकतावादी होना संदिग्ध है। ये राज्य सत्ता के तीव्र आलोचक थे। उनके अनुसार कानून निर्माण की समाज में कोई आवश्यकता नहीं है। वे ऐसी व्यवस्था के समर्थक थे जिसमें कोई राजनीतिक शक्ति विद्यमान न हो तथा व्यक्तियों को स्वाभाविक अधिकार प्राप्त हों।

हॉजस्किन का विश्वास था कि "अखिल ब्रह्मान्ड का नियमन स्थाई एवं अपरिवर्तनीय नियमों द्वारा होता है। मानव इस महान व्यवस्था का ही एक अंग मात्र है। अतः प्रति पल, प्रति क्षण उसका आचरण स्थाई तथा अपरिवर्तनीय नियमों द्वारा उसी प्रकार प्रभावित, नियन्त्रित तथा नियमित है जिस प्रकार वनस्पति का बढ़ना अथवा नक्षत्र-मन्डल की गति नियमित और नियन्त्रित है। फलतः किसी प्रकार के नियोजन अथवा व्यवस्थापन की कोई आवश्यकता नहीं। यदि व्यक्ति को बन्धन-मुक्त छोड़ दिया जाय तो आत्म-हित का पूर्व प्रतिष्ठित सामंजस्य प्राप्त हो जाता है।"[6]

मेक्स स्टर्नर (Max Stirner 1806-1856) जर्मनी के रहने वाले थे। इनकी न तो ईश्वर में श्रद्धा थी, न राज्य में विश्वास। ये राज्य द्वारा निर्मित नियमों के विरोधी थे। ये एक दार्शनिक की तरह स्वयं की वास्तविकता में विश्वास करते थे।

जोसेफ प्रोधों (Pierre Joseph Proudhon, 1809-1865) सम्भवतः पहिला दार्शनिक था जिसने स्वयं को अराजकतावादी कहा। प्रोधों स्वतन्त्रता तथा मुक्ति का प्रबल समर्थक तथा शोषण का विरोधी था। उसके विचार में "मनुष्य के द्वारा मनुष्य पर शासन प्रत्येक रूप में अत्याचार है। समाज की सर्वोच्च पूर्णता अराजकतावादी एकता एवं व्यवस्था में ही उपलब्ध होती है।"

प्रोधों ने जनता बैंक (Bank of the People) के सम्बन्ध में एक योजना प्रस्तुत की, जिसका कार्य 'श्रम-नोट' (Labour Notes) जारी करना था। इन नोटों में श्रम की इकाइयों का उल्लेख रहता था जिनकी माप, उनकी अवधि अथवा कार्य-काल से ज्ञात हो सकती थी।

प्रोधों के अराजकतावादी विचारों में भी सम्पत्ति को कोई स्थान नहीं है; वह सम्पत्ति को चोरी कहता था तथा उसे शोषण से उत्पन्न मानता था।

---

6. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 208.

सम्पत्तिवान व्यक्ति अन्याय पूर्वक सम्पत्ति का अर्जन करते हैं जिससे श्रमिकों का शोषण होता है। राज्य इन्हीं सम्पत्तिवान व्यक्तियों के हित साधन का यंत्र है। प्रोधों ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहता है जिसमें व्यक्ति सब प्रकार के राजनीतिक तथा आर्थिक बंधनों से मुक्त होकर सहयोग तथा ऐच्छिक संघों के द्वारा सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का प्रबन्ध करें।

अराजकतावाद को क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन तथा विचारधारा का रूप प्रदान करने का श्रेय बाकूनिन तथा पीटर क्रौपोट्किन को है।

माइकल बाकूनिन (Michael Bakunin, 1814-76) के जीवन काल में मार्क्सवादी विचारधारा का काफी प्रचार हो चुका था और वह इस विचारधारा से किसी सीमा तक प्रभावित हुआ। बाकूनिन मानव विकास क्रम का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करता है तथा यह बतलाता है कि प्रारम्भ काल से धर्म, सम्पत्ति और राज्य का अभ्युदय किस प्रकार हुआ। उसने धर्म, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा राज्य को मनुष्य के स्वतन्त्र विकास मार्ग में बाधक माना है। धर्म मनुष्य की स्वतन्त्र चेतना के मार्ग में बाधक है तथा स्वतन्त्रता को नियमित एवं सीमित रखता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति शोषण तथा असमानता पर आधारित है, राज्य शक्ति का प्रतीक और व्यक्तिगत सम्पत्ति का संरक्षक होने के नाते वर्ग-संगठन का पोषक है। इन तीनों संस्थाओं का क्रान्ति द्वारा ही अंत किया जा सकता है। इनकी समाप्ति के पश्चात ही मनुष्य वास्तविक स्वतन्त्रता का अनुभव तथा स्वयं का विकास कर सकता है।

बाकूनिन ने राज्य की समाप्ति के पश्चात् भविष्य में सामाजिक व्यवस्था के विषय में भी विचार व्यक्त किये हैं। उसने अपनी नयी समाज व्यवस्था को संघवाद का नाम दिया है। संघवाद में सारा कार्य स्वेच्छा पर आधारित होगा तथा व्यक्ति को किसी भी प्रकार से नियंत्रित नहीं रखा जायेगा। कोकर ने बाकूनिन के संघवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

> "स्थानीय समाज सामूहिक जीवन की प्रारम्भिक इकाई होगा। (इस प्रकार के समाज को अराजकतावादी भाषा में कम्यून कहते हैं) अनेक कम्यून मिलकर अपनी आवश्यकतानुसार बड़े-बड़े संघ बना लेंगे। ये संघ भी पूर्णत: ऐच्छिक आधार पर ही बनेंगे।"[7]

---

7. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ.

पीटर क्रोपोट्किन (Peter Alexander Kropotkin, 1842-1921) के विचार बाकूनिन से बहुत मिलते जुलते है। वह जीवशास्त्र का विद्वान था। अतः मानव विकास क्रम की जीवशास्त्रीय विधि से विवेचना करता है। उसके अनुसार मनुष्य स्वभाव एवं समाज मे वे सब तत्व विद्यमान है जिससे मनुष्य का विकास प्राकृतिक ढंग से हो सकता है। परन्तु राज्य, धर्म तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति इस विकास में बाधक हैं, ये संस्थाएं, अन्याय, असमानता तथा शोषण की प्रवृत्ति को जन्म देती हैं। इनका क्रान्ति द्वारा उन्मूलन होना चाहिये।

राज्य की समाप्ति के बाद क्रापोट्किन का विश्वास था कि समाज में स्वतंत्र सस्थाएं बनी रहेगी जो ऐच्छिक समझौतों पर आधारित होंगी। समाज में बुराइयों, झगड़े आदि में बिलकुल ही कमी हो जायेगी क्योकि इनको प्रोत्साहित करने वाली सस्थाऐ ही समाप्त हो जायेगी। मानव विकास में सहचर्य तत्व ही प्रमुख है न कि दमन, शक्ति और सत्ता।

वारेन (Josiah Warren, 1798-1874) को पहला अमरीकी अराजकतावादी कहा जाता है। अमेरिका में सर्वप्रथम अराजकतावादी पत्र–Peaceful Revolutianist–के प्रकाशन का श्रेय भी वारेन को है। कुछ समय ये ओवन के अनुयायियों की बस्ती न्यू हार्मनी मे भी रहे। बाद में इन्होने भी प्रोधों की तरह जनता बैंक की स्थापना की जहाँ ये श्रम-नोटों को जारी करते थे। ये श्रम नोट वस्तुओं के विनिमय के काम आते थे।

ये राज्य को आवश्यकता में विश्वास नही करते थे। ये राज्य को व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा दमनकारी प्रवृतियां का परिणाम मानते थे। राज्य विहीन समाज की व्यवस्था के लिये इनका सुझाव था कि एक छोटी सी विशेषज्ञों की समिति थोड़े बहुत समझाने बुझाने के कार्यों के लिये पर्याप्त होगी।

हेनरी डेविड थोरो (Henry David Thoreau, 1817-1862) एक और अमरीकी अराजकतावादी थे। ये मानते थे कि मनुष्य मे अच्छाई की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति स्वतन्त्र तथा विवेक-सम्पन्न इच्छा के निर्देशन में ही पूर्णता प्राप्त कर सकती है। ये अन्तर्रात्मा को कानून से श्रेष्ठ एवं सर्वोच्च मानते थे।

डेविड थोरो ने दासता के विरुद्ध किये जाने वाले सघर्ष में अमरीकी सरकार के विरुद्ध सक्रिय एवं निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग करने का आग्रह किया। इन्होंने भविष्य के लिये ऐसे समाज के आदर्श को प्रस्तुत किया जिसमे शासन को कोई स्थान नहीं होगा।

बेन्जमिन टकर (Benjamin R. Tucker, 1854-1908) अमेरिका के प्रसिद्ध अराजकतावादी थे। ये प्रोधों, ग्रीन तथा वारेन आदि से प्रभावित हुए। 1881 में टकर ने एक अर्ध-साप्ताहिक पत्र Liberty-का प्रकाशन प्रारम्भ किया। 1907 तक इस पत्र का प्रकाशन चलता रहा तथा दार्शनिक अराजकतावाद के निरूपण के सम्बन्ध मे अच्छी ख्याति प्राप्त की।

टकर के विचारों का आधार मनुष्य का विवेकपूर्ण आत्महित है। यह आत्महित मनुष्य को ऐसे समाज की ओर अग्रसर करता है जिसमें सब मनुष्य समान रूप से स्वतंत्र हों। स्वतंत्रता ही व्यवस्था का प्रभावकारी साधन है और उसी में सुख का मूल तत्व भी है। टकर समाज से राजनीतिक सत्ता के निष्कासन के पक्ष में हैं, क्योंकि राज्य ने हमेशा ही स्वतंत्रता के सिद्धान्त का उल्लंघन किया है। राज्य को स्वीकार करने का तात्पर्य स्वतंत्रता के हनन को स्वीकार करना है।

टकर राज्य के स्थान पर व्यक्तियों के स्वतंत्र समझौतों द्वारा निर्मित संस्थाओं के पक्ष में थे। इन संस्थाओं की सदस्यता तथा त्याग मनुष्य की स्वेच्छा पर निर्भर होनी चाहिये।

बाकुनिन तथा क्रोपॉटकिन के सिद्धांतों का प्रचार यूरोप के मजदूरों में अनेक पत्र पत्रिकाओं द्वारा किया गया तथा अनेकों क्लबों की स्थापनाएं हुईं। जॉन मोस्ट (Johann Mort) ने जर्मनी और संयुक्त राज्य में अराजकतावाद के लिये व्यवहारिक प्रवृत्तियों का संगठन किया, लेकिन इनको विशेष सफलता नहीं मिल सकी। विध्वंसात्मक रूप में अराजकतावाद के व्यावहारिक कार्य-क्रम को सबसे अधिक प्रोत्साहन कुछ रूसी शून्यवादियों (Nihilists) से मिला। शून्यवाद अराजकतावाद से अधिक व्यापक शब्द है, इससे अधिक उग्रवादी निषेधों का बोध होता है। यह समस्त प्रचलित एवं प्रतिष्ठित विचारों, संस्थाओं एवं मानदंडों को अस्वीकार करता है। शून्यवाद के राजनीतिक पहलू सरगी नेतशेव (Sergei Netschaive, 1848-1882) के विचारों में स्पष्ट मिलते हैं। शून्यवाद क्रांति, हिंसा, भय आदि उत्पन्न करने वाले सभी कार्य-क्रमों का समर्थन करते हैं।

स्पेन मे भी एक नये अराजकतावादी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिसे अराजकता-सिन्डीकलवाद के नाम से जाना जाता है। यह अराजकतावादी सिद्धान्तों तथा सिन्डीकलवादी माध्यमों का सम्मिश्रण है।

वैसे अराजकतावादियों की सूची बड़ी लम्बी है। लेकिन इस सम्बन्ध में लिओ टॉलस्टॉय (Count Leo Tolstoi, 1828-1910) तथा महात्मा गांधी (1869-1948) के नाम का उल्लेख और किया जा सकता है। ये सत्ता के विरोधी थे। वैसे टॉलस्टॉय को सामान्यतया अराजकतावादी माना जाता है, किन्तु महात्मा गांधी को पूर्णतः इस वाद के अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता। महात्मा गांधी तथा सर्वोदयी व्याख्याता, सत्ता विरोधी, शासन को सीमित करने विकेन्द्रीकरण तथा स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक हैं।

अराजकतावाद के सिद्धान्त सूत्र

अराजकतावादी चिन्तकों का अध्ययन करने से इस विचारधारा के बहुत कुछ लक्षण स्वयं ही स्पष्ट हो जाते हैं। फिर भी उन्हे विस्तारपूर्वक एवं क्रमबद्ध व्यवस्थित करने की आवश्यकता है।

मानव स्वभाव

अराजकतावादी मनुष्य को स्वभावतः अच्छा, सहयोग प्रिय मानते हैं। वह एक दूसरे के साथ निःस्वार्थ सहचार जीवन व्यतीय करने की प्रवृत्ति रखता है। हेनरी डेविड थोरो ने ट्रान्सेडेन्टलिस्ट (Transcendentalist) वर्ग के लोगों के इन विचारों का अनुकरण किया है कि मनुष्य में अच्छाई की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति है और वह अपनी स्वतन्त्र एवं विवेक-सम्पन्न इच्छा के निर्देशन में परिपूर्णता प्राप्त कर सकता है।[8]

अराजकतावादियो के अनुसार सामाजिकता मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। क्रोपॉटकिन की पुस्तक—Mutual Aid, a Factor of Evolution—मनुष्य की पारस्परिक सहयोग की प्रवृत्तियों का ही संकलन है। इसमे उसने डार्विन तथा हरबर्ट स्पेन्सर के विकासवाद का खन्डन किया है। विकास, संघर्ष एवं प्रतिस्पर्धा पर नहीं, बल्कि पारस्परिक सहयोग पर आधारित है। बाकुनिन ने मानव स्वभाव के विषय मे 'सामाजिक समझौतो' के सिद्धान्त की भी आलोचना की है, जिसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्यो में कोई परस्पर सम्बन्ध नही था।

वास्तव में अराजकतावादियो की पूर्ण विचारधारा का आधार मानव स्वभाव पर निर्भर करता है। एक राज्य विहीन, वर्ग विहीन, शोषण विहीन समाज की स्थापना तभी हो सकती है, जब मनुष्य में अच्छाई तथा पारस्परिक सहयोग की भावना हो।

---

8. कोकर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ0 207.

उद्देश्य : नवीन सामाजिक व्यवस्था-नकारात्मक एवं सकारात्मक दृष्टिकोण

अराजकतावादी नकारात्मक एवं सकारात्मक आधार पर एक नये समाज की स्थापना करना चाहते हैं। नकारात्मक ढंग से यह व्यवस्था राज्य विहीन तथा वर्ग-विहीन होगी, या समाज से उन सभी तत्वों और संस्थाओं (जैसे धर्म, परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति आदि) का उन्मूलन कर दिया जाये जो नियन्त्रण, शक्ति और शोषण के आधार हैं तथा इनको प्रोत्साहित करते हैं।

किन्तु अराजकतावाद केवल शक्ति का अभाव है, व्यवस्था का नहीं। उनके विचार सकारात्मक भी हैं। अराजकतावादी मनुष्य स्वभाव के अनुकूल समाज रचना करना चाहते है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति का अपना शासन होगा तथा स्वाभाविक मानवीय प्रवृत्तियां के आधार पर स्वयं को नियंत्रित करेगा। मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार स्वय स्थाई (ad hoc) एवं ऐच्छिक समुदायो का निर्माण करेगे। इन समुदायो पर किसी भी प्रकार का वाह्य नियंत्रण नही होगा तथा सहकारिता के आधार पर अपने कार्यक्रम और नीति निर्धारण करेंगे। डिकिन्सन ने लिखाहै कि समुदायो का एक जटिल जाल जिसमे सर्वत्र व्यवस्था रहती है, और कहीं भी बल प्रयोग नही होता, अराजकतावादी समाज के निर्माण की सामग्री है, क्योंकि अराजकता व्यवस्था का अभाव नहीं; अपितु नियंत्रण का अभाव है।[9]

सूक्ष्म में, अराजकतावादी समाज निम्नलिखित सिद्धान्तो एवं आधारों पर गठित होगा—

(i) राज्य-विहीनता
(ii) वर्ग-विहीनता
(iii) शक्ति-विहीन या बल प्रयोग रहित
(iv) स्वतन्त्रता
(v) समानता
(vi) सहयोग और सहकारिता के आधार पर ऐच्छिक और अस्थाई समुदायों का निर्माण।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समर्थन में अराजकतावादी व्यक्तिवादियों से भी आगे हैं। इस दृष्टि से अराजकतावाद व्यक्तिवाद का उग्र रूप है। ये स्वतन्त्रता

9. Dickinson, Lowes, Justice and Liberty, pp. 122-23.

को सर्वोच्च अच्छाई (Supreme Good) मानते हैं। व्यक्ति का पूर्ण विकास स्वतन्त्रता में निहित है तथा किसी भी प्रकार का नियन्त्रण अवान्छनीय है। अपनी पुस्तक—What is Property—में प्रोधों ने लिखा है:—

> "राजनीति स्वतन्त्रता का विज्ञान है। मनुष्य पर मनुष्य द्वारा शासन (किसी भी नाम अथवा वेश में) अत्याचार है। व्यवस्था एवं अराजकता के समन्वय में समाज अपनी पूर्णता प्राप्त करता है"[10]
> (पृ 272.)

व्यक्ति को प्रत्येक प्रकार की सत्ता एवं नियन्त्रण से मुक्त कराना अराजकतावादियों का प्रमुख उद्देश्य है। विशेषत: वे व्यक्ति को—

(i) नागरिक के रूप में राज्य-बन्धन से मुक्त कराना;
(ii) एक उत्पादक की हैसियत से पूंजीपति के बन्धन से मुक्त कराना;
(iii) एक सामान्य मनुष्य के रूप में धर्म-विद्वानों (या आडम्बरवादियों) से मुक्त कराना चाहते हैं।[11]

व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध

व्यक्तिगत सम्पत्ति के विषय में अराजकतावाद एवं साम्यवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं है। ये व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध करते हैं क्योंकि—

(i) साम्यवादियों की तरह अराजकतावादी सम्पत्ति को शोषण तथा असमानता का प्रमुख कारण मानते हैं। तभी तो प्रोधों ने कहा है कि 'सम्पत्ति चोरी है।' वे व्यक्ति जिनके पास कुछ सम्पत्ति है वे विलासपूर्ण, अकर्मण्य जीवन व्यतीत करने के साथ-साथ उनमें श्रेष्ठता की भावना तथा दूसरे पर अधिकार करने की इच्छा प्रबल होती है। सम्पत्ति शोषण का साधन एवं उद्देश्य दोनों ही है। सम्पत्ति का संचय शोषण के माध्यम से ही होता है, वे और अधिक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए दूसरों का शोषण करते हैं।

(ii) व्यक्तिगत सम्पत्ति स्वतन्त्र प्रतियोगिता सिद्धान्त पर आधारित रहती है और सहयोग एवं सद्भाव की उपेक्षा करती है।

---

10. "Politics is the science of liberty. The government of man by man (under whatever name it be disguised) is oppresion Society finds its highest perfection in the union of order with anarchy"
11. जोड, अधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ० 105.

(iii) अराजकतावादियों के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था का मूल आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति है। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध करने के साथ-साथ पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के भी कट्टर विरोधी थे। उनके विचार से उत्पादन किसी एक व्यक्ति के श्रम का परिणाम नहीं होता, बल्कि सम्पूर्ण समाज के श्रम का फल है। अतः सम्पत्ति पर किसी एक व्यक्ति का स्वामित्व अन्याय है; परिश्रम का फल सम्पूर्ण समाज को प्राप्त होना चाहिए। अराजकतावादी उस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं, कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार काम करे और प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार लाभ मिले।

(iv) सम्पत्ति में विषमता इतिहास में बहुत से युद्धों का कारण रही है। गॉडविन ने अपनी पुस्तक—An Enquiry Concerning Political Justice में यूरोप में हुए युद्धों का विवेचन किया है। उसका निष्कर्ष है कि इन युद्धों का मूल कारण सम्पत्ति में विषमता है। (पृष्ठ 813)

(v) व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर समाज दो भागों में विभाजित हो जाता है। प्रथम, सुख-भोगी वर्ग जिनका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है, अन्याय तथा श्रमिकों का शोषण करके निरन्तर अपनी पूंजी में वृद्धि करते हैं। इनका जीवन सामान्यतः स्वार्थी अनैतिक, तथा विलासी होता है।

दूसरे वर्ग में श्रमिक आते हैं, जिनका उत्पादन में प्रमुख योगदान रहता है, लेकिन फिर भी भूखा, वस्त्रहीन तथा आवासहीन रहता है। यह वर्ग हमेशा ही दरिद्रता एवं अनैतिकता का शिकार रहता है। इस प्रकार अराजकतावादी सम्पत्ति को आर्थिक विषमता और सामाजिक अन्याय का द्योतक मानते हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन करना इनका मुख्य उद्देश्य है।

धर्म का विरोध

अराजकतावादी धर्म विरोधी हैं। इनके अनुसार धर्म मनुष्य को अकर्मण्य, अंधविश्वासी एवं भाग्यवादी बना देता है। धर्म के आधार पर मनुष्य में कायरता आ जाती है और वह सामाजिक अन्याय को सहन करने लगता है। समय-समय पर शासक वर्ग ने भी धर्म के नाम पर जनता का शोषण किया है धर्म अन्यायपूर्ण आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था को पुष्टि करने में शासक वर्ग का सहायक होता है। गॉडविन के अनुसार व्यवस्था और स्वतन्त्रता के दो ही शत्रु हैं, प्रथम राज्य, तथा द्वितीय ईश्वर।[12]

12. Hallowell, J.H, Main Currents in Modern Political Thought, p 483.

प्रोधों ने धर्म को न्याय का शत्रु कहा है। उसे ईश्वर में नहीं मानवता में विश्वास था। प्रोधों ने अपनी पुस्तक—System of Economic Contradiction—मे भी ईश्वर धर्म और नैतिकता पर एक व्यापक अध्याय लिखा है। इसमें प्रोधों ने लिखा है कि—

> "ईश्वर में विश्वास करना बेवकूफी तथा कायरता है; ईश्वर ढोंग एवं झूठ है, ईश्वर अत्याचार और विपत्ति है; ईश्वर अशुभ है।"[13]

अराजकतावादियों के राज्य सम्बन्धी विचार

राज्य समाज में अन्याय के समस्त कारणों जैसे सम्पत्ति, धर्म, पूंजीवादी व्यवस्था नियंत्रण, शक्ति आदि को आश्रय देने वाली प्रमुख संस्था है, अराजकतावादी राज्य विरोधी हैं और राज्य को वाच्छित एवं अनावश्यक मानते हैं, राज्य विरोध के अराजकतावादियों ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं:—

(i) राज्य समाज की विषमताओ तथा अन्याय की निरंतर वृद्धि के लिये उत्तरदायी है।

(ii) वर्तमान राज्य का कुछ व्यक्तियों द्वारा साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है। राज्य उन एकाधिकारो का उन्मूलन नहीं कर सकता, जिनकी वह रक्षा करता है। इस प्रकार जब तक राज्य का स्थान कोई अन्य व्यवस्था नही लेती, इन निहित-शक्तियो का अन्त नही हो सकता। बाकुनिन के अनुसार राज्य का प्रथम आवश्यक और अवश्यम्भावी कार्य सम्पत्ति कानूनो का निर्माण करना था, जिससे शोषण करने वालो के अधिकारों को सुरक्षा प्रदान कर उसे कानूनी रूप देना था।[14]

(iii) राज्य शक्ति का प्रतीक है।

(iv) ऐसा कोई भी कार्य नही है जो राज्य करता है तथा जिसे राज्य के अस्तित्व के बिना न किया जा सके। विदेशी आक्रमणों का सामना

"God is stupidity and cowardice; God is hypocrisy and falsehood; God is tyranny and misery; God is evil."

13. Quoted by Bose, A, A History of Anarchism, p. 140.
14. Bose, A., A History of Anarchism, p. 180.

करने के लिये सेना की आवश्यकता नहीं है। राज्य की स्थाई सेनायें भी आक्रमणकारियों द्वारा परास्त हो जाती हैं। लेकिन जन-सेनाओं ने, जिनका संगठन राज्य द्वारा नहीं किया गया है, आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया है। इस प्रकार रक्षा कार्य एक नागरिक सेना सुरक्षा द्वारा प्रभावशाली ढंग से किया जा सकता है।

(v) आतरिक शान्ति एवं व्यवस्था के लिये भी राज्य की आवश्यकता नहीं है। कानून, पुलिस, न्याय, दंड आदि की राज्य जो व्यवस्था करता है उससे अपराधो में वृद्धि होती है।

(vi) कला, विज्ञान, शैक्षणिक कार्यों के लिये भी राज्य की आवश्यकता नही है। समाज में बहुत सा शैक्षणिक कार्य स्वयंसेवी संस्थाओं के द्वारा किया जाता है। शिक्षा के लिये राज्य की नहीं किन्तु ऐसी सभाओं एवं विद्वत परिषदों की आवश्यकता है जो शिक्षा कार्य में संस्थाओं, संलग्न हो। रॉयल सोसायटी, तथा ब्रिटिश ऐसोसियेशन जैसी संस्थाऐ, जो राज्य की भांति शक्ति पर नहीं बल्कि स्वतन्त्र सहयोग पर निर्भर है, राज्य द्वारा सचालित संस्थाओं से भी अच्छा कार्य किया है।

शासन का विरोध

राज्य का समस्त कार्य सरकार द्वारा संचालित होता है, सरकार का संगठन उन थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में रहता है जो हमेशा राज्य सत्ता को अपने हाथ में रखना चाहते हैं। किसी भी प्रकार की शासन प्रणाली सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में असफल रही है। शासन सत्ता का प्रतीक होता है। सत्ता व्यक्ति को स्वार्थी, घमन्डी, अत्याचारी और भ्रष्ट कर देती है। "राजनीतिज्ञ अपने स्वभाव के कारण नहीं अपितु अपने पद के कारण दुष्ट हैं, इस कारण नहीं कि वह मनुष्य हैं परन्तु क्योंकि वह राजनीतिज्ञ हैं।" इसी बात को क्रोपाटकिन ने दूसरे शब्दों में कहा कि "यह या वह मंत्री श्रेष्ठ मनुष्य होता यदि उसे सत्ता न दी गई होती" [15] इस प्रकार अराजकतावादी सत्ता को मनुष्य के चतुर्मुखी पतन का कारण मानते हैं। डिकिन्सन के अनुसार "सरकार का अर्थ बाधना, वर्जनशीलता, असंतोष तथा पृथकता है." किसी भी रूप में एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति पर शासन करने का अधिकार नहीं होना चाहिये।

---

15. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 109.

राज्य और शासन का अराजकतावादियों द्वारा इतना तीव्र विरोध है कि वे किसी भी प्रकार की शासन व्यवस्था को स्वीकार करने को तैय्यार नहीं हैं। आर्थिक क्षेत्र में किसी भी प्रकार की शासन प्रणाली प्रत्येक व्यक्ति के अनुपातिक भाग का न्यायोचित निर्धारण करने में सफल नहीं हुई है। इनके अनुसार अभी तक समस्त शासनों का मुख्य कार्य यही रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति का भाग न्यायोचित न हो। इस अन्यायपूर्ण तथ्य को चुनौती देते हुए क्रोपाटकिन ने कहा है—

"सब कुछ प्रत्येक का है। यदि प्रत्येक व्यक्ति—पुरुष तथा स्त्री—आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन मे भाग लेता है तो उसका यह अधिकार है कि समस्त उत्पादित वस्तुओं में से, जिनका उत्पादन प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किया गया है, अपना भाग ले" 16

अराजकतावादियों ने प्रतिनिधि शासन की सबसे कटु आलोचना की है। वैसे सामान्यतः प्रतिनिधि सरकारें ही सबसे उपयुक्त व्यवस्था है लेकिन व्यवहार में यह सत्य नहीं है क्योंकि—

(i) शासन व्यवस्था में सारा का सारा कार्य बहुमत-सिद्धान्त के आधार पर चलाया जाता है। प्रतिनिधि सभाओ मे बहुमत या एकमत प्राप्त करना सदैव फर्जी और बनावटी होता है। एक बार किसी बात पर निर्णय ले लिया जाता है तो अल्पमत को उसे कार्यान्वित करने के लिये समर्थन करना पड़ता है। यह बहुमत के अन्याय और अल्पमत की बुद्धिहीनता प्रदर्शित करती है।[17]

(ii) विचार विभिन्नता के कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति या समुदाय का प्रतिनिधित्व नही कर सकता।

(iii) सरकार चलाने के लिये प्रतिनिधियों में जितना ज्ञान होना चाहिये उनमें नहीं होता। इसलिये प्रतिनिधि शासन उन व्यक्तियों द्वारा शासन है, जो शासन के विषय में केवल इतना ही ज्ञान रखते है जिससे उनकी अयोग्यता ही प्रदर्शित होती है।

---

16. जोड़—आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका पृ. 105.
17. Godwin, An Enquiry Concerning Political Justice etc. pp. 570—71

(iv) यह शासन व्यवस्था उस वर्ग को जन्म देती है जिन्हें हम 'पेशेवर राजनीतिज्ञ' (Professional Politicians) कहते हैं। ये अपनी अज्ञानता और दुर्बलताओं को वाचाल अथवा आडम्बर से छुपाये रहते हैं।

(v) अराजकतावादी किन्हीं परिस्थितियों में जनप्रतिनिधि की आवश्यकता ही स्वीकार नही करते। राज्य द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक प्रश्न पर जनता की इच्छाएे, मान्यताएँ अलग-अलग होती हैं। महत्वपूर्ण विषयों पर जनमत जानने के लिये अपने निर्वाचकों की सभा बुलानी होगी। जिसमें वादविवाद के पश्चात अपने संकल्प या निर्णय निश्चित करेंगे। लेकिन जब इस प्रकार की सभाओं की आवश्यकता होगी तो फिर जन प्रतिनिधि की आवश्यकता का सवाल ही नही उठता।

सूक्ष्म में, अराजकतावादी प्रतिनिधि शासन को अयोग्य, अज्ञानियो की व्यवस्था मानने के साथ-साथ इसे अनावश्यक भी मानते हैं।[18]

अराजकतावादी विचारधारा विकेन्द्रीकरण सिद्धान्त पर आधारित है। प्रोफेसर जोड़ का कथन है कि "आधुनिक शब्दावली में अराजकतावाद का प्रथम तथा प्रधान उद्देश्य क्षेत्रीय तथा व्यावसायिक विकेन्द्रीकरण है।"[19]

अराजकतावादी समाज का प्रारम्भ स्थानीय छोटे-छोटे समूहों से होगा। स्थानीय समूह बड़े समूहो में सगठित एवं केन्द्रित किये जा सकते हैं, जिनका क्षेत्राधिकार सम्पूर्ण देश पर हो, यह समूहीकरण ऊपर से नही किन्तु नीचे से ऊपर की ओर होगा।

अराजकतावादियों को विश्वास है कि स्वेच्छापूर्ण आधार पर संगठित समाज में झगड़े नहीं होंगे। जो भी मतभेद होंगे वह मित्रता तथा सहकारिता की भावना से सुलझ जायेंगे।

अराजकतावादी उद्देश्यों की प्राप्ति के साधन

अराजकतावादी स्वेच्छापूर्ण सामाजिक संगठन के लिये, वर्ग, राज्य, सम्पत्ति, धर्म आदि का उन्मूलन आवश्यक मानते हैं। लेकिन इन उद्देश्यों की प्राप्ति का

18. अराजकतावादियो द्वारा प्रतिनिधि सरकार की आलोचना के लिये देखिये—जोड़, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ० 107-108.
19. उपरोक्त, पृ० 112.

साधन क्या हो ? इस सम्बन्ध में अराजकतावादियों में मतभेद हैं। व्यापकरूप से साधन के आधार पर उन्हें दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, वे अराजकतावादी जो विकासवादी, शान्तिपूर्ण साधनों तथा हृदय-परिवर्तन द्वारा अपने उद्देश्यों की उपलब्धि करना चाहते हैं। द्वितीय श्रेणी में क्रान्तीवादी, आतंकवादी आदि अराजकतावादी आते हैं।

गॉडविन तथा व्यक्तिवादी अराजकतावादी शान्तिपूर्ण साधनों में विश्वास करते हैं। वारेन, स्टर्नर आदि विकावादी थे। डेविड थोरो ने शान्तिपूर्ण किन्तु सक्रिय अवज्ञा आन्दोलन जैसे साधनों का सुझाव दिया जिसके द्वारा अमरीकी सरकार को दास प्रथा उन्मूलन के लिये बाध्य किया जा सके। गॉडविन का क्रान्ति में कोई विश्वास नहीं था। फ्रान्स की क्रान्ति के सन्दर्भ मे अराजकतावादी साधनों की व्याख्या करते हुए गॉडविन ने कहा था :—

> "मैंने भीड़ शासन, हिंसा तथा वह आवेग जिससे मनुष्य अनेकों में एकत्रित हो जाते हैं, की पल भर के लिये भी निन्दा करना बन्द नहीं किया। मैं इस प्रकार के राजनीतिक परिवर्तन चाहता हूँ जो समझदारी तथा हृदय की उदार भावनाओं से विकसित हो।"[20]

इस प्रकार गॉडविन तथा टॉलस्टॉय जैसे अराजकतावादी बल पद्धति के विरुद्ध हैं। उनके मतानुसार अच्छे साध्यों की प्राप्ति अच्छे साधनों के माध्यम से ही होनी चाहिये।

बाकुनिन तथा क्रोपॉटकिन क्रान्तिकारी साधनों के समर्थक हैं। बाकुनिन कार्य में सत्य का प्रतिबिम्ब देखते हैं। विश्व निरन्तर परिवर्तनशील होता रहता है। इसलिये कार्य द्वारा परिवर्तन प्राकृतिक है। इसी प्रकार क्रोपॉटकिन का विचार था कि अराजकतावादी-साम्यवाद की स्थापना सिर्फ क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है। ये समझते थे कि राज्य पूंजीवादी व्यवस्था, व्यक्तिगत सम्पत्ति, धर्म आदि संस्थाओं की समाज में इतनी गहरी एवं मजबूत जड़ें हैं, कि बिना क्रांति के इन्हे समाप्त करना सम्भव नहीं है। क्रोपॉटकिन ने तो रूस की क्रान्ति (1917)

---

20 "I never for a moment ceased to disapprove of mob government *and violence, and the impulses which men collected together in* multitudes produce on each other. I desired such political changes only as should flow purely from the clear light of the and the erect and generous feeling of the heart."
Brown, Ford K., Life of William Godwin, London, 1926, p. 35

का भी समर्थन किया हालांकि उन्हें बाद में इसका पछतावा करना पड़ा। क्रान्ति तथा साम्यवाद के समर्थक होने के कारण उन्हें अराजकतावादी-साम्यवादी कहा जाता है।

इसके अलावा रूस के कारण शून्यवादी स्पेन के अराजकता-सिन्डीकलवादी तथा अन्य अराजकवादी तोड़-फोड़, हड़तालें, विरोधियों का बध करना तथा आतंक फैलाना आदि साधनों में भी विश्वास करते हैं।

अराजकतावाद और मार्क्सवाद-साम्यवाद

अराजकतावाद और मार्क्सवाद-साम्यवाद का जब हम अध्ययन करते हैं तो इन दोनो में सामान्यत: बहुत कुछ बातें समान प्रतीत होती हैं। ये दोनों विचारधाराएं एक दूसरे से प्रतिबिम्बित होते हुए प्रतीत होती हैं। वास्तव में कुछ अराजकतावादी विचारकों ने कार्ल मार्क्स के विचारों को प्रभावित किया और बाद के अराजकतावादी मार्क्सवादी-साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हुए। किल्जर एवं रौस ने अराजकतावाद को मार्क्सवादी विचारधारा का ही विस्तार माना है।[21] जोड़ के भी विचार लगभग ऐसे ही हैं।

अराजकतावाद तथा मार्क्सवाद एवं साम्यवाद के सम्बन्धो और संघर्ष का इतिहास भी बड़ा रोचक है जो इनकी समानता एवं भिन्नता को व्यक्त करता है। इससे यह भी स्पष्ट होता कि अराजकतावादियों का विचार संघर्ष मार्क्स से प्रारम्भ होकर लगभग स्टालिन तक चलता रहा।

प्रोधों तथा मार्क्स

मार्क्स और प्रोधों का मिलन 1844 में पेरिस में हुआ। ये दोनों एक दूसरे के सम्पर्क में आये तथा दोनों एक दूसरे के विचारों से प्रभावित हुए। मार्क्स ने अपनी पुस्तक, Holy Family–जो 1845 में प्रकाशित हुई, में प्रोधों के सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों की सराहना की तथा उन्हें वैज्ञानिक विवेचन और राजनीतिक अर्थ व्यवस्था को सर्वप्रथम क्रान्तिकारी ढंग से प्रस्तुत करने वाला बतलाया। मार्क्स ने प्रोधों से अपने अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन को सामूहिक रूप से संचालन करने के लिये भी आग्रह किया। किन्तु प्रोधों मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों से सहमत नहीं था इसलिये इन दोनों में मतभेद प्रारम्भ हुए।[22]

---

21. "A further development of Marxist Ideology is anarchism." Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 276.
22. Bose, A., History of Anarchism, p. 141—42.

1846 में प्रोधों की पुस्तक—Philosophy of Poverty—प्रकाशित हुई तथा इसके प्रत्युत्तर में मार्क्स ने-Poverty of Philosophy-लिखी । इसने एक विचार-संघर्ष का रूप धारण कर लिया । मार्क्स ने प्रोधों की तीव्र आलोचना की तथा उसे एक छोटा-मोटा पूंजीपति बतलाया जो श्रमिकों को भुलावे में रखना चाहता था। साम्यवादी घोषणा पत्र (The Manifesto of the Communist Party) में भी मार्क्स-ऐन्जिल्स ने प्रोधों पर प्रहार किया तथा उसे क्रान्ति से घबड़ाने वाला मध्यवर्गीय, अनुदार समाजवादी (Conservative or Bourgeois Socialist) कहा ।[23]

प्रोधों ने अपनी आलोचना का सिर्फ यही उत्तर दिया कि "मार्क्स को यही दुख: है कि प्रत्येक जगह मेरे और मार्क्स के विचार मेल खाते हैं किन्तु मैंने उन्हें मार्क्स से पहिले व्यक्त कर दिया है । सत्य यह है कि मार्क्स ईर्षालु है ।"[24]

मार्क्स तथा प्रोधों के इस विचार-संघर्ष के विषय मे वास्तविकता यह है कि दोनों ही हीगल के द्वन्दवाद मे प्रभावित हुए हैं, दोनों ही पूंजीवाद को शक्तिहीन स्वीकार करते है । मार्क्स ने प्रोधो के उन विचारों को ग्रहण किया है जिनकी उसने आलोचना की है । किन्तु प्रोधों क्रान्ति साधन में विश्वास नहीं करता था। यहीं मार्क्स तथा अराजकतावादी विचारों में एकता होते हुए भी विचार भिन्नता है ।

मार्क्स तथा बाकुनिन

1843 से बाकुनिन ने अपने निर्वासित जीवन के लगभग चार वर्ष फ्रांस में बिताये । यहाँ वह प्रोधों तथा मार्क्स के सम्पर्क में आया और दोनो के विचारों से प्रभावित हुआ । मार्क्स तथा प्रोधों के विचार मतभेदों का उन तक ही अन्त नहीं हो गया । प्रोधो का स्थान बाकुनिन ने लिया । मार्क्स तथा बाकुनिन का विचार संघर्ष लगभग पच्चीस वर्ष चला ।[25]

प्रारम्भ में तो बाकुनिन मार्क्स का प्रशंसक था तथा मार्क्स को सच्चा समाजवादी एवं अग्रणीय अर्थशास्त्री बतलाया । यही नही बाकुनिन ने साम्यवादी

---

23. The Communist Manifesto, pp. 87—88.
24. 'The real sense of Marx is that he regrets everywhere that my thought agrees with his and that I have expressed it before him... The truth is that Marx is jealous"
    Quoted by Bose, A., History of Anarchism, p. 144
25. Ibid., pp. 206—14.

घोषणा पत्र का रूसी अनुवाद भी किया। इन दोनों के विचार प्रारम्भ में मिलते जुलते ही थे। जैसे दोनों ही :

(i) क्रान्तिकारियों की तरह पूर्ण आशावादी थे;
(ii) हीगल के द्वन्दवाद में श्रद्धा रखते थे;
(iii) तत्कालीन सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के आलोचक थे; तथा
(iv) प्रतिनिधि शासन में विश्वास नहीं रखते थे।

किन्तु धीरे-धीरे बाकुनिन का मार्क्स के प्रति दृष्टिकोण घृणात्मक होता चला गया। उनके मतभेद व्यक्तिगत तथा सैद्धान्तिक दोनों रूप में स्पष्ट रूप से उभर आये। बाकुनिन मार्क्स (साथ में एन्जिल्स को भी) को एक जर्मन, एक यहूदी तथा एक साम्यवादी के रूप मे घृणा करने लगा, जबकि मार्क्स ने बाकुनिन को रूस का गुप्तचर कहकर प्रत्युत्तर दिया।

मार्क्स तथा बाकुनिन के सैद्धान्तिक मतभेद बड़े व्यापक थे। ये मतभेद मूलतः निम्नलिखित थे:—

(i) साम्यवादी व्यवस्था स्वतंत्रता की विरोधी है। बाकुनिन मानव की बिना स्वतंत्रता के कल्पना ही नहीं कर सकता।
(ii) साम्यवादी जो कुछ भी करते हैं अन्ततः इससे राज्य की शक्ति में ही वृद्धि होती है। बाकुनिन न केवल राज्य किन्तु सत्ता के सभी निशानों को समाप्त करना चाहते थे।
(iii) साम्यवादी समाज को ऊपर की ओर से व्यवस्थित करना चाहते हैं जबकि बाकुनिन ऐसे समाज की स्थापना चाहते थे जिसका संगठन स्वतंत्रता पूर्वक नीचे से ऊपर की ओर हो। इस प्रक्रिया में सत्ता तथा शक्ति का कोई योगदान न हो।
(iv) मार्क्स का सर्वहारा वर्ग में असीम विश्वास था। बाकुनिन ने मार्क्स की आलोचना की, कि उसने कृपक वर्ग की पूर्ण अवहेलना की है।
(v) मार्क्सवाद में सर्वहारा अधिनायकत्व को संक्रमण काल के लिये स्वीकार किया जाता है। बाकुनिन इस अधिनायकवाद के विरोधी हैं।[26]

बाकुनिन ने मार्क्सवाद-साम्यवाद से अपने मतभेदों को शान्ति एवं स्वतंत्रता लीग के अधिवेशन (1868) में व्यक्त किया।

---

26 Carr, E. H, Michael Bakunin, London, 1937, p. 341.

क्रोपॉटकिन (Peter Kropotkin) ने मार्क्स तथा बाकुनिन के मतभेदों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "यह वास्तव में संघात्मक तथा केन्द्रीयकरण सिद्धान्तों, स्वतन्त्र कम्यून तथा राज्य का शासन" के मध्य था।[27] कार्ल मार्क्स तथा बाकुनिन के मतभेदों का मूल्याकन किया जाय तो एक बात बिल्कुल स्पष्ट होती है कि इन दोनों मे उतने सैद्धान्तिक मतभेद नही थे जितने कि उन सिद्धान्तों को व्यवहारिक रूप देने मे। बाकुनिक की अपेक्षा मार्क्सवाद व्यवहार मे अधिक सत्ताधारी, अधिनायकवादी, स्वतन्त्रता विरोधी तथा राज्य का प्रबल समर्थक सिद्ध होगा।

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय (First International)

मार्क्सवाद तथा अराजकतावाद के संघर्ष की चरम सीमा

अपने विचारों को व्यवहारिक रूप देने के लिए मार्क्स के प्रयत्नों से 1864 मे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर परिषद की स्थापना हुई। यह श्रमिक आन्दोलन एवं विचार विनिमय का प्रमुख फोरम था। बाद मे इस परिषद का नाम 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ' (First International) रख दिया गया।

1868 मे बाकुनिन ने अपने एक सगठन 'शान्ति एवं स्वतन्त्रता लीग' (League of Peace and Freedom) को भंग कर दिया तथा इसके स्थान पर 'सामाजिक लोकतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय संघ' (International Alliance of Social Democracy) की स्थापना की।

अगले वर्ष बाकुनिन मार्क्स के नेतृत्व में गठित 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' में सम्मिलित हुआ। बाकुनिन का उद्देश्य 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' का अपने नेतृत्व के अन्तर्गत लेना था। परिणामस्वरूप मार्क्सवादियों तथा अराजकतावादियों में इस संगठन के नेतृत्व का संघर्ष प्रारम्भ हुआ। बाकुनिन तथा मार्क्स मे सैद्धान्तिक मतभेद तो थे ही। 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' में बाकुनिन ने मार्क्स तथा उसके समर्थको की कड़ी निंदा की। बाकुनिन के अनुसार मार्क्स 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' को एक दानव राज्य मे परिवर्तित करना चाहते थे, जिसमे एक ही विचारधारा एक ही सत्ता हो। मार्क्स इस संगठन के माध्यम से एक जर्मन राज्य (Pan German State) की स्थापना का स्वप्न देख रहे थे।[28]

'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' में मार्क्स के समर्थक अधिक संख्या में थे, वे बाकुनिन एवं अराजकतावादियों के विचारों से बिलकुल सहमत नहीं थे। इसलिए

27. Bose. A., A History of Anarchism, p. 209.
28 Kenafick, Marxism, Freedam and the State, p. 45.

1872 में 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' के हेग अधिवेशन (Hague Congress) में बाकुनिन तथा उसके अनुयायियों को निकाल दिया गया। यहाँ मार्क्सवादी तथा अराजकतावादियों का पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद हो गया।

पीटर क्रोपाटकिन (Peter Alexander Kropotkin) ने अराजकतावाद को वर्ग-संगत तथा वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में अराजकतावाद और साम्यवाद में अन्तर कम होता चला गया। कहीं-कहीं तो यह कहना असम्भव हो गया कि क्रोपॉटकिन अराजकतावादी है या साम्यवादी। इसलिए वह अराजकतावादी-साम्यवादी कहलाता है। ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopaedia Britannica) में अराजकतावाद के विषय में दिए गए एक लेख में क्रोपॉटकिन ने लिखा है:—

> "आंशिक रूप में साम्यवाद की स्थापना अधिक सम्भव है विशेषतः जिस प्रकार कम्यून प्रगति कर रहे हैं, स्वतन्त्र या अराजकतावादी-साम्यवाद ही वह साम्यवादी व्यवस्था है जिसे सभ्य समाज द्वारा स्वीकार किये जाने की अधिक सम्भावना है; इसलिए साम्यवाद एवं अराजकता विकास के दो पहलू हैं जो एक दूसरे को पूर्ण करते हैं तथा एक दूसरे को सम्भव और स्वीकार योग्य बनाते हैं।"[29]

यहाँ क्रोपॉटकिन के विचारों को व्यक्त करने का यही उद्देश्य है कि अराजकतावाद तथा मार्क्सवाद एवं साम्यवाद कहाँ तक एक दूसरे से सम्बन्धित हो गये। किन्तु इतना सब होते हुए भी इन दोनों विचारधाराओं का पूर्ण संगम नहीं हो पाया।

जोड (C.E.M. Joad) के विचार

जोड के अनुसार अराजकतावाद और साम्यवाद में राज्य के कार्यों के प्रश्न पर मतभेद होते हुए भी ये दोनों विचारधाराएँ एक ही वस्तु के दो पक्षों को प्रस्तुत करती हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपनी पुस्तक–Introduction to Modern Political Theory–के पांचवे अध्याय में साम्यवाद और अराजकतावाद का साथ-साथ विवेचन किया है। इन दोनों में बहुत कुछ बातें समान हैं तथा इनके प्रमुख सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं। साम्यवाद एक ही विचारधारा की 'पद्धति का दर्शन' तथा अराजकतावाद उसके बाद 'आदर्श समाज का उद्देश्य' है। एक साधन तथा दूसरा साध्य के रूप में महत्वपूर्ण है। जोड के ही शब्दों में–

---

29. Quoted by Bose, A, A History of Anarchism, p. 262

प्रारम्भिक मतभेदों के होने पर भी आधुनिक घटना-क्रम के विकास ने इन दो विचारधाराओं को घनिष्ट रूप से सम्बन्धित कर दिया है। रूसी बोल्शेविकों (Bolsheviks) के प्रभाव के कारण साम्यवाद विशिष्टतः पद्धति का दर्शन बन गया अर्थात्, यह उस कार्यक्रम का सिद्धान्त है जिसके अनुसार पूंजीवाद से समाजवाद की ओर परिवर्तन होगा। अराजकतावाद उन सिद्धान्तों की घोषणा करता है, जो इस परिवर्तन के उपरान्त समाज में लागू होंगे"।[30]

जोड ने आगे लिखा है;

अराजकतावादियों का सम्बन्ध केवल एक आदर्श समाज जिसकी वे स्थापना कराना चाहते हैं और एक जीवन मार्ग से है। परन्तु साम्यवादियों की मुख्य समस्या यह है कि इस आदर्श समाज की स्थापना किस प्रकार की जाय तथा जीवन का यह आदर्श ढंग किस प्रकार हरेक के लिये सम्भव बना दिया जाय। अर्थात्, साम्यवादी साधनों पर विचार करते हैं तथा अराजकतावादी साध्यों पर। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अब अधिकांश साम्यवादी समाज के अराजकतावादी आदर्श को स्वीकार करते हैं और अनेक अराजकतावादी यह मानने को प्रस्तुत होंगे कि इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था केवल साम्यवादी कार्यक्रम द्वारा ही सम्भव है।"[31]

उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि ये दोनों विचारधाराऐं सैद्धान्तिक दृष्टि से बहुत कुछ समानान्तर चलती हैं फिर भी दोनों में ताल-मेल स्थापित नहीं हो सका है। ये अभी तक अपना अलग अस्तित्व बनाए हुए हैं। वैसे अराजकतावाद तो अब मृत प्रायः ही है। अराजकतावाद तथा मार्क्सवाद (तथा साम्यवाद भी) में जो समानताएँ तथा भिन्नताऐ हैं उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

अराजकतावाद तथा मार्क्सवाद में समानताएँ

(i) दोनों ही उस समय प्रचलित सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक दोषों की निन्दा करते हैं।

(ii) दोनों ही पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारित शोषण का विरोध करते हैं।

---

30. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका पृ. 60-91.

31. उपरोक्त, पृ. 91

(iii) दोनों विचारधाराएँ व्यक्तिगत सम्पत्ति की कटु आलोचक हैं।

(iv) अराजकतावाद तथा साम्यवाद-मार्क्सवाद दोनों का एक ही उद्देश्य है—वर्गहीन तथा राज्य विहीन समाज की स्थापना करना।

अराजकतावाद तथा मार्क्सवाद-साम्यवाद में अन्तर

इन विचारधाराओं में यह समानता वास्तव में सिर्फ बाह्य ही है। इनके मध्य तात्विक, आन्तरिक तथा सिद्धान्तों को व्यवहार में परिवर्तित करने के परिणामों में इतने मतभेद हैं कि इनके मध्य की खाई को भरना सम्भव नहीं हो सका है।

मानव स्वभाव

मानव स्वभाव, न्याय तथा नैतिकता के विषय में दोनों विचारधाराओं का विवेचन भिन्न है। साम्यवादियों के अनुसार न्याय और नैतिकता के कोई नियम या सिद्धान्त नहीं होते वे देश एवं काल के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। मानव स्वभाव में स्थायित्व जैसी कोई बात नहीं होती उसमें वातावरण के अनुसार गुणात्मक परिवर्तन होता रहता है।

इसके विपरीत अराजकतावादी मानव स्वभाव के कुछ स्थाई तत्वों जैसे सहयोग, सहानुभूति तथा न्याय की भावना आदि में पूर्ण आस्था रखते हैं। उनके अनुसार ये तत्व मनुष्य के स्वभाव में ही निहित हैं तथा समाज के विकास की कुंजी हैं। अराजकतावादियों की विचारधारा मूलतः मनुष्य के उत्तम स्वभाव पर निर्भर करती है।

समाज एवं व्यक्ति

साम्यवाद का आधार समाज है। वे व्यक्ति की अपेक्षा समाज को प्राथमिकता देते हैं। अराजकतावाद का आधार व्यक्ति है। उनकी व्यवस्था में व्यक्ति खो नहीं जाता। वे जो भी सामाजिक व्यवस्था चाहते हैं उसका उद्देश्य व्यवस्था के साथ व्यक्ति का उत्थान है।

अधिनायकवाद बनाम स्वतन्त्रता

मार्क्सवाद-साम्यवाद अधिनायकवाद में विश्वास करता है। किन्तु अधिनायकवाद, शक्ति तथा सत्ता का विरोध अराजकतावादियों का मूल मन्त्र है। वे व्यक्ति स्वतंत्रता को ऊंचा स्थान देते हैं और इस बात पर निर्भर रहते हैं कि

वह सदा और सर्वत्र प्रभावकारी हो सकेगी। उनका विश्वास है कि एक समाजवादी समाज को उस समय तक प्रगति की ओर कदम नहीं समझा जा सकता जब तक कि उसके आधार के रूप में बल-प्रयोग के स्थान पर स्वतन्त्रता प्रतिष्ठित न हो जाय।[32]

मानववाद

अराजकतावादियों का दृष्टिकोण मानवतावादी है। वे जो कुछ प्राप्त करना चाहते हैं उसकी अपील मानव मात्र के लिये है। वे सभी को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये आव्हान करते हैं। साम्यवाद सर्वहारा का दर्शन है। साम्यवाद का मानवतावादी दृष्टिकोण सिर्फ सर्वहारा वर्ग तक ही सीमित है।

उद्योग

साम्यवादी आर्थिक प्रगति के लिये विशाल उद्योगों में विश्वास करते है। लेनिन के अनुसार साम्यवाद का अर्थ 'लोहा तथा बिजली' ही था। इस समय साम्यवादी राज्यों की प्रगति भारी उद्योगों पर ही आधारित है। किन्तु अराजकतावादी बड़े उद्योगों के विरोधी हैं। वे लघु उद्योगों का समर्थन करते हैं।

सत्ता

साम्यवादी समस्त सत्ता के केन्द्रीयकरण में विश्वास रखते हैं। प्रत्येक कार्य राज्य द्वारा होना चाहिये। इसके विपरीत अराजकतावादी सत्ता के पूर्ण विकेन्द्रीकरण का समर्थन करते हैं।

द्वन्दात्मक भौतिकवाद

मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक विवेचना का मूल स्तम्भ द्वन्दात्मक भौतिकवाद है जो उनके भौतिकवादी दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। परन्तु अराजकतावादी इस प्रकार के द्वन्दात्मक भौतिकवाद मे विश्वास नही करते; वे इसे तार्किक शीर्षासन की संज्ञा देते हैं।

साधन

मार्क्सवादी-साम्यवादी क्रान्ति में विश्वास करते हैं, वे हिंसा, दमन आदि के प्रयोग के बिना पूंजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन न हो सकने की बात कहते हैं। शक्ति प्रयोग सत्ता हथियाने के लिए आवश्यक है। हालांकि अराजकतावादियों मे अपने साध्यों की प्राप्ति के विषय मे मतभेद हैं, लेकिन प्रत्येक अराजकतावादी

---

32. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 234.

व्यक्तिवादी अथवा साम्यवादी दोनों ही या तो शांतिपूर्ण साधनों में बिलकुल ही विश्वास नहीं करते या शक्ति प्रयोग को स्थाई साधन नहीं मानते। अराजकतावादियों के विचार में "हिंसा केवल रक्षा के लिए, सत्ता के संगठित विरोध के लिए एक उचित हथियार है; यह सहयोग का साधन नहीं है और न यह एक सच्ची समाजवादी व्यवस्था में कार्य करने का साधन ही है। जब हिंसा को एक संस्था का रूप दे दिया जाता है, तो यह किसी के लिए भी स्वतन्त्रता प्राप्ति का साधन नहीं रह जाता।"[33]

प्रारम्भ में क्रोपॉटकिन तथा अन्य अराजकतावादी 1917 में रूसी क्रान्ति को समर्थन देते हुए प्रतीत होते हैं। उनकी धारणा थी कि इसके बाद राज्य विहीन, वर्गविहीन समाज की स्थापना सम्भव हो सकेगी। लेकिन क्रान्ति के बाद रूस की दशा देखकर अराजकतावादियों का भ्रम दूर हो गया। लेनिन को लिखे गये एक पत्र में[34] क्रोपॉटकिन ने रूस में हिंसा, दमन-चक्र की कटु निन्दा की। उन्हें रूस में केन्द्रीयकरण, दोषान्वेषण और सर्वत्र आतंक ही नजर आया। इस प्रकार क्रान्तिकारी अराजकतावादी भी हिंसात्मक साधनों से विमुख हो गये। उनका विश्वास था कि स्वतन्त्र समाज की स्थापना इस प्रकार नहीं हो सकती। प्रसिद्ध अराजकतावादी एमा गोल्डमैन (Emma Goldman) के अनुसार कोई भी क्रान्ति मुक्ति के साधन के रूप में उस समय तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि उसकी प्राप्ति के साधन, भावना तथा प्रवृत्ति उन उद्देश्यों के समान न हों जिन्हें प्राप्त करना है।[35]

वर्ग-उन्मूलन

अराजकतावादी तथा मार्क्सवादी जिस प्रकार वर्गों का उन्मूलन करना चाहिये, उनमें एक दूसरे के बिलकुल विपरीत हैं या, जिस प्रकार से वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं उस सम्बन्ध में इन दोनों के विचारों में आकाश पाताल का अन्तर है। कोकर के अनुसार.—

> "समाजवादी लोग, विशेष रूप से रूसी साम्यवादी केवल वर्गीय अधिनायकत्व में परिवर्तन चाहते हैं, वे विरोधी वर्गों की स्थिति को इस प्रकार उलट देना चाहते हैं कि कल का सेवक वर्ग आज का शासक बन जाय, और उन्हें विश्वास है कि इस प्रकार भविष्य में एक वर्ग-

33. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 234-35.
34 Quoted by Bose, A., A History of Anarchism, p 285-96.
35. Coldman, Emma, My Further Disillusionment in Russia, 1924, p. 175.

विहीन-समाज की स्थापना हो जायगी। दूसरी ओर, अराजकतावादी लोग सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्तो को एकदम उलट देना चाहते हैं, जिससे समाज में दमन के स्थान पर पारस्परिक सहयोग की स्थापना हो सके।,,[36]

इस प्रकार साम्यवादी वर्ग-संघर्ष के द्वारा तथा अराजकतावादी सहयोग, सहनशीलता के आधार पर अन्तिम लक्ष्यो की उपलब्धि करना चाहते हैं।

सर्वहारा अधिनायकत्व

अराजकतावादियों तथा रूस के समाजवादियों का लक्ष्य एक ही है अर्थात् वर्ग-विहीन तथा राज्य-विहीन समाज की स्थापना। किन्तु उनके मार्ग बिलकुल अलग-अलग हैं। रूसी समाजवादी यह मानते हैं कि क्रान्ति के बाद स्थापित सर्वहारा अधिनायकत्व में लम्बे मार्ग को नहीं त्यागा जा सकता। दूसरी ओर अराजकतावादी कहते हैं कि दमन तथा नियन्त्रण द्वारा स्वतन्त्र और ऐच्छिक सहयोग के सिद्धान्त पर आधारित समाज की स्थापना नहीं हो सकती। लेनिन के ही शब्दों में—

> "हमारा अराजकतावादियों से अन्तिम लक्ष्य के रूप में राज्य के विनाश के प्रश्न पर मतभेद नहीं" किन्तु मार्क्सवाद अराजकतावाद स इस बात मे भिन्न है कि वह सामान्यतया क्रान्ति-काल में तथा विशेषतः पूंजीवाद से समाजवाद की ओर अग्रसर होने के संक्रमणकाल मे राज्य तथा राज्य की शक्ति की आवश्यकता मानता है।"[37]

किन्तु अराजकतावादी इस बात को स्वीकार नहीं करते कि दीर्घकालीन दमनकारी पूंजीवादी शासन का अन्त सर्वहारा अधिनायकत्व के दीर्घ-कालीन दमनकारी शासन से हो सकेगा। उनके अनुसार संक्रमण-कालीन समाज व्यवस्था और उसके स्थान पर स्थापित की जाने वाली स्थाई समाज व्यवस्था में साम्य होना चाहिए।

अन्त में, राज्य की समाप्ति के बाद समाज की सारी व्यवस्था क्या होगी इस सम्बन्ध में अराजकतावादी हमारे सामने एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते हैं। किन्तु साम्यवादियों ने इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया।

---

36. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 224.
37. Lenin, State and Revolution, 1917, p. 63.

अराजकतावाद का विमोचन

पूर्ण अध्ययन का अभाव

अराजकतावाद की यह प्रारम्भिक आलोचना की जाती है कि यह विचारधारा पूर्ण अध्ययन नही है। इस विचारधारा का कोई इतिहासकार भी नही है। पौल एल्ट्जबेशर (Paul Eltzbacher) ने अपनी पुस्तक 'डेर एनेरकिसमस' (Der Anarchismus)[38] में प्रमुख अराजकतावादियों का निष्पक्ष विमोचन किया है, किन्तु यह भी अराजक्तावाद का एकरूप न होकर बिखरा हुआ सा अध्ययन प्रतीत होता है। अराजक्तावाद का यह दुर्भाग्य है कि इसका कोई सम्पूर्ण अध्ययन विवेचन नहीं हो पाया है। लेकिन इसके विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या और कटु-आलोचना अलग-अलग दृष्टिकोणो से इतनी अधिक हुई है कि इस विचारधारा में केवल बुराइयां ही बुराइयाँ नज़र आती हैं।

स्पष्टता का अभाव

प्रो. जोड के अनुसार अराजकतावादी विचारधारा आवश्यक रूप से अस्पष्ट है, क्योकि इसकी रूपरेखा सरल होते हुए भी यह केवल एक रूपरेखा के रूप में ही अपना अस्तित्व रखती है। इस विचारधारा में राज्य, पूंजीवाद, व्यक्तिगत सम्पत्ति, धर्म आदि का विभिन्न समर्थकों ने व्यापक विवरण दिया है। लेकिन यह केवल नकारात्मक एवं उन्मूलन व्यवस्था तक ही सीमित है। अराजकतावादियों ने सामाजिक संगठन का रूप, स्वरूप तथा इसकी प्राप्ति के क्रान्ति साधनो के विषय में या तो कुछ नही कहा या कोई विस्तार पूर्वक व्याख्या नही की है। इस प्रकार यह विचारधारा स्पष्ट ढंग से व्यक्त नही हो पायी है। अराजकतावादी अपनी आकर्षक रूप-रेखा को विस्तृत नहीं करते हैं अथवा ऐसा करने में असमर्थ हैं।[39]

स्वतंत्र एवं मौलिक विचारधारा की संदिग्धता

अराजकतावाद का अध्ययन करने के बाद यह विश्वास नहीं होता कि यह एक स्वतन्त्र और मौलिक विचारधारा भी है या नहीं। सामान्यतः अराजकतावादी विचारधारा, साम्यवाद, सिन्डीकलवाद, बहुलवाद और व्यक्तिवाद का सम्मिश्रण सा प्रतीत होता है। अतः इसे एक अलग और स्वतन्त्र

38 Poul Eltzbacher, Der Anarchismus, English translation by S. T Byington, New York, 1900.

39. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 113.

विचारधारा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, और यदि इसे विचार-धारा के रूप में स्वीकार भी किया जाता है तो साम्यवादी विचारधारा के वैज्ञानिक विवेचन और व्यापक प्रभाव ने इसे महत्वहीन कर दिया है। अराजकतावाद कुछ क्षेत्रों को छोड़ कर, साम्यवाद की पुनरावृति सा प्रतीत होता है।

मनुष्य स्वभाव का विश्लेषण

अराजकतावादियों ने मनुष्य स्वभाव की जो मनोवैज्ञानिक विवेचना की है वह अधूरी और एकपक्षीय है। वे मानव स्वभाव की नैतिकता, सद्भाव, सहकारिता के प्रति अत्यन्त ही आशावादी हैं। उनके अनुसार मनुष्य स्वभावतः अच्छा होता है। मनुष्य में अपने ऊपर स्वयं ही सीमाएँ एवं मर्यादायें निर्धारित करने की क्षमता होती है। मनुष्य स्वभाव के विषय में यही आशावादिता उनके राज्य विहीन, सत्ता विहीन समाज का आधार है। लेकिन यदि मनुष्य में नि:स्वार्थ सहयोग की प्रवृति है तो दूसरी ओर वह स्वार्थ भावना से भी प्रेरित होता है। अन्तर सिर्फ यही है कि स्वार्थ प्रवृति किसी व्यक्ति में कम है या किसी में अधिक, लेकिन यह मनोवृत्ति का एक प्रमुख तत्व है। इस प्रकार अराजकतावादियों की सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार न तो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों और न व्यवहारिक दृष्टि से सही कहा जा सकता है।

काल्पनिक सामाजिक व्यवस्था

अराजकतावादी समाज की स्थापना असम्भव एवं अव्यवहारिक दोनों ही है। अराजकतावादी व्यवस्था की स्थापना कैसे होगी यह केवल काल्पनिक है क्योंकि इस दिशा में अभी तक न तो कोई सक्रिय कदम उठाया गया है और न ही इतिहास में इसका कोई उदाहरण मिलता है।

अराजकतावादी विचारकों ने जिस समाज रचना के संबंध में विचार व्यक्त किये हैं वे राज्य के स्थान पर साधारण विकल्प भी सिद्ध नहीं हो सकते। विभिन्न सामाजिक संगठनों की सफलता के विषय में आलोचक आशावादी नहीं हैं।

राज्य और सरकार का विरोध

अराजकतावादी राज्य को एक बुराई मान कर उन्मूलन करना चाहते हैं। उनके ये विचार ऐतिहासिक न होकर काल्पनिक अधिक हैं। प्रत्येक युग में राज्य या शासन व्यवस्था किसी न किसी रूप में अवश्य ही विद्यमान रही है। राज्य या सब प्रकार की शासन व्यवस्थाएं न तो शोषण का साधन हैं और न

बल-प्रयोग करने वाली संस्थाऐं हैं। आज के सभी कल्याणकारी राज्य जन-हित की भावना से प्रेरित होते हैं।

सम्पत्ति

अराजकतावादियो द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति का पूर्ण रूप से उन्मूलन किसी भी आधार पर उचित नही ठहराया जा सकता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति मनुष्य की मूल स्वाभाविक प्रवृति का परिणाम एवं फल है। यह व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक है। जब मानव है तो परिवार है, जब परिवार है तो सम्पति को उससे अलग नही किया जा सकता। इस प्रकार अराजकतावादियो के सम्पत्ति सम्बन्धी विचार व्यवहारिक दृष्टि या अन्य दृष्टिकोण से पूर्णतः सही नहीं है।

हिंसात्मक साधन :
सत्ता का सत्ता द्वारा उन्मूलन

कुछ अराजकतावादी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये क्रान्ति एवं हिंसात्मक साधनों का समर्थन करते हैं। उनके यह विचार न तो उचित हैं और न तार्किक ही, क्योंकि—

प्रथम, अराजकतावादी अच्छे उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये क्रान्ति का समर्थन करते हैं।

दूसरे, ये सत्ता का उन्मूलन शक्ति-सत्ता के द्वारा करना चाहते हैं और यदि सत्ता द्वारा सत्ता का विरोध-क्रम चलता गया तो वह स्थिति कभी नही आयेगी जब स्वेच्छापूर्वक सामाजिक समूहो की स्थापना होगी। यह तो निर्विवाद सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये कि क्रान्ति या हिंसा के द्वारा परिवर्तन या तो क्षणिक होते हैं या हिंसा के द्वारा प्राप्त की गई व्यवस्था शक्ति द्वारा ही स्थिर रखी जा सकती है। इस परिस्थिति मे मनुष्य की सद्भावना एवं सहयोग प्रभावहीन हो जाता है या उसे पृष्ठभूमि की ओर धकेल दिया जाता है।

सत्ता-विरोध का औचित्य

स्वतन्त्रता और सत्ता-विरोध अराजकतावादियो के मूल मंत्र हैं। इन्होंने स्वतन्त्रता और सत्ता को विरोधी परस्पर माना है। आजकल सभी व्यवहारिक

प्रजातांत्रिक विचारधाराएँ स्वतंत्रता और सत्ता को सीमित करके समुचित समन्वय के पक्ष में हैं। असीमित स्वतन्त्रता जब स्वच्छन्दता मे परिवर्तित होती है तो यह असीमित सत्ता से भी अधिक खतरनाक है। स्वतन्त्रता कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित न रह जाय, इसका सब समाज उपयोग करे, या स्वतन्त्रता का प्रयोग पूर्ण समाज हित में किया जाये, इसके लिये सत्ता का आंशिक एवं न्यायोचित प्रयोग अत्यन्त ही आवश्यक है। इस प्रकार अराजकतावादियों का सत्ता-विरोध उचित नही लगता।

अराजकतावादी विचारधारा में विरोधाभास-

अराजकतावादी विचारधारा की बहुत से तत्व परस्पर-विरोधी तथा तर्क-युक्त नहीं हैं। जेन्कर (E. N. Zenker) के शब्दों में :—

> "अराजकतावाद अभी तक की गयी मनुष्य-कल्पना की महानतम् भूलों मे से एक है क्योंकि जिन विचारों से यह प्रारम्भ होता है तथा जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं वह मनुष्य-स्वभाव और जीवन यथार्थता का पूर्ण विरोधाभास है।"[40]

यह विरोधाभास अराजकतावाद के कई पक्षो में व्यक्त होता है।

अराजकतावादीयों ने राज्य उन्मूलन के बाद ऐसे समाज की कल्पना की है जो कई स्थानीय समूहों में विभाजित होगा। ये स्थानीय समूह स्वेच्छा पर आधारित होंगे तथा इनका कार्य किसी न किसी प्रकार के जनतान्त्रिक प्रतिनिधि प्रणाली द्वारा ही किया जायेगा। इस प्रकार अराजकतावादियों ने जो आलोचना प्रतिनिधि शासन व्यवस्था के विषय में की है वह इन समूहों के विषय में भी लागू हो सकती है।

अराजतावादी एक ओर तो यह कहते हैं कि उनकी सामाजिक व्यवस्था मनुष्य के सहयोग एवं सद्भावना पर आधारित है लेकिन साम्यवादी अराजकतावादी उसी व्यक्ति को राज्य एवं अन्य संस्थाओ के उन्मूलन के लिये क्रान्ति एवं हिंसा के लिये कहते हैं, यह स्पष्टतः विरोधाभास व्यक्त करता है।

---

40. "Anarchism is certainly one of the greatest errors ever imagined by man, for it proceeds from assumptions and leads to conclusions which entirely contradict human nature and the facts of life."
Zenker, E. N., Der Anarchismus, quoted by Bose, A., A History of Anarchism. p. 395.

आलोचकों की यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि जिस समाज में शासन द्वारा किसी भी प्रकार का न्यूनतम नियंत्रण नहीं होगा तथा सामाजिक व्यवस्था को मनुष्य के स्वतंत्र विचार और सद्भावना पर छोड़ दिया जाय तो मनुष्यों मे किसी न किसी प्रकार का संघर्ष होना स्वाभाविक है क्योंकि मनुष्य में प्रकृति से कुछ स्वार्थी तत्व विद्यमान रहते हैं। इसका तात्पर्य यह होगा कि समाज में सबल जीवित रह सकता है। क्रोपाटकिन ने अपनी पुस्तक "Mutual Aid: Afactor of evoultion" में डारविन के सिद्धान्त "Survival of the fittest" की कटु आलोचना की है और उसने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि यह सिद्धान्त अराजकतावादी समाज मे लागू नहीं होगा। किन्तु यदि अराजकतावादी सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप दिया जाय तो उनके समाज मे भी सबल की स्वतन्त्रता ही कायम रह सकती है।

अराजकतावादियो ने धर्म की भी कटु आलोचना की है। वास्तव मे धर्म और मनुष्य की नैतिकता में बडा सम्बन्ध है। धर्म उन्मूलन का तात्पर्य नैतिकता के श्रोत का ही विनाश करना है। प्रजातन्त्र व्यवस्था तो नैतिकता पर ही निर्भर करती है। इस समय जो आवश्यकता है वह धर्म-उन्मूलन की नहीं, किन्तु धार्मिक अन्ध-विश्वास की समाप्ति तथा धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन की है।

कुछ अराजकतावादी चिन्तको के जीवन एवं विचारो मे भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ, विलियम गॉडविन ने विवाह को भी एक बन्धन माना है लेकिन उसने स्वयं ही तीन विवाह किये। प्रथम पत्नी की मृत्यु के बाद उसे विवाह एवं पारिवारिक महत्व का पता चला। इग्लैंड के प्रसिद्ध कवि शैली के ऊपर भी अपनी पुत्री मेरी (Mary) के साथ विवाह करने के लिये जोर डाला गया जिस विवाह व्यवस्था का गॉडविन ने अपने विचारों में विरोध किया है। यह विवाह तभी सम्भव हो सका जब शैली की पत्नी हैरियट (Harriet) ने आत्महत्या की। 41

गॉडविन ने राज्य की हमेशा ही आलोचना की है, लेकिन अपने जीवन के अंतिम वर्षों में जब वह निर्धन अवस्था मे जीवन व्यतीत कर रहा था, उस समय सरकार ने कुछ आर्थिक सहायता का प्रस्ताव रखा जिसे गॉडविन ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस प्रकार राज्य अथवा सरकार की कृपा पर ही उसे निर्भर रहना पड़ा। इसी प्रकार बाकुनिन ने यूरोप में सर्वत्र क्रान्ति का समर्थन ही नही किया, किन्तु व्यक्तिगत सहयोग भी दिया। उसने अपने क्रान्ति स्वतन्त्रता

1. Bose, A, A History of Anarchism, pp. 106–109. 24 Dpid, p. 109.

आदि सम्बन्धी विचारों से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में यूरोप के क्रान्तिकारियों को प्रभावित किया। लेकिन जब 1851 में रूस में उसे वन्दी बनाया गया तो जार निकोलस प्रथम से उसने बडी दयनीय स्वरो में क्षमा याचना की।[42]

अराजकतावादी विचारधारा की आलोचना का निष्कर्ष व्यक्त करते हुये एलग्जेन्डर ग्रे ने लिखा है:—

अराजकतावादी के साथ प्रमुख कठिनाई यह है कि वह बुद्धिमान है उसमें विवेक नहीं है। इस प्रकार अराजकतावाद की रचनात्मक व्याख्या सम्भवतः असम्भव है। यदि वे यह स्वीकार नहीं करते कि उन्होने अपना घोंसला आकाश मे बनाया है तो कोई भी शब्द उन्हे इस बात के लिए तैयार नही कर सकता कि वे अवास्तविक तथा अव्यवहारिक विश्व मे रह रहे हैं। अराजकतावादी बहुत ही बुद्धिमान तथा काल्पनिक शिशुओं की नस्ल हैं, जो अपनी बचकाना लेखनी के बाहर कुछ देख सकें, विश्वास नही किया जा सकता।"[43]

योगदान

अराजकतावाद का एक विचारधारा के रूप में आजकल कोई विशेष महत्व नहीं रहा है। ये अपने विचारों में अधिक उग्र हैं। इनकी व्यक्तिवादिता, समाजवादिता, कल्पनावादिता आदि सभी उग्र-पंथी है। लेकिन यदि इनके सिद्धान्तों में से उग्रता निकाल दें तो उनमें बहुत कुछ बाते महत्वपूर्ण एवं आधुनिक मिलती हैं। उनके विचारों में कम से कम निम्नलिखित बातो को किसी सीमा तक स्वीकार कर सकते हैं:—

प्रथम, ये अधिनायकत्व के विरोधी और मानव स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक हैं।

---

42. Letter of Confession to the Tzar, quoted by Bose, A, A History of Anarchism, pp. 109, 181.

43. "The fundamental trouble with the anarchist is that, though he may be highly inteligent, he has no sense It follows that a fruitful discussion of anarchism is almost an impossibility. If they do not realise that they have set their nest among the stars, no word of man will persuade them that their thought are moving in a world unreal and unrealisable Anarchists are a race of highly intelligent and imaginative children, who nevertheless can scarcely be trusted to look after themselves out side the nursery pen."
Gray, A, The Socialist Tradition p 380

द्वितीय, सभी समाजवादियों की तरह ये व्यक्तिगत सम्पत्ति का सामाजिक हित में प्रयोग करने के लिये इंगित करते हैं। वैयक्तिक सम्पत्ति के विषय में उनकी आलोचना में बहुत सत्यता है।

तृतीय, अराजकतावादियों का यह कथन भी सत्य है कि अधिक सम्पति-संचय या एकाधिकार आर्थिक विषमता तथा शोषण को जन्म देते हैं।

अन्त में, अराजकतावादी धार्मिक अन्ध-विश्वास की कटु निन्दा करते हैं। उनके धर्म सम्बन्धी विचारों को पूर्णतः स्वीकार करने में आपत्ति हो सकती है, किन्तु धर्म को विवेकपूर्ण आधार पर स्वीकार करने की बात तो स्वीकार की जाने योग्य है।

अराजकतावाद, लेन लंकास्टर के मतानुसार, अव्यवहारिक है लेकिन इसका यह तात्पर्य नही कि उनके द्वारा आधुनिक समाज में प्रचलित प्रवृत्तियों की आलोचना का कोई महत्व ही नहीं है। मूलतः यह शनैः शनैः बढ़ने वाली राजनीतिक सत्ता के केन्द्रीकरण तथा मशीनो-जीवन का विरोध है। यह संघ व्यवस्था, क्षेत्रीयता, छोटी-छोटी इकाइयों के पक्ष में है तथा सांस्कृतिक विविधता एवं स्वयं संचालित समुदायों का समर्थन करता है। यह सभी मूल्यों का माप-दण्ड निर्धारिण करने की प्रवृत्ति के विरुद्ध है, स्वतन्त्र व्यक्ति एवं स्वेच्छा पर आधारित समुदायो का समर्थन करता है, तथा स्वतन्त्रता तथा न्याय के उत्तम गुणों पर जोर देता है। यद्यपि वे कोई व्यवहारिक सामाजिक योजना प्रस्तुत नहीं करते किन्तु शक्ति, एकरूपता, और कुशलता पर आधारित आधुनिक समाज के विरुद्ध वे जो कुछ कहते हैं वह महत्वहीन नहीं है। 44

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Bose, Atindranath, A History of Anarchism
2. कोकर, फ्रान्सिस आधुनिक राजनीतिक चिन्तन अध्याय 7, अराजकतावादी
3. Cole, G.D.H., A History of Socialist Thought, Vol. II, Socialist Thought : Marxism and Anarchism.

44 Lancaster, L. W., Masters of Political Thought, vol. III, p. 263

4. Gray, A., The Socialist Tradition
Chapter XIII, The Anarchist Tradition,

5. Hunt, R.N. Carew, The Theory and Practice of Communism-An Introduction
Chapter XII, Anarchism

6. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका
अध्याय 5, साम्यवाद तथा अराजकतावाद

5

सिन्डीकलवाद

Syndicalism

अविवेकवाद की अभिव्यक्ति

फ्रांस समाजवादी विचारधाराओं का घर रह चुका है। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध में यहाँ एक और समाजवादी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिसे सिन्डीकलवाद या श्रम संघवाद (Syndicalism) कहते हैं। वैसे इसे एक विचारधारा की अपेक्षा श्रमिक आन्दोलन कहना अधिक उपयुक्त होगा।

सिन्डीकेलिज्म शब्द फ्रेंच शब्द सिन्डीकेट (Syndicat) से निकला है, जिसका अर्थ श्रमिक-संघ (Labour Union) है। इस शब्द को स्पष्ट करते हुए लॉरविन (L. Lorwin) ने लिखा है कि "सिन्डीकेट एक व्यवसाय या एक जैसे ही व्यवसायों के श्रमिकों का समुदाय है, जो समान हित से संगठित रहते हैं।[1] जब उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी में फ्रांस के श्रम-संघों के प्रमुख राष्ट्रीय संगठन उग्र-पन्थियों तथा नरम पन्थियों में विभक्त हो गये तब उन दोनों की विरोधी नीतियों के लिए 'क्रांतिवादी सिण्डीकेलिज्म (Revolutionary Syndicalism) तथा 'सुधारवादी सिन्डीकेलिज्म' (Reformist Sindicalism) शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। कालान्तर में श्रमिक संगठनों पर क्रांतिवादी सिन्डीकेलिस्टो का अधिकार हो गया। तभी से फ्रान्स में श्रमिक-संघ की नीति केवल 'सिन्डीकेलिज्म' (Syndicalism) के नाम से प्रसिद्ध हुई। दूसरे देशों में भी छोटे श्रम-संगठनों के ऐसे ही सिद्धान्तों के लिए भी इसी शब्द का प्रयोग होने लगा।[2]

सिन्डीकलवाद ऐसी समाजवादी विचारधारा है जिसमे सामाजिक क्रान्ति वर्ग-संघर्ष के परिणाम स्वरूप होती है। अन्य क्रान्तिकारी समाजवादी विचारधाराओं की तरह सिन्डीकलवाद भी क्रान्ति के उपरान्त राज्य तथा सरकार की

1. Lorwin, L., Syndicalism in France, New york, 1914, p 125.
2. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 289.

समाप्ति करके उनका सम्पूर्ण दायित्व श्रमिक संघों (Syndicats) को देना अपना लक्ष्य मानता है। अराजकतावाद तथा साम्यवाद की भाति सिण्डीकलवाद भी हिन्सात्मक क्रान्ति के साधनों को अपनाता है।[3]

विकास इतिहास

सिन्डीकलवाद का प्रादुर्भाव मुख्यतः फ्रान्स में हुआ। इसका कारण यह था कि फ्रान्स मे लघु पैमाने के उद्योग अधिक थे तथा इन उद्योगों से संघ भी छोटे-छोटे रहते थे। सामान्यतः छोटे-छोटे श्रमिक संघ अपने लिये व्यापक संगठनों में संगठित भी नही कर सकते थे क्योंकि ऐसे बड़े श्रमिक संघों की ओर फ्रान्स की सरकार हमेशा शंका की दृष्टि से देखती थी। यही कारण है कि सिन्डीकलवाद में श्रम की छोटी-छोटी इकाइयो को अधिक महत्व एवं प्राथमिकता दी गयी है।[4]

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम काल की अवधि तक फ्रास में श्रमिकों के ऊपर अत्यधिक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। उन्हें अपने संघ निर्माण करने की आज्ञा नही थी; हड़तालें वर्जित थी तथा सामूहिक रूप से कोई सौदेबाजी भी नहीं कर सकते थे, उन्हे सरकार की ओर से दमनकारी नीति तथा पूंजीपतियो की ओर से सदैव शोषण का सामना करना पड़ता था। अपने अधिकारों के लिए जब कभी श्रमिकों ने कोई आन्दोलन किया उसे राज्य द्वारा पूरी तरह दबाया गया। यही कारण है कि उस समय श्रमिक-वर्ग का राज्य के ऊपर विश्वास हट गया। वे उसे पूंजीपतियों के हित-साधन तथा श्रमिक वर्ग का दमन करने वाली संस्था समझने लगे। श्रमिक-वर्ग को अपने प्रतिनिधियों पर विश्वास नही रहा। उनके जो प्रतिनिधि संसद में चुनकर जाते थे, वे श्रमिकों के हितों को भुलाकर राज्य की दमन नीति के सहयोगी बन जाते थे। मिलरेन्ड (Millerand) विवेनी (Viviani) ब्रियां (Briand) ऐसे ही श्रमिक प्रतिनिधि थे जों श्रमिक उग्रवादिता छोड़कर शासन के समर्थक बन गये। श्रमिको का अपने प्रतिनिधियों तथा प्रतिनिधि सभाओ मे भी विश्वास हटता गया। इन परिस्थितियो में समाजवाद का भविष्य, सोरल (George Sorel) के अनुसार, स्व-शासित श्रमिक संघों पर ही निर्भर था।

इसी बीच मार्क्सवादी तथा अराजकतावादी विचार भी यूरोप के विभिन्न भागों में फैलते जा रहे थे। फ्रांस के सिन्डीकलवादियों पर इन दोनों विचार-

---

3 Gray, A., The Socialist Tradition, pp. 408-409.

4. Lancaster. L.W., Masters of Political Thought, vol. III, p 277.

धाराओं का प्रभाव पड़ा। फ्रांस की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उन्हें इन दोनों विचारधाराओं में जो भी उपयुक्त प्रतीत हुआ ग्रहण किया। मार्क्स से उन्होंने वर्ग-संघर्ष (class-war), पूंजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष ग्रहण किया। अराजकतावादियों, विशेषतः प्रोधों, से उन्होंने संघीय स्वायत्तता (federal autonomy) के विचार लिए। उन्होंने अराजकतावादियों की कार्य-प्रणाली भी अपनाई। इसलिए सिन्डीकलवाद को मार्क्सवाद और अराजकतावाद का समन्वय कहा जाता है। हरबर्ट रीड (Herbert Read) के अनुसार सिन्डीकलवादी सिद्धान्त में चाहे हो या न हो व्यवहार में अराजकतावादी हैं।[5]

इस समय फ्रांस का मजदूर वर्ग दुविधा में था। एक ओर तो उन्होंने यह अनुभव किया कि मार्क्सवाद से प्रभावित होते हुए भी वे मार्क्स के बताये गये कार्य-क्रम के अनुसार सफलता पूर्वक कार्य नहीं कर सकते। दूसरी ओर फ्रान्स में संवैधानिक सुधारों की गति में कई बार रुकावटें आईं। इसलिये उन्हें अपने भाग्य सुधारने में न तो वैधानिक माध्यम कारगर प्रतीत हुआ और न उनके प्रतिनिधि भी विश्वास के पात्र थे। इस परिस्थिति में फ्रांस का श्रमिक वर्ग ऐसे साधनों की खोज में था जिनसे उनके उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके। सिन्डीकलवाद इसी का परिणाम था।

फ्रांस में जब समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ता जा रहा था उसी समय श्रमिक वर्ग के कुछ दार्शनिक नेताओं ने भी अपने विचारों से श्रमिकों की चेतना को विकसित करने में योगदान दिया। इनमे फर्नेण्ड पेलोतिये (Fernand Pelloutier, 1867-1901) तथा जार्ज सोरेल (George Sorel, 1847-1922) प्रमुख थे। विशेषतः सोरेल सिन्डीकलवाद का मुख्य व्याख्याता माना जाता है।

पेलोतिये सम्भवतः सबसे प्रथम व्यक्ति था जिसने यह विचार व्यक्त किया कि फ्रान्स के श्रमिकों को समस्त फ्रेन्च राष्ट्र से अलग हो अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रयत्न करने चाहिये। इसे राजनीतिक समाजवादियों में तनिक भी विश्वास नहीं था। लेबर-एक्सचेन्जों (Bourses du Travail)[6] को इन राजनीतिक समाजवादियों के नियन्त्रण से पृथक रखने के लिये पेलोतिये 1894 में राष्ट्रीय फेडरेशन का मन्त्री बना जिस पद पर वह लगभग सात साल तक रहा। पेलो-

5. Read, Herbert, Anarchy and Order, Faber and Faber, London, 1954 p. 101.

6 लेबर एक्सचेंज-फ्रास में छोटे छोटे श्रमिक संगठन थे जहाँ श्रमिक बैठकर अपने निजी हितों की चर्चा तथा कार्यक्रम पर विचार करते थे।

लिये की संगठन शक्ति से लेबर एक्सचेन्जों ने कुछ प्रगति की। उसने फ्रान्स के मजदूर आन्दोलन पर इस विचार का प्रभाव डाला कि मजदूरों को स्थानीय लेबर एक्सचेन्जो द्वारा कार्य करके अपने ही सहकारी उद्योगो द्वारा अपनी मुक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये।

सोरेल सबसे पहिली बार एक श्रमिक विचारक के रूप में प्रस्तुत हुआ। वह स्वयं शिक्षित व्यक्ति था। अविवेकवाद (Irrationalism) को राजनीतिक पक्ष के रूप मे प्रस्तुत करने का श्रेय सोरेल को है। उसने मनुष्यों को तर्क-युक्त विचारों से नही किन्तु उनकी भावनाओं को भड़काने तथा अविवेकपूर्ण बातों को स्वीकार करने के लिये प्रभावित किया जिसमे श्रमिक बिना सोचे समझे उसके विचार एवं कार्य-क्रम स्वीकार करलें।[7]

श्रमिकों मे अपने विचारों का प्रसार करने के लिये सोरेल ने एक मासिक पत्र श्रम-संघों (Trade Unions) का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस पत्र के माध्यम से उसने इस बात का प्रतिपादन किया कि समाजवाद का सम्पूर्ण भविष्य मजदूरों के सिन्डीकेटों के स्वतन्त्र विकास मे है।

पेलोतिये तथा सोरेल को सिन्डीकलवाद को मूल विचार व आधार प्रदान करने का श्रेय है। उनका विचार था कि "सर्वहारा वर्ग जिस सामाजिक परिवर्तन को चाहता है, वह आत्म-परिवर्तन होना चाहिये और वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का स्थान जो नई व्यवस्था लेगी वह उन संस्थाओ के रूप मे होगी जो मजदूरों द्वारा स्वयं अपने ही प्रयत्न से और सरकार के विरोध की उपेक्षा करके बनाई जायेगी।[8]

यूरोप में समाजवाद की प्रगति का प्रभाव, फ्रान्स में उग्र श्रमिकों का अभ्युदय तथा कुछ चिन्तकों के विचारों से प्रभावित हो फ्रान्स की सरकार को आखिर झुकना पड़ा। सन् 1864 में एक कानून के द्वारा हड़ताल करने के अधिकार को स्वीकार किया गया। इसके चार वर्ष बाद ही फ्रान्स की सरकार ने घोषणा की उन सभाओं के कार्य में जिनके उद्देश्य शान्ति पूर्ण हैं राज्य किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा। इन प्रतिबन्धों के हट जाने तथा शासन की नरमाई से श्रम-संघवाद ने फ्रान्स में प्रगति करना प्रारम्भ किया।

---

7. Lancaster, L. W., Masters of Political Thought, Vol III p. 276.
8. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ0 246-47.

वैसे फ्रान्स में श्रमिक संगठनों पर कड़े प्रतिबन्ध होते हुए भी यात्री सहायक सभाएँ (Travelers' Aid Societies) तथा पारस्परिक सहायता सभाएँ (Mutual Aid Societies) स्थापित की गयीं थी। जब सरकार के कुछ उदारवादी द्रष्टिकोण के परिमाण स्वरुप 1884 में एक कानून द्वारा मजदूरों को अपने संघ स्थापित करने का अधिकार दिया तो श्रमिकों ने इस कानून का पूरा लाभ उठाया। स्थानीय श्रमिक संघों के कार्यों को संगठित करने के प्रयोजन से 1886 में मजदूर-सभाओं का एक राष्ट्रीय संघ (National Federation) स्थापित किया गया। 1887 में सबसे पहला लेबर एक्सचेन्ज पेरिस में स्थापित हुआ तथा कुछ ही समय में अन्य नगरों मे लेबर एक्चेन्जों की स्थापना की गई। इन लेबर एक्चेन्जों का उद्देश्य मजदूरों को रोजगार की खोज, उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करना, समाचार पत्रों का प्रकाशन करना, बेकार श्रमिकों को आर्थिक सहायता देना था। शीघ्र ही लेबर एक्सचेन्ज श्रमिक गतिविधियों के मुख्य केन्द्र बन गये।

1893 में इन लेबर एक्चेन्जो का राष्ट्रीय संघ स्थापित किया गया तथा 1895 में मजदूरों की एक नवीन तथा सर्वाङ्गि-पूर्ण संस्था को जन्म दिया गया जिसका नाम जनरल कनफेडरेशन ऑफ लेबर (Confederation Generale du Travail or C G.T) था। क्रान्तिवादी सिन्डीकलवाद की विचारधारा तथा कार्य-क्रम का सृजन इसी संस्था के तत्वाधान मे हुआ। इसके ही माध्यम से सिन्डीकलवाद का प्रसार, व्याख्या, तथा व्यवहारिक रूप दिया गया।

फ्रान्स का लेबर कनफेडरेशन शक्तिशाली था, जिसके तत्वाधान में काफी हड़तालें तथा तोड़-फोड़ की गतिविधिया आयोजित की गयी। किन्तु यह एक संगठित संघ नही बन सका। इसमें पहले से ही नरम एंव उग्रवादियों मे मतभेद चल रहे थे। 1906 में यह श्रमिकों की कार्य-अवधि के प्रश्न पर मतभेद हो जाने के कारण और भी विभाजित हो गया।

सिन्डीकलवाद का फ्रान्स में भी धीरे-धीरे पतन होने लगा। 1906 में सिन्डीकलवादियों ने एक व्यापक देश-व्यापी आम हड़ताल के लिये आव्हान किया। यह हड़ताल हुई और यही इसके पतन का प्रारम्भ था। इसके अलावा प्रथम विश्व युद्ध के कारण लोगों का ध्यान युद्ध संचालन की तरफ अधिक था और सिन्डीकल आन्दोलन पृष्ठभूमि मे होता चला गया।

सिन्डीकलवाद का प्रभाव फ्रान्स तक ही सीमित नहीं रहा, स्पेन तथा अमेरिका में भी इसके प्रभाव का प्रसार हुआ। स्पेन मे प्रोधों के अनुयायी मारगाल (P. Margall) ने श्रमिक आन्दोलन को प्रोत्साहित किया। 1910 में एक श्रमिक-संघ (Federation of labour) की स्थापना हुई। इसने स्पेन में बहुत कुछ उद्योगों को संचालित किया तथा रचनात्मक कार्यों को अपने हाथों में लिया।

अमेरिका में भी सिन्डीकलवाद ने श्रमिकों को प्रभावित किया तथा एक श्रमिक-संघ (Industrial Workers of the World, or I.W.W.) की स्थापना हुई, जिसने 1905 में एक समाजवादी कार्य-क्रम स्वीकार किया। अमरीकी सिन्डीकलवादियों ने जिनका प्रमुख कार्य स्थान शिकागो था, हड़तालों को आयोजित किया तथा प्रथम विश्व युद्ध के समय सैनिक सेवा के लिये सरकार विरोध किया। इस कारण उन्हें अमरीकी सरकार तथा रूस के समर्थक समाजवादियों की आलोचना का शिकार होना पड़ा। इनकी गतिविधियों के कारण अगस्त 1918 में इन पर मुकदमा चलाया गया तथा बहुत से प्रमुख कार्यकर्त्ताओं को लम्बी सजाएं दी गयी। बहुत से सदस्यों ने अमेरिका के साम्यवादी दल की सदस्यता स्वीकार कर ली। तदुपरान्त अमेरिका से सिन्डीकलवाद का पतन होता चला गया।

प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त रूस के साम्यवादी दल ने विश्व के सभी मजदूर संघों को एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित करने के लिये आमन्त्रित किया। बहुत से सिन्डीकलवादियों ने इसका स्वागत किया, उससे सिन्डीकल आन्दोलन पर विपरीत प्रभाव पड़ा। युद्ध के उपरान्त ही फासीवाद विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। फासीवाद ने बहुत कुछ सिन्डीकलवादियों से ग्रहण किया। यूरोप में जैसे-जैसे फासीवाद लोकप्रिय होता गया वैसे-वैसे ही सिन्डीकलवादी इसके समर्थक बनने लगे।

इसी समय गिल्ड समाजवाद प्रादुर्भाव हुआ। इसी समाजवादी सम्प्रदाय ने सिन्डीकलवाद के कुछ तत्वों को ग्रहण किया। इसने सिन्डीकलवाद की त्रुटियों को भी दूर करने का प्रयत्न किया। सिन्डीकलवाद केवल उत्पादकों का ही समर्थन करता था। गिल्ड समाजवाद ने उत्पादक और उपभोक्ता दोनों के ही हितों को संरक्षण दिया। साथ ही साथ गिल्ड समाजवाद शान्तिपूर्ण साधनों की ओर झुका हुआ था। इस प्रकार वे श्रमिक जो हिंसा, तोड़फोड़ तथा अन्य प्रत्यक्ष कार्यवाहियों से परेशान हो चुके थे, गिल्ड समाजवाद के समर्थक बन गये।

उपरोक्त कारणों से सिन्डीकलवाद के प्रभाव में कमी आयी और पतन की ओर अग्रसर हुआ। किन्तु इसके अवशेष विश्व के कई राज्यों में शेष हैं।

अर्थ

सिन्डीकलवाद की परिभाषा करते हुए कोकर ने लिखा है:—

> मोटे तौर से सिन्डीकेलिज्म यह मानता है कि श्रमिकों को ही उन स्थितियों का नियंत्रण करना चाहिये जिनके अधीन वे कार्य करें, और जीवन-निर्वाह करें, जिन सामाजिक परिवर्तनों को वे चाहते हैं, उन्हे वे केवल अपने ही प्रयत्नो से और अपनी विशिष्ट आवश्यकताओ के अनुकूल साधनों से ही प्राप्त कर सकते हैं।[9]

जोड के अनुसार:—

> "शिल्पी-संघवाद (सिन्डीकलवाद) की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि यह वह सामाजिक सिद्धान्त है जो श्रमिक-संघो को नवीन समाज की आधार शिला और साथ ही साथ वह साधन भी मानता है जिसके द्वारा अभिनव समाज की स्थापना-की जायेगी। शिल्पी-संघवाद स्पष्टत: समाजवादी है, क्योंकि यह अन्य समाजवादी मतों की भांति पूंजी को चोरी मानता है तथा वर्ग युद्ध की धारणा की पुष्टि करता है और पूंजीवादी समाज का आधार मानता है। यह उत्पत्ति के साधनो के निजी स्वामित्व का अन्त कर उसके स्थान पर सामुदायिक-स्वामित्व को प्रतिष्ठापित करना चाहता है।"[10]

लेडलर (H.W.Laidler) ने अपनी पुस्तक-Social Economic Movements मे सिन्डीकलवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "यह विचारधारा व्यापार और उद्योग दोनो के श्रमिक संघो के मजबूत संगठन इसलिये अत्याधिक जोर देता है ताकि नये औद्योगिक ढांचे का व्यापार हो। वह उपभोक्ता की अपेक्षा उत्पादक को अधिक महत्व देता है; तात्कालीन सामाजिक व्यवस्था को बदलनेके लिये आम हड़ताल और प्रत्यक्ष कार्यवाही जैसे साधनो को महत्व देता है। इसके अलावा यह राजनीतिक राज्य की उन्मूलन की आवश्यकता तथा श्रमिको की मुक्ति के लिये राजनीतिक कार्यवाही की प्रभाव शून्यता को बात कहते हैं।

---

9. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ0 241.
10. जोड़, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका पृ0 62.

हूवर (G. E. Hoover) ने स्वयं की पुस्तक—Twentieth Century Political Thought—में सिन्डीकलवाद का अर्थ उन क्रान्तिकारियों के सिद्धान्त और कार्य-क्रम से है जो औद्योगिक संघों की आर्थिक शक्ति का प्रयोग पूंजीवाद को नष्ट करने और समाजवादी समाज का संगठन करने के लिये करते हैं।[11]

सिन्डीकलवाद की विशेषताएँ

सिन्डीकलवाद निषेधात्मक दर्शन है। इसमें लगभग सभी प्रचलित तात्कालीन व्यवस्था और प्रणालियों का विरोध किया गया है। सिन्डीकलवादी विचार सूत्रों का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

सिन्डीकलवाद और अविवेकवाद
Syndicalism and Irrationalism

सिन्डीकलवाद अविवेकवाद पर अधारित है। ये तर्क-संगतता या विवेक में विश्वास नहीं करता है। सोरेल को महान अविवेकवादी कहा जाता है। सोरेल का विश्वास था कि व्यक्तियों को उन बातों से प्रभावित करना चाहिये जो उनकी भावनाओं को छु लें। इसी कारण सोरेल भ्रान्तियों (Myth) का भी प्रबल समर्थक था।[12]

अविवेकवाद का दूसरा पक्ष सोरेल का अज्ञानवाद (Anti-intellectualism) था। सोरेल ने सुकरात से लेकर अपने तत्कालीन दार्शनिकों तक लगभग सभी की अत्यन्त कड़ी निन्दा की है। उन्हें सोरेल ने पाखन्डी (Humbug), उच्च वर्गीय कीटाणुओं के सेवक, मायावी (Charlatans) आदि कह कर पुकारा।[13] इन्होंने विश्व को गुमराह कर प्रगति-पथ पर कभी आगे नहीं बढ़ने दिया। इस प्रकार सोरेल का उद्देश्य सिर्फ अपने विचार की अभिव्यक्ति कर व्यक्तियों को प्रभावित करना था। उसने इस पर कभी भी ध्यान नहीं दिया कि कोई तर्क-संगत या वैज्ञानिक दृष्टिकोण होता भी है या नहीं।

---

11. उद्धत, आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ. 618
12. Lancaster, L. W., Masters of Political Thought, Vol. III, p. 289.
13. Ibid., p. 301.

पूंजीवाद का विरोध

सिन्डीकलवादी पूंजीवाद के प्रबल विरोधी हैं। उन्होने अन्य समाजवादियों की भाँति पूंजीवाद तथा व्यक्तिगत सम्पति के विरुद्ध अपने लगभग वही तर्क दिये हैं। पूंजीवादी व्यवस्था को वे शोषण व्यवस्था मानते हैं। ये कारखाने, कल ओजारों के स्वामी होने के नाते सब लाभ हड़प लेते हैं। इन्होंने सम्पूर्ण समाज को कारखाने के नमूने पर संगठित कर रखा है। पूंजीवाद का उन्मूलन करना सिन्डीकलवादियो का प्रमुख उद्देश्य है।

वर्ग-संघर्ष

सिन्डीकल आन्दोलन ने मार्क्सवाद से वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त ग्रहण किया है। ये वर्ग-संघर्ष को प्रमुख स्थान देते हैं। किन्तु यह सब कुछ नहीं है, इनके अनुसार वर्ग-संघर्ष महत्वपूर्ण है किन्तु अपनी विचार धारा में इसे साध्य या उद्देश्य के रूप मे स्वीकार नहीं करते।[14] वे समाज में पूंजीपति तथा श्रमिक दो वर्गों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। पूंजीपति वर्ग उत्पादन के साधनों का स्वामी होने के कारण श्रमिकों का शोषण करता है। फलस्वरूप दोनों वर्गों मे निरन्तर संघर्ष बना रहता है। दोनों वर्गों के परस्पर-विरोधी हित हैं। इस प्रकार की स्थिति के कारण श्रमिको में वर्ग चेतना विकसित होती है। और वे संगठित होकर पूंजी वर्ग के विरुद्ध संघर्ष करने को तैय्यार होते हैं।

श्रमिकों की स्वतन्त्रता एवं मुक्ति

सिन्डीकलवादी श्रमिको को उद्योगपति तथा पूंजीपतियों के चंगुल से मुक्त कर उसे उत्पादक की श्रेणी मे लाना चाहते हैं। उनका कथन है कि "मानव व्यक्तित्व की सर्वोच्च अभिव्यक्ति, उसकी रचनात्मक शक्ति का प्रमाण उत्पादक कार्य मे ही है। काम से काम, कार्य इस कोटि का उस समय होता है जबकि वह उसका निजी कार्य हो, जिसे उसने स्वेच्छा से ऐसे उद्देश्यों तथा ऐसी अवस्थाओं मे किया हो, जिनका उसने स्वयं या अपने साथी मजदूरों के सहयोग से निर्धारण किया हो।" तत्कालीन समाज मे श्रमिक नीचे से ऊपर तक पराधीनता के बन्धनों में जकड़ा हुआ है। जहाँ उद्योगपति सामग्री, यन्त्रों तथा औजारों के स्वामी होते हैं वहाँ मजदूर कोई भी रचनात्मक कार्य नहीं कर सकता। सिन्डीकलवादी कारखाने आदि को स्वतन्त्र कराना चाहते हैं।" जब कारखाना स्वतन्त्र

14 Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p. 459

होगा तो समाज भी स्वतन्त्र रहेगा और मजदूरों में गौरव तथा स्वाधीनता की भावना पुनः जाग्रत होगी।" 15

मध्यम वर्ग तथा मध्यम वर्गीय समाजवाद का विरोध—

सिन्डीकल वादी मध्यमवर्ग के विरोधी होने के साथ साथ मध्यमवर्गीय समाजवाद के प्रति भी श्रद्धा नही रखते। उनका कहना है कि श्रमिक समाजवादियो को छोड़ कर अन्य सभी समाजवादी मध्यम वर्गीय थे। सिन्डीकलवाद को छोड़ कर सभी समाजवादी सिद्धान्त चतुर मध्यम वर्गीय सिद्धान्त शास्त्रियों के मस्तिष्क की उपज हैं। बुद्धि जीवियो को समाज की जो व्यवस्था आदर्श प्रतीत होती है उसी के अनुसार वे श्रमिकों को संगठित करना चाहते हैं। उन्हें श्रमिकों की आवश्यकताओं का कोई ज्ञान नही होता। इन आवश्यकताओं को तो श्रमिकों द्वारा निर्मित व्यवस्था ही व्यक्त कर सकती है। इसलिये सिन्डीकलवादियों का यह दावा था कि उनका समाजवाद स्वयं श्रमिको का है, जो श्रमिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से कर सकता है।

इस सम्बन्ध में सिन्डीकलवादी एक और तर्क प्रस्तुत करते हैं, उनके अनुसार श्रमिको और मध्यम वर्गीय व्यक्तियों के मध्य किसी भी प्रकार का समन्वय नही होना चाहिये। समाज में वर्ग चेतना को जीवित रखना अत्यन्त आवश्यक है। मध्यम वर्गीय बुद्धिजीवियों के साथ रहने या उस वर्ग में मिलने से श्रमिको में क्रान्ति या अन्य कार्यवाही करने के उत्साह मे मन्दी पड जाती है। 16

राज्य का विरोध

सिन्डीकलवादी राज्य के प्रबल विरोधी है। इनका राज्य संस्था में बिलकुल ही विश्वास नही है। राज्य के प्रति विरोध और अविश्वास के ये कई तर्क देते हैं।

प्रथम राज्य को सिन्डीकलवादी एक मध्यमवर्गीय संस्था मानते हैं। इस प्रकार इनका मध्यमवर्ग के प्रति विरोध राज्य के प्रति भी लागू होता है।

द्वितीय, राज्य समाज मे पूंजीपतियों के शोषण का साधन है। राज्य इस शोषण का श्रमिकों के पक्ष में कभी विरोध नही कर सकता।

तृतीय, राज्य में केन्द्रीय व्यवस्था होती है "हर केन्द्रीय संगठन एकरूपता और क्रमबद्धता की ओर प्रवृत होता है, इसी से उसमें कल्पनाशीलता एवं उपक्रम का अभाव होता है, तथा वह स्थानीय विशेषता और उद्यम को अविश्वास की दृष्टि से

15. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 248.
16 जोड़, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका, पृ० 65.

देखता है। इसलिये, यदि किसी उदार राज्य को भी उद्योगों का नियंत्रण सौंप दिया जाये, तो वह कालान्तर में प्रगति का शत्रु हो जायेगा।"[17]

चतुर्थ, राज्य सेवा में नियुक्त व्यक्ति अधिकाराभिमानी आदि सहानुभूतिहीन होते हैं। वे उन लोगों की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं पर कोई ध्यान नहीं देते, जो वास्तविक-उत्पादन कार्य में संलग्न होते हैं। लोक सेवा का मध्यमवर्गीय पदाधिकारी श्रमिकों की आवश्यकताओं को नहीं जान सकता। यही कारण है कि औद्योगिक संगठन का कार्य शारीरिक श्रम करने वाले श्रमिकों के हाथ में ही होना चाहिये।

राष्ट्र तथा राष्ट्रीय भावना का विरोध—

राज्य के साथ साथ सिन्डीकलवादी राष्ट्र तथा राष्ट्रीय भावना का भी विरोध करते हैं। इनका कहना है कि 'हमारा देश' 'हमारा राष्ट्र' आदि नारे एक ढोंग हैं। ये धारणाएँ पूंजीवादियों द्वारा प्रसारित की गई हैं। श्रमिकों की कोई मातृ-भूमि नहीं होती। वस्तुतः समस्त संसार के श्रमिकों की समस्याएँ एक हैं तथा उनमें कोई विरोध नहीं।

जनतान्त्रिक व्यवस्था का विरोध

शासन व्यवस्था के विषय में सिन्डीकलवादियों पर फ्रान्स की कालीन राजनीतिकस्थिति का प्रभाव पड़ा है। फ्रान्स में राजनीतिक अस्थिरता; लोकतांत्रिक संस्थाओं का धीमा विकास; श्रमिक प्रतिनिधियों का श्रमिकों के प्रति विश्वासघात; शासन का श्रमिक सुधारों के प्रति उदासीन दृष्टिकोण आदि के कारण सिन्डीकलवादी सभी प्रकार की शासन व्यवस्था, विशेषतः लोकतान्त्रिक प्रणाली, के विरोधी हो गये तथा उसकी उन्होंने कटु आलोचना की। लोकतांत्रिक की निन्दात्मक व्याख्या करते हुए सिन्डीकलवाद के प्रमुख प्रवक्ता सोरेल ने कहा था :—

> "लोकतन्त्र मनुष्यों के मस्तिष्कों को उलझन में डालने में सफल होता है, बुद्धिमान व्यक्तियों को वास्तविकता पहचानने में रुकावट डालता है, क्योंकि इस व्यवस्था में वे भाग लेते हैं जो समस्याओं को उलझाने में निपुण हैं... लोकतान्त्रिक युग के विषय में यह कहा जा सकता है कि मानव शब्द आडम्बर से शासित होता है न कि विचारों से, फारमूलेबाजी से न कि विवेक से...."[18]

---

17. जोड़, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका, पृ० 64.
18. Quoted by Lancaster, L. W., Master of Political Thought. Vol. III, p. 280

सोरेल के अनुसार जन-शासन सिर्फ कल्पना है। संसदीय वातावरण हमेशा जहरीला रहता है। यह मनुष्य को छोटे मोटे पूंजीपति के रूप में पतित कर देता है। जिस प्रकार बहुमत प्राप्त किया जाता है, उससे किसी भी प्रकार की अच्छाई की आशा करना व्यर्थ है।[19] बहु-संख्यकों का शासन-सिद्धान्त मध्य-वर्गीय अन्ध-विश्वास के अलावा कुछ नहीं। संक्षिप्त मे सिन्डीकलवाद

(i) लोकतान्त्रिक व्यवस्था का विरोध करता है; इसके साथ साथ,

(ii) संसदीय प्रणाली में अविश्वास; तथा

(iii) राजनीतिक दलों में किसी भी प्रकार की श्रद्धा नहीं रखता।

अधिनायकत्व एवं राज्य समाजवाद का विरोध

जब सिन्डीकलवाद में राज्य का विरोध किया गया है तो वे उन सभी सिद्धान्तों का विरोध करते हैं जिनके द्वारा राज्य की उपयोगिता एवं महत्ता को स्वीकार करने के साथ साथ राज्य को अधिनायकवादी अधिकार प्रदान करते हैं। इस सन्दर्भ में वे न तो सर्वहारा अधिनायकत्व (Dictatorship of the Proletariat) मे और न राज्य समाजवाद (State Socialism) मे विश्वास रखते हैं। सर्वहारा अधिनायकत्व प्रारम्भ मे तो श्रमिकों को सत्ता उपलब्ध करता है किन्तु अन्तिम रूप में यह एक दल तथा एक नेता के अधिनायकत्व की स्थापना करता है। इसी प्रकार राज्य समाजवाद मे सरकारी अधिकारियों का उत्पादन पर नियंत्रण बढ़ जाता है। यह मनोवृत्ति उत्पादकों के लिये हानिकारक होती है।

भावी समाज की रूप रेखा

सिन्डीकलवादियों ने जितना साधनों को महत्व दिया है उतना साध्य को नही। जिन उद्देश्यों या भावी समाज का सृजन ये करना चाहते हैं उसका उन्होंने कोई विशद चित्र प्रस्तुत नहीं किया है।[20] वास्तव में वे भावी समाज का व्यापक चित्र प्रस्तुत करना भी नही चाहते थे। उनका विश्वास था कि इस प्रकार की योजना प्रस्तुत करना असम्भव एवं अनावश्यक दोनों ही था। उनका कहना था कि ऐसा करने से निश्चय ही हानि होगी। समाज की काल्पनिक रूप-रेखा यदि प्रस्तुत कि जाय तो व्यक्तियों में 'सुधारवादी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होगी तथा थोड़ा बहुत हेर फेर करके वे इसी समाज व्यवस्था को स्वीकार कर लेंगे।

---

19. Ibid, pp. 280—81.

20 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 65.
कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 257.

इसलिये इस समय वे सिर्फ वर्तमान व्यवस्था को समाप्त करने तक ही अपने लिये सीमित रखते हैं।

इतना सब होते हुये भी सिन्डीकलवाद के व्याख्याताओ की रचनाओ मे भावी समाज की कुछ मोटी सी रूप-रेखा मिल ही जाती है। विशेषतः दो भूतपूर्व अराजकतावादी पातोद (Patand) तथा पूगे (Pouget) की पुस्तक How we shall Bring About Revolution, 1913,—मे भावी सिन्डीकलवादी समाज का चित्रण किया गया है।

सिन्डीकलवादियों के विचारों से भावी समाज से सम्बन्धित कुछ सैद्धान्तिक बात स्पष्ट हो जाती हैं।

प्रथम वे मार्क्सवादियो की तरह तत्कालीन व्यवस्था का क्रान्ति द्वारा उन्मूलन कर किसी भी प्रकार के अधिनायकत्व के पक्ष मे नही है।

द्वितीय, वे विकासवादी समाजवादियो की भाँति लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था का भी निर्माण नही करेंगे।

तृतीय सिन्डीकलवादी अराजकतावादियो की तरह राज्य को तो तत्काल समाप्त करने की कहते है किन्तु राज्य की समाप्ति के बाद वे व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार समाज सृजन करने के लिये स्वतन्त्र भी नही छोड़ना चाहते।

सिन्डीकलवादी समाज का मूल आधार श्रमिक-संघ हैं। वे फ्रास मे स्थापित श्रमिक कनफेडेरेशन (C.G.T.) के नमूने पर नवीन सामाजिक संगठन की बात सोचते थे। इस कनफेरेडेशन मे दो प्रकार की संस्थाएँ थी—सिन्डीकेट और बोर्ज (लेबर एक्सचेन्ज)। सिन्डीकेट में एक ही उद्योग से सम्बन्धित श्रमिक सम्मलित हुआ करते थे, किन्तु बोर्ज स्थानीय संस्था होती थी। एक बोर्ज में एक ही स्थान पर विभिन्न उद्योगो में कार्य करने वाले श्रमिक शामिल होते थे। सिन्डीकलवादियो का विचार था कि बोर्ज जैसा श्रमिक-संघ स्थानीय सामाजिक संगठन की इकाई होगा, इस प्रकार के स्थानीय संगठन के निम्नलिखित कार्य होंगे:—

(i) उद्योगो से सम्बन्धित इमारते, मशीन तथा अन्य उत्पादक सामग्री की सुरक्षा करना;

(ii) उत्पादन के सारे काम की देखभाल करना;

(iii) माल को आयात-निर्यात की देखभाल करना;

(iv) स्थानीय आर्थिक आवश्यकताओं से परिचित होना; तथा

(v) इसी प्रकार के अन्य दूसरे श्रमिक संघों से सम्पर्क बनाये रखना, आदि ।

सिन्डीकलवादी राज्य का उन्मूलन तो करते हैं लेकिन वे अपने भावी समाज की व्यवस्था से किसी न किसी प्रकार के केन्द्रीय संगठन का समर्थन करते हैं। वे राज्य से सम्बन्धित संस्थाएं जैसे कारागार, पुलिस, न्यायालय के समाप्ति की बात कहते है क्योंकि उनकी कल्पना है कि नयी सामाजिक व्यवस्था में इस तरह का वातावरण होगा, जो हर व्यक्ति की उन्नति और विकास के अनुकूल हो। इसलिये अपराधों की स्वतः ही समाप्ति हो जायेगी। किन्तु कुछ ऐसे भी कार्य है जैसे डाक-व्यवस्था, रेल, सार्वजनिक सेवाएं उद्योगों के मध्य ताल-मेल बैठाना आदि के लिये राष्ट्रीय श्रमिक संघो को आवश्यक मानते हैं।

अन्त में सी. जी. टी की भांति एक व्यापक राष्ट्रीय श्रमिक-संघ होगा, जो उन सब मामलो के विषय में निर्णय लेगा जैसे उद्योगों मे एकसी नीति अपनाना, बच्चे, बूढे और बीमारों की देखभाल काम के लिये न्यूनतम और अधिकतम आयु का निर्णय, वेतन का मापदंड तथा काम के घन्टे आदि का निर्धारण करना ।

रक्षा व्यवस्था के विषय में सिन्डीकलवादियों की धारणा है कि उनका समाज कभी युद्ध नही करेगा, दूसरे श्रमिकों और जनता में इतना घनिष्ठ सम्पर्क होगा कि उनके मन में समाज विरोधी कार्य करने का विचार उत्पन्न ही नही होगा। इसलिए स्थायी, पेशेवर सेना, पुलिस तथा सैनिक स्कूलों की आवश्यकता नही रहेगी। किन्तु कभी-कभी विशेष स्थिति का सामना करने के लिये हर संघ में सशस्त्र श्रमिकों की एक टुकडी होगी जिसका मुख्य कार्य प्रतिक्रियावादियों को रोकना होगा। कई संघो की ऐसी टुकड़ियां मिलाकर बड़ी टुकड़ियाँ बना ली जायेंगी. जिन्हे केन्द्रीय संघ से अधिकार आदि दिये जायेंगे। प्रतिरक्षा की दृष्टि से सिन्डीकलवादी इतनी ही व्यवस्था को पर्याप्त समझते हैं।[21]

---

21 सिन्डीकल समाज की रूप-रेखा : देखिये
जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका पृ. 66-68.
कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 255-58.

साधन-पद्धति (Means and Methods)

यह पहिले ही उल्लेख किया जा चुका है कि राजनितिक साधनों में परिवर्तन करने में सिन्डीकलवादी विश्वास नहीं करते। वे श्रमिको के कल्याण लिये अपने प्रतिनिधियो को भी श्रद्धा की दृष्टि से नही देखते। अनुभव से उन्होंने यह सीखा है कि श्रमिकों को अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये स्वंय पर ही निर्भर रहना चाहिये। "श्रमिकों को राज्य की सत्ता संसद-सदस्य या प्रतिनिधियों द्वारा परोक्ष रूप से प्राप्त करने की चेष्टा न कर प्रत्यक्ष रूप से, अपने संघ की शक्ति द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।"[22]

आर्थिक साधन

सिन्डीकलवाद साधनों के विषय में इस धारणा से प्रारम्भ होता है कि आर्थिक शक्ति ही सत्ता ग्रहण करने की कुंजी है।" श्रमिकों के राजनीतिक मत भिन्न-भिन्न होते है किन्तु उनके आर्थिक हित समान हैं; अतएव औद्योगिक क्षेत्र में उनमे एक प्रकार की ऐसी सुदृढ़ एकता होती है। जिसका सामान्यतः राजनीतिक क्षेत्र में अभाव होता है। वे हड़ताल एक साथ करेंगे। परन्तु एक मत से एक ही व्यक्ति को निर्वाचित नही करेंगे। प्रत्येक दृष्टि से राजनीतिक दल क्रान्ति का एक अत्यन्त ही निर्बल साधन है, वह विभिन्न रहता है, उसके अधिवेशन कभी-कभी होते हैं, और उसका आकार इतना बड़ा होता है कि वह लोक-संकल्प को प्रत्यक्ष रीति से अभिव्यक्त नही कर सकता।"[23]

इस प्रकार सिन्डीकलवादी अपनी सारी शक्ति को आर्थिक क्षेत्र में केन्द्रित करते है, जो उन्हे एकता, सबलता तथा अतिरिक्त शक्ति प्रदान करते हैं।

सिन्डीकलवादी अपने साधनों में मार्क्स के निकट होते हुए भी उसकी शिक्षा का पूर्ण रूप से पालन नही करते। वे क्रान्ति में इसलिये विश्वास नही करते क्योंकि उसके लिये स्थिति उपयुक्त नही है। क्योंकि पूंजीपति सौदा करके समझौता करके, श्रमिकों मे मतभेद कर तथा स्वामी और श्रमिको के मध्य अन्तर कम करने का प्रयत्न करते हैं। इन परिस्थियो मे क्रान्ति का सफल होना संदिग्ध है। किन्तु वे हिंसात्मक कार्यवाहियों की भी अवहेलना नही करते। "यह हिंसा ही है।" सोरेल के शब्दों मे, "जिससे समाजवाद उच्च नैतिक मान्यता ग्रहण करता है, जिनके माध्यम से आधुनिक विश्व की मुक्ति होगी।"[24]

---

22. जोड़ आधुनिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 68.

23 उपरोक्त, पृ. 69;

24. Quoted, Bose, A., AHistory of Anarchism, p 312.

प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct action)

इन तथ्यों को ध्यान मे रखते हुए सिन्डीकलवादी कई साधनों का सुझाव देते है जिनके द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था की समाप्ति कर श्रमिक संघों की व्यवस्था प्रारम्भ होगी। सभी साधन प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct action) पर आधारित थे। सोरेल के शिष्य लेगारदे (Lagardelle) के अनुसार, प्रत्यक्ष कार्यवाही का तात्पर्य था कि कार्यों को दूसरो पर न छोड़ा जाय जैसा कि प्रतिनिधि प्रणाली के अन्तर्गत होता है। श्रमिक वर्ग को स्वंय ही कार्यवाही करने के लिये दृढ़ निश्चित होना चाहिये।[25] इस प्रत्यक्ष कार्यवाही के सिन्डीकलवादियों के अनुसार, निम्नलिखित स्वरुप हैं:—

1. आम हड़ताल (General Strike)[26]

सिन्डीकलवादी हड़ताल को सामाजिक क्रान्ति का सबसे प्रभावकारी साधन मानते हैं जिसके द्वारा वे पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त कर उत्पादन के साधनों पर अधिकार कर लें। सोरेल की पुस्तक-Reflections on Volence-वास्तव में हड़ताल का ही दर्शन है। हड़ताल के औचित्य को सही सिद्ध करने के लिये वे कई तर्क देते हैं।

प्रथम हड़ताल से श्रमिकों की दबी हुई शक्ति का प्रदर्शन होता है।

द्वितीय, यह श्रमिको में सहयोग एवं एकता की भावना जागृत करती है।

तृतीय यह वर्ग-भेद तथा दोनो वर्गों के मध्य तनाव पैदा करती है जिससे श्रमिको में युद्ध करने जैसी शक्ति आती है और वे पूंजीवाद को उखाड़ने के लिये और दृढ़-संकल्प हो जाते हैं।

चतुर्थ, आम हड़ताल के साधन को अपनाने से श्रमिक-वर्ग मध्य-वर्ग की धोखा-धड़ी में नही फंस पाता।

पंचम, जब जनता अपने शासन से असन्तुष्ट होती है तो वह हड़तालों द्वारा अपना क्रोध व्यक्त करती है। इसका सरकार के विरुद्ध लोकमत निर्माण करने के लिये भी प्रयोग किया जाता है।

अन्त में, हड़ताल मे श्रमिकों द्वारा हिंसा का प्रयोग नैतिक है। इससे उनकी अध्यात्मिकता की अभिवृद्धि होती है।

हड़ताल के महत्व का बखान करते हुए सोरेल ने कहा है:—

> हड़तालों द्वारा श्रमिक-वर्ग में श्रेष्ठतम, आन्तरिक तथा मर्मस्पर्शी भावनाओं का अभ्युदय होता है; आम हड़ताल उन सबका

25. Ibid, p. 304.
26. For detailed study of this method see Gray, A., The Socialist Tradition, pp. 418-32.

समूहीकरण कर एक संयोजित चित्र उपस्थित करती है और उन्हें एक दूसरे के निकट लाकर प्रत्येक को अत्याधिक तीव्रता प्रदान करती है। [27]

इस सम्बन्ध में सिन्डीकलवादियों के विचारों को व्यक्त करते हुए लॉरविन ने लिखा है कि:—

> हित-संघर्ष में हडताल श्रमिको और स्वामियो को आमने-सामने लाकर खडा कर देती है। बिजली की चमक की भाँति हड़ताल श्रमिको और मालिकों के बीच गहरे विरोध को एक दम स्पष्ट कर देती है। इससे उनके बीच की खाई और भी गहरी हो जाती है जो मजदूरों की एकता तथा संगठन को बल प्रदान करती है। यह एक क्रान्तिकारी तत्थ है जिसका महान महत्व है। [28]

सिन्डीकलवादी जब हडताल की बात करते हैं, इससे उनका तात्पर्य आम हड़ताल (General strike) से है न कि उन छोटी मोटी हड़तालों से जो वेतन वृद्धि, बोनस, कार्य-अवधि घटाने आदि के लिये की जाती हैं। किन्तु सिन्डीकलवादियों के अनुसार आम हड़ताल का तात्पर्य यह नही कि देश भर के मजदूर एक साथ कार्य करना बन्द कर दे। इसका अर्थ हड़ताल में बहु-संख्यक श्रमिकों का सम्मलित होना भी नही है। एक सिन्डीकलवादी के लिये वही आम हडताल है कि देश के मुख्य उद्योगो मे काम करने वाले मजदूर पर्याप्त संख्या में हड़ताल कर दें। उनका विश्वास था कि आधुनिक युग में इतनी पारस्परिक निर्भरता है कि अल्प संख्या मे भी मजदूर प्रत्यक्ष कार्यवाही करके पूरी व्यवस्था को ठप्प कर देंगे। जैसे ही एक पर्याप्त संख्या में वर्ग-चेतना से ओत-प्रोत और अनुशासन-बद्ध श्रमिक तैयार हो जाये वैसे ही आम हड़ताल की घोषणा कर उत्पादन साधनो पर अधिकार कर लेना चाहिये।

सामान्यतः सिन्डीकलवादी आम हड़ताल को ही प्राथमिकता देते हैं किन्तु वे दिन-प्रति-दिन छोटी-छोटी हड़तालों के महत्व की अवहेलना नही करते।

---

27. "Strikes have engendered in the proletariat the noblest, deepest and most moving sentiments that they possess; the general strike groups them all in a co-ordinated picture, and by bringing them together gives to each one them its maximum intensity."
Reflections on Violene, p 137.

28. Lorwin, L., Syndicalism in France, New York, 1914, pp 126-27.

उनके अनुसार प्रत्येक हड़ताल अपने में अच्छी चीज है। जब भी और जहाँ भी अवसर मिले हड़ताल को प्रोत्साहन देना चाहिये। हर हड़ताल आम हड़ताल की तैय्यारी में सहायक होती है। यदि कोई हड़ताल असफल भी हो जाये तो भी कोई हानि नहीं। कमसे कम उसमे श्रमिकों में वर्ग-चेतना, क्रान्तिकारी उत्साह और आन्दोलन के लिये उग्र भावना का विकास तो हुआ। ऐलग्जेन्डर ग्रे के शब्दों मे "छोटी से छोटी हड़ताल यदि बार-बार की जाय तो श्रमिकों में समाजवादी भावना को प्रबल करने, उनमे वीरता, त्याग व एकता की भावना को भरने तथा क्रान्ति की आशा को चिरस्थाई बनाये रखने मे वह असफल नहीं हो सकती।"[29]

ध्वंसात्मक कार्य अथवा तोड़-फोड की नीति (Sabotage)

सिन्डीकलवादियों का संघर्ष निरन्तर तथा कई प्रकार चलता रहना चाहिये। हडताल के अलावा वे और भी अन्य साधनो का समर्थन करते हैं जैसे तोड़-फोड छाप (label) तथा बहिष्कार आदि। इन अन्य साधनों के अपनाने का मूल उद्देश्य यह है कि जब तक आम हड़ताल द्वारा पूंजीवाद तथा राज्य का विनाश न हो जाय तब तक श्रमिको को निरन्तर उनके विरुद्ध कोई न कोई कार्य करते रहना चाहिये।

ध्वसात्मक कार्य का अर्थ, कोकर के अनुसार, यह है कि उद्योगपति की सम्पत्ति का विनाश श्रमिकों द्वारा आलस्यपूर्ण कार्यों, ढंग से कार्य न करके, स्वामी की सम्पत्ति की फिजूलखर्ची तथा अन्य ध्वसात्मक कार्यों से किया जाय। ध्वंसात्मक कार्य श्रमिकों को कारखाने मे काम करते हुए या हड़ताल के समय कभी भी करते रहना चाहिये।[30] अन्य शब्दों में तोड़-फोड के मुख्य रूप हैं मन लगाकर कार्य न करना, धीरे-धीरे काम करना, आदेशो का अक्षरशः पालन न करना, ग्राहकों को वस्तुओं के दोष बतलाना जिससे वे वस्तुएं न खरीदें, मशीनो को जान बूझ कर खराब करना आदि। हालांकि सोरेल ने तोड़-फोड़ की नीति का विरोध किया, क्योंकि भविष्य में इससे श्रमिकों को हानि तथा उनके चरित्र पर प्रभाव पड़ेगा, किन्तु सिन्डीकलवाद के प्रत्यक्ष साधनों में इसको भी महत्व रहा है।

---

29 *Gray, Alexander, The Socialist Tradition*, pp. 419-20.

30. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 252-53.

छाप (Label)

इसका यह तात्पर्य है कि श्रमिकों के नियन्त्रित कारखानों में बनी हुई वस्तुओं पर श्रमिक एक अलग प्रकार की छाप लगाकर जनता से अपील करेंगे कि वे सिर्फ श्रमिकों द्वारा नियन्त्रित कारखानों में ही बनी हुई वस्तुओं को खरीदें न कि पूंजीपतियों के कारखानो में निर्मित माल। सिन्डीकलवादी समझते थे कि इससे पूंजीपतियों के माल की बिक्री पर गहरा एवं विपरीत प्रभाव पड़ेगा।

बहिस्कार

बहिष्कार साधन के अन्तर्गत श्रमिक पूंजीपतियों के माल का बहिष्कार करने का प्रचार करेंगे। जहाँ सम्भव होगा वहाँ वे स्वयं भी बहिष्कार में सक्रिय भाग लेंगे। इससे वे पूंजीपतियों के माल की बिक्री में विघ्न डालकर नुक्सान पहुंचाना चाहते हैं।

इसके साथ-साथ श्रमिक कैकेनी-नीति ('Ca' canny') नीति भी अपनाएं इसका अर्थ है कि वे अधिक सावधानी से काम करें ताकि पूरे समय में बहुत थोड़ा काम हो।[31]

उपरोक्त सिन्डीकलवादी साधन वास्तव में हिंसा और अहिंसा दोनों का ही मिश्रण है। हड़ताल हिंसात्मक या बिना हिंसा के भी हो सकती है। तोड़-फोड़ की नीति के साथ हिंसा सम्बन्धित है। किन्तु 'छाप' तथा बहिष्कार अहिंसात्मक श्रेणी में आते हैं। फिर भी सिन्डीकलवादी इन सभी साधनों को हिंसा पर आधारित मानते हैं। क्योंकि वे हिंसा को भी अपने कार्य-क्रम एवं दर्शन में उचित स्थान देते हैं। कुछ भी हो उनके साधन पूर्णतः हिंसात्मक नहीं हैं।

सिन्डीकलवाद का विमोचन

सिन्डीकलवाद का अविवेकीय (Irrationalist) आधार

सिन्डीकलवाद तथा इसके प्रमुख व्याख्याता सोरेल के विचारों का आधार अविवेकवाद था। अविवेकवाद का तात्पर्य किसी बात को तथ्यों तथा तर्क संगतता के आधार पर व्याख्या करना नहीं होता। इसके अन्तर्गत मनुष्य की भावनाओं और मूल प्रवृतियों का भड़कना होता है।[32] अविवेकवादी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये भ्रान्तियां (myth) का सहारा लेते हैं। जब सिन्डी-

31 जोह, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, प्रवेशिका पृ. 71.

32 Kilzer and Ross, Westerm Social Thoughts p 281

कलवादी का यह आधार है तो विवेक, तर्क-बद्धता की अपेक्षा ही करना व्यर्थ है। जहाँ पर बुद्धिजीवियों की पूर्ण निन्दा की जाती हो तो ऐसी विचारधारा से ज्ञानअर्जन के तत्व ढूढ़ना भी असम्भव है। यही कारण है कि अराजकतावाद में सर्वत्र दोष ही दोष दृष्टिगोचर होते हैं।

राज्य का विरोध

मार्क्सवादी एवं अराजकतावादियों की भाँति सिन्डीकलवादी राज्य के उन्मूलन का समर्थन करते हैं। सिन्डीकलवादियों का यह विचार बिलकुल ही अव्यवहारिक है। मनुष्य के जीवन में राज्य के महत्व की जो वृद्धि हो रही है तथा यह संस्था सक्रिय रूप से जिस प्रकार सकारात्मक एवं जनकल्याण के कार्यों को अपने हाथो में ले रही है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि राज्य मनुष्य का मित्र है तथा अच्छे जीवन व्यतीत करने मे सहायता देने के किये सर्वोत्तम साधन है।

हालाँकि सिन्डीकलवादी राज्य की समाप्ति की बात कहते हैं लेकिन जिस समाज की वे कल्पना करते हैं तथा जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय श्रम संगठनों को जो अधिकार दिये जायेंगे वे वास्तव में वे ही कार्य हैं जिन्हें आजकल राज्य करता है। इस प्रकार एक ओर तो ये राज्य के उन्मूलन का समर्थन करते हैं लेकिन दूसरी ओर पिछले दरवाजे से ये राज्य को पुनः वापस ले आते हैं। इस सम्बन्ध में बार्कर (Ernest Barker) के विचार उल्लेखनीय हैं। बार्कर ने लिखा है कि—

> "या तो राज्य की समाप्ति हो जानी चाहिये जैसा की सिन्डीकलवादी व्यक्त करते हैं,:इसका तात्पर्य अराजकता (अस्त-व्यस्त या उथल-पुथल) होगा; या फिर राज्य को रहना चाहिए—और यदि आप समाजवाद चाहते हैं तो वह राज्य द्वारा ही सम्भव हो सकेगा। अगर राज्य को रखना है तो राज्य मे अपने नागरिकों के जीवन से संबन्धित अन्तिम रूप से उत्तरदायित्व निहित होना चाहिये"[33]

---

33. "Either the state must go, as Syndicalists seems to advocate, and that means chaos; or the state must remain and then, if you are to have Socialism it must be a state Socialism. If there is to be a state, it must have the final responsibility for the life of its citizens" Barker, E., Political Thought in England, P. 203.

राष्ट्रीयता

सिन्डीकल्सवादी राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता के विरोधी हैं। वे श्रमिकों का न तो कोई राष्ट्र मानते हैं और न राष्ट्रीयता। यह सिर्फ एक भ्रांति ही है। राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता की परिधि को लाँघकर सिंडीकल्स समाज की स्थापना ठीक प्रतीत नहीं होती।[34] युद्ध के समय यह बात कई बार स्पष्ट हो चुकी है कि विभिन्न देशों के श्रमिक अपने-अपने देशों की सरकार को किस प्रकार व्यापक समर्थन देते हैं। श्रमिकों की अन्तर्राष्ट्रीय एकता की बात किसी सीमा तक स्वीकार की जा सकती है किन्तु राष्ट्र को समाप्त कर अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समाज की स्थापना करना एक यूटोपियायी विचार ही प्रतीत होते हैं।

मध्यम वर्ग

सिन्डीकल्सवादियों ने मध्यम वर्ग की जो निन्दा की है यह उनकी मूर्खता का प्रमाण है। प्रत्येक समाज में मध्यवर्ग संख्या में सबसे अधिक, अतिवादिता का विरोध करने वाला तथा राजनीतिक स्थायित्व प्रदान करने वाला होता है, यह बात आधुनिक राज्य में ही सही नहीं किन्तु प्राचीन काल में अरस्तू ने भी राजनीति में मध्यमवर्ग के योगदान को व्यापक रूप से स्वीकार किया। मध्यम वर्ग को उन्मूलन कर किसी भी स्थायी समाज की स्थापना नहीं हो सकती।

निश्चित भावी समाज की व्यापक रूप-रेखा का अभाव

है कि इस प्रकार की व्यवस्था संकुचित क्षेत्रीयवाद को जन्म देगी जो सामाजिक एकता तथा प्रगति के मार्ग में बाधक होगी। 35

उपभोक्ताओं की अवहेलना

सिन्डीकलवाद एकपक्षीय विचारधारा है। इसका तात्पर्य यह है कि यह सिर्फ उत्पादको का ही समाजवाद है। ये उपभोक्ताओ की पूर्णतः अवहेलना करते हैं। लेडलर (Laidler) के शब्दो में "उत्पादको के अधिकारों और उत्तरदायित्वों पर बहुत अधिक और उपभोक्ताओ के अधिकारों और उत्तरदायित्वों पर बहुत कम ध्यान देकर यह उपभोक्ताओं को अपने विरुद्ध कर देता है।36 कोई भी विचारधारा तब तक पूर्ण या व्यवहारिक नही हो सकती जब तक वह समाज के इन दोनो अंगों के हित को ध्यान में न रखे।

सिन्डीकलवादी साधनों की आलोचना

सिन्डीकलवादी साधन—पद्धति के विरुद्ध जो प्रारम्भिक दोष हैं कि ये हिंसा को मान्यता देते हैं। सिन्डीकलवादी हिंसा को क्रान्ति के अन्तर्गत भी नही लिया जा सकता। वे हिंसात्मक साधनो का किस सीमा तक प्रयोग करें, स्पष्ट नही हैं। नैतिक दृष्टि से हिंसात्मक साधनों के औचित्य को कभी भी उचित नही कहा जा सकता।

सिन्डीकलवादियों का मुख्य शस्त्र हड़ताल है। इस साधन की आलोचकों ने कटु निन्दा की है। हड़तालों द्वारा सामाजिक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त नही किया जा सकता। इसलिये आम हड़ताल द्वारा क्रान्ति एक भ्रम है।

यदि एक बार हड़ताल प्रारम्भ हो जाती है और लम्बी चल जाये तो इसका श्रमिकों पर ही विपरीत प्रभाव पड़ता है, वे भूखों मरने लगते हैं और इस प्रकार हड़तालो की सफलता बहुत कुछ श्रमिकों की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है।

जब श्रमिकों द्वारा सीधी कार्यवाही प्रारम्भ हो जाती है उसके बाद कोई नही जानता कि इसका अंत कहाँ होगा। यह श्रमिकों के समक्ष अनिश्चित

35 जोड़, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका पृ. 67.

36. Laidler, H.W., History of Socialist Thought, p. 310.

वातावरण प्रस्तुत करता है जो सफलता के मार्ग में बाधक सिद्ध होता है। "आम हड़ताल एक कल्पना मात्र है। यह संगठित अराजकता से अधिक और कुछ नही है।" 37

सिन्डीकलवादियो द्वारा आयोजित की गयी हड़तालों पर यदि दृष्टिपात किया जाये तो उनकी व्यवहार में अनुपयुक्तता एवं असफलता स्वाभाविक प्रतीत होती है। 1894 से 1907 तक फ्रांस में हजारों हड़तालें हुई लेकिन उनमें 23 प्रतिशत सफल, 36 प्रतिशत में समझौता हुआ तथा 41 प्रतिशत असफल हुई। यहां तक कि 1906 में आयोजित देश व्यापी विशाल हड़ताल पूर्णतः असफल रही।38 इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हड़तालो द्वारा सिन्डीकलवादी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति नही कर सकते। जब देश में बार-बार हड़ताले की जायेंगी उससे जन जीवन पर जो असर पड़ेगा उसके परिणाम स्वरूप सिन्डीकलवादी सामान्य जनता को भी अपने पक्ष में नही कर सकते।

अन्य साधन जैसे तोड़-फोड़, बहिष्कार आदि अधिक प्रभावशाली प्रतीत नही होते। तोड-फोड़ की नीति द्वारा क्रान्ति का नारा एक मजाक सा प्रतीत होता है। तोड़-फोड़ की नीति से श्रमिकों को भी हानि उठानी पड़ेगी, मशीनें नष्ट हो जायेंगी कारखानें बंद हो जायेंगे और उन्हे बेरोजगारी की समस्या का सामना करना पड़ेगा।

निरंतर तोड़-फोड़ करते रहने से श्रमिको का चरित्र गिर जायेगा, उनमें जिम्मेदारी की भावना नष्ट हो जायेगी। यह आशा करना व्यर्थ होगा कि क्रान्ति के बाद तोड़–फोड़ करने वाले श्रमिक उत्तरदायित्व की भावना से कार्य करेगे। वास्तव मे सिन्डोकलवादियो के साधनों में खोखलापन अधिक है तथा वे सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करने के लिये अनुपयुक्त सिद्ध होंगे।

प्रभाव एवं योगदान

सिन्डीकलवाद का काफी अध्ययन हुआ है। कई विद्वानो ने इस पर व्यापक टीकाएं की हैं। इतना सब होते हुए भी, ऐलेग्जेन्डर ग्रे का मत है, निष्कर्ष में लिखने के लिये लगभग कुछ भी नही है। 39 इस कथन में सत्यता तो है किन्तु सिन्डीकलवादी विचारधारा ने कुछ प्रभाव अवश्य ही छोड़े।

37. आर्शीवादम्, राजनीति शास्त्र द्वितीय भाग पृ. 621.

38. Bose, A., A History of Anarchism, p. 322

39. Gray, A. The Socialist Tradition, pp. 430–31.

सिन्डीकलवाद का सबसे अधिक विपरीत प्रभाव लोकतन्त्र के विकास पर पड़ा। इस विचारधारा के प्रादुर्भाव से युरोप में जितनी अधिक संख्या में व्यक्ति इससे प्रभावित हुए यह एक आश्चर्य की बात थी। इससे पनपते हुए लोकतन्त्र का मार्ग अवश्य ही अवरुद्ध हुआ। किन्तु इसने लोकतन्त्र के समर्थकों को एक आत्म-विवेचन (Self analysis) का अवसर प्रदान किया। वे इस बात पर विचार करने लगे कि आखिर लोकतन्त्र व्यवस्था में क्या कमी है, जिसके कारण इतनी भारी संख्या में व्यक्ति लोकतन्त्र से विमुख हो रहे हैं।[40] इस आत्म-विवेचन से लाभ ही हुआ। कई देशों में लोकतन्त्र की त्रुटियों को दूर करने के प्रयत्न किये गये तथा सुधारों की श्रृंखला में वृद्धि हुई।

सिन्डीकलवाद के प्रभाव ने आगे चलकर फासीवाद (Fascism) को प्रोत्साहित किया। चूंकि बहुत सी बातों में सिन्डीकलवाद तथा फासीवाद में व्यापक अन्तर है किन्तु इनके बीच एक बड़ी मजबूत कड़ी है। मुसोलिनी सोरेल की रचनाओं को बड़े ही चाव से पढ़ता था। वास्तव मे मुसोलिनी ने 1922 में सिन्डीकलवादी साधनों मे ही सत्ता प्राप्त की।[41]

अतिन्द्रनाथ बोस ने सिन्डीकलवाद के योगदान की चर्चा करते हुए लिखा है कि इस विचारधारा की शक्ति इसमें निहित है कि इसने श्रमिकों मे तीव्रता, आत्म-विश्वास और साहस की भावना का विकास किया।

द्वितीय, इन्होंने आर्थिक समस्याओं को सर्वाधिक महत्व दिया। ये आर्थिक सुधारों के लिये निरन्तर दबाव बनाये रखे। परिणामस्वरूप श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये यूरोप में कानूनों के निर्माण की गति में तेजी आई।

तृतीय, सिन्डीकलवाद का आधुनिक राजनीतिक चिन्तन को सबसे महत्वपूर्ण योगदान समाज के बहुलवादी सिद्धान्त (Pluralism) का व्यापक प्रतियोगदान करना था जिससे व्यावसायिक आर्थिक संस्थाओं (functional economic organisations) की महत्ता स्वकार की गई।[42]

---

40. Hallowell, J.H., Main Currents in Modern Political Thoubgt, p. 463.,
41. Sabine, G. H., A History of Political Theory, p. 714.
42. Bose, A., A History of Anarchism, p. 325.

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Bose, A., — A History of Anarchism
Chapter IV, Syndicalism.

2. कोकर, फान्सिस — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन
अध्याय 8, सिण्डीकेलिज्म

3. Gray, A., — The Socialist Tradition
Chapter 15, Syndicalism

4. जोड, — आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका
अध्याय 4. शिल्पी संघवाद (सिण्डीकलवाद)
और श्रेणी—संघवाद

5. Laidler, H.W., — History of Socialist Thought
Chapter XXII.

6. Lancaster, L.W., — Masters of Political Thought, vol III
Chapter 8, Irrationalism :
George Sorel.

6

फेबियनवाद

Fabianism

फेबियनवाद समाजवाद की एक अंग्रेजी विचारधारा है। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध में मार्क्सवाद चर्चा तथा विवाद का मुख्य विषय था। मार्क्स ने अपने विचारो का प्रतिपादन इंग्लैण्ड में ही किया। किन्तु मार्क्सवाद वहाँ के लोगों को प्रभावित नही कर सका। इंगलैण्ड की उदारवादी, व्यावहारिक तथा समझौता प्रिय जनता पर मार्क्सवाद के वर्ग-संघर्ष, क्रान्ति तथा अन्य विचार-सूत्रों का कोई विशेष प्रभाव नही पड़ा। इससे भी मना नही किया जा सकता कि मार्क्स ने उस समय के विचार चिन्तन को नया मोड़ नही दिया। कोई भी व्यक्ति जिसमें थोडी बहुत चिन्तन-क्षमता थी इस प्रवाह से अलग नही रह सका। इसके साथ-साथ उस समय सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति भी ऐसी थी, जिसमें सुधार की अत्यन्त आवश्यकता थी। इन सभी कारणो ने इंग्लैण्ड के बुद्धिजीवी-वर्ग को चिन्तन के लिये आकर्षित किया। परिणामस्वरूप फेबियनवाद का अभ्युदय हुआ। प्रसिद्ध इतिहासकार बीअर (M. Beer) का विचार है कि उस समय सामाजिक-आर्थिक-नैतिक कारणों से कई प्रकार की राष्ट्रीय समस्याऐं उत्पन्न हो चुकी थीं। उन्हे सुलझाने के लिये राष्ट्रीय प्रयत्नों की आवश्यकता थी, ताकि देश दक्षता और प्रगति की ओर अग्रसर हो सके। इस कार्य को विचार-चिन्तन के आधार पर पूरा करने का दायित्व फेबियनवादियों ने लिया।[1] इस प्रकार एक नई समाजवादी शाखा का जन्म हुआ।

फेबियन समाजवाद का मुख्य विचार-स्थल फेबियन सोसायटी (Fabian Society) थी। फेबियन सोसायटी का प्रादुर्भाव एकसमाजवादी संस्था के रूप में नहीं हुआ था। 1883 में टॉमस डेविडसन (Thomas Davidson, 1840-1900) जो स्कॉटलेन्ड मे पैदा हुए तथा अमेरिका मे एक शिक्षा शास्त्री का कार्य कर रहे थे, का लंदन आगमन हुआ। ये नैतिकवादी एवं रहस्यवादी थे

---

1. Beer, M., A History of British Socialism, Vol II, p. 277.

तथा एक ऐसे समाज की कल्पना करते थे जो इस कपटपूर्ण विश्व से दूर हो। इस सम्बन्ध में इनके प्रवचनों का लंदन में आयोजन किया गया। लंदन का बुद्धिजीवी समूह इनसे बहुत प्रभावित हुआ तथा डेविडसन के आदर्शों की उपलब्धि के लिये एक संस्था की स्थापना की गयी। लेकिन ये उद्देश्य तो पृष्ठभूमि में हो गये और कुछ नये समाजवादी उद्देश्यों को लेकर एक नये संगठन की स्थापना हुई। इस प्रकार जनवरी 4, 1884, को फेबियन सोसायटी की स्थापना हुई। इस सोसायटी के सदस्य एक रोमन जनरल फेबियस कंक्टेटर (Fabius Cunctator) की कार्य-पद्धति से बड़े प्रभावित थे। इसलिये इस संस्था का नाम फेबियस के नाम पर फेब्रियन सोसायटी रखा गया। ग्रे के अनुसार संस्था का नाम करण कोई सुखप्रद नही था।[2] इस सोसायटी के नाम की व्याख्या फ्रैंक पॉडमोर (Frank Podmore) द्वारा लिखित इसके आदर्श-सूत्र (motto) से होती है। इस सम्बन्ध में लिखा गया है कि.—

> "आपको उपयुक्त अवसर के लिये उसी प्रकार प्रतीक्षा करनी चाहिये जिस प्रकार होनेंबॉल से युद्ध करते समय फेबियस ने की थी, यद्यपि कई लोगों ने देर करने के लिये उसकी निन्दा की थी; किन्तु जब अवसर आ जाता है तो आपको फेबियस के समान कठिन चोट करना चाहिये अन्यथा आपका प्रतीक्षा करना व्यर्थ एवं निष्फल होगा।[3]

कुछ ही समय में फेबियन सोसायटी ने इंग्लैण्ड के कई प्राख्यात बुद्धिजीवियों को आकर्षित किया जिनमें प्रमुख थे—सिडनी वेब (Sydney Webb), श्रीमती बीट्रिस वेब (Mrs. Beatrice Webb or Mrs. Sidney Webb) जार्ज बर्नार्ड शॉ (George Bernard Shaw), सिडनी ऑलीवीर (Sydney Olivier), ग्राहम वालास (Graham Wallas), श्रीमती, ऐनीबेसेन्ट (Mrs. Annie Besant), ह्यूबर्ट ब्लॉ (Hubert Bland), विलियम क्लार्क (Will.am Clarke), केम्पबेल (J. Campbell), हेरॉल्ड लास्की (Harold

---

2. Gray, A., The Socialist Tradition, p. 386.
3 "For the right moment you must wait, as Fabius did most patiently when warring against Hannibal, though many censured his delays; but when the time comes you must strike hard, as Fabius did, or your waiting will be in vain, and fruitless "
Pease, Edward R., History of the Fabian Society, p. 32.

Laski), कोल (G. D. H. Cole) आदि । किन्तु इनमें सबसे प्रमुख एवं प्रारम्भिक योगदान सिडनी वेब तथा जॉर्ज बर्नार्ड शॉ का था । ये ही फेबियनवाद के प्रवर्तक थे ।[4]

फेबियनवाद के विकास की प्रमुख विशेषता यह है कि इस समाजवादी विचारधारा के प्रतिपादकों का श्रमिकों से कोई सम्बन्ध नही रहा है । यह सिर्फ अंग्रेजी विद्वानो के मस्तिष्क की उपज थी ।

दूसरे, यह वह समाजवादी सम्प्रदाय था जिस पर पूर्व समाजवादियों जैसे ओवन या मार्क्स आदि का प्रभाव नही पड़ा है । ये इसकी प्रेरणा के श्रोत नहीं हैं ।[5] इसकी प्रेरणा के श्रोत तो कुछ गैर-समाजवादी व्यक्ति जैसे रिकार्डो (David Ricardo), मिल (J. S. Mill), हेनरी जार्ज (Henry George) आदि हैं । बार्कर (Ernest Barker) का विचार है कि फेबियनवादियो पर मुख्य प्रभाव मिल का था । उन्होने मिल के आर्थिक विचारो का अनुकरण किया । मिल ही ने यदभाव्यम (Laissez Faire) नीति और सामाजिक समन्वय (Social adjustment) तथा राजनैतिक प्रगतिवाद (Political Radicalism) और आर्थिक सामाजीकरण (Economic Socialisation) के मध्य सेतु स्थापित किया । लगभग यही कार्य फेबियनवादियों का था ।[6]

फेबियन सोसायटी के सभी सदस्य प्रथम श्रेणी के बुद्धिजीवी आलोचक थे । सोसायटी की स्थापना के बाद इनका प्रथम कार्य उस समय की आर्थिक-सामाजिक समस्याओं का अध्ययन कर कुछ निष्कर्षों का निर्धारण करना था । इन्होंने मार्क्स, लासेल (Lassalle), प्रोधो, ओवन; प्रमुख अर्थ-शास्त्री स्मिथ, रिकार्डो तथा मिल आदि के विचारों का अध्ययन किया । यह अध्ययन 1884 से 1887 तक चलता रहा । इन वर्षों में मार्क्स, ओवन तथा चार्टिस्ट आन्दोलनकारी इनकी आलोचना के प्रमुख केन्द्र थे । मार्क्स तथा ओवन से ये प्रभावित

---

4. Boer, M., A History of British Socialism, Vol. II, p. 277.
5. "The early Fabians owed little to previous Socialist thinkers, and in particular nothing to either Owen or Marx. Their intellectual derivation was wholly non-socialists - from Ricardo, Mill, Jevons, and Henry George."
   Crosland, C.A R., The Future of Socialism, p. 84.
6. Barker, E., Political Thought in England, p. 90.

तो हुये किन्तु उनके विचार फेबियनवादियों के लिये ग्राह्य नहीं थे। बीअर (M. Beer) के शब्दों में:—

> ओवन-समाजवाद संक्षिप्त एवं साधारण था; मार्क्सवादी समाजवाद क्रान्तिकारी एवं सैद्धान्तिक था; फेबियन समाजवाद सामाजिक पुनरुत्थान के लिये दिन-प्रति-दिन की राजनीति था।"[7]

फिर भी ये स्वयं को ओवन तथा मार्क्स से पृथक नहीं कर सके। ओवन इंग्लैण्ड-निवासी थे। उनके समाजवादी विचार और सहकारिता के क्षेत्र में योगदान को भुलाया नहीं जा सकता था। मार्क्सवाद पूर्ण यूरोप पर छाया हुआ था। कोई भी समाजवाद मार्क्सवाद के विवेचन के बिना अपूर्ण था।

फेबियनवादियों द्वारा इतिहास की व्याख्या

अपने सैद्धान्तिक लेखों में फेबियन समाजवादियों ने ऐतिहासिक एवं आर्थिक आधार स्थापित करने में मार्क्सवादी परम्परा का अनुसरण किया है। किन्तु इतिहास तथा अर्थशास्त्र से उन्होंने जो सामग्री ली है एवं जो निष्कर्ष निकाले हैं, वह मार्क्स से भिन्न हैं।

फेबियनवादियों के अनुसार इतिहास यह बतलाता है कि समाज स्थिर नहीं है। इतिहास में समाजवाद की जो व्याख्या है, उससे मार्क्स की तरह यह सिद्ध नहीं होता कि प्रत्येक वस्तु पर आर्थिक अवस्थाओं का आधिपत्य रहता है। फेबियन यह मानते है कि इतिहास लोकतन्त्र तथा समाजवाद की ओर एक निरन्तर प्रगति प्रकट करता है।

इस सम्बन्ध में सिडनी वेब लिखते हैं कि इतिहास 'लोकतन्त्र की अदम्य प्रगति' और 'समाजवाद की प्रायः निरन्तर प्रगति' को लगातार व्यक्त करता है। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि इंग्लैण्ड में कुलीनतन्त्र से किस प्रकार मध्यवर्गीय लोकतन्त्र में परिवर्तन हुआ तथा आर्थिक क्षेत्र में विशुद्ध व्यक्तिगत तत्व का धीरे-धीरे निष्कासन हो रहा है।[8]

फेबियनवाद का आर्थिक पहलू

फेबियनवाद आर्थिक विकास के सिद्धान्त पर आधारित है। यह आधार समाज द्वारा उत्पन्न मूल्यों के सिद्धान्त में निहित है। रिकार्डो (... , 1772-1823) ने लगान-सिद्धान्त (T... 'Rent) ... ...न आय'

(Unearned increment) के सिद्धान्त को जन्म दिया। फेबियनवादियों ने यह स्वीकार करते हुए बतलाया है कि 'परिश्रम-हीन आय' का सिद्धान्त सिर्फ भूमि तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उद्योगों के ऊपर भी चरितार्थ होता है। किसी उद्योग में पूंजी लगाने मात्र से किसी भी व्यक्ति को उसकी आमदनी का उचित अधिकार प्राप्त नही हो जाता। उद्योगों में 'परिश्रम-हीन आय' को मुट्ठी भर पूंजीपति भूमि और पूंजी पर स्वामित्व के कारण हड़प जाते है।[9] वास्तव में यही समाज में अनेक बुराइयों का मूल कारण है। इससे आर्थिक विषमता फैलती है। धनिक वर्ग के हाथो मे पूंजी के केन्द्रीयकरण होने से वह इसका दुरुपयोग विलासिता के साधनों पर करता है, जब कि दूसरी ओर जन-साधारण निर्धन होते जाते हैं। इन बुराइयों का अन्त केवल भूमि और पूंजी का राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण (Socialisation) करके ही किया जा सकता है।

फेबियन राज्य के आर्थिक साधनों पर किसी एक वर्ग का नियन्त्रण स्वीकार नही करते। ये उत्पादन साधनों को समस्त समाज की सम्पत्ति मानते हैं।

इस विचारधारा के समर्थक मार्क्सवादी मूल्य का श्रम-सिद्धान्त (Labour Theory of Value) को स्वीकार नही करते। इनके अनुसार श्रम ही एक मात्र मूल्य का निर्धारक तत्त्व नही है। इसके विपरीत ये जेवोन्स (Jevons) द्वारा प्रतिपादित सीमांत उपयोगिता सिद्धान्त (Marginal Utility Theory) को मान्यता देते हैं, जिसके अनुसार मूल्य का निर्धारण मांग और पूर्ति के सिद्धान्त (Theory of Demand and Supply) तथा मिल (J. S. Mill) द्वारा विकसित उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility) के द्वारा होता है।

फेबियनवादियों के अनुसार अतिरिक्त मूल्य का श्रोत श्रमिक या पूंजीपति की परिश्रम-हीन आय नहीं है। यह आय उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के परिणामस्वरूप उसके भाड़े (Rent) से प्राप्त होती है। किन्तु फेबियनवादी यह मानने को भी तैयार नही है कि यह आय भूमि तथा पूंजी के व्यक्तिगत स्वामियों को मिलनी चाहिये। यह अन्याय है। इस आय पर समस्त समाज का अधिकार होता है। "वह शासन जो सामाजिक सुधारों के प्रति गम्भीर है उसे अपना ध्यान उस ओर देना चाहिये जिससे औद्योगिक तथा कृषि आय का उपयोग,

---

9. Sabine, G. H., A History of Political Theory, p 619.

आंशिक रूप में करों द्वारा, आंशिक रूप मे म्यूनिसिपलकरण और राष्ट्रीयकरण द्वारा, सम्पूर्ण समाज के हित मे किया जाय।"[10]

वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त का विरोध

फेबियनवादियों ने स्वयं को न तो कभी श्रमिकों का प्रतिनिधि कहा और न उन्होने कोई पृथक वर्ग बनाने का प्रयत्न ही किया। अपने समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये उन्होने वर्ग-संघर्ष को मान्यता नही दी। किन्तु इनके विचारो में वर्ग-संघर्ष का आभास अवश्य मिलता है। "जहाँ तक वर्तमान उत्पादन एवं वितरण की प्रणाली समाज में हित-संघर्ष को उत्पन्न करती है वह संघर्ष फेबियनों के अनुसार वेतन पर काम करने वालों तथा उनको काम मे लगाने वालो के बीच नही वरन एक ओर समाज और दूसरी ओर पूंजी लगाकर धनी बन जाने वालो के बीच है। [11] कुछ भी हो, फेबियनवादियों का उद्देश्य वर्ग-संघर्ष द्वारा एक वर्ग का विनाश कर दूसरे वर्ग की शासन व्यवस्था स्थापित करना नही था। फेबियन समाज उन समस्त योजनाओ को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करता है, जो समाज के समस्त उत्पादन को किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियो के वर्ग को सौंपती है। उसका उद्देश्य स्वाम्य को श्रमिको को नही समाज को सौंपना है। इस हस्तान्तरण मे उन्होने क्रमिक विकास के अवश्यम्भावीपन (the inevitability of gradualness) पर जोर दिया है।

फेबियन समाजवाद के उद्देश्य

वैसे अक्सर यह कहा जाता है कि फेबियन सोसाइटी न तो समाजवादी दल था और न मूलतः कोई समाजवादी विचारधारा, किन्तु कुछ व्यक्तियों का एक समूह जो उस समय की आवश्यक सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिये एक व्यावहारिक दृष्टिकोण का प्रसार करना तथा उनकी प्राप्ति के लिये व्यवस्थापिका तथा प्रशासनिक समाधानो की ओर इंगित करना था।[12]

प्रारम्भिक फेबियन समाजवादी निम्नलिखित सामान्य समझौते से प्रतिज्ञाबद्ध थे:—

---

10. Beer, M., A History of British Socialism, Vol II
 Also see Kilzer and Ross, Social Thou
11 कोकर, आधुनिक राजनीतिक 12-11
12. Beer, M., A History of

"इस सोसायटी के सदस्य यह मानते हैं कि प्रतियोगिता की प्रणाली से सुख-सुविधाएं कम व्यक्तियों को मिलती हैं और बहुसंख्यक जनता को कष्ट मिलता है, इसलिये समाज का पुनः संगठन इस प्रकार होना चाहिये जिससे समाज के समस्त व्यक्तियों का सुख एवं कल्याण सुनिश्चित हो सके।"[13]

1884 में बर्नार्ड शा द्वारा तैयार किये गये घोषणापत्र में सोसायटी ने अधिक स्पष्ट शब्दों में समाजवाद को स्वीकार किया तथा कहा कि भूमि का राष्ट्रीयकरण होना चाहिये और राज्य को प्रत्येक उत्पादन क्षेत्र में अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रतियोगिता करनी चाहिये।

फेबियनवाद मे समय-समय पर तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपने उद्देश्यों में संशोधन एवं परिवर्धन हुए हैं। 1919 में फेबियनवादियों ने फिर यह घोषणा की कि:—

"भूमि और औद्योगिक पूंजी को व्यक्तिगत स्वामित्व से मुक्त करके और उन्हें सार्वजनिक हित के लिये समाज के हाथो में सौंप कर समाज का पुनर्गठन करना इसका लक्ष्य है। देश की प्राकृतिक और अर्जित सम्पत्ति को पूरी जनता मे न्यायपूर्वक बांटना इसी प्रकार सम्भव है।"

"इसलिये भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का उन्मूलन करने के लिये समाज कदम उठाता है। ऐसा करने मे यह प्रतिष्ठित आशाओं का और घर तथा बगीचे के स्वामित्व का न्यायसंगत विचार रखता है। यह उन सब उद्योगों को समाज के आधिपत्य में लाने के कदम उठाता है, जिनका संचालन सामाजिक रीति से किया जा सकता है और उत्पादन, वितरण और सेवा के नियमन में व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सार्वजनिक हित को प्रधान लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है।"[14]

---

13. Pease, Edward R, History of the Fabian society p. 269
14 Peaes, Edward R., History of the Fabian Society, p 259

आंशिक रूप में करों द्वारा, आंशिक रूप से म्यूनिसिपलकरण और राष्ट्रीयकरण द्वारा, सम्पूर्ण समाज के हित में किया जाय।"[10]

वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त का विरोध

फेबियनवादियो ने स्वयं को न तो कभी श्रमिको का प्रतिनिधि कहा और न उन्होने कोई पृथक वर्ग बनाने का प्रयत्न ही किया। अपने समाजवादी उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये उन्होने वर्ग-संघर्ष को मान्यता नही दी। किन्तु इनके विचारो मे वर्ग-संघर्ष का आभास अवश्य मिलता है। "जहाँ तक वर्तमान उत्पादन एवं वितरण की प्रणाली समाज में हित-संघर्ष को उत्पन्न करती है वह संघर्ष फेबियनों के अनुसार वेतन पर काम करने वालों तथा उनको काम में लगाने वालो के बीच नही वरन एक ओर स माज और दूसरी ओर पूंजी लगाकर धनी बन जाने वालो के बीच है।[11] कुछ भी हो, फेबियनवादियो का उद्देश्य वर्ग-संघर्ष द्वारा एक वर्ग का विनाश कर दूसरे वर्ग की शासन व्यवस्था स्थापित करना नहीं था। फेबियन समाज उन समस्त योजनाओं को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करता है, जो समाज के समस्त उत्पादन को किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियो के वर्ग को सौंपती है। उसका उद्देश्य स्वाम्य को श्रमिको को नही समाज को सौंपना है। इस हस्तान्तरण में उन्होने क्रमिक विकास के अवश्यम्भावीपन (the inevitability of gradualness) पर जोर दिया है।

फेबियन समाजवाद के उद्देश्य

वैसे अक्सर यह कहा जाता है कि फेबियन सोसाइटी न तो समाजवादी दल था और न मूलतः कोई समाजवादी विचारधारा, किन्तु कुछ व्यक्तियों का एक समूह जो उस समय की आवश्यक सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिये एक व्यावहारिक दृष्टिकोण का प्रसार करना तथा उनकी प्राप्ति के लिये व्यवस्थापिका तथा प्रशासनिक समाधानों की ओर इंगित करना था।[12]

प्रारम्भिक फेबियन समाजवादी निम्नलिखित सामान्य समझौते से प्रतिज्ञावद्ध थे:—

---

10 Beer, M., A History of British Socialism, Vol. II. p. 283.
Also see Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 284.

11. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 112-113.

12. Beer, M., A History of British Socialism, Vol. II. pp. 276-77

"इस सोसायटी के सदस्य यह मानते हैं कि प्रतियोगिता की प्रणाली से सुख-सुविधाएं कम व्यक्तियों को मिलती हैं और बहुसंख्यक जनता को कष्ट मिलता है, इसलिये समाज का पुनः संगठन इस प्रकार होना चाहिये जिससे समाज के समस्त व्यक्तियों का सुख एवं कल्याण सुनिश्चित हो सके।"[13]

1884 में बर्नार्ड शा द्वारा तैयार किये गये घोषणापत्र मे सोसायटी ने अधिक स्पष्ट शब्दो में समाजवाद को स्वीकार किया तथा कहा कि भूमि का राष्ट्रीयकरण होना चाहिये और राज्य को प्रत्येक उत्पादन क्षेत्र में अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रतियोगिता करनी चाहिये।

फेबियनवाद में समय-समय पर तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपने उद्देश्यों में संशोधन एवं परिवर्धन हुए हैं। 1919 में फेबियनवादियों ने फिर यह घोषणा की कि:—

"भूमि और औद्योगिक पूंजी को व्यक्तिगत स्वामित्व से मुक्त करके और उन्हें सार्वजनिक हित के लिये समाज के हाथों में सौंप कर समाज का पुनर्गठन करना इसका लक्ष्य है। देश की प्राकृतिक और अर्जित सम्पत्ति को पूरी जनता में न्यायपूर्वक बांटना इसी प्रकार सम्भव है।"

"इसलिये भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का उन्मूलन करने के लिये समाज कदम उठाता है। ऐसा करने में वह प्रतिष्ठित आशाओं का और घर तथा बगीचे के स्वामित्व का न्यायसंगत विचार रखता है। यह उन सब उद्योगों को समाज के आधिपत्य में लाने के कदम उठाता है, जिनका संचालन सामाजिक रीति से किया जा सकता है और उत्पादन, वितरण और सेवा के नियमन में व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सार्वजनिक हित को प्रधान लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है।"[14]

---

13. Pease, Edward R., History of the Fabian society p. 269
14 Peaes, Edward R., History of the Fabian Society, p 259

आंशिक रूप में करों द्वारा, आंशिक रूप मे म्यूनिसिपलकरण और राष्ट्रीयकरण द्वारा, सम्पूर्ण समाज के हित में किया जाय।"[10]

वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त का विरोध

फेबियनवादियो ने स्वयं को न तो कभी श्रमिकों का प्रतिनिधि कहा और न उन्होने कोई पृथक वर्ग बनाने का प्रयत्न ही किया। अपने समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये उन्होंने वर्ग-संघर्ष को मान्यता नही दी। किन्तु इनके विचारों में वर्ग-संघर्ष का आभास अवश्य मिलता है। "जहाँ तक वर्तमान उत्पादन एवं वितरण की प्रणाली समाज में हित-संघर्ष को उत्पन्न करती है वह संघर्ष फेबियनों के अनुसार वेतन पर काम करने वालों तथा उनको काम में लगाने वालो के बीच नही वरन एक ओर समाज और दूसरी ओर पूंजी लगाकर धनी बन जाने वालो के बीच है।[11] कुछ भी हो, फेबियनवादियो का उद्देश्य वर्ग-संघर्ष द्वारा एक वर्ग का विनाश कर दूसरे वर्ग की शासन व्यवस्था स्थापित करना नही था। फेबियन समाज उन समस्त योजनाओं को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करता है, जो समाज के समस्त उत्पादन को किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियो के वर्ग को सौंपती है। उसका उद्देश्य स्वाम्य को श्रमिकों को नही समाज को सौंपना है। इस हस्तान्तरण मे उन्होने क्रमिक विकास के अवश्यम्भावीपन (the inevitability of gradualness) पर जोर दिया है।

फेबियन समाजवाद के उद्देश्य

वैसे अक्सर यह कहा जाता है कि फेबियन सोसाइटी न तो समाजवादी दल था और न मूलतः कोई समाजवादी विचारधारा, किन्तु कुछ व्यक्तियों का एक समूह जो उस समय की आवश्यक सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिये एक व्यावहारिक दृष्टिकोण का प्रसार करना तथा उनकी प्राप्ति के लिये व्यवस्थापिका तथा प्रशासनिक समाधानो की ओर इंगित करना था।[12]

प्रारम्भिक फेबियन समाजवादी निम्नलिखित सामान्य समझौते से प्रतिज्ञाबद्ध थे:—

---

10 Beer, M., A History of British Socialism, Vol. II. p 283.
Also see Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 284.

11 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 112-113.

12. Beer, M., A History of British Socialism, Vol. II. pp. 276-77

"इस सोसायटी के सदस्य यह मानते हैं कि प्रतियोगिता की प्रणाली से सुख-सुविधाएं कम व्यक्तियों को मिलती हैं और बहुसंख्यक जनता को कष्ट मिलता है, इसलिये समाज का पुनः संगठन इस प्रकार होना चाहिये जिसमें समाज के समस्त व्यक्तियों का सुख एवं कल्याण सुनिश्चित हो सके।"[13]

1884 में बर्नार्ड शा द्वारा तैयार किये गये घोषणापत्र में सोसायटी ने अधिक स्पष्ट शब्दों में समाजवाद को स्वीकार किया तथा कहा कि भूमि का राष्ट्रीयकरण होना चाहिये और राज्य को प्रत्येक उत्पादन क्षेत्र में अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रतियोगिता करनी चाहिये।

फेबियनवाद में समय-समय पर तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपने उद्देश्यों में संशोधन एवं परिवर्धन हुए हैं। 1919 में फेबियनवादियों ने फिर यह घोषणा की कि:—

"भूमि और औद्योगिक पूंजी को व्यक्तिगत स्वामित्व से मुक्त करके और उन्हें सार्वजनिक हित के लिये समाज के हाथों में सौंप कर समाज का पुनर्गठन करना इसका लक्ष्य है। देश की प्राकृतिक और अर्जित सम्पत्ति को पूरी जनता में न्यायपूर्वक बांटना इसी प्रकार सम्भव है।"

"इसलिये भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का उन्मूलन करने के लिये समाज कदम उठाता है। ऐसा करने में वह प्रतिष्ठित आशाओं का और घर तथा बगीचे के स्वामित्व का न्यायसंगत विचार रखता है। यह उन सब उद्योगों को समाज के आधिपत्य में लाने के कदम उठाता है, जिनका संचालन सामाजिक रीति से किया जा सकता है और उत्पादन, वितरण और सेवा के नियमन में व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सार्वजनिक हित को प्रधान लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है।"[14]

---

13. Pease. Edward R. History of the Fabian society p. 269
14 Peaes, Edward R., History of the Fabian Society, p 259

इन उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए लेडलर (H W. Laidler) ने लिखा है कि इसका यह अर्थ हुआ कि फेबियनवाद—

प्रथम, पूंजीवाद से समाजवाद के संक्रमण को एक क्रमिक प्रक्रिया मानता है।

द्वितीय, शान्तिपूर्ण आर्थिक और राजनीतिक उपकरणो के माध्यम से ही उद्योगो के समाजीकरण की आवश्यकता समझता है।

तृतीय, मध्यवर्ग को एक ऐसा समुदाय मानता है जिसका उपयोग नवीन सामाजिक व्यवस्था के लिये शासन कला का विकास करने में किया जा सकता है।

चतुर्थ, कि समाजवाद की प्राप्ति के लिये समाजवादी आदर्शों के विषय मे समाज की चेतना को जाग्रत और सक्रिय करना महत्वपूर्ण कदम है।[15]

इंग्लैंड में जैसे जैसे समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ता गया तथा जैसे ही लेबर पार्टी की सक्रियता मे वृद्धि हुई फेबियनवाद का महत्व कम होता गया। इनके सदस्यों में भी मतभेद होने लगे, परिणामस्वरूप फेबियनवाद के उद्देश्यो का पुनः मूल्याकन किया गया। कोल (G. D. H. Cole) जो 1939 से 1946 तक फेबियन सोसायटी के अध्यक्ष रहे, उन्होने 1942 में फेबियनवाद की निम्नलिखित शब्दो में फिर से व्याख्या की:—

> "हमारा विश्वास है कि समाजवादी आन्दोलन में कही एक ऐसी संस्था की आवश्यकता है जो नवीन विचारो को सोचने और उनका प्रचार करने के लिये पूर्णतः स्वतन्त्र हो। भले ही ऐसे विचार समाजवादी परम्परा के अनुसार शास्त्र-सम्मत न हो। समाजवाद कुछ निश्चित नियमो का समूह नही है, जिसे समय या स्थान का विचार किये बिना ही प्रयोग में लाया जाय।"

आगे कोल लिखते हैं :

फेबियन समाज का संगठन विचार-विनिमय के लिये है न कि चुनाव लड़ने के लिये। यह काम उसने अन्य संस्थाओं के लिये छोड़

15 Laidler, H W, Social-Economic Movements, p. 184

दिया है। फेबियनों को अपने चुने हुए काम - लेखन और अनुसन्धान में लगा रहना चाहिये, पर चूंकि अब यह विस्तृत कार्य (समाजवादी दल में समाजवादी प्रचार) करने वाला कोई नही है, इसलिये फेबियन पुस्तक-लेखन और शोध कार्य पूरे दल पर अपना वाछित प्रभाव डालने में असमर्थ है। यदि अन्य कोई इस कार्य को नही करता है तो फेबियनों को ही सामने आना होगा और समाजवाद का प्रचार करने का बीड़ा उठाना पड़ेगा।"[16]

कोल की यह व्याख्या निश्चय ही फेबियनवाद के पतन को व्यक्त करती है। अब लेखन और शोध-कार्य में भी फेबियनवादियो का विशेष महत्व नहीं रहा, कोई विशेष समाजवादी कार्य-क्रम प्रस्तुत करना तो अलग रहा। लेबर पार्टी अब पूर्ण विकसित राजनीतिक दल ही नहीं बन चुकी थी, किन्तु सत्ता को अपने हाथ में भी ले चुकी थी। धीरे-धीरे फेबियन सोसाइटी लेबर पार्टी की छाया मात्र ही बन कर रह गई।

फेबियनवाद तथा राज्य—

फेबियनवादियों का राज्यमें विश्वास है। वे राज्य को प्रतिनिधि, संरक्षक, व्यवसायी, प्रबन्धकर्त्ता आदि समझते थे। **किन्तु राज्य के विषय में उनके विचार मार्क्स से भिन्न थे।** न तो वे राज्य के लोप में विश्वास करते थे और न सर्वहारा-अधिनायकत्व की भांति राज्य को इतने व्यापक अधिकार के पक्ष में थे।[17] उनका कहना था कि राज्य बिना किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन के निर्दोष तथा विश्वासपात्र बनाया जासकता है। इसलिये उन्होने इस प्रकार के सुझाव दिये कि बिना क्राति के ही राज्य के आन्तरिक स्वभाव में परिवर्तन हो जाय। ये सुझाव थे मताधिकार का विस्तार, प्रशिक्षित लोक सेवा (Civil Services), सबके लिये समान अवसर आदि।

फेबियनवादी राज्य के कार्य विस्तार को समाजवाद के लिये आवश्यक मानते थे। राज्य के कार्य में वृद्धि करने का तात्पर्य था कि राज्य के तत्वाधान में स्थानीय स्व-शासन संस्थाओ को अधिक कार्य करने के अवसर देने चाहिये।[18] राज्य जब कई प्रकार के कार्य करेगा; नागरिक सेवाओं तथा औद्योगिक स्पर्धा में भाग लेगा; इसमे फेबियनवादियों का मुख्य आशय यह था कि ये कार्य स्थानीय

---

16 Cole, G D. H., Fabian Socialism, p 164.
17. Crosland, C. A. R., The Future of Socialism, P. 84.
18. Gray, A., The Socialist Tradition, p. 387;
 Cole, G. D H., Fabian Socialism, pp. 164, 172.

संस्थाओं द्वारा किये जायेंगे । वे बहुत से कार्यों के म्यूनिसिपलकरण (Municipalisation) के पक्ष में थे ।

राज्य को अपने अधिकार क्षेत्र में कहाँ तक वृद्धि करनी चाहिये इस विषय में फेवियनवादी स्पष्ट नहीं है । उनके लिये समाजवादी मार्ग की ओर बढ़ना एक यात्रा के समान था जिसकी कोई निश्चित मंजिल न हो । [19] किन्तु राज्य के माध्यम से निरन्तर बढ़ते अवश्य रहना चाहिये ।

इंग्लैंड में जब-जब लेबर पार्टी की सरकार बनी, उसने फेवियनवादी सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया । उनके कार्यकाल में कई उद्योगों के राष्ट्रीयकरण किये गये तथा नगरपालिकाओं ने कई नागरिक सेवाओं को अपने नियन्त्रण में किया ।

कार्य-पद्धति

Methods and Means

फेवियनवादी समाजवादियों में सर्वाधिक सक्रिय किन्तु किंचित मात्र भी क्रांतिकारी नहीं थे । [20] उन्होंने हमेशा ही अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये शांतिपूर्ण एवं संवैधानिक साधनों का समर्थन किया । वे क्रमिक-प्रगतिवादी (Gradualist) थे । कार्य-पद्धति के विषय में उनके लिये यह प्रयास गति अधिक उपयुक्त थी—

हम बढ़ेंगे,
निरन्तर थोड़ा-थोड़ा आगे । [21]

जैसा कि अन्यत्र उल्लेख किया गया है फेवियनो का उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना नहीं था । वे समाजवादी विचारधारा को जन जन तक पहुंचाना चाहते थे । इसलिये उन्होंने मूलतः प्रसार साधनों को ही अपनाया था । [22] उन्होंने पुस्तक-प्रकाशन, लेखों, व्याख्यानों तथा अध्ययन संस्थाओं का सहारा लेकर अपने विचारों से जनमानस को प्रभावित करने का प्रयत्न किया ।

---

19. Gray, A., The Socialist Tradition, p. 399.
20. Ibid., P. 399.
21. We shall go
    Always a little further.
    Ibid., p. 399.
22. Ibid., p. 367.

फेबियनवादी उच्च कोटि के बुद्धिवादी थे। फेबियन समाज के तत्वाधान में कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सृजन हुआ। पीज (Edward Pease)[23] द्वारा लिखित-History of the Fabian Society; फेबियनवादियों के लेख तथा व्याख्यानों का संग्रह-Fabian Essays In Socialism (1889) तथा Fabian Society Tracts, 1884-1924, Nos. 1-212 आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।[24]

1888-89 में फेबियन सोसायटी के सदस्यों ने सात सौ से अधिक व्याख्यान दिये।

1912 में सोसायटी ने एक फेबियन अन्वेषण-विभाग खोला। समय समय पर फेबियन ग्रीष्म स्कूलों (Fabian Summer Schools) विश्वविद्यालयों तथा कई शहरो में फेबियन कोष्ठों (Fabian Cells) की स्थापना की गई। इन सभी ने फेबियन समाजवादी विचारधारा का प्रसार तथा इसे लोकप्रिय बनाने का व्यापक एवं सफल प्रयत्न किया और यही फेबियनों का उद्देश्य था।

महिला उत्थान

महिला उत्थान के क्षेत्र में फेबियन सोसायटी की महिला सदस्यों ने बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य किया। इनका विश्वास था कि समाज में महिला-मुक्ति तथा उनकी प्रगति समाजवाद का एक आन्तरिक भाग है। महिलाओं की उन्नति तथा समाजवाद का विकास बहुत कुछ समानान्तर चलता है। राष्ट्रीय जीवन के पूर्ण सामाजीकरण के लिये महिलाओं की राजनीतिक, आर्थिक स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक है।

इन उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए 1908 में फेबियन सोसायटी के तत्वाधान में एक फेबियन महिला ग्रुप (Fabian Women's Group) की स्थापना की गई। इस संस्था का मुख्य कार्य महिलाओं से सम्बन्धित राजनीतिक व आर्थिक संस्थाओं का व्यापक अन्वेषण करना तथा उन्हें आदमियों के स्तर तक

---

23. एडवर्ड पीज 1884 से 1912 तक फेबियन सोसायटी के सचिव थे।
24. For literary and scientific work of Fabian Society See Beer, M., A History of British Socialism, Vol. II, pp 288-90.

लाना था। इन्होंने बिना किसी भेदभाव के स्त्री तथा पुरुषों की समानता की माँग की। ये वास्तव में यह भ्रान्ति दूर करना चाहते थे कि स्त्री पुरुष अलग अलग कार्यों के लिये ही उपयुक्त है।

महिला उत्थान से सम्बन्धित इस ग्रूप ने व्याख्यानों का आयोजन किया तथा कुछ रचनाएें प्रकाशित की। इन रचनाओं में प्रमुख थी—

1. Hutchins, B. L. (Miss), The working life of women.

2. Pember Reeves (Mrs.), Family life on £ 1 a week.

3. Charlotte Wilson (Mrs.) and
   Helen Blagg (Miss), Women and P/isons,

4. Maben Atkinson (Miss), The Economic Fundation of the Women Movement.

आलोचना

रमजे मेकडोनेल्ड (J. Ramsay MacDonald), 1924 में इंग्लैन्ड में लेबर पार्टी के प्रथम प्रधान मन्त्री, के मतानुसार फेबियन सोसायटी का समाजवादी संगठन के विकास में बिलकुल मामूली योगदान रहा है। वास्तव में फेबियन सोसायटी ने उन बहुत से विचार और नीतियों का विरोध किया जिसने इंग्लैन्ड मे एक विशेष ढंग के समाजवादी आन्दोलन का निर्धारण किया। ये एक स्वतन्त्र श्रमिक दल के अलग अस्तित्व के विरुद्ध थे।[25]

फेबियन सोसायटी सिर्फ एक अन्वेषण-केन्द्र तथा मुट्ठी भर बुद्धिजीवियों का विचार-विनिमय का फोरम था। यही कारण था कि फेबियनो ने अपनी संख्या मे वृद्धि नही की। 1914 मे इसकी सदस्य संख्या लगभग 3000 थी।[26] इस सदस्य संख्या से सिर्फ सीमित विचार-क्रान्ति या विचार-परिवर्तन ही सम्भव था। इसका तात्पर्य था कि फेबियनवादी जन साधारण के साथ न तो घुले मिले और न ही उनकी समस्याओं को प्रत्यक्ष रुप से उनके साथ रह कर समझ सके। इनमे तथा जन-साधारण के मध्य भारी खाई थी।

---

25. Ramsay MacDonald J, Socialism.Critical and Constructive, P. 82n.
26. Beer, M, A History of British Socialism, vol II, P.296.

फेबियनवादी प्रहार करने के इच्छुक तो हैं, लेकिन उसके लिये उनमें क्षमता नही थी। वे अपने विचारों से मार्क्स ओवन तथा अन्यो की आलोचना करते हैं। वे परिश्रम-हीन आय, जिसका सम्बन्ध पूंजीवाद से ही हो सकता है, की भी निन्दा करते हैं। ये समाजवादी प्रगति के लिये कार्यक्रम को भी सुझाते हैं। लेकिन जहाँ तक कार्यशील होने का प्रश्न था इन्होंने सामान्यत. अपने अध्ययन-कक्ष की सीमा को पार करने की हिम्मत नही की, यही उनका कार्य-स्थल था। फिर भी ये कम से कम निम्न वर्ग के लिये जिसका कि प्रत्येक देश में बहुमत होता है, के कुछ गतिशील होने की, प्रेरणा दे सकते थे। वे यह भी नही कर सके। वे जो कुछ भी चाहते थे, राज्य के माध्यम से ही करवाना पसन्द करते थे। इसका सीधा यही तात्पर्य था कि राज्य जिस पर पूंजीपतियो का अधिकार था वही जन कल्याण की ओर कदम उठाये। यह व्यापक रूप में असम्भव था। ये राज्य को तथा उच्च वर्ग को उदारवादी बनाना चाहते थे, समाजवादी नहीं। सम्भवतः उच्च-वर्ग से फेबियनों के सम्बन्ध अच्छे थे।

फेबियनवादी इस विषय पर मौन है कि जिस व्यवस्था का वे समर्थन करते है, क्या वह राजनीतिक लोकतन्त्र को बनाये रखने में सफल होगी ! जेन लेन्कास्टर का विचार है कि सम्भवतः यह आसान नही होगा। क्योंकि फेबियनवादी राज्य को एक सेवा करने वाली सार्वजनिक कर्मचारियो की संस्था मानते हैं। ये सार्वजनिक कर्मचारी अपना स्वयं ही एक वर्ग बना लेते हैं। कर्मचारी दक्षता पर अधिक बल देते हैं और यह व्यक्तियों तथा राज्य के मध्य एक चौड़ी खाई की स्थापना करता है। 27

योगदान

ऐलेग्जेन्डर ग्रे के विचारानुसार फेबियनों का महत्वपूर्ण योगदान यह था कि उन्होंने समाजवाद को एक सम्मानित विचार-धारा बनाया। इसके पहले समाजवाद को विध्वंसकारी विप्लवकारी, तोड़-फोड़वादी, मजदूर वर्ग की विचार धारा माना जाता था। फेबियनों ने ऐसे समाजवाद का सृजन किया जिसे मध्य-वर्ग, तथा थोड़ा बहुत पढ़ा लिखा व्यक्ति भी आसानी से ग्रहण कर सके। जिस तरह उन्होंने अपने विचारों का प्रसार किया समाजवाद एक सम्मानित विचारधारा ही नही बल्कि एक फैशन बन गया। 28

---

27. Lancaster, L.W., Masters of Political Thought, vol.II,P.330.
28. Gray, Alexander, The Socialist. Traditiod, p 400.

साहित्यिक महत्व

फेबियनवादी अपनी गतिविधियों से इंग्लैंड के समाज पर छा गये। उनके ग्रन्थों, पुस्तिकाओं आदि का राजनीतिक ही नही किन्तु साहित्यिक महत्व भी था। बर्नार्ड शॉ तथा अन्य का अंग्रेजी साहित्य में भी महत्वपूर्ण स्थान है।

फेबियन साहित्य मजा हुआ, सधा हुआ साहित्य था। उन्होंने जो कुछ लिखा वह शोध एवं साहित्यिक भाषा मे ही लिखा। कार्ल मार्क्स की तरह आवेगपूर्ण क्रान्तिकारी शब्दो का प्रयोग नही किया।[29] यही कारण था कि इंग्लैंड की विकासवादी जनता उनके विचारो से प्रभावित हुई।

इग्लैण्ड की ग्रह नीति पर प्रभाव

फेबियनों का मुख्यतः प्रभाव इग्लेन्ड की ग्रह नीति के क्षेत्र में पड़ा। उन्होंने श्रमिको की स्थिति को उठाने, उद्योग वर्ग के स्वामियों की सम्पत्ति को कम करने, लाभों का न्यायपूर्वक वितरण करने के लिये कई व्यवहारिक योजनाएं बनाई और तर्क एवं तथ्यो द्वारा उनको शक्ति प्रदान की।[30] कोकर ने मत व्यक्त किया है कि उन्होने तात्कालिक प्रयोग के लिये व्यवहारिक योजनाएं बनाई जो कई प्रकार से काम मे लाई जा सकती थी जैसे:—

1. सामाजिक विधि-निर्माण द्वारा काम के घन्टों में कमी; बेकारी के समय रक्षण; स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा वेतन के लिये न्यूनतम स्तर तथा शिक्षा की उन्नति करना;
2. राष्ट्रीय तथा म्युनिसिपल सरकारों द्वारा सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं (Public Utilities) और स्वाभाविक एकाधिकारों पर सार्वजनिक स्वाम्य;
3. उत्तराधिकार पर कर, भूमि-कर तथा लगी हुई पूंजी की आय पर कर।

इन सभी क्षेत्रों में फेबियन समाजवादियों ने अधिक स्पष्ट प्रभाव डाला है। इग्लैन्ड तथा स्काटलैन्ड में म्युनिसिपल सामाजीकरण के विस्तार को शीघ्रता से बढ़ाने में इनके प्रचार-सहित्य तथा व्याख्यानों से बड़ी सहायता मिली। "उनसे उस लोकमत को तैयार करने में भी बड़ी सहायता मिली है जिसने सम्पत्ति पर

29 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 295

30. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 113-14.

कर लगाने के नये ढंगों को कार्य में लाते समय राष्ट्रीय सरकार का समर्थन किया जैसे लगी हुई पूंजी से होने वाली आय पर सापेक्ष द्रष्टि से ऊंचा कर लगाना, उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति से भारी शुल्क लेना और (1910 के राजस्व कानून में) काम में नही ली हुई भूमियों तथा काम में लाई हुई भूमियों के मूल्यों मे अनर्जित वृद्धि पर विशेष कर लगाना।"[31]

इसमें कोई शक नहीं कि फेबियनवादियों ने कर लगाने के जो नये-नये सुझाव दिये वे बड़े महत्व पूर्ण थे। कोई भी समाजवादी दल या राज्य इन कर सुझावों की अवहेलना नहीं कर सकता।

इंग्लेन्ड के मजदूर दल पर प्रभाव

फेबियन समाजवादी इंग्लैंड में मजदूर दल (Labour Party) के सैद्धान्तिक पक्ष को व्यक्त करते हैं। यह कहना अतिश्योक्ति नही होगा कि समय-समय पर फेबियनों ने मजदूर दल का सैद्धान्तिक मार्ग निर्देशन किया। सन् 1918 में सिडनी वेब ने मजदूर दल के लिये एक नया विधान तथा कार्य-क्रम बनाया जिसके कारण उसकी सदस्यता में विस्तार हुआ। फेबियन सोसायटी तथा मजदूर दल का सम्बन्ध काफी घनिष्ट था तथा फेबियनो में बहुत से मजदूर दल के सक्रिय सदस्य थे। इंग्लैण्ड में जब-जब लेबर पार्टी की सरकार बनी उसमे फेबियन समाज के सदस्यों को महत्वपूर्ण स्थान मिला। सन् 1924 के प्रथम मजदूर मन्त्रिमन्डल में लगभग 9 फेबियन समाजवादी थे जिनमें प्रमुख सिडनी वेब, लार्ड आलीवर, नोएल बूटन (Noel Buton), आर्थर हेन्डरसन, लार्ड टामसन आदि थे। यही नही प्रधान मन्त्री रेमेज मेकडॉनेल्ड तथा उनके वित्त मन्त्री स्नोडन (Lord Snowdon) भी फेबियन सोसाइटी के भूतपूर्व सदस्य थे। मजदूर दल की सरकारो के माध्यम से फेबियनों ने अपने समाजवादी कार्य-क्रम को कार्यान्वित करने का प्रयत्न ही नही किया, किन्तु इंग्लैण्ड की सम्पूर्ण राजनीति समयानुसार चलाये रखने के लिये महत्वपूर्ण योगदान दिया।

फेबियनवाद तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद

फेबियनवादियों का एक महत्वपूर्ण कार्य यह था कि इन्होने लोकतान्त्रिक समाजवाद को स्थायित्व ही प्रदान नही किया, उसकी गति में वृद्धि करने में भी योगदान दिया। ओवनवाद के यूटोपियायी विचारों से ऊपर उठकर तथा

---

31. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 114.

मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों का डटकर सैद्धान्तिक सामना कर इन्होंने लोकतान्त्रिक या विकासवादी समाजवाद के मार्ग को प्रशस्त तथा स्पष्ट दोनों ही किया। इंग्लैण्ड का मजदूर दल जो विकासवादी समाजवाद का द्योतक था, फेबियनवादियो से उत्प्रेरित हुआ था।

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Beer, M., — A History of British Socialism, vol. II Chapter XIV, The Fabian Society
2. कोकर, — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन अध्याय 4, प्रजातान्त्रिक एवं विकासवादी समाजवाद
3. Cole, G.D.H., — Fabian Socialism, London, 1943
4. Cole, Margaret, — The Story of Fabian Socialism, London, 1963.
5. Gray, Alexander, — The Socialist Tradition Chapter XIV (a), Fabianism
6. Laidler, Harry W., — History of Socialist Thought Chapters XVII and XVIII
7. Pease, Edward R., — History of The Fabian Society, London, 1916, Revised edition, 1925
8. Pelling, Henry (Ed.) — The Challenge of Socialism Chapter 11, Fabian Society.

गिल्ड समाजवाद

Guild Socialism

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे इंग्लैंड में एक और समाजवादी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिसे गिल्ड समाजवाद कहते है। गिल्ड समाजवाद का प्रवर्तन कुछ फेबियनवादियों ने मिलकर किया।[1] गिल्ड या श्रेणी (Guild) का अर्थ है स्वेच्छा पर आधारित पारस्परिक-निर्भर व्यक्तियों की वह स्व-शासित संस्था जिसका संगठन समाज के किसी विशेष कर्तव्य को उत्तरदायित्व के साथ पूरा करने के लिए संगठित किया गया हो।[2] गिल्ड या श्रेणी पर आधारित समाजवाद ही गिल्ड समाजवाद है।

गिल्ड समाजवाद को किल्ज़र एवं रॉस के अनुसार, यह परिकल्पना थी कि समस्त उत्पादकों को सामान्यतः छोटी-छोटी आत्म-निर्भर औद्योगिक इकाइयों मे संगठित किया जाय, जहाँ दस्तकारी के कार्य की प्रधानता तथा श्रमिकों में अधिक उत्तरदायित्व की भावना होगी, जो पूंजीवादी व्यवस्था में सम्भव नही है। इनकी प्राप्ति श्रमिकों के कार्य के गुण तथा सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया को लोकतान्त्रिक ढंग से व्यवस्थित करने से होगी।[3]

कोकर ने मत व्यक्त किये हैं कि गिल्ड समाजवाद पूंजी के मालिकों से उन अवस्थाओं का निर्णय करने की सत्ता जिनके अधीन मजदूर काम करते हैं, और मजदूर जो कुछ उत्पादन करते हैं, उससे लाभ उठाने का अधिकार उनसे छीन लेना चाहते हैं। परन्तु वह उत्पादकों या मजदूरों के अतिरिक्त अन्य सामाजिक हितों को भी स्वीकार करता है।[4]

---

1. Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 285.
2. Orage, A. R , An Alphabet of Economics, London, 1917, p. 53.
3 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 286.
4. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 275,

लेकिन गिल्ड समाजवाद के जो भी उद्देश्य या कार्यक्रम हैं उनका माध्यम गिल्ड व्यवस्था ही होनी चाहिये। इस तथ्य को दूसरे शब्दों में प्रस्तुत करते हुए जोड ने लिखा है:—

> "श्रेणी समाजवादियों के विषय में यह कहना सत्य है कि वे सिद्धान्तवादियों की एक छोटी सी मण्डली है, जो श्रमिक आन्दोलन के *अन्तर्गत उनके प्रभावशाली सदस्यों को अपना मतवर्ती* बनाने के उद्देश्य से काम कर रहे हैं तथा सामान्यतः अपने विचारो के समर्थन के लिये वे जनता से सीधे अपील नहीं करते।"[5]

उपरोक्त परिभाषाएँ तथा विचार गिल्ड समाजवाद को पूर्णतः स्पष्ट नहीं करते। वास्तव में गिल्ड समाजवाद वह विचारधारा है जिसके समर्थक एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं जिसका आधार गिल्ड प्रणाली हो। यह मूलत श्रमिको का आन्दोलन है किन्तु सभी प्रकार के उत्पादकों तथा उपभोक्ताओ को संरक्षण प्रदान करता है। गिल्ड समाजवादी राज्य विरोधी होते हुए भी किसी न किसी रूप में राज्य हितैषी हैं।

विकास : प्रभाव एव कारण

गिल्ड समाजवाद के प्रेरणा-श्रोत मध्यकालीन यूरोप की गिल्ड व्यवस्था थी। मध्यकालीन यूरोप में औद्योगिक और व्यावसायिक संघ जो *गिल्ड (Guild)* कहलाते थे, का आर्थिक जीवन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। एक गिल्ड (संघ या श्रेणी)मे एक उद्योग से सम्बन्धित सभी कारीगर और श्रमिक सम्मिलित होते थे। ये गिल्ड मजदूरा, मूल्य, कार्य-परिस्थितियों आदि का स्वयं निर्धारण करते थे। गिल्ड के सदस्यो का प्रशिक्षण, उनकी पारिवारिक सहायता आदि का प्रबन्ध भी इनके द्वारा किया जाता था। इसके अलावा समाज सेवा इनका मुख्य उद्देश्य था। वास्तव में उस समय की अर्थ व्यवस्था इन्ही संस्थाओं द्वारा नियन्त्रित होती थी।

गिल्ड समाजवादियो पर इस व्यवस्था का मूल प्रभाव था। अपनी पुस्तक-Guild Socialism-में कोल ने इस प्रभाव को स्पष्टतः स्वीकार किया है। किन्तु उनका उद्देश्य मध्यकालीन व्यवस्था को पूर्णतः लागू करना नही था। उसे आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर ग्रहण करना था। विशेषतः

---

5 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 76-77.

गिल्ड समाजवादी मध्यकालीन गिल्ड व्यवस्था की व्यावसायिक नैतिकता तथा समाज सेवी भावना से अत्यधिक प्रभावित हुए।[6]

गिल्ड समाजवाद पर बहुलवाद (Pluralism) की छाया स्पष्टत: दृष्टिगोचर होती है। प्रमुख बहुलवादी नेविल फिगिस (J. Neville Figgis) जो इंग्लैंड में पादरी थे, ने अपने विचारों से बहुत से व्यक्तियों को प्रभावित किया। हेरॉल्ड लास्की (Harold J. Laski), लिन्डसे (A D. Lindsay) के अलावा कोल (C.D.H. Cole) स्वयं भी प्रमुख बहुलवादी थे। वास्तव में कोल को किसी विशेष विचारधारा तक सीमित नहीं किया जा सकता।

गिल्ड समाजवाद को बहुलवाद की देन राज्य सत्ता को सीमित करने तथा राज्य के अन्तर्गत समुदायों को व्यापक अधिकार करने के क्षेत्र में है। बहुलवादी राज्य के व्यापक अधिकारों का विरोध तथा विकेन्द्रीकृत राज्य (Decentralised State) का समर्थन करते हैं। गिल्ड व्यवस्था के अन्तर्गत भी लगभग ऐसे ही विचारों का निरूपण किया गया है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इंग्लैंड में इस समाजवादी सम्प्रदाय की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई? मार्क्सवाद की प्रेरणा से यूरोप में कई समाजवादी सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। फ्रांस में सिन्डीकलवाद तथा इंगलैंड में फेबियनवाद ने कुछ समय तक समाजवादी आन्दोलन को प्रभावित किया। लेकिन समष्टिवाद और सिन्डीकलवाद दोनों ही अंग्रेजों की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं थे। इंगलैंड में राज्य समाजवादी आन्दोलन की जड़ें कभी भी गहरी नहीं हो पाई हैं।[7] उन्हें सिन्डीकलवाद अत्याधिक उग्र, क्रान्तिकारी तथा अराजकतापूर्ण प्रतीत हुआ। दूसरी ओर, फेबियनवाद अधिक उदारवादी होने के कारण अंग्रेजों को आकर्षित करने में असफल रहा। अंग्रेज परम्परागत मध्यमार्ग का अनुसरण करने वाले हैं, इसलिये उन्होंने फेबियनवाद और सिन्डीकलवाद की अतिवादिता को त्याग कर दोनों की अच्छी बातों का समिश्रण कर एक नये समाजवादी सम्प्रदाय-गिल्ड समाजवाद-को जन्म दिया। अन्य शब्दों में गिल्ड समाजवाद सिन्डीकलवाद और समष्टिवाद का संयोग है।[8] इसीलिये गिल्ड समाजवाद को सिन्डीकलवाद तथा समष्टिवाद का 'बुद्धिवादी शिशु' (Intellectual Child) भी कहते हैं।

---

6. Cole, G. D. H, Guild Socialism, Allen & Unwin, London, 1920 pp. 36—37
7. Ramsay MacDonold J, Socialism Critical and Constructive, pp. 89—90.
8. Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 285.

गिल्ड समाजवाद को सैद्धान्तिक आधार प्रदान करने का श्रेय उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ विद्वानों को है। कारलायल (Thomas Carlyle, 1795-1881), स्कॉटलेन्ड के लेखक एवं दार्शनिक, तथा जॉन रस्किन (John Ruskin 1819-1900), अंग्रेजी लेखक, आलोचक और समाज सुधारक, आदि ने अति उत्पादन, शक्तिशाली शासन का विरोध तथा छोटे छोटे समूहों का समर्थन किया था। विलियम मोरिस (William Morris, 1834-1896) ने अपनी यूटोपियायी पुस्तक —News from Nowhere-में ऐसी कल्पना की है जहाँ बड़े-बड़े नगर नही थे, व्यक्ति विकेन्द्रीय ग्रामों में सुखपूर्वक तथा सहयोगपूर्ण भावना को लेकर रहते थे। इसके साथ ही साथ उन्हे अपनी कला और हुनर पर गर्व था।[9] मोरिस, कारलायल तथा रस्किन के लेखों मे गिल्ड समाजवाद का केवल आभास ही मिलता है, उन्हें गिल्ड समाजवादी नहीं कह सकते।

पेन्टी (A. J. Penty, 1875-1937), जो एक शिल्पकार थे, को गिल्ड समाजवाद का प्रमुख प्रवर्तक माना जाता है।[10] 1906 में प्रकाशित पेन्टी की पुस्तक-The Restoration of Guild System (अर्थात्, गिल्ड व्यवस्था की पुर्नस्थापना)—में गिल्ड समाजवाद के प्रारम्भिक विचार मिलते हैं। इस पुस्तक की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। पेन्टी के अनुसार उद्योग में स्व-शासन के मध्यकालीन सिद्धान्त को पुन: स्थापित करना चाहिये। इस व्यवस्था में दस्तकार, जो कि एक स्व-शासित श्रेणी का सदस्य होता था, उत्पादन के साधनों का भी स्वामी होता था और वही यह निश्चय करता था कि किस प्रकार का तथा कितना माल तैयार किया जाय।[11]

1909 तक इस सिद्धान्त ने अधिक व्यावहारिक रूप धारण नहीं किया था। 1909 से 1912 तक इंग्लैंड में बड़ी श्रमिक अशान्ति रही, जिसमें श्रमिक संघो ने प्रमुख भाग लिया। इस श्रमिक अशान्ति तथा आन्दोलन को मार्ग निर्देशन करने मे ओरेज (A. R. Orage, 873-1934), जो पत्रकार, दार्शनिक एवं निबन्धकार थे, तथा पत्रकार एवं वक्ता हॉब्सन (S.G. Hobson,

---

9 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 158.

10. हेलोवेल ने गिल्ड समाजवाद का विवरण देने में पेन्टी के नाम का उल्लेख ही नही किया है। सम्भवतः वे पेन्टी के योगदान को स्वीकार नही करते। Hallowel, H. J, Main Currents in Modern Political Thought, pp 466—468

11. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त—प्रवेशिका, पृ. 75.

1864-1940) ने महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की। इन्होंने 1912 में एक पत्रिका New Age-के माध्यम से इस प्रकार के विचार प्रसारित किये कि प्राचीन गिल्ड प्रणाली के विचार को वर्तमान श्रमिक संगठनों के आधार पर आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाना चाहिये। इनका सुझाव था कि उद्योग में उसमे सम्बन्धित श्रमिकों का स्व-शासन हो। इसके लिये उनका संगठन एक औद्योगिक गिल्ड व्यवस्था में किया जाय। जिसका प्रारम्भ वर्तमान श्रमिक संघों के आधार पर किया जा सकता है।[12]

न्यू एज़ (New Age) में प्रकाशित लेख माला के आधार पर एक अन्य पुस्तक—National Guilds, an Enquiry into the Wage System and Way Out—प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के द्वारा गिल्ड समाजवाद को पेन्टी के मध्यकालीन विचारो से मुक्त करा कर तथा एक नवीन दिशा प्रदान कर इसे आधुनिक राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियो के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया।

गिल्ड समाजवाद के सबसे प्रबल समर्थक कोल (G. D. H. Cole, 1889-1959) थे जिन्होंने अपनी दर्जन पुस्तक-पुस्तिकाओं मे इस विचारधारा को विवेचनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया।

इस सम्बन्ध में कोल की निम्नलिखित पुस्तकें अत्यन्त ही महत्वपूर्ण थी.—

1. Self-Government in Industry, 1917
2. Social Theory, 1918
3. Guild Socialism Restated, 1920
4. Guild Socialism, 1920 (Fabian Tract)

इन पुस्तको के माध्यम में गिल्ड समाजवाद को पूर्णतः विकसित, व्यवस्थित तथा आन्दोलन का रूप देने का श्रेय कोल को ही है।

गिल्ड समाजवादी, विशेषतः ऑरेज, किसी प्रकार की गिल्ड संस्था की स्थापना के विरोध मे थे। इसलिए गिल्ड समाजवाद के संगठित आन्दोलन का रूप ग्रहण करने में कुछ कठिनाई हुई। किन्तु 1925 में गिल्ड समाजवाद के दो नये समर्थक आक्सफोर्ड के विद्वान विलियम मेलोर (William Mellor)

---

12 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका पृ. 76;
A Summary of articles published in the New Age is given in A History of British Socialism by M Beer, p. 365-66

तथा मोरिस रेक्टि (M. B. Reckitt) ने एक राष्ट्रीय गिल्ड संघ (National Guilds League) की स्थापना की। आरेज, हॉब्सन तथा कोल इसकी कार्य-कारिणी के सदस्य थे। राष्ट्रीय गिल्ड संघ इस समाजवादी विचारधारा का प्रमुख केन्द्र बन गया। इसने कई बुद्धजीवियों को आकर्षित किया इसने एक मासिक पत्र—Guilds man—निकाला जो बाद में 'Guild Socialist' हो गया।

गिल्ड समाजवादियों ने इंग्लैण्ड में कुछ रचनात्मक कार्य भी किये। 1920 में मैनचेस्टर के अनेक भवन निर्माण मजदूर संघो ने 'भवन निर्माणकारी संघ' (A Builder's Guild) स्थापित किया। हाब्सन इस संघ के मंत्री थे। इसने ठेके लेकर लगभग दस हजार सस्ते मकानों का निर्माण किया। लेकिन अंग्रेजी सरकार का इसके प्रति कुछ विपरीत दृष्टिकोण था। इसे आर्थिक सहायता बन्द कर दी गई तथा छः माह के अन्तर्गत Builder's Guild का अन्त हो गया। 1925 मे राष्ट्रीय गिल्डसलीग को भी भंग कर दिया गया। इसके बाद गिल्ड समाजवादी आन्दोलन का ह्रास होता चला गया।

गिल्ड समाजवाद के विचार-सूत्र

गिल्ड समाजवाद के सामान्यतः दो पक्ष हैं। प्रथम, गिल्ड समाजवादी, पूंजीवादी और प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था की वैसी ही परम्परागत आलोचना करते हैं जिस प्रकार समाजवाद के अन्य सम्प्रदाय। इस सम्बन्ध में गिल्ड समाजवाद, समाजवाद की अन्य शाखाओ से भिन्न नहीं है।

द्वितीय, गिल्ड समाजवादी समाज के आर्थिक और राजनीतिक संगठन में आमूल परिवर्तन आवश्यक मानते हैं। इसके लिये वे कुछ रचनात्मक सुझाव देते हैं जिनके कारण गिल्ड समाजवाद अन्य समाजवादी शाखाओं से हट कर एक अलग विचारधारा के रूप में स्वीकार किया जाता है। गिल्ड समाजवाद की प्रमुख विशेषताएं इन दोनो पक्षों को व्यक्त करती हैं।

पूंजीवादी व्यवस्था की आलोचना

उत्पादन का ह्रास

पूंजीवाद के अन्तर्गत आर्थिक संगठन की गिल्ड समाजवादी कटु आलोचना करते हैं। इनके अनुसार श्रमिकों ने शिक्षा तथा जीवन-अनुभवों से यह सीख लिया है कि पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था उत्पादन वृद्धि के उपयुक्त नहीं है। श्रमिक

कठोर परिश्रम द्वारा उत्पादन में वृद्धि तो कर सकता है किन्तु इसका वह लाभ प्राप्त नही कर सकता। इसके विपरीत उत्पादन यदि सीमित है तो माग के अनुपात में पूर्ति कम होगी और इस प्रकार कम उत्पादन में ही अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन अधिक या कम क्यों न हो श्रमिको को लाभ नही होता। किन्तु प्रमुख बात यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था अधिक उत्पादन के लिये प्रोत्साहित नहीं करती।

मूल्य-निर्धारण

गिल्ड समाजवादियो का कहना है कि वस्तुओं का विनिमय मूल्य श्रम से निर्धारित होता है। लेकिन भू-स्वामी, उद्योगपति और पूंजीपति मूल्य अधिक लेते हैं और अतिरिक्त मूल्य को हड़प जाते हैं। श्रमिकों को जो कुछ मिलता है वह बहुत ही अनुपयुक्त होता है। इस सम्बन्ध में इनका सुझाव है कि या तो मजदूरी प्रथा का अन्त कर दिया जाय या मजदूरी, किराया, लाभ, ब्याज आदि की दर को निश्चित करने का कोई अलग सिद्धान्त अपनाया जाय।

मजदूरी-प्रथा का उन्मूलन

पूंजीवादी दोषों को ध्यान में रखते हुए गिल्ड समाजवादी मजदूरी प्रथा को दोषपूर्ण मानते हैं। प्रथम, मजदूरी प्रथा श्रमिक से उसके श्रम को अलग कर देती है ताकि एक दूसरे के बिना दोनों को वेचा और खरीदा जा सकता है। द्वितीय, मालिक मजदूरी तभी देता है जब उसे लाभ हो। तृतीय, सिर्फ मजदूरी के बदले श्रमिक उत्पादन के संगठन पर अपना नियंत्रण खो देता है तथा चतुर्थ, मजदूरी प्रथा के अन्तर्गत श्रमिक अपने द्वारा निर्मित वस्तु से भी अपना दावा और अधिकार छोड़ बैठता है।

इस प्रकार मजदूरी प्रथा नैतिक; मनोवैज्ञानिक, आर्थिक तथा कलात्मक दृष्टि से उचित नहीं है। प्रचलित मजदूरी तथा श्रमिक में निर्भरता एवं दासत्व की भावना उत्पन्न करती है और उसकी सृजनात्मक प्रवृति को सीमित तथा कुन्ठित करती है।

मजदूरी प्रथा में उपरोक्त दोषो के परिणामस्वरूप गिल्ड समाजवादी इस प्रथा को अन्त करने के ही पक्ष मे हैं। इसके अलावा वे चाहते हैं कि श्रमिक को जो कुछ मजदूरी प्राप्त हो वह उसे मनुष्य समझ के दी जाये। द्वितीय, बेरोजगारी तथा बीमारी के समय श्रमिकों को भत्ता दिया जाय। तृतीय,

उत्पादन साधनों पर श्रमिको का नियंत्रण हो तथा स्वयं के द्वारा निर्मित वस्तु पर अधिकार हो। साधारण भाषा में इसका तात्पर्य यह हुआ की मजदूरी के स्थान पर श्रमिको को उनके कार्य के लिए किसी अन्य ढंग या तरीके से वेतन दिया जाये; श्रमिक की सुरक्षा की गारंटी हो; श्रमिक का उत्पादन प्रक्रिया पर ही नहीं किन्तु विक्रय प्रक्रिया पर भी नियंत्रण हो।[13]

मशीनयुगीय दुष्परिणामों का अन्त

रस्किन, कारलायल तथा विलियम मोरेस मशीन युगीय व्यवस्था पर तीव्र प्रहार करते हैं। जिनका गिल्ड समाजवादियो पर स्पष्ट प्रभाव है। गिल्ड समाजवादियो के अनुसार मशीन युग में पूंजीवादी व्यवस्था, मशीन व्यवस्था पर निर्भर करती है। मनोवैज्ञानिक आधार पर इस व्यवस्था मे श्रमिक के व्यक्तित्व, भावनाओ और कलात्मकता पर कोई ध्यान नही दिया जाता। उत्पादन प्रक्रियाओ का इतना व्यापक एवं सूक्ष्म विभाजन हो गया है कि श्रमिक एक मशीन की भाँति एक निश्चित क्रिया को निरंतर दुहराता रहता है। इससे उसके कार्य में आनन्द, पहल करने की शक्ति तथा सृजनात्मक और कलात्मक रूचि का ह्रास होता है।

इसलिये गिल्ड समाजवादी ऐसी अर्थ व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं जिसमे श्रमिक आनन्दपूर्वक उत्पादन मे सहयोगी हो। वे उत्पादन प्रक्रिया और परिस्थितियो में परिवर्तन चाहते हैं। कोकर ने इस भावना को व्यक्त करते हुए लिखा है कि—

> गिल्ड समाजवाद के लिये प्रमुख आर्थिक समस्या कला या कारीगरी की भावना के पुनः स्थापन का मार्ग खोज निकालने की है तथा एक ऐसी प्रणाली स्थापित करने की है जिससे मजदूरों में केवल दक्षता का ही विकास न हो वरन् उन्हे अपने काम के गौरव का भी अनुभव हो और केवल अपने उपार्जित धन की रकम में ही दिलचस्पी न हो वरन् अपने उत्पादन के रूप और गुण में भी दिलचस्पी हो।[14]

---

13. Gray. A., The Socialist Tradition, pp 438-39.

14 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 280.

सम्पत्ति का सामाजिक उपयोग

अन्य समाजवादियों की तरह गिल्ड समाजवादी भी व्यक्तिगत सम्पत्ति के आलोचक हैं। किन्तु वे व्यक्तिगत सम्पति के पूर्णरूपेण उन्मूलन के पक्ष में नही हैं। सम्पत्ति के सम्बन्ध में गिल्ड समाजवादी नैतिक तर्क देते हुए कहते हैं कि सम्पत्ति और सामाजिक हित का पूर्ण समन्वय होना चाहिये। वे व्यक्ति जो समाज सेवा नही कर सकते, उन्हे सम्पत्ति धारण और उपभोग करने का अधिकार नही होना चाहिए। मनुष्य को स्वार्थ की दृष्टि से नहीं किन्तु सामाजिक सेवा की भावना से कार्य करना चाहिये।

व्यावसायिक प्रजातन्त्र (Democracy in Industry)

व्यावसायिक प्रजातन्त्र का सिद्धान्त गिल्ड समाजवाद के प्रमुख विचार-सूत्रों में से एक है। "व्यावसायिक प्रजातन्त्र का सिद्धान्त केन्द्रीय, सर्वशक्तिशाली राज्य की कल्पना के विरुद्ध, इस बात का समर्थन करता है कि शक्तियों तथा कार्यों को विकेन्द्रीकरण के द्वारा विभिन्न निकायों को दे दिया जाय। इससे यह आशा की जाती है कि आधुनिक जटिल समाज में मनुष्य के विविध हितों का पर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व हो सकेगा।"[15]

व्यावसायिक प्रजातन्त्र के दो आधार या दो पक्ष हैं। प्रथम, गिल्ड समाजवादी, विशेषतः कोल, मार्क्स के इस कथन से सहमत हैं कि "आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति की पूर्ववर्ती होती है। अर्थात् वे यह मानते हैं कि राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र तभी सम्भव है, जब आर्थिक क्षेत्र मे पहले प्रजातन्त्र की स्थापना की जाय। यदि उद्योगों का संगठन प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया के आधार पर हो तो समाज का संगठन अनिवार्यतः प्रजातान्त्रिक हो जायेगा।[16]

द्वितीय, व्यावसायिक प्रजातन्त्र के अनुसार गिल्ड समाजवादी क्षेत्रिय प्रतिनिधित्व सिद्धान्त (Territorial representation) का समर्थन नही करते। "किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी भी अन्य व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करना असम्भव है। इसलिये अभी तक जो भी प्रतिनिधि संस्थाएं रही हैं वे वास्तव मे प्रतिनिधित्व नही करती थीं। यद्यपि यह सच है कि कोई भी व्यक्ति अपने

---

15. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका पृ. 79.
16. उपरोक्त, पृ. 79-80.
    Also see, The Socialist Tradition by Gray, A, pp 441-42.

पड़ोसियों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, वह उनके उद्देश्यों के एक समूह का प्रतिनिधित्व कर सकता है।"[17] इसका तात्पर्य है कि गिल्ड समाजवादी अलग अलग हितों के लिये अलग-अलग गिल्ड की स्थापना करने का समर्थन करते हैं। ये गिल्ड ही व्यक्तियों के अलग-अलग हितों का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। इसके सम्बन्ध में ही गिल्ड समाजवादी क्षेत्रिय प्रतिनिधि प्रणाली को निरस्त कर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional representation) सिद्धान्त को मान्यता देते हैं।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation)

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व गिल्ड समाजवादियों का मूल मंत्र है। उन्होंने लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व प्रणाली की आलोचना की है क्योंकि—

(i) प्रचलित प्रतिनिधित्व प्रणाली प्रादेशिक प्रतिनिधित्व पर आधारित है। राज्य को जनसंख्या के आधार पर निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है।

(ii) एक क्षेत्र से एक या अनेक प्रतिनिधि चुने जाते हैं एक निर्वाचन क्षेत्र में कई व्यवसाय के लोग रहते हैं जैसे-किसान, मजदूर, डॉक्टर, इंजीनियर, लेखक, प्रकाशक, मकान मालिक, किरायेदार आदि कोई भी प्रतिनिधि इन विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते वे तो सिर्फ अपने क्षेत्र के सामान्य हितों का ही प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।

(iii) एक ही क्षेत्र में रहने वाले विभिन्न व्यावसायिक व्यक्तियों के हित भी भिन्न भिन्न होते हैं। ये विभिन्न हित एक निर्वाचन क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहते। बहुत से व्यावसायिक हित स्थानीय क्षेत्र से प्रारम्भ होकर राष्ट्रीय स्तर तक जाता है।

(iv) वर्तमान शासन मूलतः राजनीतिक व्यवस्था है। किन्तु बहुत से कार्य और प्रश्न ऐसे हैं जो सिर्फ राजनीतिक ही नहीं हैं। प्रचलित शासन प्रणाली आर्थिक मामलों में निष्पक्ष और लगन से काम

---

17. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ 77.

चलाने में असमर्थ है। उदाहरण के लिये वर्तमान शासन व्यवस्था में श्रमिकों को उन परिस्थितियों के निर्माण और नियन्त्रण आदि निर्धारण करने में भाग नहीं लेने दिया जाता जिनमें उन्हे कार्य करना पड़ता है। इसके विपरीत राज्य परम्परागत सम्पत्ति-अधिकारों की रक्षा कर शोषण व्यवस्था बनाये रखने में सहायता देता है।

इस प्रकार क्षेत्रीय आधार पर चुना हुआ कोई भी प्रतिनिधि चाहे वह कितना ही योग्य क्यों न हो, उसका अनुभव एवं ज्ञान कितना ही व्यापक क्यों न हो, इन विभिन्न व्यावसायिक हितों से सम्बन्धित समस्याओं को न तो वह पूर्ण रूप से समझ सकता है और न इन सबों के प्रति उसकी समान सहानुभूति ही रह सकती है।[18]

उपरोक्त दोषों को दूर करने के लिये गिल्ड समाजवादी सामाजिक संगठन के लिये निम्नलिखित सुझाव देते हैं:—

(i) समाज का पूर्ण लोकतान्त्रिक संगठन तभी हो सकता है जब उसका संगठन कार्यों और व्यावसायिक आधार (Fuctional basis) पर किया जाय।

(ii) गिल्ड संख्या में उतने ही होने चाहिये जितने समाज में होने वाले कार्य। समस्त प्रमुख व्यवसायों में काम करने वाले व्यक्तियों को प्रथक-प्रथक गिल्ड (श्रेणियों) में संगठित किया जाये। एक गिल्ड में केवल एक ही व्यवसाय के व्यक्ति सम्मिलित किये जायें।

(iii) प्रत्येक गिल्ड में संलग्न सभी कुशल एव अकुशल श्रमिक एवं टेक्नीशियन प्रशासक एवं प्रबन्धक आदि सभी सम्मिलित होने चाहिये।

(iv) गिल्ड, समाजवाद के अन्तर्गत न केवल औद्योगिक गिल्ड होंगे बल्कि उपभोक्ता गिल्ड, नागरिक गिल्ड तथा अन्य कार्य जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य जीविकाओं के क्षेत्र में भी गिल्ड होंगे जिनका संगठन स्थानीय प्रादेशिक और राष्ट्रीय आधार पर होगा। उपभोक्ता गिल्ड उत्पादक गिल्ड आदि से मिलकर उत्पादन व्यय, उत्पादन सीमा तथा मूल्य आदि के विषय में विचार एवं निर्माण करेंगे।

---

18. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 281.

(v) गिल्ड स्थानीय प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय स्तर पर संगठित किये जाने चाहिये या नहीं इस बात पर गिल्ड समाजवादियों में मतभेद था। पेन्टी ने स्थानीय गिल्ड संगठन को ही अधिक महत्व दिया। वह नहीं चाहता था कि प्रादेशिक या राष्ट्रीय गिल्ड स्थानीय गिल्डों पर नियन्त्रण रक्खें, जिससे श्रमिकों की स्वतन्त्रता एवं शिल्पकारिता का हनन होने की सम्भावना थी। लेकिन अधिकतर गिल्ड समाजवादी आधुनिक परिस्थितियों में तथा बड़े पैमाने पर प्रचलित उत्पादन पद्धति के कारण स्वीकार करते थे कि गिल्ड का उच्च स्तरो पर भी संगठन होना चाहिये। प्रत्येक व्यवसाय को आवश्यकतानुसार विभिन्न स्तरों पर गिल्ड आदि निर्माण करने चाहिये जैसे कर-आरोपण (taxation) प्रतिरक्षा (defence) आदि राष्ट्रीय मामलों के राष्ट्रीय गिल्ड होंगे तथा बिजली, पेयजल, पुलिस आदि की व्यवस्था स्थानीय गिल्ड करेंगे। लेकिन स्थानीय गिल्ड को अधिक से अधिक स्वायत्तता होनी चाहिए।

सामान्यत: समस्त महत्वपूर्ण एवं व्यापक उत्पादन तथा उपभोक्ता क्षेत्रों में राष्ट्रीय गिल्ड (National Guild) होंगे। राष्ट्रीय गिल्ड किसी भी एक उद्योग से सम्बन्धित सभी प्रकार के श्रम या कार्य जैसे प्रशासनिक, कार्यपालिका, तथा उत्पादन आदि का संगम होगा। इसमें वे सभी सम्मिलित होंगे जो हाथ या मस्तिष्क से कार्य करते हैं। कोई भी व्यक्ति जो काम कर सकता है इनका सदस्य बन सकता है।[19] यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि राष्ट्रीय गिल्ड कोई एक ही नहीं होगा। प्रत्येक उद्योग या गतिविधियों से सम्बन्धित राष्ट्रीय गिल्ड हो सकते हैं। इस प्रकार गिल्ड प्रणाली के अन्दर कई राष्ट्रीय गिल्ड हो सकते हैं। इनका कार्य अपने ही उद्योग में नीचे के गिल्ड को परामर्श देना, उनके कार्यों में ताल-मेल बैठाना, पूरे उद्योग से सम्बन्धित नीति निर्धारण करना आदि होगा।

गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत सबसे अन्तिम संगठन कम्यून (Commune) कहलायगा। यह राज्य का स्थान ग्रहण करेगा। कम्यून में सभी राष्ट्रीय गिल्ड के प्रतिनिधि होंगे। कोल के अनुसार कम्यून निम्नलिखित कार्य करेगा:–[20]

---

19 Hobson, S G., Guild Principles in War and Peace, 1903, pp. 26-27.

20 Cole, G. D. H; Guild Socialism, Allen & Unwin, London, 1920, p 125.

(i) वित्तीय मामले जैसे राष्ट्रीय श्रोतों का वितरण, आमदनी, मूल्य आदि से सम्बन्धित समस्याएं,

(ii) नीति के मामलो मे यदि विभिन्न गिल्ड (श्रेणियो) में मतभेदों को सुलझाना,

(iii) विभिन्न गिल्ड के अधिकार क्षेत्रो से सम्बन्धित संवैधानिक समस्याओं का समाधान करना,

(iv) विदेशी मामले,

(v) आवश्यकता पड़ने पर शक्ति का प्रयोग, तथा

(vi) वे कार्य जो किसी अन्य गिल्ड के अधिकार क्षेत्र में न आते हों।

चूंकि कम्यून राज्य के स्थान पर कार्य करेगा इसलिये स्थानीय, प्रदेश स्तर पर भी इसकी शाखाऐ होगी जो अपने अपने क्षेत्र में वही कार्य करेंगी जो राज्य करता है तथा जिसे कम्यून स्वीकार करे।

प्रत्येक स्तर पर श्रेणियों का संगठन स्वायत्तता और लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर होगा। प्रथम, प्रत्येक [illegible] अपने स्वयं के लिये उत्तरदायी होगा। लेकिन वे दूसरी श्रेणियों के साथ [illegible] होंगे। दूसरे, [illegible] स्वतन्त्रता या स्वायत्तता का अन्य गिल्ड के साथ समन्वय करना होगा ताकि उनमें संघर्ष या स्पर्धा न हो।

नियन्त्रण, या हस्तक्षेप समर्थक नही हैं। गिल्ड समाजवादी उद्योगों की राज्य के आधिपत्य से मुक्ति चाहते हैं तथा गिल्ड प्रणाली को अधिक महत्व देते हैं।

द्वितीय, अराजकतावादी और सिन्डीकलवादियो की भाँति गिल्ड समाजवादी राज्य को पूर्णरूप से समाप्त करने के पक्ष मे भी नहीं हैं। स्थानीय, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय स्तर पर गिल्ड प्रणाणी की स्थापना से ही पूरे सामाजिक कार्य नही चल सकते। समाज की कुछ ऐसी भी आवश्यकताऐ हैं जिन्हे चलाने के लिये गिल्ड समाजवादी राज्य की किसी न किसी रूप में आवश्यकता स्वीकार करते हैं। देश की रक्षा, अपराधों की रोकथाम आदि ऐसी बातें हैं जिन्हें गिल्ड नही कर सकते। इनके सम्पादन के लिये केवल राज्य ही उपयुक्त है। गिल्डो द्वारा न किये जाने वाले समस्त राजनीतिक कार्य राज्य ही करेगा।

इस प्रकार गिल्ड समाजवाद राज्य के अस्तित्व एवं आवश्यकता को स्वीकार करते हुये भी उसके सीमित अधिकारो के समर्थक हैं।

बार्कर (E. Barker) के अनुसार गिल्ड समाजवाद के समर्थक राज्य तथा श्रेणियो (Guilds) दोनो के लिये गुंजाइश छोड़ते हैं। शक्ति-विभाजन के आधार पर ये राज्य तथा गिल्ड के अस्तित्व को मान्यता देते हैं। किन्तु राज्य का स्तर फिर भी सबसे महत्वपूर्ण होगा। बार्कर के शब्दो में:—

> 'गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत आधुनिक राज्य व्यावसायिक श्रेणियो का एक समुदाय होगा। किन्तु राज्य इस प्रकार की श्रेणियो के समूह से कुछ अधिक ही होगा। राज्य सिर्फ एक कोष्ठक या हायफन (hyphen) ही नही किन्तु स्वयं का एक वास्तविक अस्तित्व होगा।'[21]

गिल्ड समाजवादियों में राज्य की उपयोगिता एवं कार्य-क्षेत्र के विषय में मुख्यत. मतभेद हाब्सन तथा कोल में है। ये दोनों ही दो दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

---

21. "Under Guild Socialism the modern state will be a community of professional Guilds. But the state will be more than a sum of such Guilds. It will not be a mere bracket or hyphen, but a real entity in itself"

Barker, E, Political Thought in England, 1848 to 1914, p 201.

राज्य के विषय में हाब्सन (S. G Hobson) के विचार

हाब्सन हालाकि गिल्ड समाजवादी है, लेकिन उनके राज्य-सम्बन्धी विचार गिल्ड समाजवाद की अपेक्षा राज्य-समाजवाद के अधिक निकट है या उनके विचार राज्य-समाजवाद और बहुलवाद का ममिश्रण है। हाब्सन गिल्ड व्यवस्था का पूर्ण समर्थन करते हैं, लेकिन प्रत्येक गिल्ड समाज के किसी विशिष्ट अंग का ही प्रतिनिधित्व करेगा। इसलिये राज्य जैसी संस्था का होना परमआवश्यक है, जो सम्पूर्ण ममाज का प्रतिनिधित्व करे और शक्ति का अन्तिम श्रोत माना जाये। हाब्सन के राज्य मम्बन्धी विचारों की विवेचना से निम्नलिखित तत्व स्पष्ट होते हैं:—

प्रथम, राज्य सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था है।

द्वितीय, राज्य की आर्थिक सत्ता को गिल्डो में वितरित कर राज्य की शक्ति को कम कर दिया जाये।

तृतीय, उत्पादन के सारी मशीनो, कारखानों का स्वामित्व राज्य का होगा। वह उन्हें तमाम गिल्डो को पट्टे पर देगा। इनका प्रयोग गिल्ड समाज-हित में ट्रस्टी के रूप में करेंगे।

चतुर्थ, राज्य ममस्त गिल्डो से कर आदि वसूल करेगा तथा ऐसी श्रेणियों को सहायता देगा जो स्वास्थ्य एवं शिक्षा आदि की निःशुल्क सामाजिक सेवा करती हैं। राज्य के अन्य कार्य आतरिक एवं बाह्य सुरक्षा का उत्तरदायित्व, प्रमुख कानूनों का निर्माण तथा गिल्डो के आपसी विवादों को मुलझाना होगा।

राज्य एव कम्यून व्यवस्था के विषय में कोल (G. H. Cole) के विचार

हॉब्सन की तुलना में कोल राज्य को कम महत्वपूर्ण मानते हैं। हॉब्सन विचार जो राज्य को महत्व देते हैं, कोल ने उनका खण्डन किया है। कोल अपने विचारो में मूलतः बहुलवादी (Pluralist) हैं। कोल के अनुसार:—

(i) राज्य उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व करने वाली आवश्यक संस्था है।
(ii) उत्पादन संस्थाओं पर राज्य का नियंत्रण नहीं होना चाहिए।
(iii) समाज में राज्य का स्थान अन्य संस्थाओं जैसा ही होना चाहिये। राज्य अनेक समुदायों में एक समुदाय है। राज्य स्वयं भी एक

प्रादेशिक गिल्ड जैसा होगा। जिसका कार्य समाज संरक्षण, शिक्षा व्यवस्था, विवाह-तलाक नियन्त्रण, अपराधों की रोकथाम तथा बच्चों की देखभाल आदि होगा।

कोल राज्य के कार्य-क्षेत्र को बिलकुल संकुचित ही नही करते किन्तु वह राज्य की सम्प्रभुता सम्पन्न धारणा को भी स्वीकार नही करते।

राज्य और अन्य गिल्डो के विवाद समाप्त करने तथा गतिविधियो में तालमेल बैठाने के लिए एक सस्था का निर्माण किया जाये जिसका नाम-Democratic Supreme Court of Functional Equity—(कार्यात्मक न्याय का लोकतान्त्रिक उच्चतम न्यायालय) होगा। यह न्यायालय राज्य तथा अन्य गिल्डो के ऊपर होगा। यह शान्ति व्यवस्था, पुलिस, कानून आदि का नियन्त्रण करेगा। समाज में यही सर्वोच्च संस्था होगी।

राज्य के विषय में कोल के विचारो मे आगे चल कर और भी परिवर्तन हुआ है। कोल के अनुसार राज्य धीरे-धीरे मुरझा जायगा तथा उसका स्थान एक कम्यून व्यवस्था लेगी।

कम्यून प्रणाली (Commune System)

समस्त समुदायो मे सामन्जस्य कार्य के लिये कोल कम्यून प्रणाली का प्रतिपादन करता है, यह समस्त समाज की संस्थाओ का एकीकरण करने वाली संस्था होगी।

कम्यून का संगठन स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्तरों पर होगा। प्रत्येक स्तर पर कम्यून उत्पादको और उपभोक्ताओ का प्रतिनिधित्व करेगे।

प्रत्येक गिल्ड के प्रतिनिधियों को मिलाकर स्थानीय कम्यून की रचना होगी।

प्रादेशिक उद्योगो तथा अन्य क्षेत्रों के गिल्डो के प्रतिनिधियो का प्रादेशिक कम्यून होगा।

राष्ट्रीय स्तर के तमाम गिल्डो का राष्ट्रीय कम्यून बनाया जायेगा।

प्रत्येक स्तर पर कम्यून के निम्नलिखित कार्य होगे -

(1) राजस्व प्रबन्ध, मूल्य निर्धारण तथा ऋण व्यवस्था।

(ii) विभिन्न गिल्ड के कार्य क्षेत्र एवं शक्तियों का निर्धारण करना ।
(iii) गिल्डों के बीच नीति सम्बन्धी मतभेदो का निराकरण करना
(iv) राजनीतिक कार्य जैसे -

(अ) युद्ध, शान्ति की घोषणा तथा सैन्य बल पर नियन्त्रण
(ब) वैदेशिक सम्बन्धो का नियन्त्रण
(स) नगरो, कस्बो तथा प्रदेशो की सीमाओ का निर्धारण
(द) व्यक्तिगत सम्बन्धो तथा वैयक्तिक सम्पत्ति पर नियन्त्रण

(v) बल प्रयोग करना । समाज की समस्त संस्थाओ को कानून के अनुसार अपने कार्य पालन करने के लिये बाध्य करना । पुलिस कार्य तथा दण्ड व्यवस्था भी राज्य के कार्य होंगे ।

गिल्ड समाजवादी साधन

राजनीतिक साधन

गिल्ड समाजवादी अपनी कल्पनानुसार जो सामाजिक रचना करना चाहते हैं उसकी प्राप्ति के साधन के विषय में ये एक तो पूर्णतः स्पष्ट नही हैं तथा दूसरे इस विषय पर इनके समर्थक एकमत भी नही हैं । सामान्यतः ये राजनीतिक तथा संवैधानिक साधनो में श्रद्धा नही रखते क्योंकि—

प्रथम, पूंजीवादी व्यवस्था में यह असम्भव हैं कि श्रमिक वर्ग मे पूर्ण वर्ग चेतना आये और वह संगठित हो कर एक साथ मतदान करे ।

द्वितीय, परिवर्तन लाने में अति विलम्ब होगा । लगभग एक शताब्दी तक इन साधनों से गिल्ड प्रणाली की स्थापना नही हो सकती ।

तृतीय, पूंजीवादी वर्ग और शासक वर्ग इस प्रकार के परिवर्तन के मार्ग में बाधाएं प्रस्तुत करेगा ।

अंत मे गिल्ड समाजवादियों की यह धारणा है कि राज्य संस्था स्वयं ही इस प्रकार की समाज रचना के लिये पर्याप्त एवं उपयुक्त नही है ।

चूंकि गिल्ड समाजवादियों का प्रादुर्भाव इंग्लैंड में हुआ इसलिये इनके समर्थक वहां के राजनीतिक वातावरण के प्रभाव से अपने को अलग नही कर सके । इसलिये राजनीतिक साधनो के विरुद्ध होते हुए भी संवैधानिक एवं शान्तिपूर्ण

प्रादेशिक गिल्ड जैसा होगा । जिसका कार्य समाज संरक्षण, शिक्षा व्यवस्था, विवाह्-तलाक नियन्त्रण, अपराधों की रोकथाम तथा बच्चों की देखभाल आदि होगा ।

कोल राज्य के कार्य-क्षेत्र को बिलकुल संकुचित ही नही करते किन्तु वह राज्य की सम्प्रभुता सम्पन्न धारणा को भी स्वीकार नही करते ।

राज्य और अन्य गिल्डो के विवाद समाप्त करने तथा गतिविधियो में तालमेल बैठाने के लिए एक संस्था का निर्माण किया जाये जिसका नाम–Dem o-cratic Supreme Court of Functional Equity—(कार्यात्मक न्याय का लोकतान्त्रिक उच्चतम न्यायालय) होगा । यह न्यायालय राज्य तथा अन्य गिल्डों के ऊपर होगा । यह शान्ति व्यवस्था, पुलिस, कानून आदि का नियन्‍ करेगा । समाज में यही सर्वोच्च संस्था होगी ।

राज्य के विषय में कोल के विचारो में आगे चल कर और भी प‍ हुआ है । कोल के अनुसार राज्य धीरे-धीरे मुरझा जायगा तथा उस‍ एक कम्यून व्यवस्था लेगी ।

कम्यून प्रणाली (Commune System)

समस्त समुदायो मे सामन्जस्य कार्य के लिये कोल क‍ प्रतिपादन करता है, यह समस्त समाज की संस्थाओ का एकीक‍ संस्था होगी ।

कम्यून का संगठन स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्तरो स्तर पर कम्यून उत्पादकों और उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व

प्रत्येक गिल्ड के प्रतिनिधियो को मिलाकर स्थानीय क‍

प्रादेशिक उद्योगो तथा अन्य क्षेत्रो के गिल्डो के कम्यून होगा ।

राष्ट्रीय स्तर के तमाम गिल्डो का राष्ट्रीय कम्यून

प्रत्येक स्तर पर कम्यून के निम्नलिखित कार्य होंगे

(1) राजस्व प्रबन्ध, मूल्य निर्धारण तथा ऋण

लें, अपने काम करने वाले अधिकारियों की नियुक्ति करें तथा काम करने के बाद पूरी मजदूरी आपस में वितरित कर दे ।

मुआवजा का विरोध

यदि उपरोक्त साधनों से पूंजीपतियों से उनकी सम्पत्ति ले ली जाती है, तो गिल्ड समाजवादी उसका मुआवजा देने के पक्ष में नहीं है । इसके बदले अधिक से अधिक उद्योग स्वामियो को सहायता के रूप में कुछ भत्ता दिया जा सकता है ।

संगठन शक्ति

अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये गिल्ड समाजवादी यह चाहते हैं कि श्रमिक संगठनों की व्यवस्था को मजबूत बनाया जाये । इसके लिये वे कुछ सुझाव देते हैं । प्रथम, गिल्ड व्यवस्था को व्यापक बनाया जाय ताकि चपरासी से लेकर मैनेजर तक सभी गिल्ड के सदस्य बने । इस प्रकार का गिल्ड पूंजीपति को अधिक सफलता पूर्वक चुनौती दे सकता है ।

द्वितीय, श्रमिक स्वभावों का आतरिक ढांचा पूर्णतः लोकतान्त्रिक हो । समस्त संघों में एकता और सहयोग हो, ताकि उनका श्रमिक शक्ति पर पूर्ण आधिपत्य हो जाये । इस प्रकार वे पूंजीवादी व्यवस्था का अच्छी तरह मुकाबला कर सकेंगे ।

तृतीय, श्रमिक सभाओं के संगठन को सुदृढ़ बनाया जाये, जिससे संक्रमण समय में आवश्यकता पड़ने पर वे सम्पूर्ण कार्य सुचारु रूप से चला सके ।

गिल्ड समाजवादी साधनों से यह बात स्पष्ट होती है कि ये अर्थ व्यवस्था पर क्रमिक नियन्त्रण प्राप्त करना चाहते है । वे वर्तमान श्रमिक-संघ संगठन के आधार पर ही आगे बढ़ना चाहते हैं । सम्भवतः उनकी चेष्टा यह है कि पूंजीवादी तथा समाजवादी समाज के मध्य जो खाई है, उस पर पुल बांध दिया जाय ।"[22] तभी वे अपने उद्देश्यों को प्राप्ति कर सकते हैं ।

---

22 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 86,

साधनों तथा क्रमिक विकास के सिद्धान्त का पूर्णतः बहिष्कार नहीं करते तथा इन साधनों में अपना विश्वास व्यक्त करते हैं।

आर्थिक साधन

गिल्ड समाजवादी प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct action) जैसे हड़ताल, तोड़-फोड़ आदि मे विश्वास तो नही रखते, लेकिन कुछ ऐसे आर्थिक साधन हैं जिनमे उनका पूर्ण विश्वास है। गिल्ड समाजवादी निम्नलिखित आर्थिक साधनों को प्रमुखता देते हैं:—

धीरे-धीरे नियंत्रण प्राप्त करने की नीति (The policy of encroching control)

इसका तात्पर्य है कि शनैः शनैः श्रमिक स्वामियों से अधिकारों को छीन ले। इस नीति के अन्तर्गत श्रमिकों को इस बात का आग्रह करना चाहिये कि कारखानों के कर्मचारी जैसे फोरमेन, ओवरसियर, टेक्नीशियनों आदि की नियुक्तियों के लिये श्रमिक स्वयं चुनाव करेंगे। इसके अलावा श्रमिक जिन अधिकारियों को पसन्द न करे उन्हें नौकरी से हटा दिया जाय। इस प्रकार नियुक्ति तथा पद से हटाने का अधिकार जब श्रमिकों के हाथों में आ जायेगा तो धीरे - धीरे सम्पूर्ण कारखाने पर उनका आधिपत्य हो जायगा। इस साधन का सबसे बड़ा लाभ यह है कि श्रमिक तथा समाज के अन्य वर्ग हिंसा तथा मारकाट से बच जायेंगे।

औद्योगिक प्रतियोगिता (Industral Competition)

श्रमिक संघ सामूहिक रूप से पूंजीपतियों से स्पर्धा करेंगे तथा स्वयं उद्योगों की स्थापना करेंगे। गिल्ड उद्योगों का संचालन योग्यता के साथ कर पूंजीपतियों को झुका देंगे।

सामूहिक ठेका या संविदा (Collective Contract)

इसका तात्पर्य यह है कि श्रमिक संगठन कारखाने के मालिकों के साथ समझौता करे तथा उत्पादन का स्वयं ठेका ले लें। इसके अनुसार यह निश्चय होगा कि किस प्रकार के माल का कितना उत्पादन होगा तथा उसकी इकट्ठी मजदूरी कितनी होगी। संघ संगठन उत्पादन का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर

लें, अपने काम करने वाले अधिकारियों की नियुक्ति करें तथा काम करने के बाद पूरी मजदूरी आपस में वितरित कर दें।

मुआवजा का विरोध

यदि उपरोक्त साधनों से पूंजीपतियों से उनकी सम्पत्ति ले ली जाती है, तो गिल्ड समाजवादी उसका मुआवजा देने के पक्ष में नहीं है। इसके बदले अधिक से अधिक उद्योग स्वामियों को सहायता के रूप में कुछ भत्ता दिया जा सकता है।

संगठन शक्ति

अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये गिल्ड समाजवादी यह चाहते हैं कि श्रमिक संगठनों की व्यवस्था को मजबूत बनाया जाये। इसके लिये वे कुछ सुझाव देते हैं। प्रथम, गिल्ड व्यवस्था को व्यापक बनाया जाय ताकि चपरासी से लेकर मैनेजर तक सभी गिल्ड के सदस्य बने। इस प्रकार का गिल्ड पूंजीपति को अधिक सफलता पूर्वक चुनौती दे सकता है।

द्वितीय, श्रमिक स्वभावों का आतरिक ढांचा पूर्णत. लोकतान्त्रिक हो। समस्त संघों में एकता और सहयोग हो, ताकि उनका श्रमिक शक्ति पर पूर्ण आधिपत्य हो जाये। इस प्रकार वे पूंजीवादी व्यवस्था का अच्छी तरह मुकाबला कर सकेंगे।

तृतीय, श्रमिक सभाओं के संगठन को सुदृढ़ बनाया जाये, जिससे संक्रमण समय में आवश्यकता पड़ने पर वे सम्पूर्ण कार्य सुचारु रूप से चला सके।

गिल्ड समाजवादी साधनों से यह बात स्पष्ट होती है कि ये अर्थ व्यवस्था पर क्रमिक नियन्त्रण प्राप्त करना चाहते है। वे वर्तमान श्रमिक-संघ संगठन के आधार पर ही आगे बढ़ना चाहते हैं। सम्भवतः उनकी चेष्टा यह है कि पूंजीवादी तथा समाजवादी समाज के मध्य जो खाई है, उस पर पुल बांध दिया जाय।"[22] तभी वे अपने उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकते हैं।

---

22 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 86,

गिल्ड और ट्रेड यूनियन (Guilds and Trade Unions)

गिल्ड समाजवाद का अध्ययन करते समय कहीं-कही यह भास होता है कि गिल्ड और ट्रेड यूनियन एक जैसी ही संस्थाएं हैं। दोनों ही श्रमिक वर्ग का कल्याण चाहते हैं। दोनो ही उत्पादन में श्रमिको के महत्वपूर्ण योगदान का पक्ष लेते हैं, उद्योगो में श्रमिको की कार्य परिस्थितियो मे सुधार एवं श्रमिक नियन्त्रण का समर्थन करते हैं। फिर भी गिल्ड प्रणाली और श्रमिक संघ एक नही है। इनमे निम्नलिखित अन्तर स्वयं ही अपने आप स्पष्ट होता है—

(i) ट्रेड यूनियन सीमित संस्थाऐं हैं। इनके केवल श्रमिक ही सदस्य हो सकते हैं। गिल्ड व्यवस्था में उस उद्योग के श्रमिक प्रबन्धक, बुद्धिजीवी सभी सदस्य हो सकते हैं। गिल्ड की सदस्यता व्यापक है।

(ii) ट्रेड यूनियन मजदूरी में वृद्धि-कार्य परिस्थितियो मे सुधार चाहते हैं। गिल्ड प्रणाली पूरे उद्योग का नियन्त्रण चाहती है।

(iii) ट्रेड यूनियन मुख्यतः प्रबन्धको से संघर्ष तथा प्रत्यक्ष कार्यवाही में विश्वास करते है। गिल्ड प्रणाली में यह बात स्वीकार नही की जाती।

(iv) ट्रेड यूनियन स्वार्थ पर निर्भर है। वह अपने सदस्यो के हित को ही सर्वोपरि मानता है। गिल्ड व्यवस्था का उद्देश्य सम्पूर्ण समाज की भलाई है।

मध्य-मार्गीय समाजवाद

गिल्ड समाजवाद मध्य-मार्गीय विचारधारा है। उन्नीसवी शताब्दी मे प्रचलित समाजवादी विचारधाराएं गिल्ड समाजवादियों को या तो अधिक उग्र या अत्यधिक उदार लगी। यूटोपियायी विचारकों के साधन एवं आदर्श सामाजिक व्यवस्था उन्हें प्रभावित नहीं कर सके। मार्क्सवाद उन्हें श्रमिक पक्षीय एवं क्रान्तिकारी प्रतीत हुआ। अराजकतावाद उद्देश्य हीन सा लगा। सिन्डीकलवाद में उन्हे मार्क्सवादी उग्रता अराजकतावाद की अराजकता दृष्टिगोचर हुई। फेबियनवाद सिर्फ बुद्धिवादी और सक्रिय कार्य-क्रम रहित जान पड़ा। समष्टिवाद भी अधिनायकत्व तथा राज्य सत्ता में वृद्धि का समर्थक लगा।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि उन्होने पूर्णतः इन सभी विचारधाराओं का जड़ मूल से ही खण्डन किया हो। गिल्ड समाजवादियों का उद्देश्य समाजवादी विचारधाराओं की क्रान्तिकारी उग्रता तथा कुछ की अति उदारवादिता का त्याग कर अंग्रेज मनोवृत्ति के अनुकूल एक नये समाजवादी सम्प्रदाय का सृजन करना था। इस आधार पर उन्हे अन्य विचारधाराओं मे जो भी अच्छा लगा ग्रहण किया। इस प्रकार यह समन्वयपरक विचारधारा थी। इसे समष्टिवाद तथा सिन्डीकलवाद का बुद्धिजीवी-शिशु (Intellecıual Child) भी कहा जाता है। अन्य शब्दो में इसका उदभव समष्टिवाद (और फेबियनवाद भी) और सिन्डीकलवाद के संयोग से हुआ।

गिल्ड समाजवादी तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति के आलोचक हैं। वे पूंजीवाद तथा उससे सम्बन्धित दुर्गुणों की निन्दा करते हैं। लेकिन उनके विचारो मे वह उग्रता नही है जो मार्क्सवाद और सिन्डीकलवाद में है। वे तो प्रचलित व्यवस्था का पूर्णतः उन्मूलन कर एक नई व्यवस्था की स्थापना करना चाहते है। गिल्ड समाजवादी प्रचलित दोषो को दूर करने, श्रमिको का शोषण समाप्त करने के लिए तत्कालीन व्यवस्था को नष्ट नहीं वरन् उसमें सुधार कर नई व्यवस्था की रचना उनका उद्देश्य है।

सिन्डीकलवाद में राज्य के लिए कोई स्थान नही है। दूसरी ओर समष्टिवाद पूंजीवाद के दोषों को दूर नही कर सकता। वे पूंजीवादी राज्य के स्थान पर नौकरशाही केन्द्रीकरण राज्य की स्थापना करते हैं। श्रमिकों की [illegible] तथा दशाओं का निर्धारण करने के लिए कुछ नहीं करता। गिल्ड समाजवादी न तो सिण्डीकलवादियों की तरह राज्य के अस्तित्व को समाप्त करना चाहते हैं और न ही समष्टिवादियों की भांति राज्य स्वामित्व की स्थापना के पक्ष में हैं। गिल्ड समाजवाद राज्य के सीमित अधिकार [illegible] गिल्ड व्यवस्था की स्थापना का अनुमोदन करता है।

गिल्ड समाजवादी सम्पूर्ण क्षेत्रों में गिल्ड व्यवस्था की स्थापना चाहते हैं। वे सिण्डीकलवादियों की भांति गिल्डों को [illegible] संगठन का आधार बनाना चाहते हैं। लेकिन समष्टिवादियों की तरह राज्य की भी उपयोगिता में विश्वास रखते हैं। गिल्ड समाजवाद राज्य के सीमित अधिकार [illegible] व्यवस्था की स्थापना का अनुमोदन करते हैं। [illegible] समष्टिवाद से दूर [illegible] के निकट है।

सिन्डीकल समाज आर्थिक जीवन में उत्पादकों को ही प्रमुख स्थान देकर उत्पादन पर उन्ही का नियन्त्रण चाहता है। समष्टिवाद तथा राज्य समाजवाद मनुष्य को केवल उपभोक्ता के ही रूप मे देखता है। गिल्ड समाजवादी उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनो को ही महत्व देते है। इसने समष्टिवाद तथा सिन्डीकलवाद के एकपक्षीयपन को दूर कर सामन्जस्य स्थापित किया।

साधनों के विषय में भी गिल्ड समाजवाद अतिवादी नही है। वे मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी पद्धति तथा सिन्डीकलवाद की सीधी या प्रत्यक्ष कार्यवाही जैसे हडताल आदि में विश्वास नही करते। क्रान्ति के आधार पर समाजवाद की आकस्मिक स्थापना शिक्षित अंग्रेजो को प्रभावित नही कर पाई। दूसरी ओर यूटोपियायी साधन जैसे उच्च वर्ग से सुधार की अपील करना या फेबियनवादियो की भाँति अध्ययन कक्ष मे बैठे-बैठे ही कागजी कार्यवाही जिसमे सक्रियता का कोई स्थान न हो आदि मे गिल्ड समाजवादियो की निष्ठा नही थी। उनके साधन कम उग्र किन्तु प्रभावपूर्ण आर्थिक कार्यवाही पर आधारित थे।

इस प्रकार गिल्ड समाजवाद अन्य समाजवादी विचारधाराओं का समन्वय-परक सिद्ध हुआ। समन्वय का प्रभाव मध्यमार्गीय ही हो सकता था। और वास्तव में गिल्ड समाजवाद मध्यमार्गीय समाजवाद था भी।

मूल्यांकन

गिल्ड समाजवादी आन्दोलन लगभग दो दशाब्दी तक चला। 1906 मे पेन्टो के ग्रन्थ-Restoration of Guild System-के प्रकाशन से प्रारम्भ हुआ और 1925 में-National Guild League-के विघटन के साथ ही इस आन्दोलन का अन्त हो गया। यह सम्प्रदाय समाजवादी आन्दोलन को न तो लोकप्रिय और न प्रभावशाली ही बना सका। गिल्ड समाजवाद कई दृष्टिकोणो से एक *निर्बल विचारधारा और अव्यवहारिक विकल्प साबित हुआ।*

अंग्रेज चरित्र की यह विशेषता है कि वे केवल उसी विचार को ग्रहण करते हैं जो व्यावहारिक एव विकास का परिणाम हो। यहा सीमित राजतन्त्र लोकतान्त्रिक संसदीय व्यवस्था तथा उदारवाद का धीरे-धीरे विकास हुआ और इनकी जड़ें वहा बहुत ही दृढ़तापूर्वक जम चुकी हैं। गिल्ड समाजवाद ने जो कुछ विचार रखे वे प्रथम, तो उस शासन परम्परा को चुनौती देते हैं जिनका सदियों से विकास हुआ है। दूसरे वे जो कुछ विकल्प के रूप में प्रस्तुत करते हैं, वह इतना निर्बल सिद्ध हुआ कि अंग्रेजों

ने न तो इस पर व्यापक रूप से गम्भीरतापूर्वक मनन किया और न स्वीकार किया। इस प्रकार यह कुछ वर्षों के विचार आन्दोलन के बाद स्वयं ही समाप्त हो गया।

गिल्ड समाजवाद में ऐसी कोई भी बात नही है जिसके विषय में इसके समर्थक मौलिकता का दावा कर सकें। इसे राज्य समाजवाद और फेबियन वाद का बुद्धिजीवी शिशु कहा जाता है। किलजर एवं रॉस ने इसे सिन्डीकलवाद तथा फेबियनवाद का वर्णसंकर कहा है। कभी-कभी इसे फ्रास के सिन्डीकलवाद का अंग्रेजी समानान्तर कहते हैं। हेलोवेल ने तो इसे सिन्डीकलवाद का रक्तहीन रूपान्तर की संज्ञा दी है।[23] गिल्ड समाजवाद के सबसे प्रमुख समर्थक कोल (G.D H. Cole) का एक पैर फेबियनवादी भवन मे था, तो दूसरा गिल्ड समाजवादी खेमे में। ये इन दोनों विचारधाराओं के साथ-साथ बहुलवादी भी थे। गिल्ड समाजवाद में प्रभाव डालने वाली विचार-मौलिकता का अभाव तो था ही यह उस समय प्रचलित विचारधाराओ का समुचित समन्वय भी नही बन पाया।

गिल्ड समाजवाद एक निश्चित विचारधारा भी नही बन पाया। इसके प्रतिपादकों में मतभेद है। हाब्सन तथा कोल में इन मूल बातो पर ही मतभेद हैं कि गिल्ड प्रणाली पर आधारित समाज का क्या स्वरूप होगा। राज्य के अस्तित्व एवं क्षेत्राधिकार के विषय में भी उनके विचारों मे भारी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।

ऐलेग्जेन्डर ग्रे का विचार है कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ में "समाजवाद चौराहे पर एक खोये हुए बच्चे के समान था जिसे यह भी मालूम नहीं था कि वह कहाँ से आया है तथा कहाँ जाना चाहता है। समाजवाद की दुर्दशा बनाने में काफी सीमा तक गिल्ड समाजवाद उत्तरदायी है। इन्होंने राज्य समाजवाद या राष्ट्रीयकरण के विचार को पूरी तरह नष्ट करने का कारगार प्रयत्न किया। इनके अनुसार राज्य समाजवाद एक बेकार सा विकल्प था। गिल्ड समाजवादियों ने पुराने समाजवादी विचार को समाप्त तो किया, किन्तु इसके स्थान पर ये कोई

---

23 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 285.
Hallowell, J H., Main Currents in Modern Political Thought, p. 469.

ऐसा विकल्प प्रस्तुत नहीं कर सके जिसे स्वीकार किया जा सके।"[24]

राज्य एवं सरकार

गिल्ड समाजवादी जब राज्य के विषय में विचार व्यक्त करते हैं, उस समय वे एक मूल त्रुटि करते हैं, वे राज्य और सरकार में अन्तर नहीं करते। यदि वे इस अन्तर को प्रारम्भ मे ही स्पष्ट कर देते, तो उनके विचार बहुत कुछ ठीक प्रतीत लगते। वे जिस संस्था को राज्य कहते हैं वह वास्तव मे राज्य नहीं सरकार है। राज्य की समाप्ति असम्भव है। अधिकार सरकार के कम किये जा सकते हैं।

हाब्सन के राज्य सम्बन्धी विचार किसी सीमा तक उचित हैं। लेकिन कोल के विचार उचित प्रतीत नहीं होते। कोल जब राज्य को अन्य समुदायों जैसा कहता है, तब राज्य राज्य नही रहेगा तथा जब वह किसी न्यायालय या कम्यून की स्थापना की कहता है तो यह कम्यून व्यवस्था ही वास्तव में राज्य की शासन व्यवस्था होगी।

द्वैध-शासन प्रणाली

एक ही राजनीतिक समाज में राज्य के कार्यों को गिल्ड समाजवादी दो भागों में विभाजित करते हैं— राजनीतिक और आर्थिक। आर्थिक कार्य गिल्ड करेंगे तथा राजनीतिक कार्य राज्य के पास ही रहेंगे। इस प्रकार एक ही शासन व्यवस्था को गिल्ड समाजवादी दो शाखाओं मे विभाजित करते हैं तथा इन दोनों को व्यवस्था का उत्तरदायित्व दो प्रकार की संस्थाओं को देते हैं। यह सैद्धान्तिक रूप से ही ठीक नही है।

---

24 "Socialism today is rather like a lost child at the cross-roads, not quite sure where it has come from and not knowing where exactly it wants to go. For this the Guild socialists are to a considerable extent responsible. They killed, and killed rather effectively, the old idea of State socialism, meaning thereby straight forward nationalisation; and they showed that it was rather a poor and unimaginative ideal But having destroyed the old faith of socialism, they have provided no new abiding faith to take its place."
Gray, A., The Socialist Tradition, p 458.

गिल्ड समाजवादी समाज के आर्थिक और राजनीतिक कार्यों का विभाजन करते हैं। आर्थिक कार्य गिल्ड करेंगे तथा राजनीतिक कार्य राज्य के पास छोड़ दिये जायेंगे। बहुत ही व्यापक या मोटे रूप से कुछ कार्यों को आर्थिक एवं राजनीतिक पक्षों मे विभाजित किया जा सकता है, लेकिन यह सामान्यतः संभव नही है। समाज में आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों का स्पष्ट एवं निश्चित विभाजन नहीं हो सकता। व्यवहारिक दृष्टि से ये दोनों पक्ष एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्धित हैं। जब यह विभाजन स्पष्टत नहीं हो सकता, तो कौनसे कार्य राज्य को छोड़े जांय कौन से गिल्डो को दिये जायें तथा जो पूर्ण रूप से दोनों पक्षों में आते हैं उन्हे राज्य या गिल्ड मे से किसको दिया जाय यह सम्भव नही है। इस प्रकार उनकी विचारधारा का प्रमुख आधार ही समाप्त हो जाता है।

गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत राज्य तथा श्रेणियों में अधिकार-विभाजन की बार्कर (E Barker) ने आलोचना की है। बार्कर ने लिखा है:—

> "वास्तव में, शक्ति-विभाजन का कोई भी सिद्धान्त, जैसा कि गिल्ड समाजवाद समर्थन करता है, धराशायी हुए बिना नही रह सकता क्योकि यह सामान्य तथ्य है। आजकल के बृहद समाज मे पारस्परिक निर्भरता अत्यन्त आवश्यक है। राज्य एक शरीर है; कोई भी व्याख्या इस तथ्य से अलग नही जा सकती।"[25]

संघर्ष की सम्भावना

गिल्ड समाजवादी प्रत्येक स्तर पर विभिन्न क्षेत्रों में गिल्ड की स्थापना चाहते है। प्रत्येक स्तर पर कम्यून व्यवस्था भी होगी। इसमें साथ-साथ प्रत्येक स्तर पर राजनीतिक कार्यों के लिये राज्य किसी न किसी रूप मे रहेगा ही। इसके अलावा बहुत कुछ प्रश्नो के सम्बन्ध में यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि वे आर्थिक अधिक है या राजनीतिक। इन परिस्थितियों में समाज में सम्पूर्ण

---

25 'In truth, any doctrine of separation of powers, such as Guild Socialism advocates, is bound to collapse before the simple fact of the vital inter-dependence of all the activities of the great society of to day. The state is one body: no clever essay in dichotomycan get away from that fact."
Barker, E, Political Thought in England, 1848 tö 1914, p. 203.

गिल्ड व्यवस्था में अराजकता तथा संघर्ष होना अवश्यम्भावी है। समाज में इतनी संख्या में विभिन्न संस्थाओं का होना ही प्रतिद्वन्दता तथा गतिरोध के लिये पर्याप्त है।

अव्यवहारिक एवं त्रुटिपूर्ण प्रतिनिधि प्रणाली

गिल्ड समाजवादी क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व का खन्डन कर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का समर्थन करते हैं। उनके क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की आलोचना मे आंशिक सत्यता तो है, लेकिन व्यवसायिक प्रतिनिधित्व उसका विकल्प नहीं हो सकता। व्यवसायिक प्रतिनिधित्व से संसद का राष्ट्रीय स्वरूप समाप्त हो जायगा। संसद एक परस्पर-विरोधी विभिन्न व्यवसायिक हितो का समूह-मात्र ही रह जायगी। इसके अलावा विभिन्न व्यावसायिक हितो का समान प्रतिनिधित्व अनुचित एवं अव्यवहारिक दोनो ही है। समाज में कुछ व्यावसाय अधिक महत्वपूर्ण होते है तथा कुछ कम। इनके अनुपातिक महत्व को भी गिल्ड समाजवादी स्वीकार नही करते।

शिल्पकारिता का भ्रममूलक समर्थन

गिल्ड समाजवादी उत्पादन क्षेत्र मे शिल्पकारिता के समर्थक हैं तथा उसको पुनर्जीवित करने के लिये उन्होंने पूंजीवादी व्यवस्था और बड़े पैमाने पर उत्पादन का विरोध किया है। जिस समाज में जनसंख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है, जहाँ समाज की मांगे निरन्तर बढ़ रही हैं, इन सब की पूर्ति बड़े पैमाने के उत्पादन द्वारा ही सम्भव है। बड़े पैमाने पर उत्पादन सूक्ष्म श्रम-विभाजन (Division of Labour) और विशेषीकरण (Specialisation) पर निर्भर करता है। ऐसी अवस्था मे केवल शिल्पकारिता के लिये ही आधुनिक अर्थ व्यवस्था को छोड़ना असम्भव एवं अवांछनीय दोनो ही होगा।

पेन्टी (A. J. Penty) दस्तकारिता तथा शिल्पकारिता के प्रबल समर्थक थे। जोड (C. E. M. Joad) के अनुसार "पेन्टी के तर्क अंशतः भावुकता तथा अंशतः सौन्दर्यात्मक आधारों पर आधारित हैं तथा वे [illegible] पर उत्पादन तथा व्यापार की आधुनिक पद्धतियों के विरुद्ध [illegible] ण स्वतन्त्र दस्तकारों के आधार पर [illegible] संगठन का प्रस्त[illegible] स्थितियो में व्यावहारिक नही है [illegible]

---

26. जोड, आधुनिक राज.

दूसरे, शिल्पकारिता की भावना को किन्ही क्षेत्रों में तो स्वीकार किया जा सकता है, लेकिन यह मनुष्य को स्वयं-केन्द्रित और व्यक्तिवादी बनाता है। मनुष्य सामुहिक एवं सामाजिक प्रयत्नों की उपेक्षा करता है। यदि यह विचारधारा सामुहिक और सामाजिकता के विरुद्ध है तो इसे समाजवादी विचारधारा कहना ही उपयुक्त न होगा।

आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के अनुपयुक्त

आधुनिक अर्थ व्यवस्था बड़े पैमाने (Large Scale) और विशिष्टिकरण (Specialisation) के ऊपर आधारित है। किसी एक बडी वस्तु के महत्वपूर्ण भागों के निर्माण के लिये अलग स्थानो पर उद्योगो को स्थापना की जाती है। अलग अलग स्थानों पर निर्मित भागो को फिर एक जगह एकत्रित किया जाता है। इसके लिये उद्योगों को पूर्ण परस्पर निर्भरता और समन्वय अत्यन्त ही आवश्यक है। इस प्रकार की उत्पादन व्यवस्था में गिल्ड समाजवाद या तो उपयुक्त नहीं है या इस तरह औद्योगिक विकास गिल्ड प्रणाली के अन्तर्गत सम्भव हो नही है।

आधुनिक युग मे प्रत्येक राज्य सीमित या व्यापक रूप में उद्योगो या जन उपयोगी सेवाओं (Public Utility Services) का राष्ट्रीकरण या राष्ट्रीय उत्तरदायित्व लेते हैं, इससे राज्य की उपयोगिता में वृद्धि हुई है। जब समाज इस प्रकार की व्यवस्था की ओर अग्रसर हो रहा है, तब गिल्ड प्रणाली की कल्पना ही मूर्खतापूर्ण होगी।

औद्योगिक अवनति

गिल्ड व्यवस्था के अन्तर्गत औद्योगिक अवनति की अधिक सम्भावना है। किसी सीमा तक मनुष्य स्वार्थी होता है। हो सकता है कि मनुष्य गिल्ड का अपने स्वार्थ के लिये प्रयोग करे।

गिल्ड व्यवस्था में श्रमिक संघों का उत्पादन पर पूर्ण आधिपत्य होगा। उनके ऊपर एक कुशल प्रबन्धक का अभाव होगा। इस दशा मे श्रमिक मेहनत और कुशलतापूर्वक कार्य नही कर सकेगे। इससे औद्योगिक गतिहीनता आ जायेगी।

उत्पादक वर्ग को प्राथमिकता

गिल्ड समाजवाद वैसे समस्त सामाजिक वर्ग जैसे उत्पादक वर्ग, उपभोक्ता वर्ग आदि के हितो का संरक्षण करता है किन्तु वास्तव मे यह विचारधारा

उत्पादक के रूप में श्रमिकों की ओर अधिक झुकी हुई है। यह उत्पादक वर्ग को प्राथमिकता देती हुई प्रतीत होती है।[27] यह सम्भव हो सकता है कि उत्पादक वर्ग उपभोक्ताओं पर हावी हो जाय। इस प्रकार समाज के सभी वर्गों के संरक्षण की बात में खोखलापन अधिक है।

इसके अलावा उत्पादक और उपभोक्ता के मध्य विभेद करना अव्यवहारिक है। उपभोक्ता किसी न किसी प्रकार का सृजन कार्य करता है और उत्पादक उपभोक्ता होता ही है। यह तो सोचा भी नही जा सकता कि कोई व्यक्ति उपभोक्ता नही होता।

एकाधिकार को प्रोत्साहन

गिल्ड समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उद्योगों मे गिल्ड का ही एकाधिकार होगा। स्पर्धा के अभाव में गिल्ड कुशलता के साथ कार्य कर सकेंगे या नही कहा नही जा सकता। सम्भवतः नही।

एकाधिकार के कारण क्या गिल्ड समाज सेवा के उद्देश्य से काम करेंगे? "ऐसा हो सकता है कि समाज-सेवा का उद्देश्य, जिसकी यथार्थता को अस्वीकार नही किया जा सकता, व्यक्तिगत लाभ की तुलना मे सबल सिद्ध न हो सके। यह भी सम्भव है कि मनुष्य सर्वप्रथम अपना हानि-लाभ देखता है, इसके बाद वह सार्वजनिक कल्याण की ओर ध्यान देता है। यदि ऐसा है तो गिल्ड समाजवाद भंग हो जायेगा तथा समाज में अराजकता व्याप्त हो जायेगी क्योंकि यह ऐसी श्रेणियों (गिल्ड) के शोषण का केन्द्र-स्थल हो जायगा जिनको अपने उद्योग के क्षेत्र में एकाधिकार होने के कारण पूंजीपतियों से भी अधिक समुदाय का शोषण करने के साधन उपलब्ध होंगे।"[28]

समाज के सामान्य हितों को क्षति

विभिन्न उद्योगों के लिये पृथक-पृथक गिल्ड होने का तात्पर्य यह होगा कि समाज विभिन्न हितों में विभाजित हो जायेगा। प्रत्येक गिल्ड अपने-अपने विशेष हित संरक्षण का प्रयत्न करेंगे। इस परिस्थिति में समाज के सामान्य हितों की क्षति होगी। सामान्य हितों को समुचित महत्व नहीं मिलेगा। राज्य का राष्ट्रीय स्वरूप हो जायेगा। राज्य ही सामान्य हितों का रक्षक होता है, जिस संस्था को गिल्ड समाजवादी अन्य संस्थाओं के समान ही मानते हैं।

27. Crosland, C. A R., The Future of Socialism, p 86.
28 जोड़ आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका पृ 82-83.

साधनों की अनुपयुक्तता

गिल्ड समाजवादी गिल्ड व्यवस्था की स्थापना में लिये जिन साधनो को अपनाते हैं उनसे सफलता की आशा नही की जा सकती थी। वे हिंसात्मक साधन और राजनीतिक साधन दोनो को ही नही अपनाते। जिन आर्थिक साधनों का वे समर्थन करते हैं उनसे कुछ आर्थिक उद्देश्य तो प्राप्त हो सकते हैं, लेकिन पूंजीवाद का उन्मूलन, राज्य के अधिकारो को पूर्णत सीमित कर गिल्ड प्रणाली की स्थापना करना सम्भव नही। इसी कारण वे अपनी विचारधारा को कार्यान्वित करने में असफल भी रहे हैं।

योगदान

गिल्ड समाजवादी आन्दोलन का जीवन तो बडा छोटा रहा, किन्तु वह कुछ महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़ गया। अब श्रमिक संघी, युद्धोत्तर सिन्डीकलवादी, समष्टिवादी आदि राष्ट्रीयकृत उद्योगो की व्यवस्था तथा व्यक्तिगत उद्योगों के नियंत्रण की योजनाओं मे गिल्ड समाजवादी सिद्धान्तो को व्यापक रूप में स्वीकार करते हैं। 1917 में व्हिट्ले रिपोर्ट (Whitley Report) के बहुत कुछ सुझाव तथा इनके अंतर्गत जो श्रमिक समितियाँ नियुक्त की गयी उन पर गिल्ड समाजवाद का स्पष्ट प्रभाव था। इन्होंने गिल्ड समाजवाद से ही प्रेरणा ग्रहण की।[29]

अमेरिका मे भी गिल्ड समाजवाद का प्रभाव पड़ा। जिन परिवर्तनों की माँगे गिल्ड समाजवादियों ने की उनमे से कुछ माँगें औद्योगिक नियंत्रण के विस्तृत पुर्नगठन की योजना द्वारा 1933 से संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वीकार कर ली गयी है। 1933 मे राष्ट्रीय पुनरुद्धार कानून (National Recovery Act) के अनुसार सरकार ने काम के घंटों का मूल्य तथा उत्पादन की दर तथा प्रतियोगिताओं के सम्बंध में जो अधिकार प्राप्त किये उनको कार्यान्वित करने के लिये श्रमिकों के प्रतिनिधियो मे परामर्श एवं समझौता किया जाने लगा। केन्द्रीय प्रशासक बोर्ड (Central Administrative Board) को परामर्श देने के लिये उद्योगपतियो, श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं के प्रतिनिधियों की समितियाँ होती हैं। इस प्रकार सभी सम्बन्धित हितों को संयुक्त भागीदार बनाना, गिल्ड समाजवाद की ही देन है।[30]

---

29. Kilzer and Rose, Western Social Thought, p. 287
30. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 299.

ऐलेग्जेन्डर ग्रे ने लिखा है कि गिल्ड समाजवादी विचारधारा ने श्रमिक आन्दोलन को भी प्रभावित किया। अब श्रमिक संगठन अधिक औद्योगिकवादी तथा जागरुक हुए और वे कार्यप्रणाली के विषय में भी सोचने लगे।

गिल्ड समाजवादियों ने लोकतान्त्रिक चुनाव प्रणाली की जो निन्दा की है उससे चुनाव प्रणाली के विषय में सुधारो के लिये इन्होंने नवीन शक्ति प्रदान की। प्रजातन्त्र के विषय में लोगों की जो शंकाएं थीं उनको बल मिला। परिणामस्वरुप कई देशों में प्रतिनिधि प्रणाली में बहुत कुछ परिवर्तन हुए।[31]

कोकर के अनुसार गिल्ड समाजवादियों ने प्रत्यक्ष रूप से कुछ सैद्धान्तिको को प्रभावित किया है। बहुलवादियों के इस सिद्धान्त को सुझाकर या उसका समर्थन करके कि वर्तमान उद्योग की अवस्थाओ के अधीन स्वतंत्रता तथा समानता की प्राप्ति, कुलीनतन्त्र अथवा धनिकतन्त्र के स्थान पर समष्टिवादी प्रजातन्त्र व्यवस्था स्थापित करने से नही, किन्तु श्रमिको को स्वायत्तशासी समुदायो में जो समाजसेवा के लिये विशिष्ट आर्थिक या सास्कृतिक कार्य के लिये संगठित हों, सत्ता का विभाजन करने से ही होगा।[32]

गिल्ड समाजवाद के वे सिद्धान्त जिन्हें किसी न किसी रूप में आज भी मान्यता दी जाती है निम्नलिखित हैं:—

(i) मजदूरी पद्यति के दोषो की ओर ध्यान आकर्षित करना
(ii) श्रमिक सहयोगी संस्थाओं की महत्ता को समाज के सामने रखना
(iii) उद्योग प्रबन्ध में श्रमिको के भाग की वाँछनीयता पर जोर देना
(iv) राज्य के सर्व-व्यापी सर्व सत्ताधारी सिद्धान्त को अस्वीकार करना
(v) समाज के छोटे हितों को भी महत्ता प्रदान करना
(iv) क्षेत्रीय स्वायत्तता तथा विकेन्द्रीकरण के महत्व को स्वीकार करना
(vii) इस बात पर जोर देना कि उत्पादन का उद्देश्य लाभ नही सामाजिक उपयोगिता है
(viii) क्रान्ति एवं हिंसा के माध्यम से उद्देश्यों की प्राप्ति की धारणा को रद्द करना
(ix) अतिवादिता के स्थान पर मध्य-मार्गीय सिद्धान्त की महत्ता को स्वीकार करना, तथा

---

31. Gray, A. The Socialist Tradition, pp 457-58
32 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 300.

(x) राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने के लिये आर्थिक क्षेत्र में लोकतन्त्र की स्थापना की आवश्यकता का पूर्ण समर्थन करना, आदि।

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Beer, M. — A History of British Socialism, Vol. II. Chapter XVIII, Rise of Guild Socialism.
2. कोकर, फान्सिस, — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन अध्याय 9, गिल्ड समाजवादी
3. Cole, G.D.H., — Guild Socialism, 1920.
4. Gray, Alexander, — The Socialist Tradition Chapter XVI, Guild Socialism.
5. जोड, सी ई. एम; — आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका अध्याय 4, शिल्पी संघवाद और श्रेणी संघवाद
6. MacDonald, R , — Socialism: Critical and Constructive Chapter III, Socialism : Its Organisaticn and Idea
7. Pelling,Henry,(Ed.), — The Challenge of Socialism Chapter 14, Guild Socialism.

8

साम्यवाद
Communism

मार्क्सवाद का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक परिवर्धन

साम्यवाद का कई अर्थों में प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी इसका अर्थ समाज के ऐसे सिद्धान्त के रूप मे लिया जाता है जिसमें सम्पत्ति पर सबका समान अधिकार हो। अन्य स्थलों पर साम्यवाद का प्रयोग समाजवाद के पर्याय के रूप मे किया जाता है।[1] प्रायः लोग मार्क्सवाद और साम्यवाद को एक ही सिद्धान्त समझ लेते हैं, जो सही नहीं है। हालांकि मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का जन्मदाता माना जाता है, मार्क्सवाद और समाजवाद दोनों ही साम्यवाद से भिन्न हैं।

साम्यवाद, मार्क्सवाद मे प्रथक होते हुए भी अभिन्न है। साम्यवाद मुख्यतः कार्ल मार्क्स की विचारधारा पर आधारित है। आगे चल कर मार्क्स के अनुयायियों ने मार्क्सवाद को जो सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक रूप प्रदान किया, इसे ही हम साम्यवाद कहते हैं।

अन्य शब्दों में, साम्यवाद का आधार मार्क्सवाद है, इसमें कोई सन्देह नहीं। प्रत्येक साम्यवादी मार्क्सवादी तो होता ही है। किन्तु साम्यवाद विशुद्ध मार्क्सवाद नहीं है। मार्क्स के सिद्धान्तों के आधार पर रूस मे 1917 की क्रान्ति का संगठन किया गया। व्यावहारिक आवश्यकताओं के कारण रूसी क्रान्ति के नेता लेनिन (Lenin, 1870-1924) ने मार्क्स के सिद्धान्तो में कुछ परिवर्धन किये और नये तत्वों को जोड़ा। लेनिन द्वारा प्रतिपादित मार्क्सवाद ही साम्यवाद है। या, हम यह कह सकते हैं कि "साम्यवाद वह मार्क्सवाद है जिसका निर्वचन और परिवर्धन लेनिन ने किया।" या, लेनिनवाद (Leninism) जो मार्क्सवाद का संशोधित एवं क्रियात्मक रूप है साम्यवाद कहलाता है।[2] लेनिनवाद साम्यवाद का प्रथम चरण है।

---

1. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 91-92.
2. रूस की क्रान्ति (1917) के समय लेनिनवाद बोलसेविज्म (Bolshevism) के नाम से जाना जाता था।

साम्यवाद लेनिन के विचारों तक ही सीमित नहीं रहा। लेनिन के पश्चात यह माना जाता है कि स्टालिन (Joseph Stalin, 1879-1953) ने साम्यवाद का सृजनात्मक विकास किया। लेनिन की भाँति स्टालिन भी मृत्यु-पर्यन्त रूसी साम्यवादी व्यवस्था का प्रमुख नेता तथा दार्शनिक बना रहा। स्टालिनवाद साम्यवादी विचारधारा परिवर्धन में दूसरा चरण है।

सामान्यतः यही माना जाता है कि साम्यवाद का महत्वपूर्ण विकास स्टालिन तक ही हुआ है। या, सूक्ष्म में 'मार्क्सवाद-लेनिनवाद-स्टालिनवाद' ही साम्यवाद है। इसलिये विभिन्न विद्वानों ने साम्यवाद की परिभाषा देते हुए साम्यवाद के स्टालिन तक के ही विकास को ध्यान में रखा है। साम्यवाद को परिभाषित करते हुए गैटिल (R. G Gettell) ने लिखा है कि:—

> "साम्यवाद मानव विकास के लिये भौतिकवादी सिद्धान्त पर आधारित एक इतिहास का दर्शन है जिसका प्रारम्भ कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिक ऐन्जिल्स से हुआ। इसको, लेनिन तथा स्टालिन सहित, एक नई विचारधारा के पैगम्बरों के रूप में सम्मानित किया जाता है जिनका भ्रातृत्व प्रेम नहीं किन्तु वर्ग-संघर्ष और विद्रोह का सिद्धान्त है।"[3]

जोड (C. E. M. Joad) ने साम्यवाद को एक क्रान्ति-पद्धति के रूप में समझाने का प्रयत्न किया है। उन्हीं के शब्दों में—

> "साम्यवाद मूलतः एक पद्धति का दर्शन है। यह उन सैद्धान्तिक तत्वों का निरूपण करता है जिनके आधार पर पूंजीवादी समाज को समाजवादी समाज में परिवर्तित किया जायेगा। इसके दो मूलतत्व हैं—वर्ग-युद्ध तथा क्रान्ति द्वारा, अर्थात् बल प्रयोग द्वारा सर्वहारा वर्ग को शक्ति का हस्तान्तरण।"[4]

यह यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि आज के समस्त साम्यवादी राज्य स्वयं को समाजवादी घोषित करते हैं। वास्तव में इन साम्यवादी राज्यों का समाजवाद ही साम्यवाद है। मार्क्स ने सर्वहारा-अधिनायकत्व के युग को समाज-

---

3 Wanlass,Lawrence C ,Gettell's History of Political Thought, p 389.
4 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 92

वादी युग कहा था। साम्यवादी राज्य इसी युग में चल रहे हैं। इसलिये जब साम्यवादी अपने लिये समाजवादी कहते हैं तो हमें भ्रम में नही पड़ जाना चाहिये। रूस, चीन, पूर्वी यूरोप के राज्य, उत्तरी वियतनाम, क्यूबा आदि की समाजवादी व्यवस्थाएं ही साम्यवाद हैं। कुछ लेखकों ने साम्यवाद को समाजवाद का उग्र, क्रान्तिकारी एवं अधिनायकवादी स्वरूप माना है।

उपरोक्त परिभाषाओं एवं विद्वानों के विचारों के विवेचन से साम्यवाद को अधिक स्पष्ट करने हेतु निम्नलिखित तत्व पुनः प्रस्तुत किये जाते हैं:—

प्रथम, साम्यवाद का आधार एवं श्रोत मार्क्सवाद है, जिसमें फ्रेड्रिक ऐन्जिल्स के विचार भी सम्मिलित हैं।

द्वितीय, रूस में साम्यवादी क्रान्ति के समय तथा बाद में जब मार्क्सवाद का प्रयोग किया गया तब नवीन परिस्थितियो के सन्दर्भ में क्रान्ति के नेता लेनिन ने इसमें कुछ संशोधन किये जिसे लेनिनवाद के नाम से जाना जाता है। यह साम्यवाद का सबसे प्रथम महत्वपूर्ण व्यावहारिक पक्ष है।

तृतीय, साम्यवाद के विषय में स्टालिन के विचार तक ही साधारणतः साम्यवाद की व्याख्याएं सीमित रहती है। किन्तु स्टालिन के बाद साम्यवादी विचारधारा में कुछ और परिवर्धन हुआ है। रूस में ही निकिता ख्रुश्चेव (Nikita Khruschev) ने साम्यवाद की आधुनिक समीक्षा की। चीन में साम्यवादी क्रान्ति के नेता माओ त्से-तुंग (Mao Tse-tung) ने साम्यवाद की वृहद व्याख्या की है जिसे माओवाद (Maoism) कहते हैं। विश्व के और कई साम्यवादी नेताओं ने भी टीका-टिप्पणी की हैं, जिनमें यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो (Marshal Tito), उत्तर कोरिया के किम इल सुंग (Kim Il Sung), उत्तर वियतनाम के जनरल जियेप (General Giap) आदि प्रमुख हैं। इन सभी के विचारों ने साम्यवाद के सैद्धान्तिक या व्यावहारिक पक्ष को प्रभावित किया है।

इसके अलावा कई राज्यों में साम्यवादी प्रणाली की स्थापना हो चुकी है, जिनमें रूस और चीन प्रमुख हैं। इन राज्यो में साम्यवाद को जो व्यवहारिक रूप दिया गया, नई संस्थाओं की स्थापना की गयी, उनसे साम्यवाद के कुछ और तत्व स्पष्ट होते हैं जैसे साम्यवादी दल की महत्ता, व्यक्ति-पूजा, साम्यवाद की विस्तारवादी प्रकृति आदि। इन सभी को साम्यवाद के अध्ययन के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं।

साम्यवाद की मार्क्सवादी मान्यताएँ

सभी साम्यवादी मार्क्सवाद के निम्नलिखित आधार-भूत सिद्धांतों को स्वीकार करते हैं।[5]

(i) द्वन्दात्मक भौतिकवाद एवं इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या।
(ii) पूंजीवादी-व्यवस्था के दोष तथा इसका अवश्यम्भावी पतन।
(iii) वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त।
(iv) श्रमिक क्रान्ति।
(v) सर्वहारा अधिनायकत्व।
(vi) वर्ग-रहित, राज्य-रहित, शोषण विहीन समाज की स्थापना।

साम्यवाद के प्रमुख समर्थक लेनिन, स्टालिन, माओ त्से-तुंग तथा अन्य सभी मार्क्स-ऐन्जिल्स को अपना सिद्धान्त-गुरु मानते हैं। फिर भी उन्होंने मार्क्सवाद में परिस्थितियोंवश या, स्वयं को भी एक सैद्धान्तिक पैगम्बर के रूप में प्रस्तुत करने, या, शासन पर अपना नियन्त्रण बनाये रखने के लिये, नई व्याख्याएं या नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

लेनिनवाद (Leninism)

लेनिन (Vladimir Ilyitch Ulianov,[6] 1870-1924) रूस में साम्यवादी क्रान्ति के प्रमुख नेता थे। वे एक मध्यवर्गीय परिवार में पैदा हुए थे। विद्यार्थी जीवन से ही लेनिन क्रान्तिकारी थे। सेन्ट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय से विधि-स्नातक बनने के उपरान्त भी इनकी रुचि श्रमिकों को संगठित करने की थी। 1890 में वे क्रान्तिकारी आन्दोलनों में सम्मिलित हो गये। 1897 में इन्हें साइबेरिया निष्कासित किया गया। 1900 में इन्होंने रूस छोड़ा। मार्क्स तथा एन्जिल्स के विचारों का अध्ययन करने के लिये अनेक वर्ष विदेशों में बिताये। प्रथम विश्व युद्ध में इन्हें आस्ट्रिया में बन्दी बनाया गया, किन्तु बाद में छोड़ दिया गया। अप्रैल 1917 में जर्मनी सरकार के सहयोग से ये रूस वापस आये और साम्यवादी क्रान्ति का नेतृत्व किया। रूसी क्रान्ति से लेकर मृत्यु-पर्यन्त (1924 तक) वे रूस में सोवियत दल के सर्वमान्य नेता ही नहीं, अपितु मार्क्सवाद-साम्यवाद के प्रमुख एवं अग्रणीय प्रवक्ता भी रहे। इस प्रकार लेनिन सिद्धान्तवादी और कर्मशील दोनों ही थे।

---

5. मार्क्सवाद के पूर्ण विवरण के लिये अध्याय तृतीय देखिये।

6. लेनिन इनका ही उपनाम है और यही लोकप्रिय है।

साम्यवाद के विकास में लेनिन का योगदान

लेनिन मार्क्सवाद के परम अनुयायी थे। वे मार्क्सवाद में किसी भी प्रकार का संशोधन नही चाहते थे। ऐसे संशोधनवादियों जैसे एडुअर्ड बर्नस्टाइन (Eduard Bernstein), तथा-कथित मार्क्सवादी कार्ल कॉटस्की (Karl Kautsky) आदि से उन्हे घृणा थी। किन्तु; जब ऐसे व्यक्तियों ने मार्क्सवाद मे त्रुटियो का निरूपण किया, या उन्हे नई विवेचना के साथ प्रस्तुत किया तब लेनिन ने इसका विरोध किया। इनके प्रत्युत्तर में लेनिन ने जो कुछ व्यक्त किया वही से लेनिनवाद प्रारम्भ होता है।

लेनिन मार्क्सवादी होने के साथ-साथ यथार्थवादी भी थे। वह मार्क्स के सिद्धान्तो को सब कालो के लिए सत्य मानने के साथ-साथ उसे विकासशील भी स्वीकार करते थे। मार्क्स ने अपने विचार उस युग मे प्रस्तुत किये जब पूंजीवाद का पूर्ण विकास नही हो पाया था। सर्वहारा वर्ग भी क्रान्ति के लिए सबल तथा सगठित नही था। लेनिन ने अपने विचार उस समय प्रकट किये जब पूंजीवाद का पूर्ण विकास हो चुका था तथा रूस में सर्वहारा क्रान्ति हो चुकी थी। इसलिए दोनो के विचारो मे मौलिक एकता होते हुए भी उनमें भेद होना स्वाभाविक था। उपयोगितावाद के विषय मे जो अन्तर बेन्थम और जॉन स्टुअर्ट मिल मे था, साम्यवाद के विषय मे वही मार्क्स और लेनिन के विषय में कहा जा सकता है।

कार्ल मार्क्स ने सिर्फ सैद्धान्तिक आधार ही प्रस्तुत किये थे। उन्हे किसी क्रान्ति का नेतृत्व कर साम्यवादी शासन की स्थापना करने का सौभाग्य प्राप्त नही हो सका था। यदि मार्क्स को यह अवसर प्राप्त होता तो नवीन परिस्थितियो के सन्दर्भ में अपने विचारो मे अवश्य ही कुछ परिवर्तन करते। लेनिन को यह अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने रूसी क्रान्ति का नेतृत्व किया और विश्व में सर्वप्रथम साम्यवादी राज्य की स्थापना हुई। उन्होंने मार्क्सवाद का प्रयोग रूसी परिस्थितियो में बहुत ही बुद्धिमत्ता से किया, यद्यपि कुछ विशेष बातो में मार्क्सवाद में संशोधन भी करना पड़ा।[7] रूसी बोल्शेविको (Bolsheviks) के प्रभाव के कारण, जोड के शब्दो में, साम्यवाद विशिष्टतः पद्धति का दर्शन (Philosophy of method) बन गया, अर्थात्, यह उस कार्यक्रम का सिद्धान्त बन गया जिसके अनुसार पूंजीवाद से समाजवाद की ओर किस प्रकार परिवर्तन होगा।[8] इस सन्दर्भ

7. आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ० 629.
8. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 90.

में लेनिनवाद को नवीन मार्क्सवाद (New form of Marxism) तथा रूसी साम्यवाद को सोवियत मार्क्सवाद (Soviet Marxism) भी कहा जाता है।

रूस मे क्रान्ति के बाद लेनिन के समक्ष सबसे महत्वपूर्ण समस्या साम्यवादी शासन के अस्तित्व को बनाये रखने के अलावा उसे संगठित तथा सबल बनाने की थी। उस समय रूस की आन्तरिक स्थिति तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो के सदर्भ मे लेनिन को कुछ दाँव-पेच खेलन पड़े, नयी चाले चलनी पड़ी। इन्ही चालों से लेनिन रूस में पूंजीवादियों के समर्थको तथा यूरोपीय राज्यों के वाह्य हस्तक्षेप का मुकाबला कर सका। ये दांव-पेच और चाले (tactics) साम्यवादी विचारधारा का भाग हैं। इस सम्बन्ध में स्टालिन के विचार भी उल्लेखनीय हैं:—

> "लेनिनवाद साम्राज्यवाद तथा सर्वहारा क्रान्ति के युग का मार्क्सवाद है। अधिक सही अर्थ मे लेनिनवाद सामान्य तौर पर सर्वहारा की क्रान्ति का सिद्धान्त और सामरिक चाल तथा विशिष्ट रूप से सर्वहारा अधिनायकत्व का सिद्धान्त और चाल (tactics) है।"[9]

इन चालो का साम्यवादी प्रत्येक देश मे आज तक खूब प्रयोग करते हैं। जब कभी भी साम्यवादी कोई ऐसा कार्य करते हैं जिससे राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए साम्यवादी सिद्धान्तों पर आँच आती है तो वे इसे सामयिक व्यवस्था कहकर एक चाल बतलाते हैं। वास्तव में आज साम्यवाद चाल-सिद्धान्त (doctrine of tactics) ही अधिक है। हरबर्ट मारक्यूज (Herbert Marcuse) के शब्दों में—

> "सोवियत मार्क्सवाद (लेनिनवाद, स्टालिनवाद तथा उसके बाद) रूस की नीतियों को सही एवं विवेकपूर्ण बतलाने के लिए क्रेमलिन द्वारा घोषित विचारधारा ही नहीं है किन्तु यह रूस की वास्तविकताओं को कई प्रकार से व्यक्त करता है।"[10]

ऐलेक्जेन्डर ग्रे (Alexander Gray) ने लेनिन को राजनीतिक चालों तथा राजनीतिक रणनीति का गुरु बतलाया है। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए

---

9 Stalin, J. V, Foundation of Leninsim, Little Stalin Libray, Moscow, p. 10.

10. Marcuse, Herbert, Soviet Marxism—A Critical Analysis, Routledge and Kegan Paul, London, 1958, p 1.

लेनिन राजनीति में नैतिकहीन खेल खेलने में भी कुशल थे। इस पक्ष में वह मेकियावली के अधिक निकट थे।[11] साम्यवाद के लिए लेनिन का सबसे महत्व-पूर्ण योगदान राजनीतिक चालों के रूप में ही है।

लेनिन द्वारा मार्क्सवाद का संशोधन

लेनिन ने मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए उसके कुछ तत्वों को लेकर उनमें संशोधन किया है, जो निम्नलिखित है:—

साम्राज्यवाद पूंजीवाद की अन्तिम अवस्था (Imperialism: the last stage of Capitalism)

मार्क्स पूंजीवाद का विरोधी था। किन्तु लेनिनपूंजीवाद का मार्क्स से भी अधिक कटु आलोचक था। वास्तव में पूंजीवाद साम्राज्यवाद विचार को पूर्णरूप से लेनिन ने ही विकसित किया। इसके साथ ही उसने संशोधनवादियों की आलोचना का भी करारा उत्तर दिया।

लेनिन ने प्राचीन और मध्यकालीन साम्राज्यवाद तथा आधुनिक साम्राज्य-वाद में अन्तर स्पष्ट किया है। प्राचीन तथा मध्यकालीन साम्राज्यवाद सम्राटों की विजय आकाक्षाओं का व्यावहारिक रूप था। आधुनिक साम्राज्यवाद मुख्यतः आर्थिक है।

संशोधनवादी नेता एडुउर्ड बर्न्सटाइन ने मार्क्सवाद की आलोचना करते हुए कहा था कि मार्क्स की यह भविष्यवाणी सही सिद्ध नहीं हुई कि पूंजीवाद की वृद्धि से मजदूरों की दशा और अधिक शोचनीय होगी। न पूंजीवादियों की संख्या मे कमी हुई है और न उनका पतन ही निकट है। संशोधनवादियों का उत्तर देते हुए लेनिन ने कहा कि पूंजीवाद अपनी चरम अवस्था साम्राज्यवाद में पहुंच चुका है! लेनिन ने विशेषत. इसकी विवेचना अपनी पुस्तक Imperialism: The Highest Stage of Capitalism—में की है। लेनिन के ही शब्दों में —

> "साम्राज्यवाद,पूंजीवादी विकास का वह चरण है जिसमें एका-धिकार और वित्तीय पूंजी का प्रभुत्व अपना आकार स्थापित कर चुका है, जिसमें पूंजी-निर्यात महत्ता प्राप्त कर चुकी है, जिसमें विश्व का

---

11. Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p 461

विभाजन अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्ट (International trusts) में प्रारम्भ हो चुका है, जिसमें विश्व की समस्त भूमि का विभाजन पूंजीवादी महा-राज्यों के मध्य पूर्ण हो चुका है।"[12]

लेनिन के अनुसार पूंजीवादी राज्य का आर्थिक कारणों से साम्राज्यवाद में परिवर्तित होना अवश्यम्भावी है। जब इस प्रकार के कई साम्राज्य होंगे तो स्पर्धा और एकाधिकार की प्रवृति उनमें संघर्ष पैदा करेगी। यह संघर्ष विश्व युद्ध में परिवर्तित होगा तथा इससे पूंजीवाद का विनाश होगा।

एक देश में समाजवाद (Socialism in one state)

मार्क्सवाद अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा है, वह विश्व के श्रमिकों की एकता और क्रान्ति के लिये आव्हान करता है। लेनिन ने इस बात को स्वीकार किया है, किन्तु मार्क्सवाद के प्रारम्भिक अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की एक राष्ट्रीय व्याख्या करके उसका शोधन किया। लेनिन ने "एक देश में समाजवाद" के सिद्धान्त को जन्म दिया। "उनका कहना था कि जैसे पूंजीवाद अपने उत्थान में संसार के विभिन्न भागों में एक सा नहीं रहा, ठीक उसी तरह समाजवाद का विस्तार भी सब जगह एक समान नही होगा। एक ही प्रयत्न में ससार मे साम्यवाद जैसी कोई चीज स्थापित नही हो सकती। उसका प्रसार असमान और असम्बद्ध रूप में ही होगा। लेनिन का विश्वास था कि पूंजीवाद के सागर के बीच रूस रूपी एक समाजवादी द्वीप सारे ससार के सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिये एक प्रकाश-पुन्ज का काम करेगा।"[13]

'एक देश में समाजवाद' के समर्थक होने के साथ साथ लेनिन का उत्साह अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विषय मे भी बना रहा। उनके प्रयत्नों से मार्च

---

12. "Imperialism is capitalism in that stage of development in which the domination of monopolies and finance capital has taken shape; in which the export of capital has acquired pronounced importance; in which the division of the world by the international trusts has begun, and *in which the partition of all the territory of the earth by the greatest capitalist countries has been completed.*"
Lenin, Imperialism, p. 81, quoted by Gray A. The Socialist Tradition, p. 462.

13. आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ. 630.

1919 में 'तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय' (Third International) की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य ससार के मजदूरो को एक सूत्र मे बाँधना और पूंजीवादी शोषण के विरुद्ध विद्रोह करना था।

क्रान्ति के लिये उपयुक्त सामाजिक अवस्था

मार्क्स के अनुसार क्रान्ति सर्व प्रथम उन देशो में होगी जो औद्योगिक क्षेत्र में काफी आगे बढे हो तथा जहाँ पूंजीवाद का पूर्ण विकास हो चुका हो। रूस की क्रान्ति के सन्दर्भ में लेनिन मार्क्स की इस धारणा से सहमत नहीं है। लेनिन के अनुसार मार्क्स ने क्रान्ति के लिये प्रत्येक देश मे पूंजीवाद की अवस्था को अलग अलग आका। अब पूंजीवाद विश्व-व्यापी बन गया है, इसलिये जहाँ भी पूजीवाद निर्बल हो, शासक वर्ग की कमजोर स्थिति हो, अधिकतर जनता क्रान्तिकारियों का साथ देने को तैयार हो वही पर समाजवादी क्रान्ति हो सकती है। लेनिन ने कहा कि किसी भी देश मे पूंजीवाद के पूर्ण विकास की प्रतीक्षा अनावश्यक है। क्रान्ति किसी भी पिछड़े हुए देश में हो सकती है।

कृषक वर्ग और साम्यवादी क्रान्ति

मार्क्स साम्यवादी क्रान्ति के लिये औद्योगिक मजदूरो को अधिक उपयोगी और उपयुक्त समझता था। सर्वहारा वर्ग के पास अपना कुछ नही होता तथा प्रत्येक समय क्रान्ति व विद्रोह के लिये तत्पर रह सकता है। लेनिन इस बात से सहमत तो था किन्तु उसने किसानो के योगदान को भी स्वीकार किया। रूसी क्रान्ति मे लेनिन को कृषक वर्ग से बहुत सहायता मिली थी। परिणामस्वरुप लेनिन ने यह निष्कर्ष निकाला कि औद्योगिक श्रमिक ही नही किन्तु कृषक वर्ग भी साम्यवादी क्रान्ति में सहायक होता है।

सर्वहारा-अधिनायकत्व या साम्यवादी दल अधिनायकत्व

मार्क्स के अनुसार क्रान्ति के पश्चात सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित होगा जो साम्यवादी व्यवस्था के लिये मार्ग प्रशस्त करेगा। लेनिन ने इसका खन्डन नहीं किया। किन्तु रूस मे क्रान्ति के बाद जिस सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की स्थापना हुई वह वास्तव में साम्यवादी दल की ही तानाशाही थी। लेनिन के अनुसार साम्यवादी दल ही सर्वहारा वर्ग का मार्ग निर्देशन करेगा। लास्की के शब्दों में—

सर्वहारा-अधिनायकत्व वास्तव में आवश्यकतानुसार साम्यवादी दल का अधिनायकत्व हो गया क्योंकि प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य के लिये साम्यवादी दल राज्य-यन्त्र से अभिन्न है। साम्यवादी दल का अधिनायकत्व भी उस दल के समस्त सदस्यों का अधिनायकत्व नहीं है।" 14

दूसरे शब्दों में मार्क्स के सर्वहारा अधिनायकत्व के स्थान पर लेनिन ने साम्यवादी दल के अधिनायकत्व की स्थापना की, जो व्यवहार में कुछ ही नेताओं की तानाशाही मे परिवर्तित हो गया।

साम्यवादी दल

मार्क्स तथा ऐन्जिल्स ने साम्यवादी क्रान्ति के लिये दल के संगठन की ओर अधिक ध्यान नही दिया। उनका विचार था कि पूंजीवादी परिस्थितियो तथा शोषण से परेशान होकर श्रमिक वर्ग स्वंय ही क्रान्ति की ओर अग्रसर होंगे। लेनिन ने पार्टी को अधिक महत्व दिया। लेनिन यह मानने के लिये तैयार नहीं थे कि श्रमिको में इतनी चेतना स्वयं उत्पन्न हो सकती है कि वे संगठित होकर सरकार तथा पूंजीपतियो से सुविधाएं प्राप्त कर सकें। समाजवादी क्रान्ति की भावना श्रमिकों में साम्यवादी दल ही कर सकता है। क्रान्ति तथा इसके बाद निर्माण कार्य के लिये लेनिन साम्यवादी दल को सबसे अधिक प्राथमिकता देते थे।

साम्यवादी दल के संगठन के लिये लेनिन के बहुत से समकालीन नेताओं ने लोकतान्त्रिक संगठन का समर्थन किया। वे साम्यवादी दल के लोकतान्त्रिक संगठन के पक्ष मे थे। लेनिन ने इसका विरोध किया। वे साम्यवादी दल को पूर्ण सुसंगठित, अनुशासित तथा समान द्रष्टिकोण वाले व्यक्तियों के दल के रूप मे देखना चाहते थे। वे साम्यवाद से सहानुभुति रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को पार्टी का सदस्य बनाने के पक्ष में नही थे, किन्तु सधे हुऐ विश्वासपात्र कार्यकर्ताओं को ही पार्टी के सदस्य बनाने का समर्थन करते थे।

---

14 The dictatorship of the proletariat, in fact became necesarily the dictatorship of the cmmunist party, for every serious purpose, the party has been identical with the apparatus of the state But the dictatorship of the party has not meant the dictatorship of its rank and file" Laski. H. J, Reflections on the Revolution of our Time, p 57.

इसके अतिरिक्त लेनिन ने पार्टी में केन्द्रवाद (Centralism) पर विशेष जोर दिया जिसके अनुसार पार्टी की निचली इकाइयों को ऊपर की इकाइयों की आज्ञा माननी पड़ेगी, किन्तु दल के आन्तरिक लोकतन्त्र को जीवित रखने के लिये लेनिन ने आलोचना के महत्व को स्वीकार किया।

राज्य का लोप (Withering away of the state)

मार्क्सवादी सिद्धान्तो के अन्तर्गत यह मान्यता है कि सर्वहारा क्रान्ति से जब पूंजीवाद का अन्त होगा, तत्पश्चात राज्य का भी अन्त हो जायगा। लेनिन ने इस विचार से असहमति प्रगट नही की, लेकिन उन्हें यह धारणा एक आदर्श ही प्रतीत हुई। तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो के सन्दर्भ में लेनिन ने कहा कि सोवियत सघ संसार के शक्तिशाली राज्यो के मध्य में रह रहा है। जब तक पूंजीवादी राज्यो के साथ संघर्ष समाप्त नहीं होता तथा उनका अन्त नही हो जाता तब तक रुस में भी राज्य का अन्त नही हो सकता। सम्भवतः लेनिन राज्य के लोप को असम्भव समझते थे।

स्टालिनवाद
Stalinism

स्टालिन-ट्राटस्की मतभेद

लेनिन की मृत्यु के पश्चात रुस का नेतृत्व स्टालिन के हाथों में आया। किन्तु इसी समय स्टालिन और ट्रॉटस्की (Trotsky 1879-1940) के मतभेदों ने साम्यवादी दल की जड़ें हिला दी। रुस की साम्यवादी पार्टी में दो गुट हो गये। एक गुट का नेता ट्राटस्की था और दूसरे का स्टालिन। स्टालिन और ट्राटस्की का संघर्ष व्यक्तिगत तथा सैद्धान्तिक दोनों ही था। अन्तिम रूप में यह सत्ता का संघर्ष था।[15] स्टालिन तथा ट्राटस्की के जो सैद्धान्तिक मतभेद हुए इसने साम्यवादी सिद्धान्तों की व्याख्या को भी अवसर प्रदान किया। उनके मतभेद निम्नलिखित तत्वों पर थे:—

सामुदायिक कृषि (Collective farming)

ट्रॉटस्की का विश्वास था कि किसानों का सामुदायीकरण (Collectivisation) किया जाय। किन्तु उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए स्टालिन किसानों को और सुविधाएं देना चाहता था।

---

15 Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p. 493

एक देश में अथवा विश्व समाजवाद

दोनों में इस विषय पर कड़ा मतभेद था कि पहले रुस में साम्यवाद को दृढ़ किया जाय अथवा विश्व-व्यापी साम्यवादी क्रान्ति की ओर ध्यान दिया जाये। ट्रॉटस्की का विचार था कि जब तक रुस पूंजीवादी देशो से घिरा है (Capitalist encirclement) तब तक रुस में क्रान्ति स्थायी नही रह सकती। पूंजीवादी देशों से आक्रमण का भय सदैव बना रहेगा। ट्रॉटस्की समझता था कि अन्य देशों मे साम्यवादी क्रान्ति की विशाल योजना बनाई जाय। जब कई राज्य, विशेषत: पश्चिम यूरोप के राज्य, समाजवादी क्रान्ति के अन्तर्गत आजायेंगे तो इससे रुस की व्यवस्था भी सुदृढ़ होगी और पूंजीवादी घेराव (Capitalist encirclement) भी कोई हानि नही कर सकेगा। ट्रॉटस्की ने स्थाई साम्यवाद क्राति का समर्थन किया।

स्टालिन इस विचार से सहमत नही था। उसका कहना था कि एक देश में भी साम्यवाद की स्थापना की जा सकती है। इसके अलावा दूसरे देशो में क्रान्ति का निर्यात नही किया जा सकता। किसी भी देश मे क्रान्ति तभी हो सकती है जब वहाँ कुछ आवश्यक परिस्थितियाँ उपलब्ध हो। स्टालिन का दृष्टिकोण था कि पहले रुस में ही साम्यवाद को दृढ़ तथा सफल बनाया जाय।

सितम्बर 1925 में साम्यवादी दल के चौदहवें अधिवेशन में स्टालिन का मत स्वीकार कर लिया गया। दिसम्बर 1927 में ट्रॉटस्की को साम्यवादी दल से निष्कासित तथा देश मे निर्वासित कर दिया गया। बाद में अमेरिका में उसकी हत्या कर दी गयी।

स्टालिन और ट्राटस्की के सैद्धान्तिक मतभेदो में स्टालिन के विचारो की आलोचना हुई है। आलोचकों के अनुसार स्टालिन ने मार्क्स तथा लेनिन के सिद्धान्तों को ठुकरा दिया। 'एक देश मे समाजवाद' मार्क्सवादी विचारधारा के विरुद्ध है।

दूसरे, इस आधार पर स्टालिन ने कम से कम उस समय तथा तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी क्रान्ति का त्याग कर दिया। यहाँ स्टालिन का उद्देश्य रुस के हित को सुरक्षित रखना था न कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद हित को।

इस विवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्टालिन का दृष्टिकोण बहुत कुछ राष्ट्रवादी हो गया था। इन बातों से, आशीर्वादम् के शब्दों में, ऐसा मालूम होगा कि लेनिनवाद स्टालिन के हाथों में आकर भ्रष्ट हो गया।[16] उन्हें कट्टर मार्क्सवादी या संशोधनवादी कहा जाय, इस पर साम्यवादी स्वयं भी एक मत नहीं हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रसार को भी स्टालिन ने कभी नहीं छोड़ा। इस सम्बन्ध में उसने नई चालों को अपनाया तथा उनमें सदैव परिवर्तन करता रहा। 1928 में 'तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय' (Third International) के छठे विश्व-सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें उल्लेख था कि-

> 'अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद का अन्तिम उद्देश्य विश्व की पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था के स्थान पर विश्व-व्यापी साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना करना है.... ...जिसके अन्तर्गत समस्त मनुष्य जाति को सोवियत समाजवादी गणतन्त्रों के विश्व-संघ में निर्माण करना है।.... चूंकि रूस सर्वहारा तानाशाही और समाजवादी निर्माण का देश है इसलिये यह स्वाभाविकरूप से विश्व आन्दोलन का आधार (या केन्द्र) है"[17]

उस समय विश्व में साम्यवादी क्रान्ति सम्भव नहीं थी। द्वितीय विश्व युद्ध के समय स्टालिन ने एक कदम पीछे हटने की चाल चली। हिटलर के विरुद्ध इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि से सहायता प्राप्त करने के लिये 1943 में रूस ने कोमिनटर्न की समाप्ति कर दी। किन्तु युद्ध के बाद इसका फिर पुनरुत्थान कर दिया। युद्ध में रूस ने पूर्वी यूरोप के राज्यों पर अधिकार कर उनका सोवियतकरण करना प्रारम्भ कर विश्व के अन्य देशों में साम्यवादी दलों को सहायता तथा समर्थन देना प्रारम्भ किया। इसलिये स्टालिन द्वारा ट्राटस्की का विरोध करना सैद्धान्तिक नहीं व्यक्तिगत प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नहीं कि स्टालिन के विचार एवं व्यवहार परस्पर-विरोधी थे, क्योंकि स्टालिन ऐसा चाहता भी था।

स्टालिन ने ट्रॉटस्की के साथ अपने सैद्धान्तिक मतभेदों को जान बूझ कर तूल दिया। सत्ता-संघर्ष में साम्यवादी दल का समर्थन प्राप्त करने के लिये स्टालिन

---

16. आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड,पृ 632.
17. Burns, Emile, (Ed.) A Hand-book of Marxism, London, 1935, p. 964.

ने यह संघर्ष सिद्धान्तों की आढ़ लेकर लड़ा। वास्तव में स्टालिन और ट्रॉटस्की मतभेदों को मतभेद की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इन दोनों में तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सिर्फ राजनीतिक चाल मे ही कुछ अन्तर प्रतीत होता है। इन मतभेदों के होते हुए भी स्टालिन से ट्रॉटस्की के पतन के बाद उन्ही सिद्धान्तो को अपनाया जिनका ट्रॉटस्की ने समर्थन किया।

राज्य का लोप

स्टालिन ने मार्क्सवाद—लेनिनवाद मे एक और महत्वपूर्ण संशोधन किया। मार्क्सवाद में राज्य के लोप होने की बात कही गई है। लेनिन ने राज्य के लोप होने को अप्रत्यक्ष रूप से अव्यवहारिक माना है। किन्तु स्टालिन इस सम्बन्ध मे लेनिन मे बहुत आगे है। उस समय प्रायः यह प्रश्न किया जाता था कि राज्य का लोप तथा साम्यवादी समाज की स्थापना कब होगी ? मार्च 193 मे सोवियत साम्यवादी-दल-कांग्रेस के अधिवेशन मे स्टालिन ने इस बात को लेकर काफी चर्चा की।

स्टालिन ने बतलाया कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद को हमे एक रूढ़िवादी धारणा (dogma) के रूप में स्वीकार नही कर लेना चाहिये। आज की प्रत्येक परिस्थिति के लिये मार्क्स-ऐन्जिल्स आदि ने कोई उपचार नही बतलाये। इन सिद्धान्तों को हमे तत्कालीन परिस्थितियो को ध्यान मे रख कर ही समझना चाहिये।

स्टालिन के अनुसार यदि किसी देश का विकास केवल उसकी आन्तरिक परिस्थितियों पर निर्भर होता, या संसार के अधिकतम भाग मे समाजवाद की स्थापना हो गई होती तो राज्य के लोप होने की कल्पना की जा सकती थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलता, रूस का पूंजीवादी राज्यों द्वारा घिरा होना (Caplitaist encirclement), जो रूस की समाजवादी व्यवस्था का उन्मूलन करने के लिये कटिबद्ध हैं, राज्य के लोप होने की बात नही कही जा सकती। इसके विपरीत स्टालिन ने राज्य को अधिक शक्तिशाली तथा सर्वहारा अधिनायकत्व को अधिक सुदृढ़ करने पर विशेष बल दिया।[18]

कार्ल मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग को महत्व दिया, लेनिन ने सर्वहारा वर्ग के स्थान पर साम्यवादी दल को प्राथमिकता दी, किन्तु स्टालिन ने सर्वहारा वर्ग

18. Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, pp. 511-13.

तथा साम्यवादी दल को स्वयं में समालिया और इस प्रकार अपनी व्यक्तिगत तानाशाही की स्थापना की। स्टालिन जब तक जीवित रहे तब तक उन्होंने पूर्ण तानाशाह की तरह शक्तियों का प्रयोग किया।

साम्यवादी विचारधारा मे निकिता ख्रुश्चेव (Nikita Khruschev) का योगदान

स्टालिन की मृत्यु के कुछ ही समय बाद निकिता ख्रुश्चेव ने रूस में अपनी स्थिति सुदृढ करली। राजनीतिक विरोधियों को मार्ग से हटाकर सरकार और साम्यवादी दल दोनों का नेतृत्व ख्रुश्चेव ने अपने में केन्द्रित कर लिया। लगभग एक दशक तक रूस पर इनका एकछत्र प्रभुत्व रहा। रूस की आन्तरिक दशा, अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति तथा रूस-चीन के सैद्धान्तिक मतभेदों के सन्दर्भ में इन्होंने साम्यवाद के कुछ पक्षों का नया विवेचन प्रस्तुत किया, जिसे रूस का शासक और दलीय वर्ग आज भी मान्यता देता है। ख्रुश्चेव का साम्यवादी विवेचन निम्नलिखित सिद्धान्तों के विषय मे है:—

व्यक्ति-पूजा (Cult of personality) का विरोध तथा सामूहिक नेतृत्व (Collective leadership) का समर्थन

1956 में सोवियत साम्यवादी दल के बीसवे अधिवेशन से ख्रुश्चेव ने स्टालिन की निन्दा करना प्रारम्भ किया। उन्होने स्टालिन पर व्यक्ति-पूजा, व्यक्तिगत तानाशाही स्थापित करने का आरोप लगाया। ख्रुश्चेव ने कहा कि यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद की भावना के विरुद्ध है कि किसी व्यक्ति को देवता की तरह ऊंचा उठाकर दल और जनता की सफलता का सारा श्रेय एक ही व्यक्ति को दिया जाय। व्यक्ति-पूजा के स्थान पर ख्रुश्चेव ने सामूहिक नेतृत्व का समर्थन किया।

ख्रुश्चेव ने स्टालिन-पूजा का विरोध किया, लेकिन अपने कार्य-काल मे वे स्वयं भी इस ओर बढ़ते हुए प्रतीत होते थे। उनके उत्तराधिकारी ब्रेजनेव, कोसीगिन तथा पादगोर्नी आदि ने ख्रुश्चेव को पदच्युत करते समय भी यही आरोप लगाया कि वे अपनी व्यक्ति-पूजा को प्रोत्साहन दे रहे थे।

युद्ध का विरोध

मार्क्सवाद-लेनिनवाद वर्ग-संघर्ष तथा विश्व में पूंजीवादी और साम्यवादी राज्यों के मध्य युद्ध अनिवार्यता को स्वीकार करता है। ख्रुश्चेव ने युद्ध की

अनिवार्यता का समर्थन नहीं किया। उनके अनुसार परमाणु युग में युद्ध असम्भव है। बड़ी शक्तियों में अब जो भी युद्ध होगा वह परमाणु अस्त्र शस्त्रों से ही होगा। इस युद्ध में विश्व का सर्वनाश होगा तथा न कोई विजेता होगा न पराजित। इस स्थिति में युद्ध से साम्यवादी विस्तार नही हो सकता। विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय वर्ग-युद्ध साम्यवाद प्रसार के साधन के रूप में अब व्यवहारिक नहीं रहा।

एक अन्य तर्क देते हुऐ ख़ुश्चेव ने कहा कि युद्ध से सामान्यत. श्रमिक वर्ग की ही हानि होती है, चाहे वे पूंजीवादी या साम्यवादी राज्यो में रहते हों। युद्ध का पूंजीपतियों पर नही श्रमिकों के जीवन और जीवन-स्तर पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। युद्ध का समर्थन करना श्रमिको के हितो का विरोध करना है।

इसके अलावा साम्यवाद ने अभी तक जो प्रगति की है, इसका जो विस्तार हुआ है, विश्व युद्ध से यह भी समाप्त हो जायगा। अब, ख़ुश्चेव के अनुसार, साम्यवादी राज्यो को अपनी शक्ति संगठित करनी चाहिये, ताकि यदि भविष्य में उन्हे युद्ध का सामना करना पड़े तो वे उसका डटकर मुकाबला करें।

शान्ति पूर्ण एवं संसदीय साधनों का समर्थन

मार्क्स, लेनिन, स्टालिन सभी का विश्वास था कि किसी देश में सशस्त्र क्रान्ति के बिना समाजवादी परिवर्तन नही किया जा सकता। ख़ुश्चेव के अनुसार रूम मे अक्टूबर क्रान्ति उन ऐतिहासिक परिस्थितियो में एक मात्र मार्ग था। अब विश्व स्थिति मे आमूल परिवर्तन हो चुके हैं। विभिन्न देशो मे साम्यवादियो की संख्या में वृद्धि हुई है, किन्तु वे इतने सबल नही हैं कि शक्ति द्वारा सत्ता ग्रहण करले। उनमें क्रान्ति के प्रति जोश में भी उतार आया है। अब इस बात की सम्भावना अधिक बढ़ गई है कि मजदूर वर्ग शान्तिपूर्ण तथा संसदीय मार्ग से राज्य की शक्ति पर अपना अधिकार करलें।[19] सम्भवतः 1957 मे केरल मे आम चुनाओ के बाद साम्यवादी दल सत्ता में आया इसने ख़ुश्चेव की इस धारणा को प्रोत्साहित किया हो। आजकल साम्यवादी इस तत्व से और भी प्रभावित हुए होंगे कि लेटिन अमरीकी राज्य चिली में राष्ट्रपति सेल्वोडोर ऐलन्दे (Salvador Allende) के नेतृत्व में 1971 में चुनावो के माध्यम से साम्यवादी सत्ता मे आ गये हैं। इससे ख़ुश्चेव-सिद्धान्त को और भी बल मिला है।

---

19 Lowenthal, Richard, World Communism, pp. 24-25.

रूस और यूगोस्लाविया सम्बन्ध

समाजवाद के कई मार्ग (Many ways of Socialism) का सिद्धांत

पूर्वी यूरोप के राज्यों का साम्यवादीकरण के साथ-साथ उनका सोवियत-करण (Sovietization) भी किया गया। इन राज्यों की दलीय एवं शासन व्यवस्था रूस की प्रणाली पर ही आधारित है। किन्तु मार्शल टीटो (Marshal Tito) के नेतृत्व में यूगोस्लाविया रूसी नियंत्रण से निकल गया। यूगोस्लाविया ने मार्शल टीटो के नेतृत्व में जो साम्यवादी व्यवस्था अपनाई है वह रूस से कुछ दृष्टि से भिन्न है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यूगोस्लाविया रूस का पिछलगुआ नहीं है। वह रूस के सैनिक संगठन का भी सदस्य नहीं है। वह एक प्रमुख तटस्थ राज्य है जो सभी के साथ, जिनमें पूंजीवादी राज्य भी सम्मलित हैं अपने सम्बन्ध अच्छे रखना चाहता है।

स्टालिन ने यूगोस्लाविया के साम्यवाद और मार्शल टीटो को सदैव ही घृणा की दृष्टि से देखा। दोनो देशो के आपसी सम्बन्ध भी ठीक नहीं थे। निकिता ख्रुश्चेव ने यूगोस्लाविया के साथ अपने सम्बन्ध सुधारने का प्रयत्न किया। इसी सन्दर्भ मे ख्रुश्चेव ने यह स्वीकार किया कि साम्यवाद की प्राप्ति के लिये रूसी प्रणाली ही सिर्फ एक मात्र मार्ग नहीं है। अन्य समाजवादी प्रणालियों से भी साम्यवाद की उपलब्धि हो सकती है। इस प्रकार साम्यवाद के कई या विभिन्न मार्ग सिद्धान्त को स्वीकार किया गया।

साम्राज्यवाद का बदलता स्वरूप

सह-अस्तित्व (Co-existence) का समर्थन

ख्रुश्चेव के विचार से पूंजीवादी-साम्राज्यवादी राज्यों की प्रकृति मे भी परिवर्तन हुआ है। अब अमरीका जैसी महाशक्ति साम्यवादी राज्यो की असीमित शक्ति से परिचित हैं। वे भी युद्ध की व्यापकता और विभीषिका से डरने लगे हैं तथा शान्ति के इच्छुक हैं। साम्यवाद, मानववाद और शान्ति पर आधारित है। अतः युद्ध से बचने, तथा साम्यवादी राज्यो मे आर्थिक प्रगति को और अधिक गति प्रदान करने के लिये यह आवश्यक है कि साम्राज्यवादी राज्यो के प्रति नीति में कुछ परिवर्तन किया जाय। विकल्प रूप मे ख्रुश्चेव ने सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का समर्थन किया। साम्राज्यवादी-पूंजीवादी राज्यों के साथ साम्यवादी राज्यों का सह-अस्तित्व हो सकता है, किन्तु उन्हे आर्थिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा करनी चाहिये। जो भी व्यवस्था ठीक होगी

विश्व के राज्य उसे स्वीकार कर लेंगे। यदि साम्यवादी राज्य स्वयं अच्छा आदर्श प्रस्तुत करते हैं तो ख्रुश्चेव का विश्वास था कि इस प्रतियोगिता में साम्यवादी राज्य पूंजीवादी-साम्राजवादी राज्यों को परास्त कर देंगे।

असंलग्नता (Non-aligoment) की नीति का समर्थन

द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात धीरे-धीरे ऐशिया और अफ्रीका में नये-नये स्वतन्त्र राज्यों का प्रादुर्भाव होने लगा तथा उनकी संख्या में वृद्धि होने लगी। कुछ ही राज्यों को छोड़ कर लगभग सभी राज्यों ने असलग्नता की नीति अपनाई। वे अमरीकी या सोवियत सैनिक गुट में सम्मिलित नहीं होना चाहते थे। वैसे साम्यवादी सिद्धान्ततः पूंजीवाद और सर्वहारा राज्यों के अलावा तटस्थ राज्यों को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि इसमें पूंजीवादी और सर्वहारा राज्यों के मध्य संघर्ष में ढिलाई आयेगी। किन्तु परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में ख्रुश्चेव का कहना था कि अब उन्हें यह नीति छोड़ देनी चाहिये कि जो साम्यवादियों के साथ नहीं है वह उनका शत्रु है। उनका यह प्रयत्न होना चाहिये कि तटस्थ राज्य कम से कम पूंजीवादी खेमें में सम्मिलित न हो जांय।

तटस्थ राज्यों की अधिक संख्या, जिसका संयुक्त राष्ट्र मे मतदान के समय महत्व को ध्यान मे रखते हुये, अविकसित अफ्रीका—ऐशियायी राज्यों मे साम्यवाद के शान्तिपूर्ण प्रसार के अच्छे अवसर, अपने आर्थिक हितों तथा इन्हें अपने प्रभाव-क्षेत्र (Sphere of influence) मे लेने के लिये ख्रुश्चेव ने तटस्थ राज्यों की नीतियों को मान्यता तथा सहायता देने का प्रबल समर्थन किया। इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति लेनिन के समय में नहीं थी तथा स्टालिन के अन्तिम वर्षों मे थोड़ा बहुत अभ्युदय हो चुका था। किन्तु इन नवीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में निकिता ख्रुश्चेव ने असंलग्न राज्यों के महत्व को जिस तरह स्वीकार किया उससे मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सैद्धान्तिक पक्ष को ही बल नहीं मिला, इसने रूस के राष्ट्रीय हितों को भी संरक्षण प्रदान किया।

ब्रेजनेव सिद्धान्त (The Brezhnyov Doctrine)

1964 मे निकिता ख्रुश्चेव के पतन के उपरान्त रूस का शासन सामूहिक नेतृत्व ने सम्हाला। इसमे लिओनार्ड ब्रेजनेव (L. I. Brezhnyov), सोवियत साम्यवादी दल के महामन्त्री होने के नाते, कुछ अधिक शक्तिशाली बनते जा रहे हैं। इन्होंने समय-समय पर विशेष परिस्थितियों के परिक्षेप मे कुछ सैद्धान्तिक विचार प्रगट किये हैं जिन्हे साम्यवादी महत्व देते हैं।

ब्रेजनेव का तथाकथित योगदान सिर्फ अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विषय में है। 1968 में चेकोस्लोवाकिया में रूस विरोधी विद्रोह हुआ। सोवियत सेना ने इस विद्रोह का पूर्ण दमन किया। रूसी हस्तक्षेप की विश्व में काफी भर्त्सना भी की गई। ब्रेजनेव ने रूसी हस्तक्षेप को सही बतलाते हुऐ निम्नलिखित दो बातों को स्पष्ट किया—

प्रथम, जितने भी समाजवादी (पूर्वी यूरोप के साम्यवादी राज्य और रूस के विशेष सन्दर्भ में) राज्य हैं उनकी सम्प्रभुता पारस्परिक व्यवहार से सीमित है। आपसी सम्बन्धों में इनमें से कोई भी राज्य पूर्ण सम्प्रभुता का दावा नहीं कर सकता। सभी की सम्प्रभुता सीमित रहती है।

दूसरे, इनमें से किसी भी राज्य की समाजवादी प्रणाली को यदि आन्तरिक या वाह्य खतरा उत्पन्न होता है, तो समाजवादी व्यवस्था की रक्षा के लिये अन्य समाजवादी राज्यों को हस्तक्षेप करने का अधिकार है।

यही ब्रेजनेव सिद्धान्त है। यूगोस्लाविया, अलवानिया, रूमानिया, ने इस सिद्धान्त को स्वीकार नही किया है, फिर भी इससे रूसी नेताओं का अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विषय में वर्तमान द्रष्टिकोण स्पष्ट होता है। व्यवहार मे रूस ने द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त सदैव ही पूर्वी यूरोप के राज्यों को उपनिवेशों की तरह समझा है किन्तु ब्रेजनेव का योगदान इसमें है कि उन्होने इस तथ्य को एक सैद्धान्तिक आवरण पहनाकर हस्तक्षेप को ग्राहृय बनाने का प्रयत्न किया।

माओवाद (Maoism)

साम्यवादी विचारधारा के विकास में माओवाद का कम महत्वपूर्ण योगदान नही है। चीन में साम्यवादी नेता तथा साम्यवादी आन्दोलन के जनक माओ त्से-तुंग (Mao Tse-tung) ने साम्यवादो सिद्धान्तों मे परिवर्धन किया है। इस समय साम्यवादी सिद्धान्तों की व्याख्या का केवल मास्को ही श्रोत नही है, उतने ही अधिकृत रूप में पीकिंग से भी साम्यवादो विचारों का विवेचन होता रहता है। वास्तव में रूस तथा चीन दोनो ही समानान्तर रूप से साम्यवादी विचारधारा का केन्द्र बन गये है। चीन तथा विश्व के कुछ स्थानों में 'माओ के विचार' (Mao's Thought), माओं के विचारो की लाल पुस्तक (Red Book) तथा माओ के कथन बहुत लोकप्रिय हैं। इन सभी में माओवाद का दिग्दर्शन होता है।

खेतिहर देश के लिये साम्यवाद

माओवाद को लेनिनवाद का ही एक ऐसा स्वरूप माना जा सकता है जो खेतिहर देश की परिस्थिति के अनुकूल हो। भूमि की भूख चीन की प्रधान समस्या

रही है और माओवाद उसी समस्या का उत्तर है।[20] माओ त्से-तुंग ने अपने विचारों में खेतिहर देश में साम्यवादी क्रान्तियों की सम्भावना पर काफी प्रकाश डाला है। वे समझते हैं कि उनके विचारों के आधार पर एशिया तथा अफ्रीका के देशों मे साम्यवादी क्रान्तियाँ हो सकती हैं क्योंकि इन महाद्वीपों के देश मूलतः खेतिहर ही हैं।

लोकतान्त्रिक तानाशाही

चीन की साम्यवादी शासन व्यवस्था के लिये माओ त्से-तुंग लोकतान्त्रिक तानाशाही को मान्यता देते हैं। माओ की लोकतान्त्रिक तानाशाही राज्य में विभिन्न शक्ति के श्रोतों का समिश्रण है। इन श्रोतों की अवहेलना नहीं की जा सकती। माओ की इस व्यवस्था के विषय में रिचर्ड वाकर ने लिखा है:—

> "उनका लोकतान्त्रिक तानाशाही का सिद्धान्त लेनिन से ग्रहण किया हुआ है जिसके अन्तर्गत सेना, पुलिस और न्यायालयों की भूमिका के विषय में स्टालिन का व्यावहारवादी दृष्टिकोण भी सम्मलित है। रुस के अनुभव ने यह बतलाया कि राज्य शक्ति को पूर्णत नियंत्रित करने के लिये एकीकृत (या पूर्ण संगठित) दल आवश्यक है।"[21]

युद्ध एवं शक्ति का समर्थन

साम्यवादी क्रान्ति के लिये माओ त्से-तुंग युद्ध तथा शक्ति का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार सत्ता शक्ति से ही प्राप्त हो सकती है (Power comes from the barrel of gun)। माओ ने पूंजीवादी देशों की समाप्ति के लिये साम्यवादी राज्यों द्वारा युद्ध की बात कही है यद्यपि यह असम्भव है और असम्भव होती जा रही है।

विरोध उन्मूलन

माओ त्से तुंग अपने विरोधियों तथा ईमानदारी से मतभेद रखने वालों से निपटने के लिये विशेष उपाय काम मे लेते हैं। 1956 के लगभग माओ त्से तुंग ने एक नारा दिया—

---

20. आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 633.
21. His concept of democratic dictatorship, porrowed from Lenin, included Stalin's realistic appreciation .of the role of the army, police and courts Soviet experience argued that monolithic control by a unified party was necessary for effective state power.
    Walker, Richard, China Under Communism, p. 5.

सैकड़ों फूलों को खिलने दो,
सभी विचारों को सन्तुष्ट होने दो।[22]

इससे माओ त्से तुंग ने विरोध को उभरने का अवसर दिया। जब गैर-साम्यवादी विचारक प्रकट हुए, तो उनका उन्मूलन कर दिया गया।

इसी प्रकार 1966-68 में सांस्कृतिक क्रान्ति (Cultural Revolution), जो वास्तव में अराजकतावादी और पाशविक समय कहा जा सकता है, द्वारा माओ ने अपने विरोधियों को अपमानित करने, तथा उन्हें उच्च पदों से हटाने का कार्यक्रम बनाया। इसके माध्यम से माओ चीन के राष्ट्रपति तथा विदेश मन्त्री से छुटकारा प्राप्त कर सके। वैसे विरोध उन्मूलन साम्यवादी व्यवस्था में कोई नया नहीं है, माओ त्से-तुंग ने इस उद्देश्य की प्राप्ति धोखे तथा सिर्फ ऊपर से ही अच्छे लगने वाले साधनों द्वारा की।

कम्यून व्यवस्था (Commune System)

माओ त्से-तुंग का चीनी साम्यवाद को एक महत्वपूर्ण योगदान कम्यून व्यवस्था की स्थापना करना था। औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन में 'लम्बी छलांग' (Big leap forward) लगाने के लिये देश भर में कम्यूनों की स्थापना की गई। कम्यूनों में प्रत्येक व्यक्ति को कार्य मिलता तथा वहीं पर बच्चों की देख-रेख और सामूहिक भोजन आदि का प्रबन्ध किया गया। वास्तव में, कम्यून प्रणाली साम्यवाद का एक उग्र रूप था। यद्यपि इसकी व्यापक आलोचना हुई, इससे चीन की अर्थ व्यवस्था में काफी सुधार हुआ।

माओ के विचारों का विशेष महत्व युद्ध और सामरिक क्षेत्र में भी है। उन्होंने साम्यवादी गुरिल्ला युद्ध, रणनीति आदि के विषय में विस्तारपूर्वक विचार व्यक्त किये हैं। वे साम्यवादी दल जो अपनी सरकारों के तख्ते उलटने में या विदेशी प्रभाव से मुक्त होने के लिये संघर्ष कर रहे हैं, उनके लिये माओ के विचारों में खूब सारे सुझाव मिल सकते हैं। युद्ध में आगे बढ़ने, पीछे हटने, शत्रु को धोखा देने, दूसरे राज्यों को अपने साथ मिलाने, विरोधी को विभाजित करने के लिये माओवाद में विचारों का अभाव नहीं है।[23]

22. Let a Hundred Flowers Blossom
Let a Hundred Schools of Thought Contend'
See Isaac Deutscher, Russia, China and the West, p. 103

23. इस सम्बन्ध में देखिये—
Selected Works of Mao Tse—tung, London, 1954. Vol. II, deals with Protracted war, Strategic offensive and Defensive Gorrilla Warfare.

माओ त्से तुंग के साम्यवादी विचार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही हैं। उन्होंने प्राचीन चीन की गरिमा एवं अहम् तथा साम्यवादी उग्रता का समन्वय किया है। वे किसी भी राज्य के अन्तर्गत चीन की स्थिति स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिये वे एक साम्यवादी महाशक्ति रूस से सैद्धान्तिक एवं राजनीतिक लोहा ले रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में माओ विश्व साम्यवाद मे भी विश्वास रखते हैं। साम्यवादी चीन के प्रसार कई राज्यों में वहाँ की सरकारों के विरुद्ध विद्रोह का आह्वान करते हैं। उनके विचारों के ही कारण विश्व के लगभग सभी राज्यों में चीन समर्थित साम्यवादी दल है। माओ त्से-तुंग के साम्यवादी विस्तार का प्रमुख केन्द्र एशिया है। इस विचार की अभिव्यक्ति सम्भवत माओ रचित वह कविता, जिसका शीर्षक—East is Red- है, से होता है, जिसे चीन द्वारा भेजा गया अन्तरिक्ष यान निरन्तर प्रसारित कर रहा था।

साम्यवादी साधन: क्रान्ति एवं शक्ति राजनीति

सम्पूर्ण साम्यवादी व्यवस्था का केन्द्र शक्ति है। प्रारम्भ से लेकर जब तक वर्ग विहीन और राज्य विहीन साम्यवाद की स्थापना नहीं हो जाती, जो कोरी कल्पना ह है, साम्यवादी विचारधारा क्रान्ति एवं शक्ति-साधनों पर आधारित है। पूंजीवर्ग और सर्वहारा वर्ग में शक्ति संघर्ष आदि का आधार शक्ति ही है। पूंजीवादी ढांचे का उन्मूलन करने के लिये सभी रक्तपात तथा क्रान्ति में विश्वास करते हैं।

साम्यवादी घोषणा पत्र के अन्तिम पेराग्राफ में उल्लेख किया गया है कि साम्यवादी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति शक्ति द्वारा करना चाहते हैं। क्रान्ति द्वारा ही वे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को उखाड़ फेंकेगे।

लेनिन का क्रान्ति एवं शक्ति में पूर्ण विश्वास था। उनके नेतृत्व में ही सर्व प्रथम सफल साम्यवादी क्रान्ति रूस में हुई। पूंजीवाद की समाप्ति के लिये ही शक्ति की आवश्यकता नहीं है, किन्तु सर्वहारा वर्ग को सत्ता मे बनाये रखने, विरोधियों का दमन करने आदि सभी के लिये लेनिन ने शक्ति अर्जन और प्रयोग का समर्थन किया। लेनिन के अनुसार सर्वहारा वर्ग शक्ति में विश्वास करता है। संक्रमण काल मे सर्वहारा अधिनायकत्व द्वारा राज्य-यन्त्र का प्रयोग इसलिये किया जाता है क्योंकि यह संस्था शक्ति का स्रोत है जिसकी आवश्यकता फिलहाल अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये आवश्यक है।[24] प्रसिद्ध मार्क्सवादी टीकाकार

24. Lenin, Imperialism: The State and Revolution, Vanguard Press, New York 1926, pp. 27-28.

सैकड़ों फूलों को खिलने दो,
सभी विचारों को सन्तुष्ट होने दो । 22

इससे माओ त्से तुंग ने विरोध को उभरने का अवसर दिया । जब गैर-साम्यवादी विचारक प्रकट हुए, तो उनका उन्मूलन कर दिया गया ।

इसी प्रकार 1966-68 में सांस्कृतिक क्रान्ति (Cultural Revolution), जो वास्तव मे अराजकतावादी और पाशविक समय कहा जा सकता है, द्वारा माओ ने अपने विरोधियों को अपमानित करने, तथा उन्हे उच्च पदों से हटाने का कार्यक्रम बनाया । इसके माध्यम से माओ चीन के राष्ट्रपति तथा विदेश मन्त्री से छुटकारा प्राप्त कर सके । वैसे विरोध उन्मूलन साम्यवादी व्यवस्था में कोई नया नही है, माओ त्से-तुंग ने इस उद्देश्य की प्राप्ति धोखे तथा सिर्फ ऊपर से ही अच्छे लगने वाले साधनों द्वारा की ।

कम्यून व्यवस्था (Commune System)

माओ त्से-तुंग का चीनी साम्यवाद को एक महत्वपूर्ण योगदान कम्यून व्यवस्था की स्थापना करना था । औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन में 'लम्बी छलांग' (Big leap forward) लगाने के लिये देश भर मे कम्यूनों की स्थापना की गई । कम्यूनो में प्रत्येक व्यक्ति को कार्य मिलता तथा वहीं पर बच्चो की देख-रेख और सामूहिक भोजन आदि का प्रबन्ध किया गया । वास्तव में, कम्यून प्रणाली साम्यवाद का एक उग्र रूप था । यद्यपि इसकी व्यापक आलोचना हुई, इससे चीन की अर्थ व्यवस्था में काफी सुधार हुआ ।

माओ के विचारो का विशेष महत्व युद्ध और सामरिक क्षेत्र में भी है । उन्होंने साम्यवादी गुरिल्ला युद्ध, रणनीति आदि के विषय में विस्तारपूर्वक विचार व्यक्त किये हैं । वे साम्यवादी दल जो अपनी सरकारो के तख्ते उलटने में या विदेशी प्रभाव से मुक्त होने के लिये संघर्ष कर रहे हैं, उनके लिये माओ के विचारो मे खूब सारे सुझाव मिल सकते हैं । युद्ध मे आगे बढ़ने, पीछे हटने, शत्रु को धोखा देने, दूसरे राज्यों को अपने साथ मिलाने, विरोधी को विभाजित करने के लिये माओवाद मे विचारो का अभाव नहीं है ।23

---

22. Let a Hundred Flowers Blossom
Let a Hundred Schools of Thought Contend'
See Isaac Deutscher, Russia, China and the West, p. 103

23 इस सम्बन्ध मे देखिये—
Selected Works of Mao Tse—tung, London, 1954 Vol. II, deals with Protracted war, Strategic offensive and Defensive Gorrills Warfare.

माओ त्से तुंग के साम्यवादी विचार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही हैं। उन्होंने प्राचीन चीन की गरिमा एवं अहम् तथा साम्यवादी उग्रता का समन्वय किया है। वे किसी भी राज्य के अन्तर्गत चीन की स्थिति स्वीकार नही कर सकते। इसलिये वे एक साम्यवादी महाशक्ति रुस से सैद्धान्तिक एवं राजनीतिक लोहा ले रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में माओ विश्व साम्यवाद मे भी विश्वास रखते हैं। साम्यवादी चीन के प्रसार कई राज्यों में वहाँ की सरकारो के विरुद्ध विद्रोह का आह्वान करते हैं। उनके विचारो के ही कारण विश्व के लगभग सभी राज्यो में चीन समर्थित साम्यवादी दल है। माओ त्से-तुंग के साम्यवादी विस्तार का प्रमुख केन्द्र एशिया है। इस विचार की अभिव्यक्ति सम्भवत. माओ रचित वह *कविता, जिसका शीर्षक—East is Red- है, से होता है, जिसे चीन द्वारा* भेजा गया अन्तरिक्ष यान निरन्तर प्रसारित कर रहा था।

साम्यवादी साधन: क्रान्ति एवं शक्ति राजनीति

सम्पूर्ण साम्यवादी व्यवस्था का केन्द्र शक्ति है। प्रारम्भ से लेकर जब तक वर्ग विहीन और राज्य विहीन साम्यवाद की स्थापना नही हो जाती, जो कोरी कल्पना ह है, साम्यवादी विचारधारा क्रान्ति एवं शक्ति-साधनो पर आधारित है। पूंजीवर्ग और सर्वहारा वर्ग मे शक्ति संघर्ष आदि का आधार शक्ति ही है। पूंजीवादी ढांचे का उन्मूलन करने के लिये सभी रक्तपात तथा क्रान्ति में विश्वास करते हैं।

साम्यवादी घोषणा पत्र के अन्तिम पेराग्राफ मे उल्लेख किया गया है कि साम्यवादी अपने उद्देश्यो की प्राप्ति शक्ति द्वारा करना चाहते हैं। क्रान्ति द्वारा ही वे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को उखाड फेकेंगे।

लेनिन का क्रान्ति एवं शक्ति में पूर्ण विश्वास था। उनके नेतृत्व मे ही सर्व प्रथम सफल साम्यवादी क्रान्ति रुस मे हुई। पूंजीवाद की समाप्ति के लिये ही शक्ति की आवश्यकता नही है, किन्तु सर्वहारा वर्ग को सत्ता में बनाये रखने, विरोधियों का दमन करने आदि सभी के लिये लेनिन ने शक्ति अर्जन और प्रयोग का समर्थन किया। लेनिन के अनुसार सर्वहारा वर्ग शक्ति में विश्वास करता है। संक्रमण काल मे सर्वहारा अधिनायकत्व द्वारा राज्य-यन्त्र का प्रयोग इसलिये किया जाता है क्योंकि यह संस्था शक्ति का श्रोत है जिसकी आवश्यकता फिलहाल अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये आवश्यक है।[24] प्रसिद्ध मार्क्सवादी टीकाकार

24. Lenin, Imperialism The State and Revolution, Vanguard Press, New York, 1926, pp. 27-28.

कामानेव (Kamanev) ने लिखा है कि हिंसा को सत्ता हस्तगत करने के लिये तो उपयुक्त स्वीकार करना ही है, परन्तु जो समुदाय साम्यवादियों से पुनः सत्ता प्राप्त करना चाहते हैं, उनसे आत्मरक्षा के लिये उसे साधन न मानना मूर्खता होगी।[25]

इसी प्रकार स्टालिन ने भी क्रान्ति एवं शक्ति के विषय में विचार व्यक्त किये हैं। स्टालिन के अपने शासन काल में बल-प्रयोग खुल कर किया गया। समस्त विरोधियों को निष्कासित या मौत के घाट उतार दिया गया। फरवरी 1956 में साम्यवादी दल के बीसवें अधिवेशन में स्टालिन की निन्दा करते हुए ख्रुश्चेव ने कहा कि स्टालिन ने देश में भय-शासन (reign of terror) स्थापित कर रखा था। थोड़े से ही विचार-विरोध का तात्पर्य जीवन जोखिम उठाना था। माओ त्से-तुंग का प्रसिद्ध कथन कि "सत्ता शक्ति से प्राप्त की जाती है," सर्व-विदित है।

साम्यवादी दल

साम्यवादी शासन एक दलीय व्यवस्था होती है। इसके अंतर्गत विरोधी दलों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता। इस शासन व्यवस्था में साम्यवादी दल का सबसे महत्वपूर्ण स्थान रहता है। यही सत्ताधारी दल होता है। राजनीतिक गतिविधियों, विवाद, परिचर्चा आदि का मुख्य फोरम साम्यवादी दल ही रहता है। साम्यवादी क्रान्ति, विरोधी विचार धारा का उन्मूलन, राज्य सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण, जनता को दलीय विचारधारा से अवगत कराने आदि का उत्तरदायित्व साम्यवादी दल पर ही होता है। इसलिये साम्यवादी राज्यों के संविधानों में इस दल की विशेष स्थिति का सदैव ही उल्लेख किया जाता है। सोवियत रूस के संविधान में यह लिखा गया है कि श्रमिक वर्ग के हित को ध्यान में रखते हुए देश समस्त राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक समुदाय एवं संघ साम्यवादी दल द्वारा एकता के सूत्र में बंधे हुए हैं। साम्यवादी समाज के निर्माण संघर्ष में यह श्रमजीवियों का अग्रणीय (या पथ प्रदर्शक) है तथा श्रमिक संगठनों राजकीय या सार्वजनिक, का प्रधान केन्द्र स्थान है।[26] किन्तु दल की भूमिका एवं सक्रियता उस राज्य के नेतृत्व के ऊपर निर्भर करती है। स्टालिन के कार्य-काल में साम्यवादी दल सदैव ही ऊपर से

---

25 Kamanev, The Dictatorship of the Proletariat, 1920, p. 12.

26 अनुच्छेद 126.

नियन्त्रित रहता था तथा तानाशाह की इच्छाओं को कार्यान्वित करने का एजेन्ट-मात्र था ।[27]

साम्यवादी दल व्यवहार में राज्य के भीतर एक समानान्तर राज्य के रूप में कार्य करता है । हेरॉल्ड जिंक के मतानुसार सोवियत रुस मे साम्यवादी दल और राज्य का विलय है ।हालांकि दल और राज्य के कार्य अलग-अलग हैं, किन्तु दोनों की अभिन्नता इतनी पूर्ण है कि यह कह सकना सम्भव नहीं है कि दल के कार्यों का कहाँ अन्त होता है और सरकार का कार्य-क्षेत्र कहा से प्रारम्भ होता है ।[28]

युगोस्लाविया के विद्रोही साम्यवादी नेता एवं विचारक मिलोवेन जिलास (Milovan Djilas) ने साम्यवादी राज्य को 'पार्टी राज्य' (The Party State) की संज्ञा दी है । उनके स्वयं के ही शब्दों मे—

> 'साम्यवादी शक्ति-यंत्र बिलकुल साधारण है जो शुद्ध निरंकुशता तथा अत्यन्त क्रूर शोषण की ओर अग्रसर करता है । इस शक्ति-यंत्र का अभ्युदय इस तथ्य से होता है सिर्फ एक ही दल-साम्यवादी दल-सम्पूर्ण राजनीतिक, आर्थिक और सैद्धान्तिक गतिविधियों का मूल आधार है । सम्पूर्ण सार्वजनिक जीवन का एक स्थान पर बना रहना, आगे बढना, पीछे जाना या मुडना यह सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि दल में क्या हो रहा है ।"[29]

---

27. Munro, W. B , and Ayearst, The Governments of Europe p 691.
28. "In the Soviet Union the Communist party and the state are fused into a single entity. That is not to say that the two are identical for then are elements which can be identified with the party and others that belong to the government But Union of the two is so complete that it is not possible to tell where the party leaves off and where the government begins"
    Zink, Harold, Modern Governments, D. Van Nostrand Co,, New York, 1958, p 571
29. "The mechanism of Communist power is perhaps the simplest which can be conceived, although it leads to the most refined tyranny and the most brutal exploitation. The simplicity of this mechanism originates from the fact that one party alone, the Communist party, is the backbone of the entire political, economic, and ideological activity The entire public life is at a standstill or moves ahead; falls behind or turns around, according to what happens in the party forums
    Milovan Djilas, The New Class, An Analysis of the Communist System, Thames and Hudson, London 1957, p. 70.

साम्यवादी दल के सदस्यों का महत्व एवं शक्तियों की व्याख्या करते हुए मिलोवेन ने कहा है कि इसमें एक 'नये वर्ग' (New class) का प्रादुर्भाव हुआ है।[30] मुनरो (William Munro) ने इसे 'राज्य का कुलीनवर्ग (Aristocracy of the state' से सम्बोधित किया है।[31]

व्यक्ति-पूजा (Cult of Personality)

सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व साम्यवादी दल करता है। दल के अधिकार कुछ अग्रणीय सदस्यों के सामूहिक नेतृत्व में निहित रहते हैं; सामूहिक नेतृत्व व्यवहार मे एक व्यक्ति की तानाशाही के अलावा और कुछ नही। सैद्धान्तिक रूप में सर्वहारा वर्ग व साम्यवादी दल पूज्यनीय है। लेकिन सामूहिक नेतृत्व मे से जैसे ही किसी एक शक्तिशाली व्यक्ति का अभ्युदय हुआ, वह सब सत्ता का स्रोत बन जाता है। जैसे ही यह व्यक्ति कुछ लम्बे समय तक सत्ता में टिक जाता है तो उसकी पूजा और प्रशंसा होने लगती है जिसे हम व्यक्ति-पूजा (Cult of personality) कहते हैं। स्टालिन और माओ त्से-तुंग की 'व्यक्ति पूजा' असंदिग्ध है। स्टालिन के लिये प्रशंसा गीतों और कविताओं का सृजन हुआ जिनमें उसे महान एवं ईश्वर तुल्य माना गया।

रूस के प्रसिद्ध कवि जेम्बॉल जेबाव (Djamboul Djabaev की कविता स्टालिन की व्यक्ति पूजा का ज्वलन्त उदाहरण है। इस कविता का अर्थ इस प्रकार है—

> मैं उसकी समता पर्वत से करता—
> किन्तु पर्वत के शिखर है;
> मैं उसकी समता समुद्र से करता—
> किन्तु समुद्र के सतह है;
> मैं उसकी समता चमकीले चन्द्रमा से करता—
> किन्तु चन्द्रमा अर्धरात्रि मे ही चमकता है, दोपहरी में नही;
> मैं उसकी समता प्रतिभावान सूर्य से करता—
> किन्तु सूर्य दोपहरी में ही प्रकाश देता है, मध्यरात्रि मे नही।

---

30 The New Class, जिलास की पुस्तक के तृतीय अध्याय का शीर्षक है।

31. Munro and Aycarst, The Governments of Europe, p 683.

इसी तरह सोवियत साम्यवादी दल के मुखपत्र प्रावदा (Pravda) के अगस्त 28, 1936, के अंक में प्रकाशित कविता —

O great Stalin, O leader of the peoples
Thou who broughtest man to birth;

स्टालिन पूजा ही थी जिसका पाठशालाओ आदि में स्तुति के रूप में प्रयोग किया जाता था । 32

स्टालिन-पूजा की निन्दा करते हुऐ 1956 में सोवियत साम्यवादी दल कांग्रेस के बीसवें आधिवेशन मे निकिता ख्रुश्चेव ने कहा—

"इस समय हम उस प्रश्न से अधिक सम्बन्धित्त हैं, जो दल के वर्तमान और भविष्य के लिये अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है, कि स्टालिन-पूजा का किस प्रकार विकास हुआ और एक निश्चित समय पर वह इस सीमा तक बढ़ गई, जिसने दल के सिद्धान्तो, दल का लोकतन्त्र और क्रान्ति की वैधानिकता को गम्भीररूप से भ्रष्ट कर दिया।"33

यही स्थिति चीन में माओ त्से-तुंग की है। "स्टालिन की तरह माओ भी अब सार्वजनिक व्यक्ति नहीं रहे, वे भ्रान्ति बन गये हैं। कोई भी निश्चित रूप से नही कह सकता कि वे कहां रहते है, उन्हे, केवल पीकिंग के अत्यन्त ही महत्वपूर्ण कार्यक्रमो को छोड़कर, सम्भवत ही कही देखा जा सकता है। इस पर भी सभी को यह आभास कराया जाता है कि चीन में, साम्यवादी शासन के मार्ग-दर्शक हैं। उनकी तसवीरें प्रत्येक घर और सार्वजनिक भवनों को सुशोभित

---

32 Quoted, Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p. 514

33 निकिता ख्रुश्चेव का यह भाषण Supplement, Freedom First, July 1956, में न्यूयॉर्क टाइम्स (New York Times) की स्वीकृति से अमरीकी विदेश विभाग ने प्रकाशित किया।

करती हैं।'[34] वे अब चीनी जनता के देव-तुल्य एवं पैगम्बर बन गये हैं। उनके लिये भी गीतो और प्रार्थनाओं का निर्माण हुआ है। निम्नलिखित कविता माओ-स्तुति के रूप में बहुत लोकप्रिय है:—

The East Shines red,
the Sun arises,
Mao Tse-tung appears in China,
Toiling for the happiness of the people.
The savior of the people.[35]

अर्थात्, पूर्व में साम्यवाद का विस्तार हो चुका है, सूर्य की तरह माओ त्से-तुंग का प्रादुर्भाव श्रमिकों की खुशहाली और जनता के संरक्षक के रूप में हुआ।

व्यक्ति-पूजा वास्तव में साम्यवादी व्यवस्था का एक अंग बन गई है। व्यक्ति पूजा व्यक्तिगत तानाशाही की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

साम्यवाद व राज्य (Communism and state)

साम्यवादी विचारधारा में राज्य बुराई माना जाता है। किन्तु विशेष परिस्थिति में वे राज्य की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। राज्य के विषय में साम्यवाद के निम्नलिखित दृष्टिकोण हैं:—

प्रथम, साम्यवादियो के अनुसार राज्य पूंजीवादी यन्त्र है, जिसके माध्यम से वे श्रमिकों का शोषण करते हैं। राज्य के कानून पूंजीपतियों की शोषण इच्छा की अभिव्यक्ति है। वर्ग-संघर्ष में राज्य पूंजीपतियो की सहायता करता है। जब तक राज्य का अस्तित्व है। वर्ग-द्वेष समाप्त नहीं हो सकता।

---

34. 'Like Stalin, Mao has become more of a myth than a public figure. No one is sure where he lives, and he is seldom seen except at the most important functions in Peking. Yet every one is mede acutely aware that he is the guiding hand for China under Communist rule. His picture adorns every home and every room in public buildings,

Walker, Richard L. China Under Communism, George Allen & Union, London, 1956, pp. 180-81.

35. Ibid., p. 181.

द्वितीय, साम्यवादी राज्य की समाप्ति करना चाहते हैं, किन्तु पूंजीवाद और साम्यवाद के मध्य संक्रमण काल मे वे राज्य-सत्ता का अपने उद्देश्यों की प्राप्ती के लिये प्रयोग करना चाहते हैं। संक्रमण काल में सर्वहारा-अधिनायकत्व राज्य: शक्ति द्वारा विरोधियों का बलपूर्वक दमन करके साम्यवादी मार्ग की ओर अग्रसर करेगा।

तृतीय, राज्य का महत्व केवल संक्रमण काल में ही है। वे राज्य को स्थाई संस्था नहीं मानते। उनकी धारणा है कि जैसे ही साम्यवादियो की कल्पना के समाज की रचना प्रारम्भ हो जायेगी राज्य धीरे-धीरे स्वत:ही समाप्त हो जायगा।

उपरोक्त तीन द्रष्टिकोणो में प्रथम एवं द्वितीय ही साम्यवाद के सन्दर्भ में सही हैं। तृतीय द्रष्टिकोण जिसमें साम्यवादी राज्य के लोप होने की बात कहते है यह उनके लिये कभी भी व्यवहारिक नहीं हो सकता। सर्वहारा अधिनायकत्व की अस्थाई अवधि एक 'दीर्घ ऐतिहासिक युग' भी हो सकता है।[36] यदि साम्यवाद को हम मार्क्सवाद या वैज्ञानिक समाजवाद का व्यवहारिक पक्ष कहते हैं, तो राज्य के लोप होने की बात साम्यवाद के अन्तर्गत नही आती।

साम्यवाद तथा जनतंत्र

साम्यवाद में जनतंत्र व्यवस्था का क्या स्थान है ? इस बात पर साम्यवादी तथा अन्य जनतान्त्रिक विचारधाराओं मे मूल मतभेद हैं। साम्यवादी पश्चिमी देशों में प्रचलित जनतंत्र को वास्तविक जनतन्त्र नही मानते। यह पूंजीवादी जनतन्त्र है, यह निर्धनों का नही धनिकों का जनतन्त्र है।

इसी प्रकार वे संसदीय प्रणाली को भी बकवास तथा पूंजीवादी सदन कह कर उसकी भर्त्सना करते हैं।

लेकिन यदि साम्यवादी पश्चिमी जनतन्त्र की निन्दा करते हैं तो साम्यवादी व्यवस्था स्वयं भी किसी भी द्रष्टि से जनतान्त्रिक नही है।[37] साम्यवादी राज्य आर्थिक जनतन्त्र प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करते हैं, किन्तु राजनीतिक जनतन्त्र से वे बड़ी दूर रहते हैं। साम्यवादी राज्यो में न तो विरोधी विचारधारा पनप सकती है और न विरोधी दल ही। यहाँ तक कि साम्यवादी दलो में भी आन्तरिक जन-तन्त्र का पूर्ण अभाव रहता है।

---

36 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ0 194.

37. इसके लिये देखिये जोड, पृ० 101-103

सैद्धान्तिक रूप से भी साम्यवादी व्यवस्था शक्ति एवं तानाशाही से पूर्णतः बंधी हुई है। वर्ग-संघर्ष तथा पूंजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन के लिये क्रान्ति-काल में जनतान्त्रिक व्यवस्था का प्रश्न ही नहीं उठता। संक्रमण काल में वे स्वयं ही सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की बात करते हैं। इसके बाद की *व्यवस्था जिसे वे साम्यवादी व्यवस्था कहते हैं, अभी तक सिर्फ आदर्श और कल्पना* ही है। अतः इस विचारधारा के अन्तर्गत व्यापक जनतन्त्र के लिये बहुत कम क्षेत्र शेष रहता है।

साम्यवादः एक विस्तारवादी विचारधारा के रूप में

साम्यवाद प्रकृति से ही एक विस्तारवादी विचारधारा है। इसकी कोई सीमा या कोई मर्यादा नहीं है। जॉर्ज केनन (George Kennan) ने, जो साम्यवादी जगत के अमरीकी विशेषज्ञ हैं, यह विचार प्रतिपादित किया कि "साम्यवाद विस्तारवाद में विश्वास करता है"। जॉर्ज केनन के ये विचार रूस के सम्बन्ध में थे, किन्तु यह अन्य साम्यवादी राज्यों, विशेषतः चीन पर पूर्णतः लागू होते हैं।[38]

साम्यवादी विचारधारा विस्तार के दो प्रमुख पक्ष हैं। प्रथम, जिस राज्य में साम्यवाद शासन की स्थापना हो चुकी है उस राज्य के अन्दर किसी अन्य विचारधारा को स्वीकार नहीं किया जाता। सिर्फ साम्यवाद का ही अनुमोदन, विमोचन हो सकता है। और इसमें भी नेतृत्व के विचार ही सही समझे जाते हैं। स्टालिन को उसके कार्यकाल में मार्क्सवाद और साम्यवाद का सही विमोचन-कर्ता समझा जाता था। उसके शब्द ही समाजवाद थे।[39] चीन में माओ त्से-तुंग के विचारों (Thought of Mao Tse-tung) को श्रेष्ट विज्ञान और मूल दर्शन माना जाता है।[40] यही बात आजकल उत्तर कोरिया के साम्यवादी नेता किम इल सुंग (Kim IL Sung) के विषय में कही जाती है। वे भी मार्क्सवाद-लेनिनवाद में परिवर्धन कर रहे हैं।

---

38. द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त रूस ने पूर्वी यूरोप के राज्यों का जब साम्य-वादकरण प्रारम्भ किया उस समय जॉर्ज केनन ने यह विचार प्रतिपादित किया था।

37. Hallowell, J H , Main Currents in Modern Political Thought, p 514

40. Walker, Richard L., China Under Communism,p. 180.

द्वितीय पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय है। एक बार सत्ता में आने के बाद साम्यवादी शेष विश्व का पुनः निर्माण अपनी इच्छानुसार करने का प्रयत्न करते हैं।[41] इस्लाम की भांति साम्यवाद आक्रामक विचारधारा (offensive ideology) है। साम्यवादी युद्ध और शक्ति द्वारा विचारधारा का प्रचार और प्रसार करना अपना कर्तव्य समझते हैं।[42] मार्क्स ने साम्यवाद का अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में ही प्रतिपादन किया था। विश्व वर्ग-संघर्ष मार्क्सवाद की प्रमुख विशेषता थी। इसलिये उसने विश्व के समस्त मजदूरों के लिये एकता का आव्हान किया था। उसके अनुसार श्रमिकों का न तो कोई देश है और न कोई राष्ट्रीयता। साम्यवाद एक राज्य या क्षेत्र तक सीमित नहीं रह सकता।[43] समस्त विश्व साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत आना चाहिये।

साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने भी इस सिद्धान्त का समय समय पर पूर्ण समर्थन किया। 1919 में कॉमिनटर्न (Comintern or Third Communist International) की स्थापना का उद्देश्य रूस की भांति अन्य राज्यों मे क्रांति का नेतृत्व करना था। 1928 में तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (Comintern) के विश्व सम्मेलन में सम्पूर्ण विश्व मे पूंजीवादी व्यवस्था के स्थान पर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना का प्रस्ताव स्वीकार किया गया था।[44] जब साम्यवादी राज्य अपनी सैनिक शक्ति में वृद्धि कर एक विश्व-शक्तियों की श्रेणी में आ जाते हैं, इससे विश्व में साम्यवादी आक्रमण का विस्तार का भय और भी बढ़ जाता है।[45]

साम्यवादियों ने अपने इस दृष्टिकोण मे समय-समय पर परिवर्तन किया है। यह विवाद का विषय भी रहा है। स्टालिन व ट्रॉटस्की का संघर्ष इसी परिवेक्षण में देखा जा सकता है, जिसमे स्टालिन के 'एक देश में समाजवाद, की विजय हुई। किन्तु कॉमिनटर्न का अस्तित्व यथावत् बना रहा। तात्कालिक युद्ध स्थिति को देखते हुए कॉमिनटर्न को मई 22, 1943, को भंग कर दिया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि रूस या अन्य साम्यवादियों ने अपना अन्तर्राष्ट्रीय चोला सदैव के लिये उतार दिया हो। उसे सिर्फ कुछ समय के लिये शीत-गृह में सुरक्षित

---

41. Djilas, Milovan, The New Class, p 1
42. Straus-Hupe and Possony, International Relations, 1950, p 423.
43. The Communist Manifesto, p 71.
44. Burns, Emile, (Ed.) A Hand-book of Marxism, London, 1935, p 964
45. Jay, Douglas, Socialism in the New Society, pp. 76, 77.

रद्द दिया गया। अक्टूबर 5, 1947, को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद को कॉमिनफॉर्म (Cominform or Communist Information Bureau) के नाम से पुनः संगठित किया गया। किन्तु यूगोस्लाविया से सम्बन्ध सुधारने की उत्सुकता में इसे भी समाप्त कर दिया।

इसी समय निकिता ख्रुश्चेव ने पंचशील या शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व (Peaceful Co-existence) के सिद्धान्तों को समर्थन देना प्रारम्भ किया। इसका पुनः यही अर्थ लगाया जा सकता था कि साम्यवादी विश्व में यथा-स्थिति (Status quo) स्वीकार कर रहे हैं। विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक प्रणालियों के अन्तर्गत रहते हुए भी विश्व के राज्य शान्तिपूर्वक सहयोग कर सकते हैं।

इस सम्बन्ध में साम्यवादी दुरंगी बातों (Double Talks), और धोखा देने में अधिक उलझे प्रतीत होते हैं। उनके दृष्टिकोण में समय-समय पर जो परिवर्तन हुए हैं, वे सिर्फ चाल या राजनीतिक दाँव-पेच के रूप में ही हुऐ हैं, अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद को त्याग ने के लिये नहीं। सह-अस्तित्व की बात राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुऐ, दूसरे देशों से आर्थिक सहयोग, व्यापार, या मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाने के लिये ही कही जाती है।[46] इतना अवश्य है कि साम्यवादी अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद क्रान्ति के द्वारा आजकल सम्भव नहीं है। यह केवल ख्रुश्चेव के विचार, जिसमें पूंजीवादी राज्यों के साथ शान्तिपूर्ण प्रतिस्पर्धा की बात कही गई है, के द्वारा ही सम्भव हो सकता है; साम्यवादी स्थिति के अनुसार कभी भी क्रान्ति या शान्तिपूर्वक साम्यवादी प्रसार में विश्वास कर सकते हैं।

साम्यवादी विचारधारा बनाम राष्ट्रीय हित

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की समस्याएं तथा रूस-चीन के सैद्धान्तिक मतभेदों के सन्दर्भ में साम्यवादी विचारधारा एवं राष्ट्रीय हित में प्राथमिकता के प्रश्न को समझ लेना आवश्यक है। एक साम्यवादी राज्य के लिये विचारधारा का विस्तार महत्वपूर्ण है या उसका स्वयं का राष्ट्रीय हित ? यदि विचारधारा को प्राथमिकता दी जाय तो प्रत्येक साम्यवादी राज्य का कर्तव्य है कि वह दूसरे देशों में साम्यवाद का विस्तार करे। विचारधारा के प्रसार में सभी साम्यवादी राज्य सहयोग करें। किन्तु व्यवहार में यह बात नहीं है।

---

46 Munro and Ayearst, The Governments of Europe, p 695.

प्रत्येक राज्य, साम्यवादी या गैर-साम्यवादी, अपने राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि महत्व देता है। साम्यवादी राज्यों में यदि हितों का टकराव है तो विचारधारा की एकता होते हुए भी उनमें सहयोग नहीं हो सकता और इसका साम्यवाद की अन्तर्राष्ट्रीयता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। रूस और चीन दोनों ही साम्यवादी देश हैं लेकिन दोनों के परस्पर-विरोधी हितों के कारण वे विचारधारा को महत्व नहीं देते, जितना कि राष्ट्रीय हित को।

इसके अलावा यदि दो विरोधी विचारधाराओं के पालन करने वाले राज्यों में राष्ट्रीय हितों का समाधान होता है तो वे विचारधारा को सहयोग के मार्ग में बाधा नहीं बनने देते। चीन और अमेरिका परस्पर-विरोधी विचारधाराओं के समर्थक हैं, लेकिन रूस के विरुद्ध दोनों के सहयोग में वृद्धि हो रही है। इसके पहले 1939 में रूस और नाजी जर्मनी ने अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर किये, जिसने दूरदर्शी राजनीतिज्ञों को भी आश्चर्य में डाल दिया। साम्यवाद और नाजीवाद दोनों ही एक दूसरे के कटु शत्रु थे, लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों में राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए विचारधारा सम्बन्धी तथ्य को ताक पर रख यह समझौता किया।

इसका यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि साम्यवाद का अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष उतना सबल नहीं है जितना कि समझा जाता है। साम्यवादी राज्यों में हमेशा सहयोग और भ्रातृत्व की भावना रहे, यह भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार राष्ट्रीय हित और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने साम्यवाद के अन्तर्राष्ट्रीय पहलु को कमजोर एवं विभाजित कर दिया है।

रूस-चीन मतभेद तथा इसका साम्यवादी विचारधारा पर प्रभाव

रूस और चीन के मतभेदों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाला एक नया तत्व प्रदान किया है। विश्व के प्रमुख राज्यों की विदेश नीति निर्धारण पर इसकी छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। दोनों पड़ोसी राज्य विश्व शक्तियाँ हैं, दोनों ही साम्यवादी व्यवस्थाएं हैं। दोनों राज्यों में जो तनाव उत्पन्न हुआ उसे एक नवीन शीत-युद्ध (a new Cold War) कहा गया है;[47] इन

---

47. एडवर्ड क्रेन्कशॉ(Edward Crankshaw), जो साम्यवादी राजनीति के एक प्रमुख टीकाकार है, की रूस-चीन विवाद पर लिखी पुस्तक का शीर्षक ही—The New Cold War, Moscow V Peking- है।

मतभेदों का वास्तविक कारण दोनों देशों के राष्ट्रीय हितों का टकराव है। किन्तु साम्यवादी होने के कारण रूस और चीन ने अपने मतभेदो को प्रारम्भिक वर्षों में सैद्धान्तिक मतभेदो के रूप में प्रस्तुत किया।[48] दोनों राज्यों ने सैद्धान्तिक पक्ष लेकर एक दूसरे की कटु आलोचना की है। इसमें सैद्धान्तिक मतभेदों की वास्तविकता है या नही निश्चित रूप से कहना आसान नहीं। फिर भी इन मतभेदों के सन्दर्भ मे साम्यवाद की जो व्याख्या हुई है वह महत्वपूर्ण है तथा इस विचारधारा की नवीन प्रकृति एवं स्वभाव पर प्रकाश डालती है।

रूस और चीन के सैद्धान्तिक मतभेदो मे रूस अधिक नमनीय, व्यावहारिक और प्रगतिशील प्रतीत होता है। चीन रूढ़िवाद या परम्परावादी मार्क्सवाद-लेनिवाद-स्टालिनवाद मे ही उलझा है। माओ त्से-तुंग तथा चीन के साम्यवादी दल ने ख्रुश्चेव के लगभग सभी विचारो का खण्डन किया है।

रूस द्वारा स्टालिन की जो निन्दा की गई है, चीन ने उसे मान्यता नही दी है। यद्यपि स्टालिन ने कुछ भूलें अवश्य कीं, चीन साम्यवादी जगत तथा रूस में स्टालिन के महत्वपूर्ण योगदान को स्वीकार करता है। चीन के द्रष्टिकोण से स्टालिन मार्क्सवाद-लेनिनवाद का कट्टर समर्थक था।

चीन साम्यवादी विस्तार के लिये शान्तिपूर्ण साधनों को मान्यता नही देता। माओ त्से-तुंग, ख्रुश्चेव के इस मत से सहमत नही हैं कि लोकतान्त्रिक तरीको से समाजवाद लाया जा सकता है। साम्यवादी प्रसार केवल क्रान्ति एवं युद्ध से ही सम्भव है।

दोनो साम्यवादी राज्यो का साम्राज्यवाद के प्रति भी अलग-अलग द्रष्टिकोण है। चीन रूस के इस तर्क को स्वीकार नही करता कि पूंजीवादी-साम्राज्यवादी शान्ति चाहते हैं। माओ के अनुसार साम्राज्यवादियों को प्रकृति में कोई आन्तरिक परिवर्तन नही हुआ है। समाजवादी देशो को उनके विरुद्ध संघर्ष करने के लिये अधिक शक्तिशाली बनना चाहिये। इसलिये चीन सर्वहारा राज्यों का साम्राज्यवादी-पूंजीवादी राज्यों के साथ सह-आस्तित्व में भी विश्वास नही करता।

---

43 Lowenthal, Richard, World Communism, p. 132

दोनो साम्यवादी राज्यों ने एक दूसरे की आर्थिक नीतियों की भी आलोचना की है। चीन ने ख्रुश्चेव की कृषि नीति की आलोचना की जिसके अन्तर्गत रूस लाभ के लिये कुछ गुंजाइश छोड़ता है। चीन के अनुसार लाभ सिद्धान्त पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में ही सम्भव है। इसके विपरीत रूस ने चीन में प्रारम्भ हुई 'कम्यून प्रणाली' (Commune system) की कटु निन्दा की है।

इन सैद्धान्तिक मतभेदों के बाद अब दोनों राज्यों का वास्तविक संघर्ष स्पष्ट हो गया है। उनके सीमा विवाद, उनकी एशिया और अफ्रीका में विस्तारवादी नीति तथा आर्थिक स्पर्धा से विश्व पूर्णतः अवगत है।

रूस और चीन के सैद्धान्तिक विवाद का अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद पर व्यापक विपरीत प्रभाव पड़ा है। प्रथम, साम्यवाद की व्याख्या के विषय में साम्यवादी राज्य एक मत होकर निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। उनके विचारों में परस्पर-विरोध ही दृष्टिगोचर होता है। इससे साम्यवाद का सैद्धान्तिक पक्ष निर्बल हुआ है।

द्वितीय, इस विवाद ने साम्यवादी राज्यों को दो गुटों में विभाजित कर दिया है। एक ओर चीन, अलबानिया आदि तथा दूसरी ओर रूस और अन्य पूर्वी यूरोप के राज्य हैं। कुछ राज्य, जैसे रूमानिया, लगभग तटस्थ रहते हैं। साम्यवादी राज्यों की एकता समाप्त होने से इनकी शक्ति विभाजित हो चुकी है। इससे गैर-साम्यवादी राज्यों में साम्यवादी विस्तार के खतरे में भी भारी कमी आई है।

तृतीय, रूस-चीन मतभेदों से विश्व में अन्य राज्यों के साम्यवादी दल भी विभाजित हुऐ हैं। दल का एक भाग रूस समर्थक तथा दूसरा चीन का प्रशंसक रहता है। भारत में इस आधार पर अलग अलग दल बन गये हैं, जैसे भारतीय साम्यवादी दल रूस समर्थक है तथा भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) चीन का समर्थक है। जो भी हो इससे दलों की शक्ति एवं प्रतिष्ठा पर बड़ा आघात हुआ है।[49]

लेबेड्ज एवं अर्बन (Labedz and Urban) ने रूस-चीन मतभेदों का अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद पर प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस विवाद ने—

---

[49] भारतीय साम्यवादी दल के विघटन का विवरण मोहन राम लिखित पुस्तक-Indian Communism: split within split, (1969) में अच्छा दिया हुआ है जिसका अध्यन उपयोगी होगा।

(i) अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद आन्दोलन के अन्त का प्रारम्भ कर दिया है;

(ii) समस्त विश्व की सर्वहारा राष्ट्रीयता की भ्रान्ति का खन्डन कर दिया है; तथा

(iii) साम्यवादी क्रान्ति के अवश्यम्भावी स्वरूप को समाप्त कर दिया है।[50]

भविष्य में इन दोनों राज्यों के परस्पर-विरोधी हितों को ध्यान में रखते हुऐ इनमें युद्ध होना असम्भव सा लगता है। किन्तु एक बात निश्चित है कि इस समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में चीन को भी रूस जैसी ही उदारवादी नमनीय नीति अपनानी पड़ेगी। चीन को भी सह-आस्तित्व, सहयोग, तटस्थ राज्यों का समर्थन आदि की नीति ग्रहण करनी पड़ेगी। फरवरी 1972 में अमरीकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन की चीन यात्रा ने यह और स्पष्ट कर दिया है कि चीन इस मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। चाहे यह द्रष्टिकोण परिवर्तन बाह्य दिखावे के लिये ही क्यों न हो, लेकिन हो रहा है।

मूल्यांकन

जैसा कि पहिले उल्लेख किया जा चुका है मार्क्सवाद ही साम्यवाद का आधार एवं श्रोत है। साम्यवादी, मार्क्सवाद के जो सिद्धान्त स्वीकार करते हैं जैसे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, वर्ग-संघर्ष, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त सर्वहारा अधिनायकत्व आदि, का आलोचनात्मक अध्ययन मार्क्सवाद के सन्दर्भ में पहिले ही किया जा चुका है। उन्हीं तथ्यों को यहां प्रस्तुत करना पुनरावृत्ति ही होगी। फिर भी यह नहीं भूल जाना चाहिये कि मार्क्सवादी सिद्धान्त साम्यवाद के प्रमुख आधार हैं। यहा सिर्फ साम्यवाद से सम्बन्धित विशेष समस्याओं का आलोचनात्मक विवेचन दिया जा रहा है।

मार्क्सवाद को भ्रष्ट करने का आरोप

आलोचकों का कहना है कि साम्यवाद, मार्क्सवाद का न तो तर्कसंगत विस्तार है और न सही परिवर्धन। साम्यवादियों ने मार्क्सवाद का संशोधन किया है। या, साम्यवादियों ने मार्क्सवाद को भ्रष्ट कर दिया है। यद्यपि मार्क्स ने क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व का समर्थन किया था किन्तु उसका द्रष्टिकोण लोकतान्त्रिक था। उसका विश्वास था कि किसी देश में क्रान्ति तभी

---

50. Labedz and Urban, The Sino-Soviet Conflict, p. 9.

सम्भव होगी जब कि वहाँ मजदूरों का बहुमत हो जाएगा। इसके अलावा मार्क्स को विचार-स्वतन्त्रता से बड़ा प्रेम था। अपने तत्कालिक युग में प्रशा (Prussia) तथा अन्य निरकुंशवादी राज्यों में मार्क्स ने प्रेस-विरोधी नीतियों की कटु आलोचना की थी।

साम्यवाद विरोधियों के अनुसार मार्क्स के अनुयायियों ने, जिन्हें साम्यवादी कहा जाता है, मार्क्सवाद की इस प्रकार व्याख्या की है जो उनकी स्वार्थ-सिद्धि की पूर्ति और उनकी त्रुटियों पर आवरण डालने में सहायक हो। मिलोवेन जिलास (Milovan Djilas) के शब्दों में :—

> "मूल मार्क्सवाद का अब लगभग कुछ नहीं बचा है। पश्चिम में यह समाप्त हो चुका है या समाप्त होने जा रहा है। पूर्व में साम्यवादी शासन की स्थापना से मार्क्स के द्वन्दवाद और भौतिकवाद की सिर्फ औपचारिकता और ढोंगवादिता ही शेष रही है, जिसका प्रयोग उन्होंने सत्ता को सुदृढ़ करने, निरकुंशता को सही सिद्ध करने तथा मानव-आत्मा का उल्लघंन करने के लिये किया।[51]

साम्यवादियों ने मार्क्सवाद की विचार-आत्मा को नहीं समझा है। साम्यवादी राज्यों में जनतन्त्र के स्थान पर अल्प-संख्यकों की तानाशाही, सर्वहारा के स्थान पर दल अधिनायकत्व और व्यक्ति-पूजा की स्थापना होती है, जिसका मार्क्स ने शायद ही समर्थन किया हो।

काल्पनिक उद्देश्य

मार्क्सवादी सिद्धान्तों का अन्तिम उद्देश्य 'साम्यवादी समाज' की स्थापना करना है जिसमें न तो शोषण, न कोई वर्ग और न राज्य ही होगा। मार्क्सवाद का यह उद्देश्य काल्पनिक है। किन्तु साम्यवाद को मार्क्सवाद या वैज्ञानिक समाजवाद का व्यवहारिक रूप समझा जाता है। साम्यवाद के अन्तर्गत व्यावहारिक द्रष्टि से राज्य का लोप होना असम्भव है। इसके विपरीत राज्य की शक्तियों में दिना-दिन वृद्धि होती जा रही है। साम्यवादी इतने व्यावहारिक होते हुए न जाने क्यों इस काल्पनिक उद्देश्य में अनावश्यकरूप से उलझे हुए हैं।

---

51. "Almost nothing remained of original Marxism. In the West it had died out or was in the process of dying out; in the East, as a result of the establishment of Commumist rule, only a residue of formalism and dogmatism remaind of Marx's dialectics and materialism., this was used for the purpose of cementing power justifyings tyranny and violating human conscience. „
Djilas Milovan. The New Class, p 9.

साम्यवाद का नवीन विवेचन एक धोखा है

लेनिन, स्टालिन, ख्रुश्चेव, माओ त्से-तुंग ने मार्क्सवाद में जो व्यवहारिक परिवर्तन किये हैं उनमें मूल आधारों में कोई परिवर्तन नही हुआ है। इन सभी को वर्ग-संघर्ष, क्रान्ति आदि मे पूर्ण आस्था है। जब ख्रुश्चेव जैसे साम्यवादियों ने शान्ति पूर्ण सह-अस्तित्व, लोकतान्त्रिक साधनो का समर्थन किया, इससे उन्होंने विश्व को भ्रम में डालने का प्रयत्न किया है। यदि साम्यवादी लोकतन्त्र और शान्तिपूर्ण साधनों को स्वीकार करते हैं तो फिर वे साम्यवादी कहलाने का दावा नही कर सकते। इस प्रकार के सैद्धान्तिक परिवर्धनों का आशय मूल उद्देश्यो में परिवर्तन करना नही किन्तु इन उद्देश्यों की उपलब्धि के लिये अपनी कूटनीति और चालों मे परिवर्तन करना है। इसलिये यदि विश्व की जनता से यह कहा जाय कि साम्यवादी अब शान्तिपूर्ण-लोकतान्त्रिक साधनों में विश्वास रखने हैं तो यह उनके साथ धोखा करना है। साम्यवाद से अवगत व्यक्ति शायद ही साम्यवादियों के इस रंग-परिवर्तन पर विश्वास करे।

अधिनायकवादी-व्यवस्था (Totalitarian system)

साम्यवाद पूर्णतः आरोपित एवं ऊपर से नियन्त्रित व्यवस्था है। इसमें एक दल, एक विचार, एक रंग, एक ढ़ग में ही व्यक्ति बन्दी रहता है। कला, साहित्य दर्शन, विज्ञान सभी को एक ढाचे मे ढालने का प्रयत्न किया जाता है। साम्यवाद के अंकुश मे रहना ही स्वतन्त्रता है। व्यक्तिगत अधिकारो की बात करना व्यर्थ है। साम्यवादी दल के बीसवे अधिवेशन (1956) में तात्कालिक महामन्त्री निकिता ख्रुश्चेव का भाषण स्टालिन युग के रूस मे प्रचलित अधिनायकवादी व्यवस्था का ही प्रतिवेदन था। राज्य का हस्तक्षेप व्यक्तिगत जीवन में भी रहता है, यहा तक की लेनिन की पत्नि (Nadezhda Konstantinovna Krupskaya ने भी स्टालिन द्वारा उनके व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करने का आरोप लगाया। इस विषय में लेनिन ने स्टालिन को एक पत्र लिख कर उससे क्षमा मागने के लिये कहा था। 52

---

52. This letter was produced by Khruschev before the Twentieth Congress of the CPSU, 1956 Supplement. Freedom First July 1956, State Department, U. S. A.

स्टालिन की पुत्री स्वेतलाना की भी यही शिकायत थी। उन्हे अपनी इच्छा-नुसार विवाह करने पर सोवियत सरकार ने कई प्रकार की बाधाऐं पैदा की। कुछ समय बाद स्वेतलाना को गुप्त रूप से रूस छोडना पड़ा। यह सब कुछ तब हुआ जब स्टालिन की मृत्यु के बाद रूस में कुछ उदारवादी प्रवृत्तिया द्रष्टिगोचर होने लगी थी।

इस समय भी यह सुनने मे आता है कि रूस मे विचारको और प्रमुख लेखको को यातनाये भोगनी पड़ती हैं क्योंकि वे सरकार द्वारा निर्देशित विचार-मार्ग से कुछ हट कर चलना चाहते हैं। 1968 में चेकोस्लोवाकिया के उदारवादी आन्दोलन का दमन भी वर्तमान नेतृत्व के समय मे ही हुआ है।

चीन मे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि सभी पहलु माओं त्से-तुगं के विचारों के अन्तर्गत आने चाहिये। माओ के विचारो का विरोध करना अपराध करने जैसा है। चीन के राष्ट्रपति ल्यू शाओ ची (Liu Shao Chi), विदेश मंत्री चेनयी (Chen Yi), माओ के उत्तराधिकारी लिन पिआओ (Lin Piao) तथा अन्य माओ-विचारो को ठीक तरह ग्रहण नही कर सके, परिणामस्वरूप सभी को अपमानित हो अपने पदो से हाथ धोना पड़ा।

इस प्रकार के अधिनायकवादी तत्व सभी साम्यवादी राज्यो में विद्यमान रहते हैं। मनुष्य का अच्छा बुरा बहुत कुछ गुप्तचर विभाग पर निर्भर करता है। इस व्यवस्था मे मनुष्य आर्थिक चिन्ताओ से मुक्ति पा सकता है किन्तु आत्मिक शान्ति एवं स्वतन्त्रता नही मिल सकती।

साम्यवादी सम्पूर्ण विश्व की समस्याओ का हल एक मात्र अपने ही मार्ग से मानते हैं। यह विश्वास भ्रान्तिपूर्ण है। विश्व विविधिताओं का पुन्ज है। अलग अलग राज्यो या क्षेत्रों में जीवन-पद्यति, संस्कृति, राजनीतिक व्यवस्था में विभिन्नता द्रष्टिगोचर होती है। इस प्रकार इस विश्व-विभिन्नता से सम्बन्धित समस्याओं की जटिलता भी इतनी ही व्यापक होगी। साम्यवाद अकेला ही इन सबका समाधान प्रस्तुत नही कर सकता। लास्की H. J. Laski) के अनुसार—

> "सामान्य अर्थ में, नि सन्देह साम्यवाद की भूल यह है कि वह विश्व की जटिलता को स्वीकार नहीं करता। उनका बतलाया उपचार अवास्तविक है, क्योंकि विश्व बड़ा पेचीदा है और सम्पूर्ण विश्व के लिये कोई एक उपचार नही हो सकता"। [53]

53. Laski, H.J., Communism, 1928, p.243.

पाठ्य-ग्रन्थ

1.	कोकर, फ्रान्सिस,	आधुनिक राजनीतिक चिन्तन अध्याय 3, समाजवादी आन्दोलन तथा मार्क्स के कट्टर अनुयायी, प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व ।
2.	Deutscher, Isaac,	Russia, China and the West Chapter 5, The Twentieth Congress of the Soviet Communist Party.
3.	Djilas, Milovan,	The New Class, An Analyiss of the Communist System, Chapter 3, The New Class. Chapter 4, The Party State.
4.	Donnelly, Desmond,	Struggle for the World Chapter 2, Socialism in One Country
5.	Ebenstein, W.,	Today's isms Chapter I, Totalitarian Communism
6.	Fainsod, Merle,	How Russia is Ruled Chapter 5, The Dictatorship of the Party in Theory and Practice. Chapter 13, Terror as a System of Power.
7.	Gray, Alexander,	The Socialist Tradition Chapter XVII, Lenin
8.	Hallowell, J. H.,	Main Currents in Modern Political Thought Chapter 14, Socialism in the Soviet Union.

9. Hunt, R. N. Carew, The Theory and Practice of Communism : An Introduction.
Chapter XV, Lenin's Contribution to Marxist Theory.
Chapter XVI, Stalin's Contribution to Marxist-Leninist Theory.

10. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका
अध्याय 5, साम्यवाद तथा अराजकतावाद

11. Lowenthal, Richard, World Communism
Chapter 5, The Distinctive Character of Chinese Communism.

12. Marcuse. Herbert, Soviet Marxism–A Critical Analysis

13. Paloczi-Horvath G., Khrushchev : The Road to Power
Chapter 14. Who is to Lead the Communist World.

14. Schapiro Leonard, The Communist Party of the Soviet Union
Chapter 16, The Defeat of Trotsky
Chapter 17, Party Composition : Relations with the Government.

15. Stankiewicz, W.J. (Ed.) Political Thought Since World War II
Part III, Marxism and Communism

16. Wanlass, Lawrence, C., Gettell's History of Political Thought
Chapter XXVII, Communism.

9

फासीवाद

Fascism

कॉरपोरेटिव समग्रवाद

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात इटली में फासीवाद का प्रादुर्भाव हुआ। फेसिज्म (Fascism) शब्द की उत्पत्ति इटली भाषा के शब्द 'फेसियो (Fascio) से हुई है। 'फेसियो' शब्द का अर्थ है 'लकडियो का बन्धा हुआ गट्ठा'। लकड़ियो का बन्धा हुआ गट्ठा, एकता, अनुशासन और शक्ति का प्रतीक माना जाता है। प्राचीन काल में रोमन साम्राज्य का राज्य-चिन्ह फेसियो तथा कुल्हाड़ी था क्योंकि रोमन राजनीति एकता और शक्ति पर बल देती थी।

प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने के लगभग एक वर्ष पश्चात् 1915 मे मिलान (Milan) शहर मे मुसोलिनी (Benito Mussolini, 1883-1945) के नेतृत्व में फेसियो (Facio) नामक संस्था की स्थापना हुई। इस संस्था की स्थापना का उद्देश्य इटली के व्यक्तियो को एकता और अनुशासन के सूत्र मे बांधना था, जो राष्ट्र के लिये मर मिटने को तैयार हो। इस दल ने भी फेसियो को अपना चिन्ह बनाया। इसके सदस्य 'फेसिस्ट' कहलाते थे तथा इस दल की नीति एवं विचारधारा फेसिज्म कहलायी जाने लगी। युद्ध के उपरान्त 1919 में कई कारणों से इस संस्था का पुनर्निर्माण किया गया। इटली की समकालीन परिस्थितियों ने मुसोलिनी का साथ दिया। अक्टूबर 1922 के अन्तिम सप्ताह में इटली की शासन सत्ता मुसोलिनी के हाथों आयी, जो जुलाई 24, 1943, तक इटली के एक-छत्र तानाशाह रहे।

जर्मन फासीवाद: राष्ट्रीय समाजवाद

प्रथम विश्व युद्ध के बाद ही फासीवाद का एक अन्य नामकरण के अन्तर्गत जर्मनी में प्रादुर्भाव हुआ। जिस फासीवादी विचारधारा का जर्मनी में उद्‌भव हुआ उसे नात्सीवाद (Nazism) के नाम से जाना जाता है। मुख्य ही तत्वों

को छोड़कर ये दोनों विचारधाराएं एक ही हैं ।[1] जर्मनी में हिटलर (Adolf-Hitler, 1889–1945) के नेतृत्व मे नात्सीवाद, जिसे राष्ट्रीय समाजवाद भी कहा जाता था, का प्रादुर्भाव हुआ । जिन परिस्थितियों मे इटली में फासीवाद पनप लगभग वैसी ही परिस्थितियों से जर्मनी में नात्सीवाद का उद्भव हुआ । प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी एक पराजित राज्य था । पेरिस शान्ति सम्मेलन में जर्मन प्रतिनिधि मण्डल को बड़ा ही अपमानित किया गया । वर्साय की शान्ति सन्धि (Treaty of Versailles, 1919) जर्मनी पर थोपी गई सन्धि थी, जो शान्ति सन्धि न होकर युद्ध का आमन्त्रण थी । वर्साय की सन्धि के अन्तर्गत जर्मनी का बहुत सा क्षेत्र छीन लिया तथा उसका पूर्णतः विसैन्यीकरण किया गया । युद्ध क्षति के रूप में जर्मनी को बहुत सी राष्ट्रीय सम्पत्ति विजेता राज्यो को देनी पड़ी । वास्तव में युद्ध क्षति के नाम पर विजेता राज्यों ने जर्मनी की आर्थिक लूट की ।

युद्ध के उपरान्त जर्मनी मे भारी असन्तोष था । आर्थिक अराजकता और राजनीतिक अस्थिरता ने जर्मनी मे फासीवादी शासन की स्थापना करने में बड़ी सहायता दी । इस असन्तोष का लाभ हिटलर ने उठाया तथा 1933 के प्रारम्भ में वह जर्मनी का तानाशाह बन बैठा ।

हिटलर के फासीवादी (या नात्सीवादी) विचार हमें उसकी आत्मकथा-Mein kampf (मेरा संघर्ष)-में मिलते हैं । हिटलर तथा मुसोलिनी, अन्य शब्दो मे फासीवाद और नात्सीवाद, के विचारो मे तत्वतः कोई विशेष अन्तर नही है । इसलिये इनके विचारों को एक ही अध्याय के अन्तर्गत लेना अनुपयुक्त नही होगा । राष्ट्र, राज्य, व्यक्ति, दल, नेता, साध्य एवं साधन, विस्तारवाद आदि के विषय मे इन दोनों के विचार लगभग समान ही हैं । इस अध्याय मे कई स्थलों पर इन दोनो के विचारों को एक रूप प्रस्तुत कर इनकी समानता को भी व्यक्त किया गया है ।

फासीवाद केवल इटली और जर्मनी राज्य तक ही सीमित नहीं रहा, पूर्वी यूरोप के राज्य जैसे स्पेन और पुर्तगाल तथा कुछ लैटिन अमरीकी राज्यों में भी फासीवादी अधिनायकतंत्र का प्रादुर्भाव हुआ । दोनों विश्व युद्धो के मध्य, फासीवाद यूरोप पर छाया रहा । इटली तथा जर्मनी से समस्त यूरोप भयावह सा प्रतीत होने लगा । मुसोलिनी तथा हिलटर ने विस्तारवादी नीतियों को अपनाया । इन्ही विस्तारवादी नीतियो के सन्दर्भ मे इंग्लैण्ड तथा फ्रान्स ने सन्तुष्टिकरण की नीति (Policy of Appeasement) स्वीकार कर फासीवादी विस्तारवाद को अप्रत्यक्ष रूप से बड़ा समर्थन दिया । परिणामस्वरूप इटली ने अबीसीनिया तथा अलबानिया,

---

1. Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p. 591.

जर्मनी ने आस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उधर स्पेन में जनरल फ्रेन्को (General Franco) ने उस देश में फासीवादी व्यवस्था की स्थापना की। अन्त में मुसोलिनी तथा हिलटर की विस्तारवादी नीति तथा इसके प्रत्युत्तर में इंग्लैण्ड-फ्रान्स के सन्तुष्टिकरण दृष्टिकोण ने विश्व को दूसरे महायुद्ध में धकेल दिया। द्वितीय विश्व युद्ध में फासीवादीयों को क्षणिक विजय अवश्य प्राप्त हुई, किन्तु अन्त में उन्हें पराजित होना पड़ा। इस प्रकार विश्व को जो फासीवाद का भय था वह समाप्त हो गया। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह विचारधारा सदैव के लिये समाप्त हो गई हो। समय-समय पर यह विचारधारा कई देशों में अपना क्रूर सर ऊपर उठा लेती है। लेटिन अमरीकी राज्य अभी भी फासीवादी विचारधारा के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये हैं।

प्रेरणा एवं पृष्ठभूमि

फासीवाद के बहुत कुछ सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव या प्रचलन इटली में किसी न किसी रूप में प्रत्येक युग में रहा है। प्राचीन काल में इसी क्षेत्र में कई प्रमुख राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ नगर राज्य निरंकुशता और एकता के लिये प्रसिद्ध थे। जब रोम साम्राज्य का अभ्युदय एवं विस्तार हुआ, इटली तथा इसका प्रसिद्ध नगर रोम इस साम्राज्य का केन्द्र थे। उग्र राष्ट्रवाद, एकता, शक्ति राजनीति, विस्तारवाद और निरंकुशवाद रोम साम्राज्य के शासन-सिद्धान्त थे। मुसोलिनी ने रोमन परम्परा का पूर्णतः अनुकरण किया और ये तत्व फासीवाद के प्रमुख आधार बन गये।

रोम की देवी (The Godess Rome) के स्मारक का निर्माण 1870 में किया गया। इस स्मारक को बनाने का उद्देश्य इटली की एकता और एकीकरण को मूर्तरुप देना था। रोम की देवी के प्रति मुसोलिनी की अटूट श्रद्धा थी। इटली की सत्ता को सम्हालने के उपरान्त मुसोलिनी ने प्रधानमन्त्री के रूप में अपना सर्वप्रथम भाषण रोम की देवी के चरणो के पास खड़े होकर दिया। सम्पूर्ण इटली तथा विशेषतः फासीवादियों के लिये यह मूर्ति एक विशेष प्रेरणा का श्रोत थी। [2]

एकता, गौरव तथा सीमा-विस्तार की आकांक्षा इटली की परम्परा रही है। रोमन साम्राज्य के पतन के उपरान्त इटली शताब्दियों तक अव्यवस्था और

2. Munro, Ion S., Through Fascism to World Power, see *footnote to* Frontispiece—The Shrine of Italy.

विघटन के अन्धकार में डूबा रहा। चौदहवीं शताब्दी में दान्ते (Dante, 1265-1321) इटली की एकता और विस्तार का प्रथम पैगम्बर सिद्ध हुआ। यह श्रेय दान्ते को ही जाता है कि उसने उस समय इटली की सीमा को स्पष्ट किया। दान्ते के अनुसार इटली की सीमा के अन्तर्गत वे सब क्षेत्र आने चाहिये जिन्हें आजकल, इटली, आस्ट्रिया, तथा भूमध्य-सागरीय क्षेत्र कहा जाता है। दान्ते के ग्रन्थ-De Monarchia-में रोम को विश्व-विचार का श्रोत तथा विश्व शासन का केन्द्र कहा गया है। दान्ते के विचारों को मुसोलिनी ने ग्रहण किया। फासीवाद दान्ते के विचारों को पूर्णतः कार्यरूप देना चाहता था। सितम्बर 1933 में फासीवादी क्रान्ति-दशक के समारोह का अन्त दान्ते के मकबरे पर ही हुआ था। यह मकबरा फासिस्टों के लिये एक तीर्थस्थल के समान था।[3]

पन्द्रहवीं शताब्दी में मेकियावली (Niccolo Machiavelli, 1469-1527) प्रसिद्ध व्यवहारवादी और कूटनीतिक विचारक हुआ। वह राष्ट्रवाद, निरंकुशवाद तथा शक्तिवाद का समर्थक था। इस पूर्वगामी विचारक का मुसोलिनी पर बड़ा प्रभाव पड़ा। फासिस्टों की शिक्षा और आचरण से ऐसा प्रतीत होता था कि कुख्यात मेकियावली एक बार फिर जीवित हो उठा हो।[4]

इटली की एकता, गौरव एवं गरिमा में वृद्धि करने वाले प्रत्येक कार्य को फासिस्ट उचित मानते थे। 1870-71 में इटली का एकीकरण फासिस्टवादियों के समक्ष एक आदर्श घटना थी। इटली के एकीकरण ने इस क्षेत्र के कई छोटे-छोटे राज्यों को एकता के सूत्र में बाँध कर एक नये राष्ट्र को जन्म दिया। इस एकीकरण ने इटली की शक्ति और समृद्धि में वृद्धि की तथा इसकी गणना योरोप के अग्रणीय राज्यों में की जाने लगी। मुसोलिनी इस एकीकरण को अंतिम रूप देना चाहता था। उसका उद्देश्य इटली को एक भूमध्य-सागरीय शक्ति बनाना था, जो अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रभावशाली योगदान दे सके।

फासीवाद के प्रेरणा-श्रोत अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में प्रचलित आदर्शवाद(Idealism),डर्विनवाद(Darwinism),अबुद्धिवाद (Irrationalism) और परम्परावाद (Traditionalism) आदि विचारधाराएं थी। इन विचार-धाराओं से फासीवाद और नात्सीवाद ने बहुत से सैद्धान्तिक तत्व ग्रहण किये हैं।

आदर्शवादियों में कान्त (Immanuel Kant 1724-1804)तथा हीगल (Friedrich Hegal, 1770-1831) ने फासीवादियों को बहुत प्रभावित

3. पूर्व सन्दर्भ, पृ 7-9

4 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 664.

किया। हीगल का आदर्शवाद पूर्णतः राजसत्ताधारी और निरंकुशवादी था। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इटली में नव-हीगलवाद का प्रादुर्भाव हुआ। यह व्यक्तिवादी, उदारवादी परम्पराओं के विरुद्ध था। राज्य को ये अवयवी (Organic) और स्वयं-साध्य तथा व्यक्ति को साधन मात्र मानते थे। सूक्ष्म में इन्होंने राज्य की सर्वोपरिता का प्रतिपादन किया। इटली के प्रसिद्ध विद्वान गिओवानी गेंटाइल (Giovanni Gentile) नव-हीगलवाद के प्रबल समर्थक थे जो मुसोलिनी के शासन काल में राज्य के शिक्षा मंत्री तथा राष्ट्रीय फासीवादी सांस्कृतिक संस्थान के निर्देशक रहे। इन्होंने फासीवादी विचारधारा का समय-समय पर विवेचन कर शासन व्यवस्था को बड़ा प्रभावित किया।

डार्विनवाद

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin) से फासीवादियों ने बहुत कुछ ग्रहण किया। डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary Theory) के अनुसार प्राणियों को जीवित रहने के लिये संघर्ष करना पड़ता है। जो सबल है वही जीवित और अपना अस्तित्व बनाये रखने में सक्षम होता है; निर्बल नष्ट हो जाते हैं। अन्य शब्दों में डार्विनवाद इन तत्त्वों पर आधारित है कि—

(i) प्रगति के लिये संघर्ष आवश्यक है;
(ii) यह संघर्ष व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं, समूहों में भी चलता है;
(iii) वह समूह विजयी होता है जिसमें एकता और अनुशासन होता है।

सामाजिक डार्विनवाद के इन सिद्धान्तों ने फासीवाद-नात्सीवाद को अत्यधिक प्रभावित किया। फासीवाद के संघर्ष तथा विस्तारवादी विचार-सूत्र इन्हीं से प्रेरणा प्राप्त हैं।

अविवेकवाद

फासीवाद बीसवीं शताब्दी में 'बुद्धि के प्रति विद्रोह' (Revolt against reason) का व्यवहारिक रूप था।[5] अबुद्धिवाद अथवा अविवेकवाद में बुद्धि तथा विवेकपूर्ण तर्क को कोई स्थान नहीं होता। फासीवादियों पर अबुद्धिवादी विचारक शॉपेनहॉर (Arthur Schopennaur, 1788-1860), नीत्शे (Friedrich Wilhelm Nietzsche, 1844-1900), सोरेल (George

5 Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p 604

Sorel, 1847-1922) और बर्गसां (Henry Bergson, 1859-1941) का प्रमुख प्रभाव था। वे सोरेल और बर्गसां के अन्त प्रेरणा सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। इसके अनुसार मनुष्य बुद्धि से प्रेरित होकर कार्य नही करता। वास्तविकता यह है कि मनुष्य अपने आचरण में मूल प्रवृत्तियों एवं भावनाओं के वशीभूत रहता है न कि विवेक या तर्क से।[6] फासीवाद तर्कसंगत विचारधारा तो थी ही नही। इसको जनप्रिय बनाने का प्रमुख साधन यही था कि मनुष्य की भावनाओं को यश, राष्ट्रवाद आदि से उकसाया जाय जो अन्य अन्धविश्वास की तरह उनका पालन करे। मुसोलिनी तथा हिटलर ने इन्ही मनोवैज्ञानिक पद्धतियों का अनुसरण किया था। वे राष्ट्र एवं जाति के नाम पर ऐसी श्रद्धा एवं विश्वास का सृजन करना चाहते थे जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति कार्य करे। वे सत्य के स्थान पर भ्रान्ति (myth) को प्राथमिकता देते थे। यही कारण है कि फासीवाद तर्क या प्रमाणो से सिद्ध नही किया जा सकता, वह तो केवल इच्छा और विश्वास के कारण ही सत्य है।[7]

परम्परावाद

अविवेकवाद पर आधारित परम्परावाद फासीवाद का मूल प्रेरणा तत्व था। परम्परावाद क्रान्तिकारी विचारधाराओं के विपरीत है। क्रान्तिकारी विचारधाराएं पुरातन एवं परम्परागत व्यवस्था को उखाड कर नई व्यवस्था की स्थापना करती हैं। लेकिन परम्परावादी रुढ़ियों तथा पुरातन तत्वों के समर्थक होते हैं। इटली के प्रसिद्ध परम्परावादी विचारक जॉजफ मत्सीनी का विचार था कि किसी भी राष्ट्र की प्रगति एवं विकास में परम्पराओ का विशेष योगदान रहता है। जिन राष्ट्रों ने अपने समाज की परम्पराओं का पोषण किया है वे बडे राष्ट्र बने हैं।

शासन सत्ता प्राप्त करने, उसे बनाये रखने के लिये फासीवादियों ने परम्परावादी द्रष्टिकोण का ही आश्रय लिया। फासीवादी शासन के समर्थन में मुसोलिनी सदैव प्राचीन परम्पराओं के उदाहरण देता था। वह रोम साम्राज्य के गौरव को जनता के समक्ष रखकर उनकी भावनाओ को शासन के प्रति श्रद्धा में परिवर्तित करता था।

फासीवाद के उत्थान एवं प्रगति में इटली के निम्न मध्य-वर्ग से अत्याधिक समर्थन प्राप्त हुआ। मुसोलिनी स्वयं ही इसी वर्ग से सम्बन्धित था। फासीवादी

6 Lancaster, L. W., Masters of Political Thought, Vol III, p. 267.

7. आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 662.

दल के अधिकतर सदस्य बुचड़, लोहार, डबल रोटी बनाने वाले, छोटे-छोटे दुकानदार एवं पूंजीपति थे। इस वर्ग का श्रमिक वर्ग एवं पूंजीवर्ग दोनों से ही द्वेष रहता है। यह समाजवादी व्यवस्था से डरता है क्योंकि इसके अन्तर्गत उसकी छोटी सी पूंजी का अन्त हो कर, वही उनकी स्थिति श्रमिकों जैसी ही न हो जाय। निम्न मध्यवर्ग पूंजीपतियों की सम्पत्ति और वैभव से भी वैमनस्य रखता है। मुसोलिनी का कार्यक्रम इस मध्यवर्ग की मनोवृत्ति को सन्तुष्टि करना था, उसका कार्यक्रम इसी वर्ग के अनुकूल था। चूंकि मुसोलिनी पूंजीपतियों के एकाधिकार और श्रमिकों की क्रान्ति दोनों का ही विरोधी था इसलिये निम्न मध्यवर्ग ने उसका पूरी तरह साथ दिया। यही वर्ग मुसोलिनी की लोकतान्त्रिक भ्रान्ति की सन्तुष्टि कर फासीवादी व्यवस्था पर लोकप्रिय आवरण डालने में सहायक हुआ।

तत्कालीन परिस्थितियों की उपज: अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति

इटली में फासीवाद तथा बाद में जर्मनी मे नात्सीवाद के उद्भव के तत्कालीन कारण प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त शान्ति सन्धियों में निहित थे। इन्ही शान्ति सन्धियों के प्रावधानों के परिणामस्वरूप यूरोप में अधिनायकवाद का प्रादुर्भाव हुआ और इन्ही शान्ति सन्धियों ने द्वितीय विश्व युद्ध को आमन्त्रण दिया। यद्यपि इटली प्रथम विश्व युद्ध में विजयी राज्य था, जिन आशाओं को लेकर उसने इंग्लैंड, फ्रांस आदि का साथ दिया वे युद्ध के उपरान्त पूरी नही हुई। युद्ध के पूर्व इटली 'त्रिदेशीय सन्धि' (Triple Alliarce, 1882) का सदस्य था। किन्तु अप्रेल 26, 1915, को लन्दन में इग्लैंड, फ्रास, रूस और इटली के मध्य एक गुप्त सन्धि हुई, जिसके अन्तर्गत इटली को धन तथा बहुत सा प्रदेश देने का वचन दिया। युद्ध के उपरान्त इटली को आशा थी कि शान्ति सन्धियों के अन्तर्गत उसे आस्ट्रिया का कुछ भाग तथा अफ्रीका में कुछ उपनिवेश प्राप्त होंगे। उसे प्रमुख भूमध्यसागरीय शक्ति के रूप में स्वीकार कियाजायगा।[8] इग्लैंड तथा फ्रान्स अपने साम्राज्यवादी ध्येयों की ही पूर्ति मे लीन रहे तथा पराजित क्षेत्रों को इन्होने स्वयं ही हड़प लिये। इटली को निराशा के अतिरिक्त और कुछ न मिल सका। भूमध्यसागरीय प्रदेश न तो इटली के प्रभाव क्षेत्र में आ सके और न हो वह राष्ट्रसंघ में कोई प्रभाव अर्जित कर सका। इटली ने युद्ध के उपरान्त सभी व्यवस्थाओं को सदैव अपना अपमान समझा। इस असन्तोष का मुसोलिनी ने अपने लिये सत्ता में लाने के लिये पूर्णतः प्रयोग किया। मुसोलिनी स्वयं ही इस गहरे असन्तोष की भावना का मूर्तरूप था।[9]

---

8. Marriot, J A. R., Modern England, 1885-1945, p. 393
9. आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ. 660.

आन्तरिक परिस्थिति

इटली में लोकतान्त्रिक एवं संसदीय परम्पराओं की जड़ें कभी भी गहराई तक नहीं पहुँच पायी। 1861 से, जबकि इटली के कई राज्य, 'इटली के राज्य' में परिणत हो गये उस समय से अंग्रेजी ढंग की संसदीय पद्धति स्थापित की गयी, किन्तु यह व्यवस्था सफल न हो सकी। इटली में जो छोटे-छोटे राज्य सम्मिलित हुए वे मध्ययुग से ही स्वतन्त्र रहते आये थे, जिनकी राजनीतिक परम्पराएं भिन्न थी, वहां उत्तरदायी शासन प्रणाली की सफलता संदिग्ध ही थी। "राजनीतिक दलों की अधिकता और अस्थिरता, स्थानीयता की परम्पराओं की शक्ति और जनता में निरक्षरता की व्यापकता के कारण वहाँ संसदीय शासन प्रणाली को कार्यान्वित करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।[10]

व्यावहारिक राजनीति में नौकरशाही, निर्वाचन सम्बंधी भ्रष्टाचार, अयोग्य एवं महात्वाकांक्षी नेतृत्व, जनता की राजनीतिक उदासीनता एवं अज्ञानता का लोकतन्त्र की असफलता में मुख्य योगदान था। डिप्रेटिस (Depretis) 1878 से 1887 तक आठ बार प्रधान मंत्री बने। इससे प्रशासनिक अस्थिरता की अभिव्यक्ति तो होती ही है किन्तु शासन सत्ता को ग्रहण करने के लिये डिप्रेटिस ने खुले आम चुनावों में धमकी, रिश्वतखोरी तथा दबाव आदि का प्रयोग किया। क्रिस्पी (Crispi) का शासनकाल स्वेच्छाचारिता, निरंकुशता, श्रमिको का दमन और लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रताओं का अपहरण करने के लिये प्रसिद्ध था। प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व जिओलिटी (Giolitti) जो उदार एवं प्रजातंत्रवादी था, राजनीतिक गतिविधियों में दबाव एवं भ्रष्टाचार से मुक्त नही था। लोकतन्त्र के इस असफल प्रयोग का विकल्प इटली के लोगो को फासीवाद में मिला।

प्रथम विश्व युद्ध के कारण इटली की अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न सी हो चुकी थी। विश्व का वित्तीय नियन्त्रण अन्य विजेता राज्यों के हाथों में पहुँच चुका था। लंदन सन्धि के अन्तर्गत इटली को लगभग पांच करोड़ पौंड का ऋण मिलने को था, वह भी नही मिल सका। युद्ध बन्द होने के उपरान्त सेना तथा अन्य उद्योगों में छटनी की गयी जिससे बेरोजगारी मे काफी वृद्धि हुई। दूसरी ओर श्रमिकों द्वारा हड़तालों से उत्पादन में निरन्तर कमी होती जा रही थी। इटली की जनता बढ़ती हुई कीमतों, आवश्यक वस्तुओं के अभाव से परेशान हो

10. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 487;
E benstein, William, Modern Political Thought, p. 357.

चुकी थी, उसमें असंतोष व्याप्त था। इटली की तत्कालीन लोकतान्त्रिक सरकार इन परिस्थितियो का सामना करने मे असमर्थ सिद्ध हुई। शान्ति एवं व्यवस्था लगभग भंग सी होती चली जा रही थी। 1922 के मध्य इटली में तनाव, असंतोष और गृह-युद्ध जैसी स्थिति थी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और इटली की आतरिक परिस्थिति ने मुसोलिनी को सत्ता प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया।

इसके साथ-साथ मुसोलिनी के व्यक्तित्व मे सैनिकवाद[11], अधिनायकवाद, राष्ट्रवाद, अवसरवाद आदि के तत्व विद्यमान थे ही। वह सम्पूर्ण इटली को एक सूत्र में बाध कर देश में शान्ति, व्यवस्था, अनुशासन, समृद्धि लाकर उसे यूरोप में प्रथम श्रेणी की शक्ति बनाना चाहता था। पहली अगस्त 1922 को फासीवादियो ने समस्त देश में हड़ताल की घोषणा की। यह हड़ताल काफी सफल रही। 28 अक्टूबर 1922 को मुसोलिनी ने अपने अनुयायियों के साथ रोम पर धावा बोलकर शासन पर लगभग अधिकार सा कर लिया। 30 अक्टूबर को इटली के सम्राट ने मुसोलिनी को सरकार बनाने के लिये आमन्त्रित किया। यही से इटली मे फासीवादी अधिनायकवाद का युग प्रारम्भ हुआ।

फासीवादी प्रादुर्भाव की मार्क्सवादी व्याख्या

फासीवादी उत्थान के विषय में मार्क्सवादी व्याख्या भी उल्लेखनीय है।[12] मार्क्सवादियो के अनुसार फासीवाद पूंजीपतियो का षड्यन्त्रमात्र था। प्रथम विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप यूरोप मे भुखमरी, बेरोजगारी, निर्धनता में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। कुछ समय पहिले(1917)रूस मे साम्यवादी क्रान्ति हो चुकी थी। यूरोप का श्रमिक-वर्ग रूसी क्रान्ति से प्रेरणा प्राप्त कर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना करना चाहता था। इस आशय को लेकर इटली में एक समाजवादी दल भी विकसित हुआ। 1919 में साम्यवादियों के नेतृत्व में हड़तालों की शृंखला प्रारम्भ हुई। 1920 में लगभग दो हजार हड़तालें हुईं, जिससे जन-जीवन बड़ा ही अस्त-व्यस्त रहा। इसी वर्ष श्रमिकों ने उद्योगों तथा अन्य

---

11. मुसोलिनी स्वयं ही सैनिक रह चुका था। प्रथम विश्व युद्ध में वह दो वर्ष तक सक्रिय सैनिक था।

12 फासीवादी उत्थान के लिये मार्क्सवादी व्याख्या का विस्तृत विवरण इस पुस्तक में मिलता है—
Bradly, Robert A., The Spirit and Structure of German Fascism, New York, 1937.

आर्थिक प्रतिष्ठानों पर भी अधिकार करना प्रारम्भ कर दिया था। 1920 के अन्त में जब नगरपालिकाओ के चुनाव हुए, उनमें साम्यवादियों को भारी सफलता मिली तथा उन्होने कई नगरो पर अपनी प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना भी करली थी।[13]

मुसोलिनी को समाजवादियों से घृणा थी तथा उसने समाजवादियों का खुलकर विरोध किया। फासीवादी अनुगामियों ने साम्यवादी तथा समाजवादी सभाओं को भंग किया, उनके समाचार-पत्रो के कार्यालयो को जला डाला तथा उनके नेताओ के साथ दुर्व्यवहार किया गया। साम्यवादी तथा समाजवादियों के प्रति फासीवादियों ने आतकवादी मार्ग अपनाया। फासीवाद का नारा था: 'समाजवादी खतरे का अंत करो।' समाजवादी विरोधी नीति ने मुंसोलिनी को पूंजीपति क्षेत्र में बड़ा लोकप्रिय बना दिया।

इटली के पूंजीपतियों को उस समय साम्यवाद का सबसे अधिक भय था। रूस, आस्ट्रिया, हंगेरी आदि के उदाहरणो से प्रोत्साहित हो इटली का श्रमिक-वर्ग पूंजीपतियों के लिये एक खतरा बन गया था। साम्यवादी ज्वर एवं ज्वार का सामना करने के लिये पूंजीवर्ग कोई नई व्यवस्था चाहता था। इटली की लोकतान्त्रिक व्यवस्था साम्यवादी विस्तार का सामना करने में असमर्थ थी। जिस समय यह स्थिति थी उस समय इटली में कोई ऐसा राजनीतिक दल नही था जिसका संसद में बहुमत हो तथा स्थाई सरकार बना सके। रुढ़िवादी दल आपस में ही विभाजित थे। इसलिये इटली के पूंजोपति मुसोलिनो के समाजवाद विरोधी विचारों से बड़े प्रभावित हुए।

पूंजीपतियो के लिये मुसोलिनी से अधिक उपयोगी और कौन हो सकता था, जिसमें समाजवादी आन्दोलन को समाजवादी शब्दावली मे ही काट करने की क्षमता हो। अतः उन्होने लोकतन्त्र का आवरण उतार कर अधिनायकवाद को समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार फासीवाद पूंजीपतियों द्वारा साम्यवादी क्रान्ति को रोकने के लिये एक साधन था। यही कारण था कि इटली और जर्मनी के अधिनायकों ने श्रमिक आन्दोलनों को दबाने तथा साम्यवादी विचारों का दमन करने के लिये जब राज्य की शक्ति का पूरा प्रयोग किया, पूंजीपतियों ने इनका पूरी तरह साथ दिया। इससे फासीवादियों और

13 Charques and Ewen, Profits and Politics in the Post-War World, pp. 88-90.

पूंजीपतियों का सहयोग एवं षड़यंत्र व्यक्त होता है।[14] साम्यवादियों ने फासीवाद को पूंजीवाद के पतन की चरम सीमा कहा है।[15]

फासीवाद को पूंजीवाद का ही षड़यन्त्र मानना भूल होगी। मुसोलिनी का व्यक्तित्व अवसरवादिता पर आधारित था। स्वयं को सत्ता में बनाये रखने के लिये मुसोलिनी सभी वर्गों का समर्थन किसी न किसी प्रकार प्राप्त करता रहता था। उसने श्रमिकों का सहयोग प्राप्त करने के लिये पूंजीवादी विरोधी नारों का भी खूब प्रयोग किया।[16] सम्भवतः उसने पूंजीपतियों और श्रमिकों दोनों की ही कमजोरियों का लाभ उठाया। फिर भी यह सत्य है कि पूंजीपतियों ने फासीदल को खूब चन्दे दिये, समर्थन दिया और साम्यवादी खतरे को सदैव ही दूर रखा।

फासीवादी विचारधारा

फासीवाद लगभग इक्कीस वर्ष तक इटली की राजकीय विचारधारा रहकर भी कोई निश्चित एवं तर्कसंगत दर्शन नहीं बन सका। रोम पर धावा बोलने के पहले फासिस्टों के पास सिद्धान्तों में उलझने का समय ही नहीं था। इसके अलावा फासीवादियों का सिद्धान्तों में बंधकर रहने में भी कोई विश्वास नहीं था। अपने एक लेख[17] में मुसोलिनी ने इस पक्ष को कई स्थलों पर स्पष्ट किया है। मुसोलिनी ने लिखा है कि "औपचारिक सिद्धान्त लोहे तथा टीन की बेड़ियां हैं। फासिस्ट इटली की राजनीति के जिप्सी हैं। वे किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों से बंधे नहीं।" 'हम विवाद और सिद्धान्त के बादलों से निकलना चाहते हैं। मेरा कार्यक्रम कार्य है, बातें नहीं।" इसके आगे मुसोलिनी ने लिखा है.—

> "हमारा कार्यक्रम सरल है। हम इटली पर शासन करना चाहते हैं। वे हमसे कार्यक्रम पूछते हैं, किन्तु पहले से ही बहुत से कार्यक्रम हैं। वास्तव में इटली की मुक्ति के लिए कार्यक्रमों की कमी नहीं। *आवश्यकता है मनुष्यों की तथा इच्छाशक्ति की।*"[18]

इसी तथ्य को प्रसिद्ध फासीवादी विचारक एलफ्रेडो रोको (Alfredo Rocco) ने व्यक्त करते हुए लिखा है:—

---

14 Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p 592.
15 Ebenstein, W ; Modern Political Thought, p 359.
16. Ebenstein, W , Modern Political Thought, p 357.
17 The Political and Social Doctrine of Fascism, 1935.
18. Ibid.

"यह सत्य है कि फासीवाद मुख्यकर कार्य तथा भावना है और उसे ऐसा ही बना रहना चाहिए। यदि इसके विपरीत बात हुई, तो वह अपनी उस प्रेरक शक्ति को, उस नवीकरण की शक्ति को स्थिर नहीं रख सकता जो उसमें इस समय है, और उस समय वह कुछ चुने हुए व्यक्तियों की मनन की ही चीज़ रह जायेगा।"[19]

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि फासीवादी दर्शन कार्य-साधक रहा है। किये हुए कार्यों का औचित्य सिद्ध करना, आने वाली परिस्थितियों का सामना करना और आवश्यकता पड़ने पर समय-समय पर विचारों में परिवर्तन करना, फासीवाद की प्रमुख नीति थी। फासीवाद में कार्य को प्राथमिकता होने के कारण सिद्धान्तों का निर्णय एवं निर्माण कार्य द्वारा ही हुआ। उन्होंने पहले कार्य किया तथा बाद में उस कार्य को सही बतलाने के लिए विचार व्यक्त किये। जब मुसोलिनी की स्थिति सुदृढ़ हो गयी तो उसने मनमाने ढंग से कार्य किये। उन्हें उचित ठहराने तथा सैद्धान्तिक बनाने में उसने फासीवादी दर्शन की रचना कर डाली। वास्तव में फासीवादी विचारधारा तदर्थ (Adhoc) विचारों का संकलन था। सेबाइन ने लिखा है कि फासीवाद विभिन्न स्रोतों से *लिये गये उन विचारों का योग है जो परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार* एकत्रित किए गए हैं।[20]

यह कहना कि फासीवाद का कोई विचार-दर्शन नहीं था; फासीवाद के जो भी विचार सूत्र थे वे तर्कहीन, असंगत तथा तदर्थ थे, इसमें सत्यता तो है लेकिन पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता। यद्यपि फासिस्ट राज्य की स्थापना किसी पूर्व प्रचलित विचारधारा पर नहीं की गयी, लेकिन जैसे ही इटली में फासिस्ट व्यवस्था की स्थापना हुई, फासीवाद को एक क्रमबद्ध या दार्शनिक रूप देने का प्रयत्न किया गया। मुसोलिनी तथा अन्य सहायकों ने फासीवाद के विषय में समय-समय पर विस्तारपूर्वक विचार व्यक्त किये हैं, जिनका प्रकाशन दिन प्रतिदिन की पुस्तिकाओं—The Political and Social Doctrine of Fascism--Day to day Pamphlet—में होता रहता था। लगभग दस वर्ष के पश्चात मुसोलिनी को फासीवादी विचारधारा के विषय में चिन्तन करने का समय मिला। 1932 में मुसोलिनी ने—The Doctrine of Fascism (फासीवाद के सिद्धान्त) नामक निबन्ध लिखा जिसका प्रकाशन एनसाइक्लो-

19 Alfredo Rocco, The Political Doctrine of Fascism, 1926, p 10
20 Sabine, A History of Political Theory, p. 710.

पीडिया इटेलिआना (En yclopaedia Itallana) में हुआ।[21] यह फासीवाद का प्रारम्भिक अधिकृत अभिकथन है। इसमें मुसोलिनी ने फासीवाद के दार्शनिक नैतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, व्यावहारिक, वैयक्तिक, सामूहिक, राजनीतिक आदि पक्षों की स्पष्ट व्याख्या की है।

मुसोलिनी के अतिरिक्त कुछ अन्य फेसिस्ट सिद्धान्तवादियों के नाम प्रसिद्ध एवं उल्लेखनीय हैं। एल्फ्रेडो रोको (Elfredo Rocco) जो पहले पाडुआ के विश्वविद्यालय में व्यावसायिक कानून का प्रोफेसर और फेसिज्म के उदय के पूर्व उत्साही राष्ट्रवादी था, सन् 1925 से 1932 तक न्यायमंत्री रहा और इटली के फेसिस्ट शासन के अत्यन्त महत्वपूर्ण कानूनों का निर्माता था; जियोवेनी जेण्टाइल (Giovanni Gentile) जो इटली का प्रसिद्ध हेगलवादी दार्शनिक था और 1922 के बाद ही फेसिस्ट बना, सन् 1922 से 1924 तक शिक्षामंत्री रहा और इटली की शिक्षा प्रणाली में मौलिक सुधार किये; एनरिको-कोराडिनी (Enrico Corradini) जो फेसिज्म के एक दशाब्दी पूर्व सीनेटर तथा राष्ट्रीयता का प्रचारक था, लूगी फेडरजोनी (Luigi Faderzoni) जो राष्ट्रवादी दल का एक संस्थापक, प्रथम फेसिस्ट केबिनेट में उपनिवेश मन्त्री, बाद में गृहमन्त्री और उपनिवेश मन्त्री तथा सन् 1929 से सीनेट का अध्यक्ष था; मौरिजियो मारविगलिया (Mourizio Maraviglia) जो पहले फेसिस्ट प्रचार-कार्यालय का प्रमुख था। रॉबर्टो फोर्जेस-देवान्जति (Roberto Forges-Davanzati) नामक राष्ट्रीय(बाद में फासिस्ट)समाचार पत्र भी फासीवादी विचारधारा का एक प्रमुख मुखपत्र समझा जाता था।[22]

फासीवादी राज्य

राष्ट्र की कल्पना या भ्रान्ति (myth of nation)

फासिस्ट विचारधारा संकुचित एवं उग्र राष्ट्रवाद पर आधारित है। राष्ट्र व्यक्तियों का एक ऐसा अनुरूप समूह है जो सामान्य भाषा, प्रथा, परम्पराओं तथा धर्म से बंधा हुआ है। राष्ट्र को गौरवान्वित करना उनका धर्म है। फासीवादियों के अनुसार राष्ट्र स्वयं का एक व्यक्तित्व, एक इच्छा तथा उद्देश्य होता है। राष्ट्र अपने में एक आत्मनिर्भर इकाई है, जिसका जीवन स्थिर तथा स्थाई होता है। राष्ट्र समस्त सामाजिक जीवन का उद्देश्य है। व्यक्तियों का महत्व केवल राष्ट्रीय प्रसंग में है, उससे पृथक होकर नहीं। व्यक्तियों का कर्तव्य राष्ट्र की सेवा करना

---

21. This essay has been reproduced in Through Fascism to World Power by Ion Munro, Part II. Chapter 1.
22. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 302.

राज्य का अधिनायकवादी स्वरूप

फासिस्टवाद अधिनायकवादी राज्य को प्रेरणा देता है। वे व्यक्तिवादी धारणा कि राज्य एक आवश्यक बुराई है, का पूर्ण खन्डन करते हैं। वे साम्यवाद अराजकतावाद और सिन्डीकलवाद की भाँति राज्य के अंत करने का विचार स्वीकार नही करते। इसके विपरीत फासीवादी राज्य हीगल के दर्शन पर आधारित है। तदानुसार राज्य एक नैतिक तथा धार्मिक विचार है जो समाज को आध्यात्मिक चेतना की प्राप्ति कराता है। फासीवादी-धर्म राज्य को ईश्वर तुल्य मानने की प्रेरणा देता है, जिसके अंतर्गत राज्य को अंध-विश्वास की तरह स्वीकार करना चाहिए।

फासीवादी राज्य सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्यापी है। उसे सब क्षेत्रों तथा गतिविधियों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार है; वह जीवन के प्रत्येक पहलू में हस्तक्षेप कर सकता है। मुसोलिनी के शब्दों मे "सब राज्य के अंतर्गत हैं, राज्य के बाहर कुछ भी नही तथा कोई भी राज्य का विरोध नही कर सकता।"[26]

राज्य तथा व्यक्ति

फासीवादी राज्य में व्यक्ति की पूर्ण उपेक्षा की गयी है। इस विचारधारा मे व्यक्ति राज्य या समाज मे पूर्णरूप से विलीन हो जाता है। इस सन्दर्भ मे उनकी निम्नलिखित दो महत्वपूर्ण मान्यताएं हैं—

प्रथम, फासीवादी राज्य व्यक्तिवादी आणविक सिद्धान्त का खन्डन कर सावयविक स्वरूप (Organic nature) को स्वीकार करते हैं। व्यक्तियों का राज्य में वही स्थान होता है जो शरीर मे अंगों का। राज्य के बिना व्यक्ति अपना अस्तित्व नही रख सकते। राज्य मे पृथक व्यक्तियों का कोई आध्यात्मिक और नैतिक जीवन नही हो सकता। राज्य एक अनिवार्य प्राकृतिक संस्था है।

द्वितीय, फासीवादी राज्य स्वयं में साध्य है तथा व्यक्ति साधन। राज्य का प्रमुख उद्देश्य अपनी शक्ति तथा सम्मान मे वृद्धि करना है, इसकी प्राप्ति के लिये व्यक्ति का बलिदान किया जा सकता है। राज्य तथा व्यक्ति के सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए मुसोलिनी ने कहा था:—

---

26. पूर्व सन्दर्भ।

"राज्य मनुष्य के ऐतिहासिक अस्तित्व की सार्वभौम इच्छा और अंतः करण है। उदारवाद ने विशिष्ट व्यक्ति के स्वार्थों के लिये राज्य को अंगीकार किया, किन्तु फासीवाद राज्य को ही व्यक्ति की सच्ची वास्तविकता मानता है। अतः फासीवाद के लिये सब कुछ राज्य के अन्तर्गत ही है; राज्य के बाहर किसी मानवीय अथवा आध्यात्मिक तत्व का अस्तित्व नही हो सकता, मूल्य का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसी अर्थ में फासीवाद समग्रवादी है और फासीवादी राज्य सब मूल्यो और मान्यताओ की एकता है, वह जनता के सम्पूर्ण जीवन का निर्वचन, उसका विकास करता और उसे शक्ति देता है।"[27]

फासीवादी लोग राज्य को केवल वर्तमान से ही नहीं, अतीत और भविष्य से भी बंधा हुआ एवं सम्बन्धित मानते है। राज्य सदियो से भाषा, विश्वास, रीति-रिवाजो के विकास का परिणाम है, जिसकी तुलना में मनुष्य का अल्प जीवन कुछ भी नही होता। राज्य को व्यक्ति की सीमाओ से किसी भी प्रकार नही बाधा जा सकता। राज्य व्यक्तियों और पीढ़ियो को एक परम्परा और उद्देश्य सूत्र में बांधता है। इससे व्यक्ति जीवन को विस्तार मिलता है।

उपरोक्त धारणाओं से स्पष्ट है कि फासीवादी राज्य में स्वतन्त्रता का कोई स्थान नही है। राज्य के विरुद्ध व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई महत्व नही। व्यक्ति राज्य में विलीन होकर ही अपना विकास तथा स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। स्वतन्त्रता क्या है, स्वतन्त्रता किन-किन बातों में निहित है, कौन-कौन सी स्वतन्त्रताएं व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिए, इसका निर्णायक राज्य है, न कि व्यक्ति। कानून और स्वतन्त्रता की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति राज्य है,राज्य की अधिकतम शक्ति ही व्यक्ति की अधिकतम स्वतन्त्रता है। राज्य में व्यक्ति का निषेध नही बल्कि स्वयं कई गुना हो जाता है। प्रसिद्ध फासिस्ट विचारक अल्फ्रेड रोको (Alfred Rocco) ने राज्य तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विषय में इस प्रकार व्याख्या की है:—

"फासीवादियों को व्यक्तियो के अधिकारों का घोषणा-पत्र स्वीकार नहीं है जो व्यक्ति को राज्य से श्रेष्ठतर बना देता है और उसे समाज के विरुद्ध कार्य करने का अधिकार प्रदान करता है। हमारा स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार यह है कि व्यक्ति राज्य की ओर से अपना विकास करे"

27. उद्धृत, गेटल, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ. 444.

इन सिद्धान्तो पर आधारित इटली तथा जर्मनी के फासीवादी राज्य अधिनायकवादी थे, जहाँ राज्य के कार्य-क्षेत्र की कोई सीमाएँ नही थी, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे राज्य का हस्तक्षेप था। सामाजिक जीवन, सास्कृतिक गतिविधियां जैसे शिक्षा, सगीत, विज्ञान, चित्रकला, फैशन आदि सब पर शासन का नियन्त्रण था। प्रेस राज्य के हाथो कठपुतली था। नये विचारो के प्रतिपादको के लिये कारागार के कपाट सदैव खुले रहते थे।

फासिस्ट दल

यदि राज्य राष्ट्र की भावना व्यक्त करता है, तो राज्य व्यवस्था का मुख्य दायित्व फासीवादी दल पर रहता है। दल फासीवादी शासन व्यवस्था का आधार निर्देशन केन्द्र था। फासिस्ट प्रणाली 'एक दलीय राज्य' (Monoparty State) पर आधारित रहती है। दल तथा राज्य के संगठन प्राय: समान थे। या,दल तथा राज्य के कार्यों मे कोई अन्तर स्थापित करना असम्भव था।[28]

मुसोलिनी और हिटलर दोनों ही पार्टी के संगठन, एकता, अनुशासन मे विश्वास रखते थे। इटली में फासिस्ट दल के सदस्यों की संख्या बड़ी सीमित थी, सदस्यो की भर्ती बड़ी सावधानो और सतर्कतापूर्वक की जाती थी। उन्हे व्यापक प्रशिक्षण तथा कठोर अनुशासन से होकर निकलना पड़ता था। लेकिन जो भी व्यक्ति दल के सदस्य होते थे, समाज मे उनकी प्रतिष्ठा थी तथा उनका महत्त्व एवं प्रभाव उच्च प्रशासनिक अधिकारियो से भी अधिक रहता था।

एक-दलीय व्यवस्था होने के कारण फासिस्ट दल ही सत्ताधारी दल था। इसमें विरोधी दलों के अस्तित्व को स्वीकार नही किया जाता। फासीदल के विरोध का तात्पर्य राज्य का विरोध करना था। कोई भी दल या सरकार का विरोध नही कर सकता था। 1926 में इटली में समस्त राजनीतिक दलों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। इटली को संसद के एक प्रसिद्ध सदस्य मटिओटी (Matteoti) की विरोधी होने के नाते रहस्यमयी ढंग से हत्या कर दी गई। उनका अपराध केवल यह था कि संसद में उन्होने अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त किये। इसी प्रकार काउन्ट बाल्बो (Count Balbo) के जीवन का अन्त अफीका में बड़ी ही संदिग्ध परिस्थितियो मे हुआ। इन सब में फासिस्टो का हाथ बतलाया जाता है।[29]

---

28. Laski, H. J., Reflections on the Revolution of our Time, p 86
29. आशीर्वादम्; राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 663.

चूंकि फासिस्ट दल सीमित तथा विशिष्ट योग्यता वाले सदस्यों का ही समुदाय होता है जिनका कोई विरोध नही कर सकता, शासन की वास्तविक बागडोर इसी विशिष्ट वर्ग के हाथों में आ जाती है। यह शासन जनता का न होकर एक कुलीनतन्त्रीय जैसा हो जाता है।

नेतृत्व

फासीवादी दल की नीतियों के निर्धारण एवं कार्यान्वित करने में नेतृत्व का सबसे प्रमुख स्थान रहता है। फासीवादियों की यह धारणा थी कि साधारण जनता न तो राजनीति मे रूचि रखती है और न ही सामान्य व्यक्तियो में, जिनका समाज में भारी बहुमत होता है, स्व-शासन की कोई क्षमता होती है। व्यक्ति अच्छी जीविका प्राप्त करने मे ही अपनी पूर्ण सन्तुष्टि समझता है। यह तभी सम्भव होता है यदि जनता को ऐसा योग्य नेता मिल जाय जो राष्ट्र की आत्मा और व्यक्ति की भावना को अच्छी तरह समझ सके। ऐसे नेतृत्व द्वारा ही जनता की इच्छा व्यक्त होती है। वह जनता की सामूहिक इच्छा का मूर्तरूप होता है।

इन धारणाओं को मानकर तथा इटली की तत्कालीन स्थिति का पूर्ण अध्ययन कर मुसोलिनी ने इटली की जनता के समक्ष स्वयं को एक नेता के रूप मे प्रस्तुत किया। लगभग यही स्थिति हिटलर की थी। इन्होने अपने नेतृत्व को इतना व्यापक एवं सबल बनाया की ये तानाशाह बन बैठे।

फासीवादी नेतृत्व को मूलत. निम्नलिखित विशेषताऐं होती हैं:—

(i) फासीवादी नेतृत्व अधिनायकवादी होता है।

(ii) फासीवादी नेता दल एवं सरकार दोनों का ही प्रमुख होता है।

(iii) यह नेतृत्व व्यक्ति-स्तुति (Hero Worship) को प्रोत्साहित करता है, आदि।

फासीवाद तथा राष्ट्रीय समाजवाद पर आधारित इटली तथा जर्मनी की शासन व्यवस्थाएं सर्वसत्ताधारी अधिनायकवादी थी। सर्वाधिकारवादी शासन व्यवस्था में राष्ट्रीय शक्ति में अभिवृद्धि करने हेतु व्यक्ति और उनके समूह के प्रत्येक कार्य एवं हित को नियन्त्रित किया जाता है। प्रत्येक आर्थिक, नैतिक और सास्कृतिक पक्ष को राष्ट्रीय शक्ति का श्रोत माना जाता है, जिसका उपयोग शासन द्वारा होना चाहिये। बिना आज्ञा के राजनीतिक दल श्रम सगठन तथा व्यवसायिक संगठनों का निर्माण नही हो सकता था। वस्तुओं का निर्माण, व्यापार तथा सम्बन्धित कार्य नियन्त्रणहीन नहीं छोड़े जा सकते। प्रकाशन

तथा सभाएं शासन के मार्गदर्शन के बिना आयोजित नहीं की जा सकती थीं। शिक्षा, धर्म आदि राज्य के हित में वृद्धि के साधन समझे जाते थे। विश्राम एवं मनोरंजन के क्षणों का प्रयोग प्रसार या प्रोपेगेन्डा के लिये किया जाता था। व्यक्ति के गोपनीय पारिवारिक जीवन के लिये समुचित वातावरण का पूर्ण अभाव था। सब पर शासन की वक्र दृष्टि रहती थी।[30]

सर्वाधिकारवादी शासन सैद्धान्तिक रूप में अधिनायकवादी या तानाशाही व्यवस्था होती है। इटली तथा जर्मनी में मुसोलिनी और हिटलर जैसे तानाशाहों का शासन था। इन अधिनायकों ने शासन का केन्द्रीकरण कर संघीय एवं स्थानीय स्व-शासन संस्थाओं की समाप्ति कर दी। उदार राजनीतिक संस्थाओं तथा न्यायपालिका को स्वतन्त्रता जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। इटली में अधिनायकतन्त्र की स्थापना बड़ी ही शीघ्रतापूर्वक की गई। 1923 से 1928 तक कानूनों एवं आदेशों द्वारा पूर्ण केन्द्रीकरण और निरंकुशता की स्थापना हो गई। जनवरी 1925 में मुसोलिनी ने खुले रूप में वैधानिक प्रणाली का अन्त कर दिया और अगले कुछ ही वर्षों मे उसने स्वयं कानून का निर्देशन करके, फासिस्ट नीतियों को कानूनी रूप दिया। 1926 में मन्त्रिमन्डल का संसद के प्रति उत्तरदायित्व भी समाप्त कर दिया। इसी वर्ष नवम्बर में समस्त विरोधी दलों को भंग कर दिया गया। वैधानिक लोकतन्त्र की संस्थाओं पर अन्तिम प्रहार 1928 के कानूनों द्वारा किया गया। इन कानूनों के अनुसार प्रतिनिधि सभा का अन्त कर, उसके स्थान एक 'कॉरपोरेटिव संसद' (Corporative Parliament) की स्थापना की गई।[31] जर्मनी में भी हिटलर ने लोकतान्त्रिक संस्थाओं को समाप्त कर दिया।

कॉरपोरेट अथवा निगमित राज्य
The Corporate State

फासीवादी अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में मध्य-मार्ग का अनुसरण करते हैं। वे न तो व्यक्तिवादी नियन्त्रणहीन अर्थ-व्यवस्था का और न समाजवादियों की भांति राष्ट्रीयकरण नीति का समर्थन करते हैं। उनकी अर्थ व्यवस्था राष्ट्रीय हित में पूंजीवाद और समाजवाद दोनों का समिश्रण थी। इसका तात्पर्य था कि राष्ट्रीय महत्व के उद्योग सरकार द्वारा संचालित हों तथा शेष उद्योगों को

30. Sabine, G. H., A History of Political Theory, pp. 745-46
31. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 495-97

व्यक्तिगत, क्षेत्र में छोड़ देना चाहिये। लेकिन निजी क्षेत्र में भी उद्योगों के ऊपर राज्य का नियन्त्रण आवश्यक था। इस प्रकार फासीवादी अर्थ-व्यवस्था के नियन्त्रण और नियमन के पक्ष मे थे।

कारपोरेट प्रणाली आर्थिक क्षेत्र मे फासिस्ट सिद्धान्तों का व्यवहारिक रूप था। इसके अंतर्गत प्रत्येक व्यापार या व्यवसाय को राज्य द्वारा नियन्त्रित एकाधिकार संगठनों में विभाजित किया जाता था, जिन्हें कोरपोरेशन (निगम) कहते थे। राज्य में इस प्रकार के कई कोरपोरेशन थे, इसलिये फासिस्ट राज्य को कोरपोरेट राज्य भी कहते थे। फासीवादी राज्य को निगमित राज्य (Corporate State) इसलिये भी कहा जाता था क्योंकि फासीवादी लोग राज्य को व्यक्तियों का समुदाय नही मानते। राज्य को इकाई व्यक्ति नही है, राज्य व्यवसायिक संघों का समूह होता है। फासिस्ट इटली में इस प्रकार के कई व्यवसायिक संगठन थे जो राज्य को प्रत्येक गतिविधियो को प्रमुख इकाई थे।

फासीवादियों का उद्देश्य राज्य को सबल बनाना तथा एकता स्थापित करना था। इसके लिए राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि तथा सार्वजनिक कल्याण की सिद्धि आवश्यक थे। यह तभी सम्भव था जब मालिक, श्रमिक और उपभोक्ताओ के हितों का समन्वय हो क्योंकि इन तीनो के हित एक दूसरे से बंधे हुए है। इनके सहयोग मे राष्ट्र की शक्ति एव स्मृद्धि निहित थी। राज्य के अधीन निगम ऐसे श्रोत थे जिनके माध्यम से राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति तथा विशेष उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।

इन हितों का सामन्जस्य पूंजीवादी व्यवस्था से सम्भव नहीं था क्योंकि इसके अन्तर्गत श्रमिक और मालिक दो विरोधी दलों में संगठित रहते हैं। दूसरी ओर समाजवादी व्यवस्था वर्ग-संघर्ष को प्रोत्साहित करती है। फासीवादियों के अनुसार समाज में केवल दो ही वर्ग नहीं है, कई वर्ग होते हैं और जहां तक राष्ट्र हित में सम्भव हो सके इन सब हितों को सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में मुनरो (W. B. Munro) ने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि कॉरपोरेट प्रणाली पूंजीवादी व्यवस्था और व्यक्तिगत सम्पत्ति संस्था को बनाये रखते हुए निगमों की स्थापना करने का कार्यक्रम था, जो मालिक और श्रमिक को निकट लाकर राष्ट्रीय एकता और उत्पादन में वृद्धि करे।[32] निगम व्यवस्था के अन्तर्गत, जैसा कि मुसोलिनी ने कहा, राज्य की एकता को ध्यान में रखते हुए सब हितों का समन्वय किया गया। यह पूंजीवाद, समाजवाद के कुछ तत्वों तथा

32. Munro, W. B., The Government of Europe, p. 685.

श्रमिक, मालिक और उपभोक्ताओं के स्वार्थों को सामंजस्य करने का प्रयत्न था। फासिस्ट इस व्यवस्था को पूंजीवादी-उदारवाद तथा समाजवाद दोनों से ही श्रेष्ठतर मानते थे।[33]

कारपोरेशन व्यवस्था

(1) इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यवसाय एवं उद्योग में कच्चे माल से लेकर निर्मित वस्तु तक का सारा काम एक निगम के अन्तर्गत होता है। फासिस्ट इटली में प्रत्येक जिले में स्थानीय श्रमिकों और मालिकों के पृथक-पृथक संघ हुआ करते थे। स्थानीय संघों को मिलाकर प्रान्तीय संघों का निर्माण होता था। प्रान्तीय संघों के ऊपर राष्ट्रीय निगम होते थे। राष्ट्रीय निगमों की संख्या 1925 में सम्भवतः 22 थी। प्रत्येक निगम की एक परिषद हुआ करती थी जिसमें श्रमिक और मालिकों के प्रतिनिधि बैठते थे। ये प्रतिनिधि सामान्यतः फासिस्ट दल के सदस्य या समर्थक ही होते थे। इन 22 निगम परिषदों के ऊपर एक राष्ट्रीय निगम-परिषद था। राष्ट्रीय निगम परिषद की केन्द्रीय समिति में विभिन्न निगमों के प्रतिनिधि, फासिस्ट दल का सचिव तथा राज्य के सभी मंत्री सम्मिलित हुआ करते थे। सरकार के निगम-मन्त्रालय (Ministry of Corporations का अध्यक्ष स्वयं मुसोलिनी था। इस प्रकार इटली की आर्थिक व्यवस्था इन निगमों के अन्तर्गत था, जिसमें फासिस्ट दल का सर्वत्र प्रभाव था।

निगमों की शक्तियां व्यापक थी। ये श्रमिक विवादों का निबटारा, सामूहिक श्रमिक अनुबन्ध, उत्पादन में वृद्धि, वेतन, कार्य के घण्टे, वस्तुओं के मूल्य, आयात-निर्यात आदि प्रश्नों का निर्णय करते थे। लेकिन ये कार्य परामर्श देने तक ही सीमित थे। वास्तविक कार्य सरकार के ही नियन्त्रण में होता था। राज्य तथा फासिस्ट दल इन विवादों में निर्णायक का कार्य करता था।

इसके साथ-साथ इटली की प्रतिनिधि प्रणाली पर भी इनका प्रभाव था। फासिस्ट काल में इटली की प्रतिनिधि सभा (Chamber of Deputies) का प्रतिनिधित्व इन्हीं निगमों द्वारा किया जाता था।

समीक्षा

कारपोरेट प्रणाली मुसोलिनी के वर्णसंकरीय विचारों का प्रतिफल था। यह धारणा मध्यकालीन गिल्ड व्यवस्था तथा आधुनिक सिन्डीकलवाद का मिश्रण थी। सिन्डीकलवाद पहिले से ही इटली में प्रभावशाली था तथा इसके प्रमुख समर्थक जार्ज सोरेल (George Sorel) का मुसोलिनी पर विशेष

33. Munro, Ion S, Through Fascism to World Power, pp. 306–07.

प्रभाव था। गिल्ड समाजवादी राज्य को समुदायों का समुदाय ही मानते हैं। ये सभी विचारधारायें बहुलवादी (Pluralist) हैं जो सामाजिक संगठन मे में समुदायो की महत्ता पर जोर देती हैं। लेकिन कारपोरेट प्रणाली, सिन्डीकल-वाद तथा गिल्ड व्यवस्था को एक समझना भ्रम होगा। इनमें मूलभूत भिन्नता थी। सिन्डीकलवादी एवं गिल्ड समाजवादी व्यावसायिक समुदायों की स्वायत्तता के प्रबल समर्थक हैं और इस आधार पर राज्य के सर्वशक्तिशाली और सर्व-व्यापकता को स्वीकार नही करते। फासीवादी निगम प्रणाली के अन्तर्गत केवल सैद्धान्तिक स्वायत्तता ही थी। इन पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण था। ये राज्य की सर्वोच्चता के अन्तर्गत ही कार्य कर सकते थे। इनका संगठन राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया गया था। इस प्रकार कारपोरेट व्यवस्था एक साधन मात्र ही थी।

कारपोरेट प्रणाली स्वायत्तता सिद्धान्त पर आधारित रहती है। निगमों की स्थापना राष्ट्रीय हित मे राज्य के द्वारा की जाती है, कानून के अन्तर्गत उन्हे अधिकार दिये जाते हैं। निगमों की स्थापना के बाद इन्हे अधिकारो की सीमा के अन्तर्गत पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त होती है। इन्हे अपने कार्यों और सदस्यों के प्रति सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त होते हैं। अन्य शब्दों में राज्य के अन्तर्गत सार्वजनिक कल्याण को ध्यान मे रखते हुए इन्हे स्वशासन का अधिकार प्राप्त होता है। किन्तु फासीवादी निगम व्यवस्था इसमे भिन्न थी। ये निगम पूरी तरह राज्य पर आश्रित थे। इनका सारा संगठन फासिस्ट दल पर निर्भर करता था। इससे इनकी स्वायत्तता का प्रश्न ही नही उठता था। ये सरकारी विभाग की ही तरह कार्य करते थे। इन्हे किसी भी प्रकार की पहल तथा जोखिम उठाने का अधिकार नही था।

सैद्धान्तिक रूप में कारपोरेट प्रणाली उचित प्रतीत होती है। इसमें पूंजीवादी, समाजवादी तत्वों का समिश्रण कर श्रमिक, मालिक और उपभोक्ताओं के हितों का संरक्षण किया गया। लेकिन व्यवहार में यह बात सम्भव नहीं हो सकी। फासीवादी अधिनायकत्व, जिसकी स्वयं की कुछ मूल मान्यताएं थी, के अन्तर्गत कारपोरेट व्यवस्था सफल नही हो सकती थी।

कॉरपोरेट प्रणाली मे यह दावा किया गया कि यह श्रमिक वर्ग के हितों का समुचित एवं समान ध्यान रखेगा। इसीलिये निगमों मे श्रमिको और

मालिको को समान प्रतिनिधित्व दिया गया। लेकिन यह मानना भूल होगी कि समान प्रतिनिधत्व का अर्थ समान अधिकार या सरकार तक समान पहुँच थी। यहाँ पर मालिकों की तुलना में श्रमिक पीछे रह जाते थे और उनके हितों का संरक्षण पूरी तरह नही हो सकता था। अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिये समस्त श्रमिक-साधन जैसे हड़ताल, तालाबन्दी पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया गया था तथा इसका उल्लंघन करने पर कड़ी दण्ड व्यवस्था थी। श्रमिक न्यायालय श्रमिको के मामलो में हस्तक्षेप कर सकते थे। श्रम-मालिक विवादो में राष्ट्रीय हित को ध्यान मे रखते हुए, इन न्यायालयों के निर्णय श्रमिकों के विरुद्ध ही जाते थे।[34]

कारपोरेट राज्य की एक त्रुटि यह थी कि इसका संगठन युद्ध की तैयारी के लिये किया गया था। इनका निर्माण शान्तिकालीन अर्थ व्यवस्था के लिये नही था। सम्पूर्ण योजना का उद्देश्य साम्राज्यवादी विस्तार और युद्ध था। निगमों का सम्पूर्ण संगठन सैनिक सिद्धान्त और अनुशासन पर आधारित था। इसलिये इनका जो समुचित एवं शनैः शनैः विकास होना चाहिये था, वह नही हो पाया।

इतना सब होते हुए भी द्वितीय विश्व युद्ध के समय इटली की कॉरपोरेशन प्रणाली युद्ध की चुनौती का सामना नहीं कर सकी। इटली उतना सैनिक मोर्चे पर असफल नही हुआ, जितना कि आर्थिक मोर्चे पर। निगमित व्यवस्था की निर्बलता इससे और स्पष्ट होती है कि मुसोलिनी के पतन के उपरान्त यह प्रणाली इटली से समाप्त हो गई। इस प्रणाली मे स्थायित्व के तत्व नही थे।

इटली में कॉरपोरेट राज्य की उपलब्धियां:

आर्थिक प्रगति

यद्यपि कॉरपारेट राज्य का समर्थन नही किया जा सकता, इटली में कॉर-पोरेट प्रणाली की कुछ ऐसी उपलब्धियाँ थी जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इसके अंतर्गत सुनियोजित अर्थ व्यवस्था पर बल दिया गया। निगमों की स्थापना के कारण उत्पादन में अवश्य ही वृद्धि हुई, जिसके परिणामस्वरूप इटली एक शक्तिशाली राज्य के रूप में माना जाने लगा।

निगम व्यवस्था के अन्तर्गत बहुत सी आर्थिक बुराइयों का उन्मूलन कर दिया गया। सट्टेबाजी और अधिक लाभ पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। सरकारी

34. आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 667-68.

आदेशों द्वारा (1930 तथा 1933 में) वस्तुओं के मूल्यों को कम कर दिया गया जिससे उपभोक्ता वर्ग को बहुत राहत मिली।

श्रमिक मेग्ना कार्टा

निगम प्रणाली द्वारा मालिको को अधिक संरक्षण प्राप्त था, लेकिन इस व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिको की दशा में भी सुधार हुआ। श्रमिको के लिये अधिकार-पत्र की घोषणा कर उन्हे कुछ अधिकार दिये गये। इन अधिकारों में सवेतन अवकाश, चिकित्सा सहायता, बुढ़ापे और मृत्यु सम्बन्धी बीमा अधिकार तथा अन्य सहायताएं प्रमुख थी। जोड़ ने इन अधिकारों को 'श्रमिकों का अधिकार पत्र' (*Magna Carta of Labour*) कहा है।[35]

औद्योगिक शान्ति

इटली के कॉरपोरेट राज्य में उन सभी तत्वों का उन्मूलन करने का प्रयत्न किया गया जो मालिक और श्रमिको के बीच तनाव उत्पन्न करते तथा औद्योगिक प्रगति में बाधक थे। विभिन्न निगमों में मालिक और श्रमिको के हितों का प्रतिनिधित्व, उनके विवादो को सुलझाने के लिये विशेष न्यायालयों की व्यवस्था तथा इन सबो पर राज्य का प्रतिबन्ध ऐसा था कि इटली में न तो अधिक मुनाफा के लिये गुंजाइश थी, और न हड़तालो आदि को प्रोत्साहन। फासिस्ट इटली में सर्वत्र औद्योगिक शान्ति थी जिससे एकता तथा आर्थिक प्रगति मे अत्याधिक सहायता मिली।

रेवरेन्ड पी. कार्टी तथा डा. आशीर्वादम का मत है कि यद्यपि निगमित राज्य की धारणा द्वारा नही, पर निगमित समाज की धारणा मे अवश्य ही आधुनिक राज्य के पुनर्गठन का आधार मिल सकता है। इस समय ऐसे निगमित समाज को आवश्यकता है जिसका संगठन शान्ति के लिये हो, जिसका निर्माण राज्यो द्वारा न होकर व्यक्तियां द्वारा हो तथा जहाँ समाज का सार्वजनिक कल्याण, राज्य और व्यक्तियां के अधिकार आदि का समुचित सम्मान और विकास हो।[36]

फासिस्टवादियो का दावा था कि कोरपोरेशन व्यवस्था आर्थिक क्षेत्र में उनका सबसे अधिक मौलिक योगदान था। मुसोलिनी का कहना था कि निगम-

---

35. उद्धृत आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 668.
36. उपरोक्त, पृ. 666, 668-69.

वाद (Corporatism) अथवा कॉरपोरेट राज्य का निर्माण सबसे अधिक साहसपूर्ण मौलिक और क्रान्तिकारी कार्य था। इटली की कॉरपोरेट राज्य व्यवस्था ने बहुत से तत्कालीन राज्यों की अर्थ व्यवस्था को प्रभावित किया। 1933 में पुर्तगाली संविधान के अन्तर्गत पुर्तगाल को कॉरपोरेट राज्य स्वीकार किया गया। पुर्तगाल के तानाशाह शालाजार ने मुसोलिनी के ही पदचिन्हों पर चल कर पूंजी और श्रम के मेल का प्रयत्न किया। 1938 में आस्ट्रिया में भी निगम व्यवस्था लागू की गयी और श्रमिक संघों को तोड़ दिया गया। स्पेन में गृह-युद्ध (1936) के उपरान्त जनरल फ्रान्को ने कई निगमों की स्थापना की। 1937 का ब्राजील का संविधान तथा 1943 के बाद पीरू तथा अर्जेन्टाइना की व्यवस्था भी इस कॉरपोरेट प्रणाली पर आधारित थी। इटली की व्यवस्था उनके प्रेरणा श्रोत थे। लेकिन किसी भी प्रजातान्त्रिक राज्य ने फासिस्ट कोरपोरेट प्रणाली को नही अपनाया। यह सिर्फ अधिनायकों और तानाशाही को ही आकर्षित कर सकी।

फासीवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद

फासीवादी विचारधारा मे अन्तर्राष्ट्रीयता को कोई स्थान नही था। फासीवादी उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास करते थे, जिसके अनुसार वे अपने हितो को ही सर्वोपरि मानते थे। अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये दूसरे राष्ट्रों को हड़पने एव बलिदान करने मे उन्हे कोई आपत्ति नही थी। उनका राष्ट्र उत्थान दूसरे राष्ट्रो के लोप से ही सम्भव हो सकता था।

फासीवाद **शान्ति विरोधी तथा युद्ध समर्थक** था। उग्र राष्ट्रवाद मे शान्ति का वैसे ही कोई महत्व नही होता। सैद्धान्तिक रूप से वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को कायरता का प्रमाण मानते थे। फासीवाद मनुष्य, जाति, राष्ट्र, राज्य की उन्नति के लिये युद्ध को आवश्यक एवं स्वाभाविक मानते थे। मुसोलिनी के शब्दो मे 'पुरुष जीवन मे युद्ध का वही स्थान है जो नारी के जीवन मे मातृत्व का है।' हिटलर भी युद्ध को खूब गौरवान्वित करता था। हिटलर के अनुसार अविराम युद्धों से ही मानव जाति की उन्नति हुई है, शान्ति की स्थापना से मानव जाति विनाश के गर्त मे चली जायगी।

फासिस्ट केवल अपने राष्ट्र तक ही सीमित एवं उत्तरदायी है। वह दूसरे व्यक्ति की अन्तरात्मा, कोई आर्थिक वर्ग, किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था या संसद, अथवा किसी विश्व-सर्वहारा वर्ग के प्रति भक्ति को स्वीकार नहीं करता। फासीवादी विश्व-सहयोग के विरुद्ध है। उसका विश्वास था कि

भावी युद्ध अनिवार्य है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के परामर्शों द्वारा शान्ति सम्भव नहीं। इटली को दूसरे महान राष्ट्रों के समान मानना ही होगा। वह अपमान सहन नहीं करेगा। वह शान्ति को उसी समय स्वीकार करेगा जबकि वह रोमन शान्ति होगी।[37]

फासीवादी राज्य शक्ति और विस्तार पर आधारित था। तदनुसार राज्य को निरन्तर अपनी शक्ति और विस्तार में अभिवृद्धि करते रहना चाहिए। यदि राज्य का प्रसार रुक जाता है तो उसका नाश हो जाता है। इसलिये, जैसा कि गेटिल ने व्यक्त किया है, राज्य केवल वह सत्ता ही नहीं है जो व्यक्तियों की इच्छाओं को कानूनों का रूप और आध्यात्मिक जीवन का मूल्य प्रदान करती है, किन्तु ऐसी शक्ति भी है जो अपनी इच्छा को दूसरे देशों पर स्थापित करती, और अपना सम्मान बढ़ाती है; अन्य शब्दों में वह अपने विकास की सभी आवश्यक क्रियाओं में अपनी इच्छा की सार्वभौमता के तथ्य का प्रदर्शन करती है। इस प्रकार इसकी तुलना मनुष्य की इच्छा से की जा सकती है जिसके विकास की सीमाएं नहीं होतीं, जो अपनी असीमता की परीक्षा करके ही अपने को परिपूर्ण बनाती है।[38]

फासीवादी नस्ल की श्रेष्ठता में विश्वास करते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में मुसोलिनी की अपेक्षा नात्सीवाद में नस्ल की श्रेष्ठता सिद्धान्त का विशेष एवं विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। हिटलर नस्ल के सिद्धान्तों को लेकर चला और उनकी सहायता से उसने राजनीति दर्शन को एक नया आधार देने का प्रयत्न किया। मेन केम्फ (Mein Kampf) में नस्ल-श्रेष्ठता का सिद्धान्त सर्वत्र फैला हुआ है। इसमें हिटलर ने बतलाया है कि इतिहास न तो व्यक्ति की मुक्ति का संघर्ष है, और न वर्ग-संघर्ष की कहानी। वह तो प्रकृष्ट नस्ल- आर्य नस्ल- की प्रतिभा के प्रस्फुटन का सिद्धान्त है। विश्व में विभिन्न नस्लें जीवित रहने और अपने आप को शक्तिशाली बनाने के लिये संघर्ष करती है। इनमें जो सर्वाधिक शुद्ध नस्ल होती है वही सबसे शक्तिशाली होती है। हिलटर आर्य नस्ल को सर्वश्रेष्ठ मानता था जिसकी सुरक्षा राज्य का परम कर्त्तव्य था। वह ऐसे राज्य को लोक राज्य (Folkish State) कहता था।[39]

---

37. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 510-11.
38. गेटिल, राजनीति चिन्तन का इतिहास, पृ० 444-45
39. Sabine, G H, A History of Political Theory, p 731.

हिटलर का श्रेष्ठ एवं पवित्र नस्ल का सिद्धान्त विस्तारवादी है । उसने लिखा है कि आर्य नस्लें अल्प संख्यक होते हुए भी विदेशी जातियों को अपने अधीन कर लेती हैं । नस्ल के इस शक्ति विस्तार में राज्य को सहायक होना चाहिए । जैसे-जैसे नस्ल की संख्या में वृद्धि होती है वैसे-वैसे ही उसकी आर्थिक आवश्यकताएं भी बढ़ती हैं तथा अतिरिक्त भूमि की आवश्यकता अनुभव होती है । इसी अनुपात में श्रेष्ठ नस्ल को अपनी अतिरिक्त जनसंख्या को बसाने तथा उसकी आर्थिक समृद्धि के लिये सीमा विस्तार करने का अधिकार है ।[40]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हिटलर और मुसोलिनी दोनो ने ही अपनी विस्तारवादिता का परिचय दिया । इटली की अतिरिक्त जनसंख्या को अन्यत्र बसाने, या आर्थिक श्रोतों की प्राप्ति के लिये मुसोलिनी ने ईथोपिया को हड़पने की योजना बनाई । ईथोपिया के साथ सीमा विवाद उत्पन्न कर 1936 मे उस पर इटली का आधिपत्य हो गया । इसके अलावा मुसोलिनी भूमध्यसागरीय क्षेत्र को इटली के प्रभाव-क्षेत्र में लेना चाहता था । मुसोलिनी का उद्देश्य इटली को एक बड़ी शक्ति के रूप मे प्रस्तुत करना था ।

विस्तारवाद के क्षेत्र में हिटलर मुसोलिनी से और भी आगे बढ़ा हुआ था । प्रथम, हिटलर वर्साय की सन्धि (Treaty of Versailles, 1919) के अन्तर्गत जर्मनी की सीमा निर्धारण को मान्यता नही देता था । वर्साय की सन्धि के द्वारा वे क्षेत्र जो जर्मनी से छीन लिये गये थे, हिटलर उन्हे वापस लेना चाहता था ।

द्वितीय, हिटलर अन्तिम बार जर्मनी के एकीकरण की प्रक्रिया को पूर्ण करना चाहता था । इसलिये यूरोप मे वे क्षेत्र जिनमे जर्मन जनसंख्या रहती थी, हिटलर उनका जर्मनी में विलयीकरण चाहता था । आस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया को जर्मनी मे मिला कर एक सीमा तक उसने इस उद्देश्य की पूर्ति की ।

तृतीय, हिटलर यहीं तक सन्तुष्ट नही था उसका अंतिम उद्देश्य सम्पूर्ण यूरोप को अपने आधिपत्य में करना था । जब हिटलर ने यूरोप के अन्य छोटे-छोटे राज्यों पर अधिकार करने की चेष्टा की, परिणामस्वरुप द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया ।

उपरोक्त तथ्य फासीवाद तथा नात्सीवाद का विस्तारवादी नीति का स्पष्ट प्रमाण हैं । यह विस्तारवाद कोई आकस्मिक नही था किन्तु फासीवाद के

---

40. Mein Kampf, p. 523.

विस्तारवादी सिद्धान्तों पर आधारित योजनाबद्ध था। आन्तरिक असन्तोष को ध्यान में रखते हुए तथा व्यक्तियों की महत्वाकांक्षाओ को उकसाने के लिये इस प्रकार की विदेश नीति स्वाभाविक ही थी।[41] इंग्लैंड और फ्रान्स की सन्तुष्टीकरण की नीति फासीवादी विस्तार में और भी सहायक सिद्ध हुई।

फासीवादी साधन

शक्ति-राजनीति (Power–Politics) फासीवाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष था। राजनीतिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये उन्होने शक्ति का साधन के रूप में प्रयोग किया। फासीवादियो ने शक्ति द्वारा सत्ता प्राप्त की तथा सत्ता में बने रहने के लिये शक्ति का निरन्तर प्रयोग करते रहे। शक्ति उनका धर्म बन गया। विरोधियो का हिंसात्मक साधनों द्वारा उन्मूलन किया गया। बन्दीगृह फासीवादी विरोधियों से भरे पड़े थे। फासीवादी शासन के अंतर्गत इटली और जर्मनी में शक्ति एवं हिंसा का जैसा नग्न प्रदर्शन हुआ, सम्भवतः ही किसी सभ्य समाज मे हुआ हो।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे फासीवादी शान्तिपूर्ण साधन या वार्ता द्वारा समस्याओ का समाधान करने में विश्वास नही रखते। उनके अनुसार शान्ति कायरों का स्वप्न है। अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये वे युद्ध को राष्ट्रीय नीति का एक प्रमुख अंग मानते थे। यह दृष्टिकोण ईथोपियाई संकट से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। ईथोपिया की समस्या का समाधान करने के लिये जब इग्लैंड ने ईथोपिया का कुछ क्षेत्र इटली को देने का प्रस्ताव किया तो मुसोलिनी ने बड़े ही अपमान जनक शब्दों में कहा-'यदि मुझे ईथोपिया को चादी की प्लेट पर भी रख कर प्रस्तुत किया जाये तो मैं सधन्यवाद मानाकर दूंगा, क्योंकि ईथोपिया को मैंने शक्ति से लेने का निश्चय कर लिया है।' इन साधनों के विषय में लास्की (H. J. Laski) ने लिखा है कि–

> फासिस्ट प्रणाली शक्ति को छोड़ सभी मूल्यो का हनन करती है, य हयुद्ध को राष्ट्रीय नीति के स्वाभाविक साधन के रूप में प्रयोग करने के लिये तैयार है, इसके द्वारा या तो मानव जाति को दास बनाना चाहिये या स्वयं नष्ट हो जाना चाहिये। इसमें इन विकल्पो के अतिरिक्त और कोई अन्य मार्ग नहीं।[42]

---

41. Laski, H. J., Reflectons on the Revolution of Our Time, p. 87.
42. Laski, H. J., Reflections of the Revolution of Our Time, p. 97.

प्रसार (Propaganda)

फासीवादी विचारधारा में प्रसार का विशेष महत्व रहा है। फासीवादी अबुद्धवादी तो थे ही। अपने प्रत्येक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये मनुष्यों की भावनाओं को उभारना तथा भड़काना आवश्यक समझा जाता था। यह कार्य केवल प्रभावशाली प्रसार द्वारा ही सम्भव था।

प्रसार नात्सीवाद का मूल स्तम्भ था। हिटलर ने अपनी आत्मकथा (Mein Kampf) में प्रसार और संगठन के विषय में एक अलग ही अध्याय लिखा है। इस अध्याय में वह दल, संगठन आदि में भी प्रसार को अधिक महत्व एवं प्राथमिकता देता है। प्रारम्भ में जब हिटलर ने जर्मन लेबर पार्टी की सदस्यता ग्रहण की तो सर्वप्रथम उसने प्रसार शाखा को अपने अधीन किया। वह प्रसार के महत्व को समझता था। हिटलर की प्रसार प्रणाली एक कहावत बन गई थी। जो कार्य युद्ध से सम्भव नहीं था, हिटलर उसे प्रसार के द्वारा ही प्राप्त कर सकता था। बिना युद्ध के ही, प्रसार द्वारा हिटलर ने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया को अपने अधिकार में कर लिया था। इस प्रकार फासीवादी शासन व्यवस्था में प्रसार का एक साधन के रूप में विशेष स्थान था।

फासीवाद और साम्यवाद

फासीवाद और साम्यवाद में कई समान तत्व दृष्टिगोचर होते हैं। कोकर ने लिखा है:—

> "फेसिज्म तथा रूसी साम्यवाद में, कुछ आवश्यक पक्षों में परस्पर-विरोध होते हुए भी, घनिष्ट आध्यात्मिक सम्बन्ध है और कई बातों में उनके शासन की रीतियाँ समान है।[43]

कोकर ने साम्यवाद और फासीवाद में निम्नलिखित समानताओं का उल्लेख किया है.[44]—

(1) फेसिस्टों और बाल्शेविकों दोनों ने शासन-सत्ता हिंसा अथवा हिंसा की धमकी से प्राप्त की, और दोनों ही बल प्रयोग को राजनीतिक कार्य का सर्वोच्च साधन मानते हैं।

---

43. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 513.

44. उपरोक्त, पृ. 513.

(ii) दोनों ही विचारधाराएं लोकतन्त्र तथा उदारवाद की हंसी उड़ाते हैं तथा उन्हे अज्ञानियो के अन्धविश्वास या कल्पना-प्रिय लोगों के अव्यावहारिक आदर्श मानते हैं।

(iii) दोनों ही स्वतन्त्रता विरोधी हैं। ये ऐसी कोई व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं मानते जिसका राज-सत्ता विनाश नहीं कर सकती। ये समाचार-पत्रो तथा स्कूलों को अपने प्रचार का साधन मानकर उन पर अपना एकाधिकार मानते है। ये स्वतन्त्र विचार-प्रकाशन से डरते हैं और बड़ी निर्दयता के साथ उसका दमन करते हैं।

(iv) दोनों मे शासन तथा राजनीतिक दल मे अभिन्नता है। ये एक-दलीय शासन व्यवस्था मे आस्था रखते है।

इनके अलावा सेबाइन[45] ने राष्ट्रीय समाजवाद (नात्सीवाद) के सन्दर्भ मे फासीवाद और साम्यवाद मे कुछ अन्य समानताओ का विवरण दिया है जो निम्नलिखित हैं —

(i) इन विचारधाराओं का अभ्युदय प्रथम विश्व युद्ध के बाद उस समय दयनीय आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ।

(ii) ये अधिनायकवादी शासन का समर्थन करती हैं।

(iii) इनमें सत्ता कुछ मुट्ठीभर व्यक्तियो के हाथों में रहती है।

(iv) ये विचारधाराएँ मूलत: अन्ध सिद्धान्तवादी हैं। एक नस्ल की श्रेष्ठता तथा दूसरा सर्वहारा वर्ग की महत्ता मे विश्वास रखते है।

(v) ये राजनीति को शक्ति ग्रहण करने का साधन मानते हैं। इस प्रकार दोनो शक्ति-राजनीति में विश्वास करते है।

फासीवाद और साम्यवाद का उद्भव, सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि तथा व्यवहार में कही समान तथा कही अत्यधिक निकट हैं। फिर भी आलोचक इनमें साम्यवाद की श्रेष्ठता को स्वीकार कर विभिन्नताओ का उल्लेख करते हैं। साम्यवाद तत्वत. मानवतावादी है। उसकी निर्धन वर्ग की सेवा की नियत को चुनौती नही दी जा सकती। साम्यवादी विचारधारा लगभग दो पीढ़ियों के मार्क्सवादी अन्वेषण का परिणाम है। यह मार्क्सवादी वैज्ञानिक एव क्रमबद्ध

---

45 Sabine, G H, A History of Political Theory, p 751.

दर्शन पर आधारित है। इसके विपरीत फासीवाद अवसरवादी विचारों का बन्डल था जिन्हे आवश्यकतानुसार संग्रहित कर लिया गया। यह बौद्धिक झूठ एवं प्रोपेगेन्डा था।

साम्यवाद पूंजीवाद का शत्रु है। यह पूंजीवाद को एक शोषण व्यवस्था मानता है। फासीवादी मूलतः उच्च वर्ग और पूंजीवर्ग के समर्थक थे।

वर्ग व्यवस्था के विषय में इन दोनो में मूल अन्तर है। साम्यवाद वर्ग-संघर्ष पर आधारित है। इसमें वर्ग संघर्ष स्वाभाविक है। अन्तिम रूप मे पूंजीवर्ग की समाप्ति और सर्वहारा वर्ग के शासन की स्थापना में साम्यवादी विश्वास करते हैं। किन्तु फासीवादी वर्ग-संघर्ष का खन्डन कर सहयोग के आधार पर शासन रचना का समर्थन करते हैं। फासीवाद विभिन्न वर्गों की उग्रता को कुंठित कर उनका एक प्रणाली के अन्तर्गत समन्वयपरक है।

राज्य के प्रति इनके द्रष्टिकोण में मूलभूत भेद है। फासीवादी सर्वसत्ताधारी राज्य में विश्वास करते हैं। वे राज्य को अत्यधिक महत्व देते हैं। किन्तु साम्यवाद मे केवल संक्रमण काल मे ही राज्य के महत्व को स्वीकार किया जाता है। एक अन्तिम उद्देश्य के रूप में साम्यवादी राज्य-रहित समाज की स्थापना चाहते हैं।

फासीवाद और साम्यवाद में एक मूल अन्तर और है। फासीवादी उग्र राष्ट्रवाद मे आस्था रखते हैं। किन्तु साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीयता मे विश्वास करते हैं। इसका यही तात्पर्य है कि साम्यवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है। यह समस्त विश्व को साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत लाना चाहता है।

वैसे आजकल फासीवाद और साम्यवाद की तुलना का केवल बौद्धिक सन्दर्भ ही रह गया है। फासीवादी व्यवस्था समाप्त हो चुकी है जबकि साम्यवाद ने अपने प्रसार में बहुत प्रगति की है। आलोचको ने जब फासीवाद तथा साम्यवाद को एक ही स्तर पर रखने का प्रयत्न किया, सम्भवतः उनका उद्देश्य साम्यवाद को अपमानित करना है। साम्यवाद मे बहुत त्रुटियाँ हैं फिर भी इसे फासीवाद के साथ एक ही कोष्टक में नही रखा जा सकता।

सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फासीवाद और साम्यवाद एक दूसरे के विरोधी थे। फासीवादी प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में मार्क्सवादी

व्याख्या का इस अध्याय के प्रारम्भ में उल्लेख किया जा चुका है।[46] साम्यवादियों ने फासीवाद को पूंजीपतियों का षड्यन्त्र, तथा पूंजीवाद के पतन की चरम सीमा बतलाया था। साम्यवादियों का लगभग यही दृष्टिकोण नात्सीवाद एवं हिटलर के प्रति था।

साम्यवाद के प्रति फासीवाद का भी बड़ा आक्रामक दृष्टिकोण रहा है। मुसोलिनी ने इटली के अन्दर साम्यवादियों, समाजवादियों आदि का पूर्ण सफाया कर दिया था। हिटलर साम्यवाद तथा रूस का कटु शत्रु था। उसने अपनी आत्मकथा में साम्यवाद के प्रति कई स्थलों पर निन्दनीय शब्दों का प्रयोग किया है। वह साम्यवादियों को खूनी, अपराधी, लुटेरा आदि कहता है। हिटलर का विचार था कि रूस का शीघ्र ही पतन होगा।[47]

यूरोपीय राजनीति में भी इन राज्यों का कभी भी सहयोग नहीं रहा। यदि कभी सहयोग भी हुआ, जैसे रूस-जर्मनी को अगस्त 1939 में अनाआक्रामक सन्धि, वह अवसरवादिता पर ही आधारित था। इन्होंने एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न किया। अन्त में यह द्वितीय विश्व युद्ध में संघर्ष में परिवर्तित हो गया।

फासीवाद का मूल्यांकन

फासीवाद का अध्ययन करने के पश्चात इस विचारधारा में दोष ही अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। फासीवाद के प्रत्येक सिद्धान्त-सूत्र (यदि फासीवाद को सैद्धान्तिक माना जाय तब) की कई दृष्टिकोणों से आलोचना हुई है। फासीवाद के कुछ प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं:—

संदिग्ध विचारधारा

सर्वप्रथम फासीवाद को एक विचारधारा के रूप में स्वीकार करना ही संदिग्ध है। इसका न तो कोई पूर्व दर्शन है और न विचार-सूत्रों में क्रमबद्धता। यह विचारधारा तदर्थ एवं अवसरवादी विचारों का संग्रह है। इस सम्बन्ध में लास्की ने लिखा है—

> "फासीवाद का किसी भी रूप में कोई दर्शन नहीं है। इसके समर्थकों ने इसके जो सिद्धान्त-सूत्र प्रस्तुत किये हैं उनका परीक्षण

46. देखिये पृ. 258-60

47. *Mein Kampf*, Chapter XIV, *Germany's Policy in Eastern Europe.*

करने पर प्रोपेगेन्डा प्रतीत होते हैं जिनका अपनी सत्ता में वृद्धि करने के अलावा और कोई अर्थ नही।"48

फासीवादियों ने निरन्तर निषेधात्मक एवं विरोधात्मक दृष्टिकोण अपनाया। इनके प्रवक्ताओं और कार्यकर्त्ताओं ने कभी भी न तो रचनात्मक विचार व्यक्त किये और न कार्य ही किये। फासीवाद ने सभी प्रचलित आदर्शों का विरोध किया। व्यक्तिवाद, उदारवाद, मानववाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि विचारधाराओं की समस्त आधार भुत मान्यताओं और मूल्यों को उखाड़ फेंका। ध्वंसात्मक प्रवृत्ति के कारण फासीवाद में कोई भी ग्रहण करने योग्य आदर्श नही मिलता।

वर्णशंकरीय विचारधारा

फासीवाद का अध्ययन करने से कभी-कभी यह भ्रम होता है कि यह विचारधारा कई विचारधाराओं का समन्वय है। सम्भवतः मुसोलिनी तथा अन्य समर्थकों ने इसे सर्व-ग्राह्य बनाने के लिये सभी विचारधाराओं से सिद्धान्त ग्रहण किये। ऐसा समझना भूल होगी। फासीवाद अवसरवादिता पर आधारित तदर्थ (ad hoc) विचारों का संकलन था। उन्होंने अलग-अलग अवसरों पर अलग प्रकार की बातें एवं विचार कहे। इसमे सभी वर्गों को बेवकूफ बनाने का प्रयत्न किया गया। वे जिस वर्ग का समर्थन चाहते थे उसी के पक्ष मे अपने विचार व्यक्त कर देते थे। उनके ऐसे विचार चाहे परस्पर-विरोधी भी हो, उन्हे इस बात की चिन्ता नही थी। वास्तव में फासीवाद बहुत कुछ धोखा था। श्रमिकों को अपने पक्ष मे करने के लिये मुसोलिनी ने कुछ पूंजीवादी विरोधी नारों का प्रयोग किया। किन्तु साथ हो साथ पूंजीवादियों को यह भी आश्वासन दे दिया कि इन नारों से उन्हे घबड़ाने की कोई आवश्यकता नही। यही हाल जर्मनी का था। 1930 मे एक नात्सी नेता ने एक उद्योगपति को पत्र लिखकर यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि—

> "हमारे कथन तथा व्यवहार से आप अपने लिये दुविधा (असमन्जस) में न डालें। कुछ आकर्षक नारे है जैसे 'पूंजीवाद का नाश हो', लेकिन ये आवश्यक हैं। हमे असन्तुष्ट एवं क्रुद्ध समाजवादी श्रमिक की भाषा का प्रयोग करना चाहिये। कूटनीति को ध्यान मे रखते हुए ही हम स्पष्ट कार्यक्रम प्रस्तुत नही करते।"49

48. Laski, H. J., Reflections on the Revolution of Our Time, p. 97. Also see, Markl, Peter, Political Continuity and Change, p 523
49. Quoted, Sabine, G. H., A History of Political Theory, p. 710.

फासीवादियो ने पूंजीवाद, समाजवाद, हीगलवाद, सिन्डीकलवाद राष्ट्रवाद, अविवेकवाद आदि मे बहुत से तत्व ग्रहण किये, किन्तु इन सबका प्रयोग उन विचारधाराओं के सही सन्दर्भ में कभी भी नहीं किया। इसलिये फासीवाद इन विचारों का सही समन्वय न होकर वर्णसंकरीय विचारधारा बन गया।

फासीवाद धनिक-वर्ग के षड्यन्त्र के रूप में

इस तर्क में भी सत्यता है कि फासीवाद इटली के पूंजीवर्ग का षड्यन्त्र था। मुसोलिनी और हिटलर दोनो को ही पूंजीवादियो का समर्थक माना जाता है। इनमें और पूंजीपतियो मे बड़ी घनिष्टता थी। इन लोगों को राशि बड़े-बड़े पूंजीपतियों से मिलती रहती थी। यही कारण है कि जैसे ही मुसोलिनी को सत्ता मिली उसने अपना समाजवादी कार्यक्रम त्याग दिया। उसने श्रमिकों की इच्छाओं का विरोध किया।[50] वास्तव मे इस व्यवस्था मे धनिक अधिक धनी और निर्धन और भी निर्धन होते चले गये। सामान्य जनता को आर्थिक चिन्ताओं से मुक्ति के लिये कोई विशेष प्रयास नहीं किये गये। उन्हे केवल भावनाओ के भोजन से ही सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न किया गया।

सर्वसत्तावारी राज्य की स्थापना

फासीवादी राज्य सर्वसत्तावारी होता है। इसके दो प्रमुख पक्ष हैं। **प्रथम, राज्य साध्य है और व्यक्ति साधन। द्वितीय, इस शासन व्यवस्था का आधार शक्ति है।**

राज्य अथवा राष्ट्र को साध्य तथा व्यक्ति को साधन मानना भूल होगी। ऐसी शासन व्यवस्था मे व्यक्तियों की स्थिति दासो के समान हो जाती है। प्रत्येक कार्य राष्ट्र की प्रतिष्ठा एवं शक्ति वृद्धि करने के लिये किया जाता है, जिसमे मानव मूल्य एवं मनुष्यों की गरिमा को कोई भी महत्व नहीं होता। यह अत्याचारी शासन का दूसरा नाम है।

इसी तरह फासीवादी शक्ति को राज्य का स्थाई आधार मान कर चलते हैं। इतिहास में इस प्रकार के अनेकों दृष्टान्त हैं कि शक्ति और हिंसा के आधार पर कोई भी व्यवस्था स्थाई नही रह सकती। शक्ति का शक्ति द्वारा ही पतन होता है। राज्य का आधार, जैसा कि ग्रीन ने कहा है, शक्ति नही, वरन इच्छा है।

50 Laski, H. J., Reflections on the Revolution of Our Time, p. 86; कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 493.

जिस समय इटली में फासीवाद अपनी चरम सीमा पर था बहुत से पर्यवेक्षकों का मत था कि यह बल पर आधारित व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं चल सकेगी। प्रसिद्ध विद्वान दार्शनिक बेनेदेटो क्रोस (B. Crose) तथा इतिहासकार फेरेरो (Gugleilmo Ferrero) ने उस समय मत व्यक्त करते हुए लिखा था कि बल-प्रयोग पर आधारित शासन केवल पतनोन्मुख जातियों मे ही अधिक काल तक बने रह सकते हैं। जो देश आगे बढ़ रहे हैं या जिनमे प्रगतिवादिता के अंकुर किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं, यह व्यवस्था सफल नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त शक्ति से जिस शासन का निर्माण हुआ है,उसका नाश भी शक्ति ने ही किया है। रोम साम्राज्य का सेना द्वारा निर्माण हुआ था, और उसका अंत भी सेना ने ही किया। फासीवादी शासन-व्यवस्थाओ का भी यही भविष्य होगा। वास्तव में ऐसा हुआ भी। फासीवाद लगभग दो दशाब्दी तक ही चल सका। द्वितीय विश्व युद्ध ने इटली तथा जर्मनी दोनो से ही फासीवाद को समाप्त कर दिया।[51]

फासीवाद और लोकतन्त्र

फासीवादी लोकतन्त्र व्यवस्था को महत्व नही देते। उनके अनुसार यह जन-शासन नहीं हो सकता, क्योंकि साधारण जनता स्वार्थ के वशीभूत रहती है। वह स्वार्थ से ऊपर उठकर सम्पूर्ण सामाजिक हित में नहीं सोच सकती। इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था में थोड़े से चालाक नेता हमेशा सत्ताधारी बने रहते हैं। इसे बहुसंख्यक सम्मति का शासन समझना भ्रम होगा। फासीवादी लोकतन्त्र को 'सड़ा हुआ शव' और संसद को 'बातूनी दुकान' कहते हैं। फासीवादियों द्वारा लोकतन्त्र की आलोचना में आंशिक सत्यता तो है, किन्तु इस आलोचना से वे लोकतन्त्र में सुधार नही करना चाहते, वे उसे जड़ से उखाड़ फेंकना चाहते हैं। लोकतन्त्र व्यवस्था में कुछ दोष होते हुए भी फासीवादी व्यवस्था से तो अति उत्तम है।

फासिस्ट विचारधारा स्वतंत्रता और समानता के आदर्शों के विरुद्ध है। उनका यह विचार कि स्वतन्त्रता एक विचार न होकर कर्तव्य है तथा शक्तिशाली राज्य की आज्ञापालन में ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता निहित है, गलत है। वे अधिनायकवाद की वेदी पर स्वतन्त्रता का बलिदान कर देते हैं। फासीवादी व्यवस्था के अंतर्गत मनुष्य एक मशीनी पुर्जे के समान रह जाता है, जिसमे उसके व्यक्तित्व का पूर्ण लोप हो जाता है।

---

[51] कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 520.

समानता के विषय में फासीवादी प्रकृति के आधार पर व्यक्तियों को असमान मानते हैं। उनके अनुसार समाज मे व्यक्ति समान नही हो सकते। इससे मना नही किया जा सकता कि शारीरिक क्षमता, बौद्धिक प्रतिभा तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से मनुष्य एक दूसरे से भिन्न होते हैं। किन्तु यही समझ कर राज्य उनको असमान माने यह भारी भूल होगी। राज्य के समक्ष सब व्यक्ति समान होने चाहिये, राज्य किसी भी आधार पर नागरिको में भेदभाव नही कर सकता। राज्य का कर्त्तव्य सभी नागरिकों को समान अवसर प्रदान करना होता है।

इस सम्बन्ध में फासीवादी आलोचना के विषय मे लास्की ने लिखा है कि फ्रान्स की क्रान्ति के उपरान्त जिन संवैधानिक आचार और प्रतिनिधित्व लोकतन्त्र का विकास हुआ फासीवाद ने उन सभी को उखाड़ फेंका। यह मनुष्य को एक साध्य के रूप में कैसे भी स्वीकार नही करता।[52]

कला एवं विज्ञान की अवनति

फासीवादी राज्य मे कला एवं विज्ञान की प्रगति नही हो सकती। अधिनायकवादी शासन मे समाज एवं व्यक्ति के प्रत्येक पक्ष पर राज्य का नियन्त्रण रहता है। विज्ञान तथा कला को भी प्रोपेगेन्डा का एक साधन माना जाता है। इस स्थति में कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान का ह्रास होता चला जाता है। इस प्रकार के अनुशासित और नियन्त्रित राज्य सामाजिक प्रगति के लिये कभी भी उपयुक्त नही हो सकते।

अधिनायकतन्त्र का संचालन एक विशाल संगठित सशोधन-गृह की भांति होता है। इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को नियत कार्य दिया जाता है और उसके सम्पादन पर सतर्क द्रष्टि रखी जाती है। यह पद्यति समाज-दोषी, तथा अयोग्य एवं अनपढ़ व्यक्तियों के लिये ठीक हो सकती है, किन्तु बुद्धिमान, साहसी, श्रेष्ठ तथा चरित्रवानों के लिए बिलकुल ही अनुपयुक्त है। ऐसे व्यक्तियों को अधिनायकतन्त्र, और वह भी अविवेकवाद पर आधारित, पशुबल और पशुबुद्धि का सामना करने के सिवाय कुछ भी नहीं। किसी राष्ट्र के सार्वजनिक एवं सांस्कृतिक जीवन का अत्यन्त केन्द्रीभूत एवं दमनकारी निर्देशन साहित्य, विज्ञान तथा कला के विकास को सम्भावनाओं को नष्ट कर देता है। सुप्रसिद्ध

---

52 Laski, H. J., Reflections on the Revolution of Our Time, p. 87.

वैज्ञानिक प्रोफेसर आइन्स्टाइन (Albert Einstein) ने अपने एक सूक्ष्मतम 19 शब्दों के निबन्ध मे लिखा है—

> 'अधिनायकतन्त्र का अर्थ है सब ओर से प्रतिबन्ध और उसके परिणामस्वरूप निरर्थक प्रयत्न। विज्ञान केवल स्वतन्त्र भाषण के वातावरण मे ही अभिवृद्धि प्राप्त कर सकता है।" [53]

अन्तर्राष्ट्रीय विचारों की आलोचना

फासीवादियों के अन्तर्राष्ट्रीय विचार अति भर्त्सना योग्य हैं। वे, प्रथम, उग्र राष्ट्रवाद मे विश्वास करते हैं। द्वितीय, स्वयं की नस्ल श्रेष्ठता के औचित्य को सिद्ध करते हैं। तृतीय, क्षेत्रीय विस्तारवाद को मान्यता देते हैं। चतुर्थ, युद्ध को राष्ट्रीय नीति का एक प्रमुख साधन मानते हैं।

उपरोक्त सभी विचार अन्तर्राष्ट्रीयता के शत्रु हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को कायरता का स्वप्न कहते हैं, किन्तु शान्ति का कोई अन्य विकल्प हो ही नहीं सकता। यदि निरन्तर युद्ध चलते रहे, सभी राष्ट्र विस्तारवादी नीति अपना ले तो ऐसी स्थिति हो जायेगी जैसा कि हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था के विषय में लिखा है। इसका परिणाम यह होगा कि सार्वजनिक कल्याण की ओर न तो ध्यान ही जायेगा और न समय ही मिल पायेगा। युद्धों पर अत्यधिक धनराशि व्यय होने से विकास और उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जायेगा। फासीवादियों के अन्तर्राष्ट्रीय विचार अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति के विरुद्ध हैं। ये अव्यावहारिक और मानव जाति के लिये घातक हैं।

यद्यपि द्वितीय विश्व युद्ध ने फासीवादी-नाजीवादी उद्देश्यों को पूरा नहीं होने दिया, यह सोचना भूल होगा कि फासीवाद मर चुका है। गेटिल ने लिखा है कि उदारवाद इतना खर्चीला है कि बहुत कम लोग उसकी कीमत चुकाने को तैयार हैं अथवा इस योग्य हैं। जो विचार मनुष्यों के मस्तिष्क मे घर कर जाते हैं उन्हें युद्ध द्वारा परास्त नहीं किया जा सकता। इस समय ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि विश्व के बहुत मे देशों मे अधिनायकतन्त्र का स्थायित्व की वास्तविक इच्छा उत्पन्न होगई है। वास्तविकता तो यह है कि यदि मार्क्सवाद के विरुद्ध दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया का जोर बढ़ा तो फासीवाद पुनः भयंकर शक्ति के रूप मे उठ खड़ा होगा। [54]

---

53. उद्धृत, कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 519.
54. गेटिल, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ. 453-54.

फासीवाद एवं राष्ट्रीय समाजवाद समकालीन परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह थे। भविष्य में यदि इस प्रकार की परिस्थितियाँ पुनः उत्पन्न होती हैं तो असंदिग्ध इसी प्रकार की विचारधाराओं का फिर उद्‌भव होगा। इस प्रकार के विचारों का आगे प्रादुर्भाव न हो, उसके लिये यह अति आवश्यक है कि हम अपनी समस्याओं का बुद्धिमानी के साथ सामना करें। फासीवाद तथा राष्ट्रीय समाजवाद की प्रेरणा-शक्ति राष्ट्रीयता की उग्र भावना थी जिसका अभी भी अभाव नहीं है।[55] इसके विकल्प रूप में हमें शान्ति, सद्‌भाव, सहयोग के सिद्धान्तों को ही राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अपनाना पड़ेगा। अन्य विकल्पों का तात्पर्य विश्व को उन्हीं निर्दयी, अमानवीय शक्तियों को समर्पण करना होगा जिनसे हम एक पीढ़ी पहले ही जूझ चुके हैं। एक कामना के रूप में इस प्रकार की परिस्थिति पुनः नहीं आनी चाहिये।

पाठ्य-ग्रन्थ

1. आशीर्वादम्, एडी — राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, अध्याय 22, सर्वाधिकारवादी राज्य

2. Charques and Ewen, Profits and Politics in the Post-War World (1934), Chapter IV, Italy.

3. कोकर, फ्रान्सिस, — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अध्याय 17, फेसिज्म

4. Ebenstein, W., — Today's isms, Chapter II, Totalitarian Fascism.

5. गेटिल, रेमन्ड गारफील्ड, — राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, अध्याय 26, फासीवाद

6. Hallowell, J H., — *Main Currents in Modern Political Thought*, Chapter 17, Fascism and National Socialism.

---

55. Sabine, G. H. A History of Political Theory, p. 711.

7. Laski, H. J., Reflections on the Revolution of Our Time
Chapter 3, The Meaning of Fascism.

8. Learner, Max, Ideas are Weapons
Part III, Chapter 9.

9. Merkl, Peter A,, Political Continuity and Change
Chapter 14, Fascism and National Socialism.

10. Munro, Ion S., Through Fascism to World Power.

11. Munro, W.B., The Governments of Europe.
Chapters XXXVII–XXXIX.

12. Sabine, G.H., A History of Political Theory
Chapters XXXVII—XXXIX.
Chapter XXXV, Fascism and National Socialism.

10

लोकतान्त्रिक समाजवाद

Democratic Socialism

कल्याणकारी राज्य की प्रस्थापना

लोकतान्त्रिक समाजवाद (Democratic Socialism) के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। इसलिये सर्वप्रथम उनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। कभी-कभी समष्टिवाद (Collectivism) तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद को एक ही समझा जाता है, यह त्रुटिपूर्ण है। समष्टिवाद एक व्यापक विचार है, जिसके अन्तर्गत वे सभी विचारधाराएँ आती हैं जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को किसी न किसी रूप में सीमित कर किसी संस्था जैसे राज्य आदि को व्यापक अधिकार प्रदान करती हैं। इस प्रकार समाजवाद, साम्यवाद, फासीवाद आदि सभी समष्टिवादी विचारधाराएँ हैं। समाजवाद के सन्दर्भ मे समष्टिवाद का तात्पर्य राज्य तथा स्थानीय संस्थाओं के आर्थिक तथा अन्य कार्यों मे विस्तार के रूप में ही लिया जाता है।

समष्टिवाद को राज्य समाजवाद कहा जा सकता है क्योकि इसमें समाजवादी कार्यक्रमों को लागू करने में राज्य को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जाती हैं। लोकतान्त्रिक समाजवाद भी समष्टिवादी होता है, किन्तु लोकतान्त्रिक समाजवाद में लोकतान्त्रिक शक्तियों, सिद्धान्तो एवं मूल्यों को साध्य के रूप में स्वीकार किया जाता है तथा राज्य जो समष्टिवादी होता है, इन आदर्शों की प्राप्ति का साधन होता है। अन्य शब्दों मे यह कह सकते है कि समष्टिवाद एक तटस्थ समाजवाद है जिसे विभिन्न आदर्शों के अनुसार किसी भी प्रकार के साम्यवाद में परिवर्तित किया जा सकता है। यदि मार्क्सवादी आदर्शों की प्राप्ति करनी है तो यह साम्यवाद है; यदि हिटलर और मुसोलिनी के उद्देश्यों की उपलब्धि करनी है तो यह नात्सीवाद और फासीवाद हो सकता है; तथा यदि लोकतान्त्रिक मूल्यो में अभिवृद्धि करनी है तब यह लोकतान्त्रिक समाजवाद कहा जा सकता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद को पारिभाषित करना कठिन कार्य होने के साथसाथ असम्भव सा प्रतीत होता है। "इसका एक सुपारिभाषित विचारधारा का होना तो दूर रहा, यह विभिन्न चिन्तकों और राजनीतिक शक्तियों के योगदान का

7. Laski, H. J., Reflections on the Revolution of Our Time Chapter 3, The Meaning of Fascism.

8. Learner, Max, Ideas are Weapons Part III, Chapter 9.

9. Merkl, Peter A., Political Continuity and Change Chapter 14, Fascism and National Socialism.

10. Munro, Ion S., Through Fascism to World Power.

11. Munro, W.B., The Governments of Europe. Chapters XXXVII–XXXIX.

12. Sabine, G.H., A History of Political Theory Chapters XXXVII—XXXIX. Chapter XXXV, Fascism and National Socialism.

समूह जैसा लगता है। सम्भवत: कोई भी समाजवादी एक ही साथ इन विचारों और सिद्धान्तों का तार्किक (या विवेकपूर्ण ढ़ंग से) निर्वाह नहीं कर सकता।"[1]

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में समाजवाद की निम्नलिखित परिभाषा उल्लेखनीय है:—

> "समाजवाद उस नीति या सिद्धान्त को कहते हैं जिसका उद्देश्य एक केन्द्रीय लोकतान्त्रिक सत्ता द्वारा प्रचलित व्यवस्था की अपेक्षा धन का उत्तम वितरण एवं उसके अधीन रहते हुए धन का उत्तम उत्पादन उपलब्ध करना है।"[2]

यह परिभाषा वास्तव में लोकतान्त्रिक समाजवाद की ओर ही इंगित करती है। इसमे समाजवाद के उद्देश्य, साधन एव प्रक्रिया का जो उल्लेख है वह वास्तव मे लोकतान्त्रिक समाजवाद के सन्दर्भ मे ही सही लगता है। फिर अब समाजवाद के विभिन्न सम्प्रदाय अपना विशिष्ट नाम ग्रहण कर चुके हैं, तब प्रचलित भाषा में समाजवाद का अर्थ लोकतान्त्रिक समाजवाद से ही लगाया जाता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद का कोई निश्चित दर्शन नहीं है। इसका विकास विभिन्न समय एवं देशो मे विभिन्न परिस्थितियो के सन्दर्भ में हुआ है। लेकिन इसका मूल सैद्धान्तिक पक्ष जितना स्पष्ट है शायद ही किसी अन्य समाजवादी शाखा का हो। लोकतान्त्रिक समाजवाद में 'लोकतन्त्र' और 'समाजवाद' दोनो ही स्वयं स्पष्ट हैं। कोई भी समाजवादी विचारधारा जिसमें लोकतन्त्र को साध्य एवं साधन दोनो ही रूप में स्वीकार किया जाता है, लोकतान्त्रिक समाजवाद कहलाता है। लोकतान्त्रिक समाजवाद में लोकतान्त्रिक आदर्शों की उपलब्धि लोकतान्त्रिक साधनों से ही होनी चाहिये। सूक्ष्म मे, लोकतान्त्रिक समाजवाद के निम्नलिखित तीन पक्ष हैं:—

प्रथम, समाज का उद्देश्य समस्त जनता का कल्याण होता है, किसी वर्ग विशेष का नहीं।

द्वितीय, जन-कल्याण सम्बन्धी गतिविधियों का माध्यम राज्य या अन्य राजकीय संस्थाएं होती हैं।

तृतीय, उद्देश्यों की प्राप्ति लोकतान्त्रिक साधनों से होनी चाहिये।

---

1. Merkl, Peter H., Political Continuity and Change, p 139
2. देखिये पृ. 4.

लोकतान्त्रिक समाजवाद का विकास

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यूरोप मे न तो लोकतन्त्र था और न समाजवाद। शासन व्यवस्था के रूप में निरंकुशवाद और सामन्तवाद का ही सर्वत्र प्रभुत्व था। कुछ थोड़े से व्यक्तियो के हाथो मे राजसत्ता और अर्थ-व्यवस्था केंद्रित थी। उच्च वर्ग द्वारा साधारण जनता का दमन और शोषण एक सामान्य बात थी।

लोकतन्त्र और समाजवाद के उदय में औद्योगिक क्रान्ति तथा उमसे उत्पन्न परिस्थितियों का मूल योगदान रहा है। यहाँ पर यह समझना दुर्लभ है कि पहिले लोकतन्त्र का प्रादुर्भाव हुआ या समाजवाद का। औद्योगिक क्रान्ति के युग में लोकतन्त्र और समाजवाद का कही समानान्तर तथा कही मिला जुला सा विकास हुआ। किन्तु जैसे ही लोकतन्त्र और समाजवादी विचारधाराएँ अपना अलग-अलग अस्तित्व स्पष्ट करने लगी, इन दोनो की त्रुटियाँ एवं कमजोरियाँ द्रष्टिगोचर होने लगी।

उन्नीसवी शताब्दी में उदारवादी और लोकतान्त्रिक विचारधारा का धीरे-धीरे विकास हो रहा था। लेकिन यह उदारवाद व्यक्तिवाद पर आधारित था जो पूर्णतः पूंजीवादी व्यवस्था के रूप मे विकसित हुआ। यह वह युग था जब लोकतान्त्रिक तथा उदारवादी सिद्धान्तों के प्रति चेतना मे तो वृद्धि हुई पर राज्य का कोई विशेष महत्व नही था। राज्य को कुछ निश्चित कार्यों तक ही सीमित रख कर, इसके कार्यक्षेत्र के विस्तार का प्रतिरोध किया गया। इस समय राज्य के अहस्तक्षेप की नीति को सर्वव्यापी मान्यता प्राप्त थी। गैटिल के अनुसार उस काल मे इस विचार का आधिपत्य था कि सर्वोत्तम राज्य वह है जो कम से कम शासन करता है। सरकार से स्वतन्त्रता न कि सरकार के द्वारा स्वतन्त्रता उस काल का मुख्य आदर्श था। उस समय यह मान्यता थी कि सरकार का काम केवल व्यवस्था स्थापित करना है, दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप का अधिकार नही। यह व्यक्तिवाद का अतिवादी रूप था।[3] समाज की शक्तियाँ शुद्ध व्यक्तिवाद की दिशा मे जा रही थी।

औद्योगिक क्रान्ति से उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई। अब व्यक्ति को यह आशा हो गई कि वह अपने परिश्रम से अधिकाधिक धन कमा सकता है। उसने अपने साधन और शक्ति से यूरोप तथा अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था की काया पलट कर दी।

3. गैटिल, राजनीति चिन्तन का इतिहास, पृ० 397.

व्यक्तिवादी विचारधारा और औद्योगिक क्रान्ति के समन्वय ने पूंजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया। इससे साधन-सम्पन्न व्यक्ति तो उद्योगपति पूंजीपति बन गये किन्तु श्रमिकों की दशा अत्यन्त ही दयनीय थी। "नगरों की गन्दी बस्तियों में रहने वाले मजदूरों के रहन-सहन का स्तर अत्यन्त नीचा था; वे लगभग भुखमरी अवस्था में रहते थे। उनके सम्बन्ध में माल्थस ने जो भविष्य-वाणी की थी वह मानों पूरी हो गई। आठ-आठ और नौ-नौ वर्ष के बच्चे *प्रतिदिन जितने घन्टे कार्य करते थे, उतने घन्टे आज का पूरा आदमी भी नही करता।* मालिक लोग समझते थे कि मजदूर तो अन्य विक्रय वस्तुओ की भाति ही हैं, मजदूरों को तत्वतः वही स्थिति थी जो कि विक्रय वस्तुओ की, अतः उनका उस मूल्य में जिसका वे अपने परिश्रम से सृजन करते थे वेतन के अति-रिक्त कोई साझा नही था। सम्पूर्ण मूल्य उन मालिको की जेब में जाता जो कारखाना चलाते और जोखिम उठाते थे। इन परिस्थितियो में सबकी स्वतन्त्रता की बात करना तो सम्भव था किन्तु वास्तव में स्वतन्त्रता थोड़े लोगो को ही उपलब्ध थी। बहुसंख्यक लोग तो केवल इस अर्थ मे स्वतन्त्र थे कि वे *'स्वतन्त्रतापूर्वक पुल के नीचे सो सकते थे'* जैसा कि *कार्लायल* (*Thomas* Carlyle, 1795-1881) ने कहा था।"[4] जब उच्च वर्ग श्रमिको की दयनीय दशा से ही द्रवित नहीं हुआ, तो श्रमिको के राजनीतिक अधिकारो की कल्पना का प्रश्न ही नही था। समस्त राजनीतिक-आर्थिक अधिकार उच्च वर्ग तक ही सीमित थे।

इस स्थिति में प्रश्न यह था कि इस अन्याय और शोषण का किस प्रकार उन्मूलन किया जाय ? या, इस दुर्भाग्यपूर्ण व्यवस्था के विकल्प मे और कौन सी व्यवस्था की स्थापना हो, जो इस प्रकार के दमन और शोषण से मुक्त कर सके। वास्तव मे उस समय इस बात की अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत हुई कि—

(i) समाज के उत्पादन साधनो पर किसी एक वर्ग विशेष का नियन्त्रण न हो;

(ii) समाज की सम्पत्ति का न्यायोचित वितरण हो;

(iii) समाज के श्रमिक वर्ग को उसके श्रम के उपलक्ष में उचित वेतन मिले। यह वेतन उसे किसी वर्ग विशेष से आभार रूप में न मिले वरन् उसका यह अधिकार हो।

---

4. सेबिन, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ० 398.

(iv) अर्थ व्यवस्था का उद्देश्य निजी लाभ के स्थान पर समाज सेवा को प्रतिष्ठित करना हो।

लेकिन इस कार्य का उत्तरदायित्व कौन ले। उस समय समस्त आर्थिक व्यवस्था पर पूंजीपतियों का आधिपत्य था। इन शोषण-कर्त्ताओं से यह अपेक्षा नही की जा सकती थी कि वे स्वयं ही न्यायोचित समाज की स्थापना में पहल करें। उदार भावना से प्रेरित हो धनिक लोग कुछ कार्य कर सकते थे, लेकिन इससे समस्या का समाधान नही हो सकता था।

एक शोषण-रहित समाज की स्थापना के दायित्व के लिये राज्य ही एक उपयुक्त संस्था थी, जो समाज की ओर से उत्पादन के साधनो पर नियन्त्रण कर सामाजिक सम्पत्ति का न्यायोचित वितरण कर सके। इस प्रकार उस समय यह माँग जोर पकड़ने लगी कि राज्य को सामाजिक व्यवस्था मे सक्रिय भाग लेना चाहिये। अहस्तक्षेप की नीति से अन्याय का उन्मूलन नही हो सकता था। अब राज्य के सकारात्मक कार्यों की भूमिका को मान्यता मिलना प्रारम्भ हुआ।

उस समय जिस प्रकार से राज्य संगठित था, क्या वह इस प्रकार *के उत्तरदायित्व के लिये सक्षम था ? क्या वह इस दायित्व का निषपक्षतापूर्वक* निर्वाह कर सकता था ? यह भी उस समय असम्भव सा जान पड़ा। क्योंकि जिन लोगो का अर्थ व्यवस्था पर नियन्त्रण था उन्हीं का शासन व्यवस्था पर आधिपत्य था। उन्होंने ही तो अहस्तक्षेप की नीति को प्रोत्साहन दिया था। और यदि राज्य कोई सक्रिय कदम उठायें भी तो राज्य ऐसा करने मे असमर्थ था, क्योंकि राज्य का स्वरूप राजतन्त्र, धनिकतन्त्र या सामन्तवादी जैसा ही था, जो अपने वर्ग-हित की साधना के लिये कटिबद्ध था। अब आवश्यकता इस बात की थी कि राज्य के वास्तविक स्वरूप मे ही परिवर्तन किया जाय। राज्य की *शासन व्यवस्था लोकतान्त्रिक ढंग से हो ताकि वह सही अर्थ मे समाज का* प्रतिनिधित्व कर सके। यही से राज्य को लोकतान्त्रिक सिद्धान्तो पर संगठित करने की माँग ने महत्व ग्रहण किया।

इस प्रकार उस समय सामाजिक सम्पत्ति के श्रोतो का सामाजीकरण करने तथा लोकतन्त्र की स्थापना के लिये चिन्तन और आन्दोलन दोनों का ही प्रादुर्भाव हुआ। यही लोकतान्त्रिक समाजवाद का आधार एवं प्रारम्भ था।

मार्क्सवादी विचारो से यूरोप में वास्तविक समाजवादी विचार-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। *मार्क्सवादी समाजवाद वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति पर आधारित था।*

मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाजवाद भी कहते हैं, क्योंकि मार्क्स-ऐन्जिल्स के विचार ऐतिहासिक तथ्यों सामाजिक प्रभावों, मानव स्वभाव के मनोवैज्ञानिक अध्ययन, कारण-परिणाम के सम्बन्धों पर आधारित था। सभी लोकतान्त्रिक समाजवादी मार्क्सवादी विवेचन से प्रभावित तो हुए किन्तु मार्क्सवादी सिद्धान्त जैसे द्वन्दात्मक भौतिकवाद, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, वर्ग-संघर्ष, श्रमिक-क्रान्ति, सर्वहारावर्ग का अधिनायकत्व तथा राज्य-रहित, शोषण-रहित अन्तिम साम्यवादी व्यवस्था आदि को स्वीकार नहीं करते। यद्यपि मार्क्सवाद उस समय सम्पूर्ण यूरोप पर छाया रहा, किन्तु यह लोकतान्त्रिक समाजवादियों के लिये प्रेरणास्रोत न बन सका। वास्तव में लोकतान्त्रिक समाजवाद का विकास मार्क्सवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ।

यूटोपियायी समाजवादी (सेन्ट साइमन, चार्ल्स फोरिये, रॉबर्ट ओवन आदि) प्रारम्भिक समाजवादी थे जिनके विचारों में समाजवाद के सभी सिद्धान्तों की झाँकी मिलती है। वे उस समय प्रचलित पूंजीवादी व्यवस्था, स्पर्धा, लाभ, आदि के कटु आलोचक थे तथा उनसे सम्बन्धित बुराइयों के उन्मूलन के पक्ष में थे। किन्हीं कारणों से उन्हें यूटोपियायी कहा जाता है, किन्तु वे वास्तव में लोकतान्त्रिक समाजवादी थे। यूटोपियायी समाजवादियों ने लगभग उन सभी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो लोकतान्त्रिक समाजवाद के सिद्धान्त-सूत्र हैं, उदाहरणार्थ -

(i) यूटोपियायी समाजवादी वर्ग-भेद में विश्वास नहीं करते थे। उनका समाजवाद सम्पूर्ण समाज का था।

(ii) सामाजिक बुराइयों को दूर करने तथा समाजवादी सुधारों के लिये वे राज्य एवं विधि निर्माण के महत्व को स्वीकार करते थे।

(iii) वे शान्तिपूर्ण एवं विकासवादी साधनों को मान्यता देते थे।

बेन्थम (Jeremy Bentham, 1748-1832) प्रमुख *उपयोगितावादी* थे। किन्तु उनके विचारों ने आधुनिक उदारवाद एवं समाजवाद को प्रभावित किया। बेन्थम के विचारों में निम्नलिखित तत्व स्पष्ट हैं:—

प्रथम, बेन्थम का उपयोगितावादी सिद्धान्त—अधिकतम व्यक्तियों की अधिकतम भलाई (greatest happiness of the greatest number)—उस समय-प्रगतिशील सुधारों का मुख्य आधार बन गया।[5] इस सिद्धान्त ने

5. Sabine, G H, A History of Political Theory, p. 566

सुधारों में उच्च वर्ग की परिधि तोडकर यह मान्यता प्रदान की कि कल्याणकारी गतिविधियों के अन्तर्गत समाज के अधिक से अधिक व्यक्ति आने चाहिए।

द्वितीय, वह मानव स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था किन्तु ये अधिकार प्रकृति से नही राज्य या विधि द्वारा प्राप्त होते है।

तृतीय, बेन्थम ने कई सुधारो का सुझाव दिया। बेन्थम ने जिन व्यवहारिक विधायी सुधारों पर बल दिया उनकी बड़ी संख्या थी, जिनमें संवैधानिक, लोक-शिक्षा, लोक-स्वास्थ्य, दरिद्र वर्ग से सम्बन्धित कानूनो में सुधार, असैनिक सेवा सुधार आदि की योजनाये सम्मिलित थी। यहाँ पर बेन्थम को यह विश्वास हुआ कि ये सभी सुधार व्यर्थ है जब तक कि संसद मे प्रतिनिधि-प्रणाली व्यवस्था में लोकतान्त्रिक परिवर्तन न किये जाये।[6] इस प्रकार बेन्थम लोकतान्त्रिक सुधार और राज्य द्वारा सुधारवादी कार्यक्रम का समर्थक था।

चतुर्थ, बेन्थम राज्य को उतना महत्वपूर्ण स्थान नही देना चाहता था जिससे वह आदर्शवादी अधिपुरुष का स्थान ग्रहण करले। व्यक्ति के संदर्भ में वह राज्य को सीमित मानता था। बेन्थम के अनुसार सामाजिक हित व्यक्तियों का ही सामूहिक हित है, इसके अतिरिक्त और कुछ नही।[7] इस प्रकार वह सर्व-सत्ताधारी राज्य का पूर्णत: विरोधी था।

अन्त में, सुधारो द्वारा बेन्थम जिन बुराइयो को दूर करना चाहता था, इस सम्बन्ध मे उसका दृष्टिकोण था कि जिस बुराई का उन्मूलन किया जाए वह वास्तव में बुराई हो; तथा जिन साधनो का प्रयोग किया जाय वे उन बुराइयो से कम बुरे होने चाहिए।[8] इस प्रकार बेन्थम साधनों की नमनीयता के पक्ष मे था। उसने बुरे साधनो को कभी मान्यता नही दी।

बेन्थम के विचारो को समाजवादी तो नही कह सकते, किन्तु जिन तत्वों को लोकतान्त्रिक समाजवाद मान्यता देता है उनका बहुत कुछ आधार बेन्थम के विचारों मे मिलता है।

---

6 सेटिल, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास पृ. 369;
Sabine, G. H., A History of Political Theory, p 567.

7 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 214.
सेटिल, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ 368.

8 Hallowell, J H, Ibid., p 214.

जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill, 1806-73), व्यक्तिवादी विचारधारा से जुड़े हुए हैं। किन्तु उनकी व्यक्तिवादिता व्यक्ति के 'स्वयं' तक ही सीमित थी। उन्होंने व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सामाजिक सन्दर्भ में व्याख्या की है। उनके विचारो में लोकतन्त्र और सामाजिकता दोनों का ही दिग्दर्शन होता है। मिल के ही शब्दो में:—

> "मनुष्य-जीवन के वैयक्तिक और सामाजिक दोनों अंशों के साथ न्याय होगा, यदि ये दोनो अपने को उन्हीं बातो तक सीमित रखते हैं जिन बातो से उनका विशेष और गहरा सम्बन्ध है। उन बातों में जिनसे कि केवल व्यक्ति के निज का सम्बन्ध है, वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति की अनियन्त्रित स्वतन्त्रता होनी चाहिए। व्यक्ति के जिस आचरण और व्यवहार से समाज पर प्रभाव पड़ता है, उस आचरण और व्यवहार पर समाज का अधिकार होना चाहिए।"[9]

मिल के विचारो से किसी समाजवादी सम्प्रदाय की सृष्टि नही हुई है किन्तु उन्होंने एक ओर तो अनियन्त्रित स्वतन्त्रता का विरोध किया, दूसरी ओर राज्य के अधिकार क्षेत्र मे वृद्धि का समर्थन किया। व्यावहारिक राजनीति में वे परिवर्तनवादी थे तथा उस समय प्रचलित तमाम बुराइयो के उन्मूलन के लिए विधि निर्माण का समर्थन करते थे। उनके विचार किसी न किसी रूप में लोकतन्त्र और समाजवाद के समन्वय की ओर इंगित करते हैं। आगे चलकर इन्हीं विचारो की पूर्ण अभिव्यक्ति इग्लैंड की समाजवादी प्रवृति मे मिलती है।

ग्रीन (T. H. Green 1836-1882) आदर्शवादी-उदारवादी थे। उनके विचारो ने लोकतान्त्रिक समाजवाद को किसी न किसी रूप में प्रोत्साहन दिया। ग्रीन के पहिले उदारवादी (Liberal) कानूनों का तदर्थरूप (ad hoc) में कभी-कभी निर्माण होता था। ग्रीन ने उदार कानूनो को स्थाई आधार पर सम्पूर्ण समाज के लिए निर्मित करने का सुझाव दिया।

ग्रीन ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक उत्तरदायित्व को समन्वय तथा संतुलित करने का प्रयत्न किया। एक ओर तो उन्होंने मानव अधिकारो का समर्थन किया जो लोकतन्त्र की जान होते हैं; दूसरी ओर इन अधिकारो की रक्षा के लिए राज्य को आवश्यक बतलाया तथा राज्य के सकारात्मक कार्यों का सुझाव दिया जो समाजवाद का मुख्य तत्व है। ग्रीन के शब्दों मे—

---

9 Mill, J. S., Liberty and Representative Government, Hindi Translation by P. C. Jain, Hindi Samiti, Suchna Vibhag, Uttar Pradesh 1963, p. 99.

"राज्य को अधिकारों की पूर्व कल्पना होती है, और ये अधिकार व्यक्तियों के अधिकार होते हैं। उन्हें बनाये रखने के लिए समाज यह रूप ग्रहण करता है।"[10]

ग्रीन की नैतिकता का आधार-भुत सिद्धान्त व्यक्ति और सामाजिक समुदाय जिसका कि वह सदस्य है, की पारस्परिकता है।[11] ग्रीन का यह कथन कि 'स्वयं सामाजिक है' (Self is a social self) अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।[12]

ग्रीन द्वारा उदारवाद की नयी व्याख्या का परिणाम यह हुआ कि राजनीति और अर्थशास्त्र के मध्य जो एक कठोर सीमा थी वह समाप्त हो गई। ग्रीन के पहिले उदारवादी अर्थशास्त्र तथा बाजार की स्वतन्त्र प्रक्रिया मे राज्य का कोई भी हस्तक्षेप नही चाहते थे। ग्रीन के अनुसार मुक्त एवं स्वतन्त्र बाजार प्रक्रिया भी एक सामाजिक संस्था है, जिसे पूर्णतः स्वतन्त्र रखने के लिये विधि निर्माण एवं राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। सेबाइन ने इस सम्बन्ध मे लिखा है:—

"ग्रीन के उदारवाद मे राज्य को स्पष्टतः एक सकारात्मक साध्य स्वीकार किया गया है, जिसका प्रयोग सकारात्मक स्वतन्त्रता(positive freedom) में योगदान हेतु विधि निर्माण के लिये किया जा सकता है। सूक्ष्म में, राज्य का उपयोग सामान्य कल्याण के किसी भी उद्देश्य के लिये हो सकता है यदि राज्य बुराइयों मे वृद्धि नही बल्कि उनका उन्मूलन करता है।"[13]

ग्रीन ने सामाजिक हित में राज्य के कार्यक्षेत्र मे वृद्धि करने का सुझाव द्वारा दिया। उनका विश्वास था कि राज्य द्वारा सार्वजनिक शिक्षा सिर्फ अनुदान ही नही बल्कि इससे अधिक और कुछ भी करना चाहिये। राज्य को स्वास्थ्य एवं सफाई, अच्छे भवन निर्माण, श्रमिकों के साथ समझौतों पर नियन्त्रण करने में अपने उत्तरदायित्वो का विस्तार करना चाहिये। राज्य अपने कार्यक्षेत्र में जो भी विस्तार करे, वह शक्ति द्वारा नहीं, जन-इच्छा द्वारा होना चाहिये। ग्रीन के

10. Green, T. H., Lectures on the Principles of Political Obligation, Hindi Translation, by Dr B M. Sharma, Hindi Samiti, Suchna Vibhag, Uttar Pradesh, 1966, p. 137.
11. Sabine, G H., A History of Political Theory, p. 611
12. Ibid, p. 617.
13. Ibid, p. 615.

ये विचार अवश्य ही लोकतान्त्रिक समाजवाद में योगदान के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं।

इंग्लैन्ड मे फेबियन समाजवादियों ने वहाँ के चिन्तन को बड़ा प्रभावित किया। अंग्रेजों को उसमे मार्क्सवाद के विकल्प के तत्व दृष्टिगोचर हुए। जोड (C. E. M. Joad) ने फेबियनवाद को इंग्लैन्ड मे लोकतान्त्रिक समाजवाद (जिसे जोड ने समष्टिवाद कहा है) का अग्रसर माना है। फेबियन बुद्धिजीवियों ने यह स्वीकार किया कि पूंजीवादी और प्रतियोगितावादी अर्थ व्यवस्था मे कुछ ही लोगों को सुख व आराम मिला है तथा बहुसंख्यकों के कष्टों में वृद्धि हुई है। सामान्य लोगों को सुख एवं सुविधाएँ प्राप्त हों, इसलिये समाज की ऐसी व्यवस्था की जाय, जिसमे भूमि और औद्योगिक पूंजी को व्यक्ति या वर्ग-विशेष के स्वामित्व से मुक्त करा कर सामाजिक स्वामित्व की स्थापना की जाय। फेबियन विचारकों ने क्रान्ति के स्थान पर लोकतान्त्रिक संवैधानिक साधनों का समर्थन किया।

फेबियन समाजवादियों की लोकतान्त्रिक समाजवाद की प्रगति में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यूटोपियायी समाजवादियों से ऊपर उठकर तथा मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों का सैद्धान्तिक सामना कर फेबियनवादियों ने लोकतान्त्रिक या विकासवादी समाजवाद के मार्ग को प्रशस्त एवं स्पष्ट किया।

संशोधनवादी (Revisionists)

मार्क्स के निधन के बाद समाजवादी दो शाखाओं मे विभाजित हो गये। एक क्रान्तिकारी तथा दूसरे विकासवादी। विकासवादियों का प्रतिनिधित्व यूरोप मे, विशेषतः जर्मनी, मे सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी (Social Democratic Party) अथवा समाजवादी लोकतान्त्रिक दल ने किया। जर्मनी मे इस दल की स्थापना 1869 मे हुई। इस दल के प्रमुख समर्थक फर्डीनेन्ड लैस्ले (Ferdinand Laisalle, 1825-1864) तथा एडुअर्ड बर्न्सटाइन (Eduard Bernstein, 1850-1932) थे। इनके प्रयासो से यह दल मार्क्सवादी मार्ग से हट कर उदारवाद का समर्थक और पोषक बन गया। इन व्यक्तियों ने इस दल के कार्यक्रम को ऐसा रूप दिया कि वह एक नरम प्रकार के समाजवादी, किन्तु साथ ही साथ लोकतान्त्रिक सुधार के अनुकूल हो गया।

एडुअर्ड बर्न्सटाइन, जिन्हे प्रमुख संशोधनवादी कहा जाता है, की लोकतान्त्रिक समाजवाद के मार्ग प्रशस्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

संशोधनवादी श्रमिकों के हितैषी थे। वे मानते थे कि सामाजिक न्याय की स्थापना के लिये आवश्यक है कि राज्य उत्पादन का अधिक अच्छे ढंग से वितरण करे। इनके नेतृत्व में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने एक व्यापक समाजवादी कार्यक्रम[14] स्वीकार किया जिसे यूरोप के विकासवादी समाजवादियों ने सामान्यत. स्वीकार किया था। इस कार्यक्रम की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित थीः—

1. सार्वजनिक, प्रत्यक्ष तथा समान मताधिकार,
2. जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व,
3. लोकमत के आधार पर विधि निर्माण करना,
4. निःशुल्क चिकित्सा,
5. क्रमिक आय-कर (progressive income tax),
6. प्रति दिन आठ घन्टे काम,
7. रात्रि में काम लेने पर निषेध,
8. बच्चों से काम लेने पर निषेध, तथा
9. प्रत्येक नागरिक का जीवन बीमा, आदि।

उपरोक्त कार्यक्रम उस समय प्रगतिशील एवं समाजवादी था जिसने राज्य को एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की। किन्तु लैस्ले, बर्न्सटाइन आदि सभी की यह नीति थी कि यह कार्यक्रम वर्ग-संघर्ष में निहित हिंसा के बिना ही सम्पादित किया जाय। उन्होंने परिवर्तनों के लिये लोकतान्त्रिक साधनों का समर्थन किया।

इंग्लैंड का मजदूर दल (The British Labour Party)

लोकतान्त्रिक समाजवाद का व्यावहारिक कार्यक्रम निर्धारित करने में इंग्लैण्ड के मजदूर दल (Labuor Party) का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जोड के अनुसार ब्रिटिश मजदूर दल बड़ी ही स्पष्टता के साथ समाजवादी गतिदिशा की ओर संकेत तथा शालीनतापूर्वक उनका अनुसरण करता है।[1] 1918 में इस दल ने 'मजदूर और नवीन सामाजिक व्यवस्था' शीर्षक कार्यक्रम स्वीकार किया जो निम्नलिखित चार मौलिक सूत्रों पर आधारित था:—

---

14. यह कार्यक्रम गोथा कन्वेशन (Gotha Convention, 1875) तथा एरफर्ट प्रोग्रेम (Erfurt Programme, 1891) पर आधारित था।
See Hallowell, J. H , Main Currents in Modern Political Thought, pp. 447-450.

1. सबके लिये न्यूनतम राष्ट्रीय आय,
2. उद्योग का लोकतन्त्रीय नियन्त्रण,
3. राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में क्रान्ति,
4. अतिरिक्त सम्पत्ति का सार्वजनिक कल्याण के लिये उपयोग।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत शिक्षा सम्बन्धी सुझाव भी स्वीकृत किये गये, जिन को कार्यान्वित करते समय सामाजिक वर्गों के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त दल नौकरशाही और अति केन्द्रीकरण के भय से भी सजग है। इसलिये स्थानीय संस्थाओं की गतिविधियों को व्यापक बनाने का प्रयत्न किया गया। महत्वपूर्ण सेवाओं के राष्ट्रीयकरण और नगरपालिकाकरण के फलस्वरूप बहुत से अतिरिक्त धन का निजी स्वामित्व स्वमेव ही समाप्त हो जायगा। अनुक्रमिक आय-कर से पूंजीपतियों के लाभ का अधिकांश भाग राज्य के पास चला जायगा। इस तरह राज्य जो धन राशि प्राप्त करेगा उसका प्रयोग राष्ट्र भर में शिक्षा फैलाने, न्यूनतम आय वालों का मानदण्ड ऊंचा करने, बीमारों और निर्बलों की चिकित्सा और उनका पालन-पोषण करने, माता बनने वाली स्त्रियों की सहायता, वैधानिक शोधों को प्रोत्साहित और समाज के सामान्य जीवन स्तर को ऊंचा करने के लिये किया जायगा।

मजदूर दल के ये आदर्श, जो उस समय निश्चित किये गये, ऐसे लक्ष्य हैं जिन्हें समाजवादी राज्य में ही प्राप्त किया जा सकता है।[15]

1929 में 'मजदूर और राष्ट्र' के नाम से एक और घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया जिसमें मजदूर दल ने कोयले की खानों, भूमि, यातायात, जीवन बीमा के सामाजीकरण तथा बैंक ऑफ इंग्लैण्ड के राष्ट्रीयकरण का वचन दिया। 1940 में लेबर पार्टी ने एक कार्यक्रम प्रकाशित जो किया मजदूर, युद्ध और शान्ति' के नाम से प्रसिद्ध है।[16] 1942 में लेबर पार्टी के अधिवेशन में पारित प्रस्ताव का यह भाग महत्वपूर्ण है:—

> "देश के मौलिक उद्योगों और सेवाओं का समाजीकरण तथा सामाजिक उपभोग की दृष्टि से उत्पादन की योजना बनाना; क्योंकि यही एक ऐसी न्याय संगत समृद्ध आर्थिक व्यवस्था की स्थाई आधार-शिला है जिसमें राजनीतिक लोकतन्त्र और व्यक्तिगत स्वाधीनता के

---

15 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 56-58.
16, जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ० 55.

साथ सभी नागरिकों के लिये जीवन के एक न्याय संगत मानदण्ड की संगति बैठाई जा सकती है।" 17.

यूरोप में द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त होते ही इंग्लैण्ड में चुनाव हुए। लेबर पार्टी के इतिहास में 1945 के आम चुनावों का विशेष महत्व है। इसी वर्ष लेबर पार्टी पूर्णतः सत्ताधारी दल के रुप में सामने आई। यद्यपि इसके पहिले भी लेबर पार्टी 1924 और 1929-31 में सत्ता में आई, किन्तु उसे अपने कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिये समुचित अवसर नहीं मिल सका। यह अवसर अब 1945 में आया।

1945 के आम चुनावों के पहले लेबर पार्टी ने वचन दिया था कि वह सत्तारुढ़ होते ही आर्थिक व्यवस्था के प्रमुख साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व की स्थापना कर देगा।[18] क्लीमेन्ट ऐटली (C R.Attlee) के नेतृत्व में गठित मन्त्रीमन्डल ने कोयले और इस्पात के उद्योगों, बैंक ऑफ इंग्लैण्ड नागरिक उड्डयन, विद्युत, दूर-सचार, रेल और मोटर-बस परिवहन, जलमार्गों और गैस आदि का राष्ट्रीयकरण कर दिया। रोटी और दूध के व्यवसाय को आर्थिक सहायता दी गई। आवास योजनाओं, वृद्धावस्था में पेन्शन की व्यवस्था पर ध्यान दिया गया। राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा मजदूर दल की महानतम सफलताओं में से एक है।[19]

राष्ट्रीयकरण स्वयं में एक साध्य नहीं हैं, किन्तु इसके द्वारा कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति होती है। अर्थ-व्यवस्था पर नियन्त्रण आवश्यक है, क्योंकि इमसे सरकार को उद्योगपतियों द्वारा सरकार पर नियन्त्रण बनाये रखने से मुक्ति मिल जाती है।[20] परिणामस्वरुप राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का लगभग 20 प्रतिशत सार्वजनिक नियन्त्रण में आ गया।

इस शताब्दी के छठवे दशक मे लेबर पार्टी का हेरॉल्ड विल्सन (Herold-Wilson) के नेतृत्व में सरकार पर फिर प्रभुत्व स्थापित हो गया। विल्सन सरकार ने इस समाजवादी कार्यक्रम को और भी आगे बढ़ाया।

---

17 उद्धृत, आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खन्ड, पृ० 625-26.
18 Attlee, C. R., As It Happend, pp. 162-63.
19. आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 626.
20 Attlee, C. R., As It Happened, pp. 163.

स्कैनेडेवियन राज्यों में लोकतान्त्रिक समाजवाद सहकारी समाजवाद

स्कैनेडेवियन राज्यों (नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क) में लोकतान्त्रिक समाजवाद की विशेष भूमिका रही है। ये छोटे-छोटे राज्य कई राजनीतिक-आर्थिक सुधारों की प्रयोगशाला रहे है। [21] विशेषत इनके लोकतान्त्रिक वातावरण मे कई समाजवादी सुधारा का विकास हुआ है।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही स्कैनेडेवियन राज्यो में मजदूर आन्दोलनों ने काफी गति और शक्ति का परिचय दिया है। इन सभी राज्यों में समाजवादी दलो ने सत्ता प्राप्त की और अपने कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने का सफल प्रयत्न किया है। 1935 में स्वीडन तथा 1945 में नोर्वे मे समाजवादी दल सत्तारूढ़ हुए। इन समाजवादी दलो ने जो सुधार किये या जो समाजवादी नीतियाँ अपनाई, उनका लोकतान्त्रिक समाजवाद के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान रहा है। स्कैनेडेवियन समाजवाद की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है —

प्रथम, समस्त अर्थ-व्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण नही है। जिन-जिन क्षेत्रों मे राज्य के नियन्त्रण का विस्तार किया है वह शनैः शनैः हुआ है।

द्वितीय, *अर्थ-व्यवस्था* का एक बडा भाग निजो क्षेत्र के लिये छोड़ा गया है। वहाँ यह माना जाता है कि जन-कल्याण और कुशलता के लिए सार्वजनिक और निजी क्षेत्र मे सदभावपूर्ण स्पर्धा होनी चाहिये। इस प्रकार स्कैनेडेवियन राज्यो को अर्थ-व्यवस्था प्रत्येक दृष्टि से सन्तुलित है।

तृतीय; स्कैनेडेवियन समाजवाद को सबसे महत्वपूर्ण विशेषता वहा का सहकारी समाजवाद है। इन राज्या को अर्थ व्यवस्था में सहकारी संस्थाओं, विशेषत. उपभोक्ता सहकारिता, का विशेष *योगदान* है।

चतुर्थ, इन राज्यों में राशन-प्रणाली (Rationing System) बहुत ही कुशल है। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त स्वीडन मे प्रत्येक व्यक्ति को एक कमीज और एक सूट प्रतिवर्ष मिलता था। [22] राज्य द्वारा वितरण व्यवस्था *और मूल्य नियन्त्रण* अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं।

इस प्रगति का श्रेय स्कैनेडेवियन राज्यो के श्रमिक वर्ग को है जो अत्यन्त ही बुद्धिमान एवं कुशल हैं। वे सुधार चाहते हैं, क्रान्ति नहीं।

---

21. Albjerg and Albjerg, Europe from 1914 to the Present, p 411.
22. Ibid , p.735.

इजराइल की समाजवादी व्यवस्था [23]

इजराइल की लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था सम्भवत. सर्वाधिक प्रगतिशील एवं आकर्षित है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इजराइल की समाजवादी व्यवस्था साम्यवादी सिद्धान्तो से भी कई कदम आगे है। इजराइल मे इस समय प्रचलित व्यवस्था कोई नवीन विकास नही है। यह सदियो के विकास का परिणाम है। यह व्यवस्था यहूदी जाति की परम्परा का अभिन्न अंग है।

इजराइल मे लेबर पार्टी एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति है। सबसे शक्तिशाली आर्थिक संस्था 'इजराइल श्रमिक सघ' (General Federation of Israel Labour) ये दोनो मिल कर इजराइल को श्रमिक राष्ट्र बनाना चाहते हैं। कृषि क्षेत्र में इस उद्देश्य की प्राप्ति सामन्यत हो चुकी है, औद्योगिक क्षेत्र मे इस लक्ष्य की उपलब्धि अभी शेष है।

इजराइल का आधुनिक समाजवादी विकास उसी समय से प्रारम्भ हो गया था जब फिलिस्तीन पर अग्रेजो का संरक्षण था।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे रूस और रूमानिया से आये हुए यहूदियो ने छोटे-छोटे कृषि फार्म का निर्माण किया। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे पूर्वी यूरोप से कुछ बुद्धिजीवी यहूदियो का भी आगमन हुआ। ये समाजवादी थे, जो बुद्धिजीवी होते हुए भी श्रम की महत्ता समझते थे तथा सम्पत्ति के सामाजिक स्वामित्व मे विश्वास करते थे। यह यहूदी परम्परा के पूर्ण अनुरुप था।

प्रथम विश्व युद्ध के पहिले गेलिली क्षेत्र मे एक-दो सहकारी सामूहिक ग्रामों (Collective Settlements) की स्थापना हुई। बाद मे इसमे वृद्धि हो गई। इन सहकारी सामूहिक ग्रामो का स्वामित्व सभी व्यक्तियों या समाज का था। यहूदी भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व मे सामान्यत विश्वास नही करते।

कृषि सहकारी सामूहिक ग्रामो को दो श्रेणियो मे विभाजित कर सकते हैं। प्रथम, छोटे-छोटे कृषको के सहकारी ग्राम जहाँ प्रत्येक परिवार अपनी भूमि पर स्वयं श्रम करता तथा उससे पारिवारिक आय प्राप्त करता। भाड़े पर श्रमिको को लगाने पर प्रतिबन्ध था। केवल कृषि-ऋण, विक्रय आदि सहकारिता पर आधारित थी।

---

23 In this connection see Israel by Norman Bentwich, Chapter 8, The *Socialist Order*

दूसरी श्रेणी में वे समूह आते हैं जिन्हें किबुट्ज (Kibbutz) कहा जाता है। इस व्यवस्था में सम्पूर्ण ग्राम को एक ही इकाई माना जाता है,जहाँ किसी की निजी सम्पत्ति नहीं होती, प्रत्येक व्यक्ति समानरूप से भागीदार है, बच्चों की देख-रेख समाज करता है। व्यक्ति पूरे समाज के लिये कार्य करते हैं तथा इस व्यवस्था का संचालन ग्राम-सभा (Assembly of the Community) करती है। यह व्यवस्था इस सिद्धान्त पर आधारित है कि-प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करे तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार मिले।

इजराइल की समाजवादी व्यवस्था में राज्य और विभिन्न समुदायों के अधिकारों और उत्तरदायित्वों का बड़ा ही अच्छा समन्वय किया गया है। इजराइली राज्य वास्तव में इन्हीं समुदायों का विस्तार है। इस व्यवस्था से इजराइल ने जो प्रगति एवं शक्ति संचय किया है वह आश्चर्यजनक है।

भारतीय समाजवाद

भारतवर्ष वैसे समाजवादी राज्य नहीं है किन्तु स्वाधीनता के उपरान्त जो संविधान का निर्माण किया गया उसमें ऐसे उद्देश्यों को स्वीकार किया गया है जो लोकतान्त्रिक समाजवाद ही हो सकता है। संविधान में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत वास्तव में कल्याणकारी समाजवादी कार्यक्रम को स्पष्टतः मान्यता प्रदान की गई है। इन निर्देशक तत्वों में सभी व्यक्तियों को समुचित जीविका का अधिकार, अर्थ-व्यवस्था पर सामाजिक स्वामित्व एवं नियन्त्रण, सम्पत्ति संचय का विरोध, श्रमिकों के उत्थान, पिछड़े हुए वर्ग की प्रगति आदि को सम्मलित किया गया है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जो स्वाधीनता से ही केन्द्र में सत्ताधारी रहा है, समाजवादी कार्यक्रम स्वीकार किया है। इस समाजवादी व्यवस्था की निम्न-लिखित प्रमुख विशेषताएं हैं:—

प्रथम, समाज के प्रत्येक आर्थिक साधनों पर राज्य का स्वामित्व है।

द्वितीय, राज्य के महत्व और व्यक्ति की गरिमा को स्वीकार किया गया है।

तृतीय, आर्थिक क्षेत्र में मिश्रित-अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy) अपनायी गई है। महत्वपूर्ण उद्योगों, आर्थिक गतिविधियों, एवं सेवाओं का राष्ट्रीयकरण किया गया है। निजी क्षेत्र के लिये भी व्यापक क्षेत्र छोड़ा गया है। किन्तु निजी क्षेत्र को नियन्त्रण हीन नहीं छोड़ा गया है।

चतुर्थ, देश के आर्थिक साधनों का न्यायोचित वितरण करने के लिये शहरी एवं ग्रामीण सम्पत्ति की सीमा निर्धारण भी इस समाजवादी व्यवस्था का प्रमुख अंग है।

पंचम, क्रमिक आय-कर जिससे धनिक वर्ग सम्पत्ति संचित न कर सके, किन्तु सभी वर्गों का आर्थिक प्रगति में योगदान रहे।

भारत में जो भी समाजवादी व्यवस्था का अभ्युदय हो रहा है उसके बहुत से तत्व निश्चितता ग्रहण नहीं कर पाये हैं। हमारे बहुत से सुधार तदर्थ योजना मे लगते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारत लोकतान्त्रिक व्यवस्था की ओर अग्रसर हो रहा है तथा इसे अधिक सफल बनाने के लिये आर्थिक पक्ष को मज़बूत बनान अति आवश्यक है। लोकतन्त्र और समाजवाद के समुचित एवं कुशलतापूर्वक क्रियान्वित करने से ही देश में कल्याणकारी राज्य का स्वप्न साकार हो सकता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद के विचार-सूत्र

लोकतान्त्रिक समाजवाद भी समाजवादी विचारधारा की एक प्रमुख शाखा है। इसलिये इसके तथा अन्य समाजवादी सम्प्रदायों के कुछ आधार सूत्रो मे कोई भिन्नता नही है। व्यक्तिवाद, पूंजीवाद आदि के दोषो के प्रति इन सभी का द्रष्टिकोण लगभग एक सा ही है। लोकतान्त्रिक समाजवाद अन्य समाजवादी शाखाओं से राज्य के प्रति द्रष्टिकोण, साधन, उद्देश्य एवं कार्यक्रम में स्पष्टतः भिन्न है। इन्हो क्षेत्रो में भिन्नता होने के कारण ही लोकतान्त्रिक समाजवाद का स्वयं का प्रथक अस्तित्व है।

व्यक्तिवाद का खन्डन

लोकतान्त्रिक समाजवाद में समष्टिवादी तत्व व्यक्तिवाद की मूल धारणाओं और प्रस्थापनाओं का या तो पूर्ण खन्डन या बहुत सीमा तक विरोध करते हैं। व्यक्तिवादी सिद्धान्तो के अनुसार

(i) व्यक्ति अपने में एक पूर्ण इकाई है;
(ii) समाज व्यक्तियों का समूह मात्र है;
(iii) समाज कृत्रिम है;
(iv) समाज या राज्य व्यक्ति विकास का साधन मात्र है;
(v) स्वतन्त्रता ही सुख और विकास है; तथा
(vi) किसी भी संस्था को व्यक्ति के मामले में हस्तक्षेप नही करना चाहिये।

समष्टिवादी इन सब सिद्धान्तों का खन्डन करते हैं। इसीलिये यह कहा गया है कि समष्टिवाद का प्रादुर्भाव व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ।

पूंजीवादी व्यवस्था का विरोध

समाजवादी विचारधारा के विकास को औद्योगिक क्रान्ति और पूंजीवादी व्यवस्था के विकास से सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। समाजवाद पूंजीवादी दोषों के प्रति विद्रोह था। इसलिये लोकतान्त्रिक समाजवाद भी पूंजीवादी व्यवस्था का आलोचक है, क्योंकि इस व्यवस्था में राजनीतिक और आर्थिक पक्षों पर थोड़े से व्यक्तियों का आधिपत्य स्थापित हो जाता है। पूंजीवादी व्यवस्था सीमित व्यक्तियों मे धन-संचय, एकाधिकार, लाभ, स्पर्धा आदि को प्रोत्साहन देती है। लोकतान्त्रिक समाजवाद पूंजीवादी शोषण, उससे सम्बन्धित अन्य बुराइयों को उन्मूलन करने का कार्यक्रम है। इसके अन्तर्गत आर्थिक साधनों पर सामाजिक नियन्त्रण तथा उनके न्यायोचित वितरण को पूर्णत: स्वीकार किया जाता है।[24]

व्यक्ति और समाज का सावयव सम्बन्ध

समष्टिवादी मनुष्य और समाज के सम्बन्धों के विषय मे अवयवी सिद्धान्त के समर्थक हैं। उनके अनुसार समाज मनुष्य के लिये स्वाभविक है। शारीरिक रचना और कार्य प्रणाली की ही भांति समाज के विभिन्न अंगों का कल्याण परस्पर सहयोग पर निर्भर करता है। व्यक्ति और समाज के हित मे कोई अन्तर नहीं होता। व्यक्ति का सुख समाज की समृद्धि और सम्पन्नता मे है तथा सुखी और प्रगतिशील व्यक्ति समाज के पूर्ण विकास मे सहायक होता है।

समष्टिवाद और स्वतन्त्रता

व्यक्तिवादी और पूंजीवादी व्यवस्था व्यक्ति की अधिकतम स्वतंत्रता पर आधारित है। लोकतान्त्रिक समष्टिवादी इस स्वतन्त्रता को वास्तविक नहीं मानते। यह तथाकथित स्वतन्त्रता है। प्रतियोगी समाज में केवल सबल की स्वतन्त्रता ही सुरक्षित रह सकती है। इस तथाकथित स्वतन्त्रता से बहुसंख्यक लोग शक्ति और साधन सम्पन्न मुट्ठीभर लोगों के परतन्त्र हो जाते हैं। इस व्यक्तिवादी-पूंजीवादी स्वतन्त्र समाज मे भारी बहुमत अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएं भी उपलब्ध नही कर सकता, वे दरिद्रता के भार से दबे रहते हैं। या, यह कहना

---

24 पूंजीवादी व्यवस्था के दोष और समाजवाद के लिये प्रथम अध्याय देखिये।

उपयुक्त होगा कि व्यक्ति व्यक्तिवादी और पूंजीवादी जुआ जीवन भर अपने कन्धों पर लादे रहता है, जिससे मुक्ति इस तथाकथित स्वतन्त्र समाज में मिलना मुश्किल है। इस दशा या स्थिति को स्वतन्त्रता कहना अन्याय और उपहास दोनों ही होगा।

लोकतान्त्रिक समष्टिवादियो का स्वतन्त्रता सिद्धान्त व्यापक और सकारात्मक है। वास्तविक और व्यवहारिक स्वतन्त्रता समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव है। स्वतन्त्रता का तात्पर्य केवल बन्धनो का निराकरण ही नही है। राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल अधूरी और एकपक्षीय है। जब तक मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं से मुक्त नही होता, तब तक स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं है। वास्तविक स्वतन्त्रता निषेधात्मक और सकारात्मक, राजनीतिक और आर्थिक सभी है। इन उपलब्धियों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था में ही मनुष्य का चतुर्मुखी विकास हो सकता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद और राज्य

अन्य समाजवादी सम्प्रदायो की भाँति लोकतान्त्रिक समाजवाद में भी राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। कल्याणकारी कार्यक्रमो को लागू करने का मुख्य दायित्व राजकीय संस्थाओं—केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय संस्थाओ आदि—पर होता है। राज्य द्वारा समाजवादी नीतियो का निर्धारण एवं उन्हे कार्यान्वित किया जाता है। जैसा कि बार्कर ने लिखा है कि यदि किसी भी प्रकार की समाजवादी व्यवस्था की कल्पना की जाती है तो वह राज्य समाजवाद ही हो सकता है।[25]

प्राचीनकाल से ही माना जाता है कि जीवन का उद्देश्य जीवित रहना ही नही, अच्छा जीवन जीना है। यह मनुष्य के बहुमुखी विकास की अभिव्यक्ति है। लोकतन्त्र-समाजवाद में यही उद्देश्य राज्य का है। "राज्य केवल अपनी शक्ति के लिए जीवित नही रहता, जिसका अर्थ उसके समस्त सदस्यो की या कुछ सदस्यो की जीवन रक्षा होता है; अपितु उसके जीवन का उद्देश्य है कि उसके सदस्य वह कार्य कर सके जो करने योग्य हैं।"[26]

लोकतान्त्रिक समाजवाद में राज्य को व्यापक कार्य करने पड़ते हैं; उससे विभिन्न प्रकार के सकारात्मक कार्यों की अपेक्षा की जाती है। इस सम्बन्ध में राज्य के कार्यों को निम्नलिखित श्रेणियो में विभाजित किया जा सकता है:—

25. Barker, Ernest, Political Thought in England, p 203.
26 उद्धृत, जाड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 49.

प्रथम, सामाजिक हित में बहुत से महत्वपूर्ण कार्यों को राज्य स्वयं करता है। बड़े-बड़े उद्योग धन्धों तथा महत्वपूर्ण सेवाओं का राष्ट्रीयकरण किया जाता है।

द्वितीय, वे उद्योग एवं सेवाएँ जिन्हे निजी क्षेत्र मे छोड़ दिया जाता है उन पर भी राज्य का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। निजी क्षेत्रों से सम्बन्धित कानूनों का निर्माण, नीति-निर्धारण, व्यापक निर्देश आदि सभी शासन द्वारा ही दिये जाते हैं।

राज्य के इतने व्यापक कार्य एवं अधिकार का तात्पर्य यह नहीं कि राज्य सर्वसत्ताधारी बन जाय। यह सब जन-हित मे तथा जनतान्त्रिक साधनों द्वारा ही किया जाता है। लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था में राज्य और व्यक्ति के महत्व का समुचित समन्वय होता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में राज्य की प्रतिष्ठा तथा व्यक्ति की गरिमा दोनों की ही बात कही गई है। ऐसा ही विचार राज्य के विषय में लोकतान्त्रिक समाजवाद के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। एक तथ्य बिलकुल स्पष्ट है कि इस व्यवस्था में न तो राज्य कभी साध्य बन सकता है और न व्यक्ति साधन। जिस सीमा तक राज्य को अधिकारयुक्त बनाया जाता है उसका उद्देश्य व्यक्ति का हित है न कि केवल राज्य को शक्ति-सत्ता सम्पन्न करना है। इसी प्रकार जब व्यक्ति को किसी सीमा तक नियन्त्रित किया जाता है उसका तात्पर्य व्यक्ति को सामाजिक हित की दृष्टि से देखना है। उचित सामाजिकता में ही व्यक्तिगत हित निहित है।

राज्य के अधिकारो से सम्बन्धित एक विचार और महत्वपूर्ण है। लोकतान्त्रिक समाजवाद का अर्थ केन्द्रीकरण नहीं है। राज्य अपने अधिकारो और कार्यों को प्रान्तों और स्थानीय संस्थाओ में भी विभाजित करता है। इन सभी स्तरों पर संस्थाएँ लोकतान्त्रिक हो तथा उन्हें राज्य-कार्यों मे समुचित रूप से भागीदार होना चाहिए। बर्नर्ड शॉ (Bernard Shaw) ने लिखा है—

> "कोई भी प्रजातन्त्रवादी राज्य उस समय तक प्रजातान्त्रिक समाजवादी राज्य नही बन सकता, जब तक उसकी जनसंख्या के प्रत्येक केन्द्र में कोई ऐसा स्थानीय शासकीय निकाय न हो जिसका संगठन उतना ही प्रजातान्त्रिक हो जितनी केन्द्रीय संसद का है।"[27]

लोकतान्त्रिक समाजवाद और जनता

लोकतान्त्रिक समाजवाद राज्य-समाजवाद है, जिसमें राज्य की भूमिका को विशेषत. स्वीकार किया जाता है। किन्तु यह वह व्यवस्था नही है जिसमें राज्य

---

27. उद्धृत, जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 54,

आदेश देता रहे तथा जनता उनको मूक या भेड़-चाल के रूप में स्वीकार करती रहे। लोकतान्त्रिक समाजवाद में साधारण जनता की सचेतता, सतर्कता, सहयोग तथा सक्रियता अति आवश्यक है। इसी पक्ष का सबसे अधिक महत्व है। तभी तो समाजवाद जनता का तथा जनता के लिए हो सकता है। एक लोकतन्त्र व्यवस्था के अन्तर्गत समाजवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में जनता का प्रत्येक क्षेत्र में सम्मिलित रहना एक आवश्यक दशा है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद का उद्देश्य . कल्याणकारी राज्य की स्थापना

लोकतान्त्रिक समाजवाद स्वयं में कोई साध्य नहीं है। यह एक ऐसी व्यवस्था एवं कार्यक्रम है जिसमें मनुष्य के बहुमुखी विकास को सम्भव बनाने का प्रयास किया जाता है। इसका उद्देश्य जनहित है। जनहित का तात्पर्य केवल उसकी आर्थिक प्रगति में ही नहीं है इसके अन्तर्गत उसका आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक पक्ष सभी कुछ आ जाता है। अन्य शब्दों में यह कल्याणकारी राज्य की व्यवस्था करना है।

इंग्लैंड के प्रसिद्ध समाजवादी स्टेफर्ड क्रिप्स (Stafford Cripps) ने समाजवाद के तीन उद्देश्यों को प्राथमिकता दी है, ये हैं—स्वतन्त्रता, शान्ति, और आर्थिक साधनों का न्यायोचित वितरण।[28] इसका तात्पर्य लोकतान्त्रिक समाजवाद सामाजिक सेवाओं का लक्ष्य है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समता को सर्वांगीण पूर्णता प्रदान करता है।

व्यक्तिवादी और पूंजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति भौतिक शक्तियों के भार में कुचल जाता है। समाजवाद व्यक्ति को भौतिक चिन्ताओं के भार से मुक्त कर देना चाहता है, ताकि वह अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत कर सके तथा स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्तित्व का विकास कर सके। "जीवन का उद्देश्य केवल जीवन का चिरस्थायीकरण ही नहीं है परन्तु इससे अधिक है; उत्कृष्ट जीवन केवल जीवन से अधिक महत्वपूर्ण है। यह सभ्यता का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति को अस्तित्व के संघर्ष की नितान्त चिन्ताओं से विमोचित करे और उच्चतम गुण-सम्पन्न जीवन व्यतीत करने की क्षमता प्रदान कर सके।"[29] जोड ने लिखा है:—

28 Cripps, Stafford, Why This Socialism, p. 15.

29. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 48-9.

"यद्यपि हम यह मान लेते हैं कि सत्-जीवन अंशतः आध्यात्मिक मान्यताओं के अनुसार आचरण करने की हमारी योग्यता पर निर्भर करता है और इस बात पर भी कि हम उन अध्यात्मिक आदर्शों की प्राप्ति के लिये सतत् रूप से प्रयत्नशील है। सत्य का शोध सत्य के लिये ही करना; सुन्दर वस्तुओ का उनके सौन्दर्य के लिये निर्माण करना; ठीक काम करना, इसलिये कि वह ठीक है; ये सब बातें शारीरिक और मानसिक संस्कृति के एक निश्चित स्तर, रुचि के विकास और परिष्कृत शिष्टाचार सहित सत्-जीवन तत्व हैं"[30]

किन्तु इस चतुर्मुखी विकास के लिये आवश्यक ज्ञान और वित्तीय क्षमता की भी आवश्यकता पड़ती है। यह तभी सम्भव है जब मनुष्य नितान्त अस्तित्व के लिये किये जाने वाले संघर्ष का अतिक्रमण कर सकता है। इस क्षमता में वृद्धि तथा आर्थिक चिन्ताओ से मुक्ति के लिये लोकतान्त्रिक समाजवाद एक महत्वपूर्ण विकल्प है।

लोकतन्त्र और समाजवाद एक दूसरे के पूरक

लोकतन्त्र की उपलब्धि से राजनीतिक स्वतन्त्रता और समानता आदि तो प्राप्त हो जाते हैं, लेकिन इसे वास्तविक लोकतन्त्र नही कह सकते। यद्यपि लोकतान्त्रिक संस्थाओं की स्थापना तथा अधिकारो को मान्यता देना भी अधिक महत्वपूर्ण है, लोकतन्त्र को यही तक सीमित रखना तथा बिना आर्थिक पक्ष के यह सब अधूरा है। एक निर्धन, भूखे व्यक्ति के लिए लोकतान्त्रिक संस्थाओं तथा मान्यताओं का कोई मूल्य नहीं होता। वह अपने अधिकारो का आर्थिक चिन्ताओ के मध्य सदुपयोग कर ही नही सकता। इसके लिये आवश्यक है कि व्यक्ति के आर्थिक पक्ष को मजबूत किया जाय। यह समाजवाद के द्वारा संभव है। समाजवाद लोकतन्त्र के पूर्ण एवं समुचित विकास के लिये आवश्यक है। दूसरी ओर समाजवाद का महत्व शान्तिपूर्ण एवं लोकतान्त्रिक साधनों में ही निहित है, ताकि लोकतान्त्रिक मूल्यों में अभिवृद्धि हो सके। इस प्रकार लोकतन्त्र और समाजवाद एक दूसरे के पूरक हैं।

लोकतान्त्रिक समाजवादी अर्थ-व्यवस्था

आर्थिक सिद्धान्तों के विषय में लोकतान्त्रिक समाजवादियो के अलग-अलग विचार हैं। कुछ समष्टिवादी उग्र विचारकों पर मार्क्सवाद का अधिक प्रभाव

30. पूर्व सन्दर्भ, पृ. 49.

है । वे पूंजीवादी व्यवस्था की आलोचना के लिये मार्क्सवादी शब्दावली का ही प्रयोग करते हैं। इसके विपरीत अधिकतर राज्य समाजवादी व्यक्तिवाद और पूंजीवाद के विरुद्ध हैं, लेकिन इनके विषय में वे मार्क्स की विवेचना को स्वीकार नही करते ।

अधिकतर समाजवादी मार्क्स के श्रम-सिद्धान्त और मूल्य सिद्धान्त को स्वीकार नही करते । उत्पादन किसी एक वर्ग विशेष द्वारा नहीं होता बल्कि उसमें किसी न किसी रूप में पूरे समाज का योगदान रहता है । किन्तु वे इस बात को भी स्वीकार नही करते कि पूंजीपति को पूंजी लगाने के कारण पूरे लाभ को हड़प लेने का अधिकार है ।

लोकतान्त्रिक समाजवादी आर्थिक क्षेत्र मे श्रमिक और पूंजीपतियो के बीच संघर्ष को भी स्वीकार नही करते । यह संघर्ष श्रमिक और मालिकों के बीच नही, बल्कि समाज और उन कतिपय लोगो के बीच है जो सामाजिक हित को ध्यान मे न रखकर स्वयं धनी होने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। और ये ही लोग राज्य पर अपना अधिकार बनाये रखना चाहते हैं ।

समाजवादी,पूंजीवादी व्यवस्था का प्रमुख दोष यह मानते हैं कि इसमें थोड़े से लोग कार्य-विहीन और सेवा-विहीन सम्पत्ति के द्वारा धन के अधिकाश भाग पर अपना आधिपत्य करते हैं। बिना कार्य किये हुए तथा सामाजिक सेवा की अवहेलना कर जो सम्पत्ति का संचय होता है उससे समाज मे द्वेष और वैमनष्य फैलता है ।

इस प्रकार व्यक्तिवाद और पूंजीवाद ने दोषो को ध्यान में रखते हुए लोकतान्त्रिक समाजवादी निम्नलिखित आर्थिक व्यवस्था का समर्थन करते है:-

(i) प्रत्येक व्यक्ति को वह चाहे हाथ या मस्तिष्क का कार्य करता हो परिश्रम का पूरा प्रतिफल मिलना चाहिये ।

(ii) समाज में धन का न्यायपूर्ण वितरण हो जिससे साधारण व्यक्ति भी अपने व्यक्तित्व का विकास कर सुख एवं सुविधापूर्वक जीवन व्यतीत कर सके ।

(iii) उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व हो, ताकि भूमि और औद्योगिक पूंजी को किसी विशेष हित के स्वामित्व से मुक्त करा कर उसका पूर्ण समाज कल्याण के लिये प्रयोग किया जा सके ।

आर्थिक साधनों के स्वामित्व के विषय में इन समाजवादियों में मतभेद है। कुछ राज्य के स्वामित्व या राष्ट्रीयकरण के पक्ष में हैं; विशेषतः बैंक, खानें, इस्पात उद्योग, परिवहन के साधन आदि का अविलम्ब राष्ट्रीयकरण होना चाहिये। अन्य आर्थिक क्षेत्रों में राज्य-नियन्त्रण में वृद्धि कर व्यक्तिगत क्षेत्र के लिये छोड़ देना चाहिये।

अन्य लोकतान्त्रिक समष्टिवादी रूस तथा अन्य साम्यवादी राज्यों में राज्य-स्वामित्व को देखकर भयभीत हैं। इससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई है। वे राष्ट्रीयकरण के स्थान पर सामाजीकरण (Social Control) का समर्थन करते हैं। राज्य के स्थान पर यह कार्य सहकारी समितियों द्वारा चलाये जाने की व्यवस्था नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क आदि देशों में बड़ी लोकप्रिय है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद और साधन

लोकतान्त्रिक समाजवाद उदार प्रजातन्त्र की पूर्व कल्पना करता है। लोकतन्त्र व्यवस्था में अतिवादी साधनों का कोई महत्व नहीं है। लोकतन्त्र और हिंसा एक दूसरे के परस्पर-विरोधी है। इसलिये लोकतान्त्रिक समाजवादी विकासवादी, लोकतान्त्रिक, संवैधानिक, शान्तपूर्ण साधनों को ही मान्यता देते हैं।[31] एडुअर्ड बर्न्सटाइन ने 1909 में प्रकाशित अपनी पुस्तक—Evolutionary Socialism—में लिखा है:—

> "मुझे समाजवादी आन्दोलन में विश्वास है, और मजदूरों की भावी प्रगति में विश्वास है। मजदूरों को अपने उद्धार के लिये एक-एक कदम आगे बढ़ना चाहिये, जिससे कि आज का समाज, जिसमें अल्पसंख्यक व्यापारियों तथा भू-स्वामियों का आधिपत्य है, वास्तविक लोकतन्त्र का रूप धारण कर सके और उसके प्रत्येक विभाग का संचालन इस ढंग से हो कि काम करने वालों और सृजन करने वालों के हितों की रक्षा हो सके।"[32]

रेमजे मेकडॉनल्ड, जो ब्रिटेन के प्रथम समाजवादी प्रधानमंत्री थे, ने 1921 में लोकतान्त्रिक समाजवाद के साधनों की व्याख्या करते हुए लिखा है:—

> "जिस बात का हमें प्रयत्न करना है वह यह है कि हम बिना विवेकपूर्ण योजना और उद्देश्य, तथा व्यावहारिक ज्ञान के निर्देशन के

---

31 See Merkl, Peter H., Political Continuity and Change, p 141.

32 उद्धृत, गेटिल, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ 407.

बिना आगे न बढ़ें। समाजवादी यह दावा कर सकता है कि उसने यह सतर्कता काम में ली है।"[33]

जोड़ (C.E.M. Joad) ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किये हैं:—

"समाजवादियों का कहना है कि समाज में परिवर्तन क्रमशः ही हो सकता है; और हर परिवर्तन समाज की पूर्ववर्ती स्वभाव की दशाओं के अनुकूल होना चाहिये। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि हम वर्तमान अवस्था से ही अपना कार्य आरम्भ करे, और वर्तमान स्थिति के अनुसार ही भविष्य की दिशा, द्रुतता तथा उठाये जाने वाले चरण निर्धारित करें।"[34]

पीटर मर्केल (Peter H.Merkl) ने अपनी पुस्तक-Political Continuity and Change, 1967—में लोकतान्त्रिक समाजवाद के विकासवादी साधनों के दो पक्ष बतलाये हैं। प्रथम, श्रमिकों को श्रम-संगठनों का निर्माण करना चाहिये जिनके माध्यम से वे पूंजीपतियों से अच्छे वेतन, काम करने के लिये कम अवधि तथा उत्तम कार्य-परिस्थितियों के विषय में सामूहिक सौदा कर सकें। द्वितीय, समाजवादी चुनावों द्वारा संसद में बहुमत प्राप्त कर स्वयं ही सरकार का संगठन कर समाजवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित करे।[35]

सूक्ष्म में लोकतान्त्रिक समाजवादी साधनों की निम्नलिखित व्याख्या की जा सकती है:—

(i) लोकतान्त्रिक समाजवादी उस मार्क्सवादी धारणा का खंडन करते हैं कि समाज में वर्ग-संघर्ष अवश्यम्भावी है और केवल मजदूर-वर्ग की सहायता से समाजवाद की स्थापना की जायगी। लोकतान्त्रिक समाजवादी सभी वर्गों और बहुमत को साथ लेकर चलना चाहते हैं। उनके विचार में एक वर्ग का उत्थान और दूसरे वर्ग का उन्मूलन ठीक नहीं।

(ii) इसका तात्पर्य यह हुआ कि लोकतान्त्रिक समाजवादी हिंसा या शक्ति द्वारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं करना चाहते। हिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा

33. Ramsay MacDonald, J; Socialism: Critical and Constructive; p 317
34. जोड़, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 52-53
35. See pp.141-42.

परिवर्तन स्थायी नहीं होते। इसके अतिरिक्त यदि एक बार आतंकवादी मार्ग अपना लिया जाता है तो हिंसा के आधार पर प्राप्त व्यवस्था का उन्मूलन करना असम्भव होगा। यह समाजवादी न होकर कोई अधिनायकवादी व्यवस्था होगी।

(iii) लोकतान्त्रिक समाजवादी विकासवादी है। वे समाज को एक अवयव की तरह मानते हैं। तदनुसार अवयव की तरह ही समाज का धीरे-धीरे विकास होता है। समाज में अपने को बदलने की क्षमता होती है।

(iv) इन समाजवादियों ने प्रजातान्त्रिक एवं सवैधानिक साधनों का समर्थन किया है। इनका विश्वास था कि समाजवाद में विश्वास रखने वालो का एक राजनैतिक दल स्थापित किया जाय। यह दल चुनावो मे भाग ले और बहुमत को अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न करे। बहुमत प्राप्त होने के बाद सरकारी मशीन का समाजवादी व्यवस्था लाने के लिये प्रयोग किया जाय।

(v) लोकतान्त्रिक समाजवाद रचनात्मक समाजवाद (Constructive Socialism) है। वैधानिक साधनो के माध्यम से समाज में ऐसा कार्यक्रम प्रारम्भ करेंगे जिससे कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो।

लोकतान्त्रिक समाजवाद के विषय में सतर्कता

लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना एवं प्रगति के विषय में कुछ सतर्कता आवश्यक है। लोकतान्त्रिक समाजवाद का उद्देश्य लोकतन्त्र के आर्थिक पक्ष को सुदृढ़ बनाना है। लोकतन्त्र में राजनीतिक स्वतन्त्रता एवं समानता की उपलब्धि तो हो सकती है, किन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता एवं समानता के बिना यह सब व्यर्थ है। यह समाजवादी कार्यक्रम से ही सम्भव है। इसलिये यहाँ समाज-वाद का ध्येय लोकतान्त्रिक शक्तियों मे वृद्धि करना है। यह राज्य के माध्यम से ही सम्भव है। इसलिये यह किसी सीमा तक समग्रता की ओर अग्रसर करेगा। यही पर सतर्कता की आवश्यकता है। समाजवादी कार्यक्रम से राज्य अधिना-यकवादी न हो जाय अन्यथा न तो लोकतन्त्र ही रहेगा न समाजवाद। राज्य के कार्य-क्षेत्र में केवल इतनी ही वृद्धि होनी चाहिये जितनी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिये आवश्यक हो तथा जिससे मनुष्यो के अधिकारों का हनन न होता हो। यह लोकतन्त्र तथा समाजवाज के समुचित समन्वय से ही सम्भव है।

जिन राज्यों में क्रान्ति द्वारा राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं, या जहाँ अधिनायकवादी व्यवस्थाएं पहिले से ही विद्यमान हैं वहाँ लोकतान्त्रिक समाजवाद का पनपना असम्भव है। ऐसे राज्यों में समाजवादी कार्यक्रम को जन-कल्याण के साधन के रूप में स्वीकार तो किया जाता है, लेकिन इसका उद्देश्य लोकतान्त्रिक शक्तियों मे वृद्धि करना नही होता। साम्यवादी राज्य, विशेषतः रूस और चीन, जो अभी समाजवादी स्थिति (जिसे मार्क्स ने संक्रमण-युग कहा था) से गुजर रहे हैं, जन-कल्याण के लिये कार्य कर रहे हैं किन्तु जो वास्तव में लोकतान्त्रिक सिद्धान्त या मूल्य है वे वहाँ दृष्टिगोचर नही होते। साम्यवादी राज्य अपने लिये लोकतान्त्रिक तथा समाजवादी दोनो ही कहते हैं, पर वे समाजवादी तो हैं, लोकतान्त्रिक नही।

इस सन्दर्भ में अफ्रीकी राज्यों तथा एशिया के वे राज्य जहाँ सैनिक क्रान्तियाँ हो चुकी हैं आदि के उदाहरण लिये जा सकते हैं। इन सभी राज्यो में किसी न किसी प्रकार के समाजवादी कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने का दावा किया जाता है, जिसका उद्देश्य सामान्य जनता की थोड़ी बहुत सुख सुविधा में वृद्धि करना तो रहा है, लोकतन्त्र को स्थापित करना नही। समाजवाद के नाम पर वहाँ राज्य की शक्तियों मे जो वृद्धि हुई है, उसका उद्देश्य सैनिक तानाशाहों की शक्ति को सुदृढ़ कर विरोधियों को कुचलना है। मिश्र, लीबिया, सूडान, काँगो, घाना, नाइजीरिया, तन्जानिया, उगान्डा, सीरिया, ईराक आदि कभी भी लोकतान्त्रिक समाजवाद के अन्तर्गत नही आ सकते। वास्तव में ये न तो लोकतान्त्रिक हैं और न समाजवादी। इन राज्यो में शुद्ध तानाशाही तथा विकृत समाजवाद जैसी ही कोई व्यवस्था हो सकती है।

समीक्षा

सर्वव्यापी राज्य की स्थापना

लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य को अधिकाधिक कार्य करने होंगे। उत्पादन और वितरण के समस्त साधन राज्य के नियन्त्रण में रहेंगे। इसलिये राज्य का क्षेत्राधिकार अधिक व्यापक हो जायेगा। समाज में स्थानीय स्व-शासन से राष्ट्रीय स्तर तक समस्त कार्यों का या तो राष्ट्रीयकरण होगा या उनके ऊपर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होगा। अन्त में, मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन किसी न किसी राज्य के नियन्त्रण के अन्तर्गत रहेगा।

आर्थिक व्यवस्था पर राज्य नियन्त्रण का परिणाम नौकरशाही के अधिकारों में वृद्धि होगी। राज्य कर्मचारियों में वृद्धि के साथ लाल फीताशाही अकर्मण्यता और भ्रष्टाचार में भी वृद्धि होगी। समाजवादी व्यवस्था से जो भी लाभ मिलने की आशा है, वे बहुत कुछ नौकरशाही व्यवस्था में समाप्त हो जायेंगे। इसमें एक सम्भावना और हो सकती है। राज्य के कार्यों में वृद्धि होने से प्रशासन इस बोझ को उठाने में ही असमर्थ रहे।

समाज में व्यक्तिवाद और पूंजीवाद के जिन दुर्गुणों का उन्मूलन करने के लिये जिस समष्टिवादी राज्य की स्थापना करना है, अन्तिम रूप में समष्टिवादी राज्य इन्हीं दुर्गुणों को जन्म देगा या प्रोत्साहित करेगा। समष्टिवाद व्यक्तिगत-पूंजीवाद के स्थान पर राज्य-पूंजीवाद की स्थापना करेगा। इससे श्रमिक वर्ग के स्तर में कोई अन्तर नहीं आयेगा। उसे तो चाहे व्यक्ति या राज्य के मजदूर के रूप में कार्य करते रहना पड़ेगा। समष्टिवाद में प्रगति धीरे धीरे होगी, उत्पादन में कमी होगी तथा निर्धनता में वृद्धि होगी।

मानव प्रवृत्ति के प्रतिकूल

उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य-स्वामित्व के परिणामस्वरूप व्यक्तिगत प्रोत्साहन की सम्भावना समाप्त हो जायगी। यदि व्यक्ति को अपने कार्य का कुछ लाभ या पुरस्कार नहीं मिलता तो वह अपनी प्रतिभा का पूर्ण उपयोग नहीं कर सकता और न इच्छा एवं लगन से ही कार्य कर सकता है।

सम्पत्ति धारण करने की इच्छा मनुष्य में स्वाभाविक एवं मूल प्रवृत्ति है। वे व्यक्ति जो धन उपार्जन कर सकते हैं उन्हें प्रतिफल मिलना ही चाहिये। किन्तु दूसरी ओर वे व्यक्ति जिन्हें यदि यह विश्वास है कि राज्य की ओर से उन्हें काम और निर्वाह योग्य वेतन मिल जायगा तो वे आलसी, अनुत्तरदायी हो जायेंगे। उनमें नये प्रयोगों के प्रति न तो उत्साह और न जोखिम लेने की क्षमता का विकास हो सकता है।

शान्तिपूर्ण साधनों की अनुपयुक्तता

आलोचकों, जिनमें साम्यवादी प्रमुख हैं, का कहना है कि समाजवाद की स्थापना शान्तिपूर्ण संवैधानिक साधनों से नहीं की जा सकती। लोकतान्त्रिक साधनों से पूंजीवाद के दोषों को समाप्त करना असम्भव है। जनतान्त्रिक व्यवस्था में पूंजीवादी व्यक्ति शासन-मशीन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने व्यक्तियों को रखते हैं। प्रतिनिधि सभाओं में वे अपने समर्थकों को अधिकाधिक संख्या में

पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। यह कार्य उनके लिये असम्भव नहीं है। धन द्वारा वे निर्णय लेने वाली संस्थाओं को अपने पक्ष में प्रभावित करते रहते है।

पूंजीपति अपने विरोधी राजनीतिक दलो को भी नही पनपने देगे। इस प्रकार पहिली बात तो यह है कि समाजवादी दल सत्ता मे आ ही नही सकता। दूसरे, यदि एक बार वह सत्ता मे आ भी जाता है,तो यह गारन्टी नही है कि वह सदैव सत्ता में बना रहे और समाजवादी कार्यक्रमो को लागू कर सके। इग्लैन्ड मे दो-तीन बार समाजवादी दल ने यदि सरकार बना भी ली है तो वहा समाज वाद की पूर्ण स्थापना नही हो पाई है।

स्वतन्त्रता एव समानता का भ्रम

समष्टिवादी व्यवस्था में राज्य द्वारा हस्तक्षेप मे वृद्धि होगी। नियन्त्रण और हस्तक्षेप द्वारा मनुष्य की स्वतन्त्रता पर प्रहार होगा। व्यक्ति राज्य का दास बन जायगा और समष्टिवाद एक गुलाम राज्य की नीव डालेगा।

समष्टिवाद आर्थिक एवं सामाजिक समानता को व्यापक रूप देना चाहता है। वह समानता को साकार करना चाहता है। कुछ आलोचक समष्टिवाद के इस प्रमुख उद्देश्य को अनुचित और अव्यवहारिक मानते हैं। उनका कहना है कि प्राकृतिक दृष्टि से मनुष्य समान नही हो सकते। मनुष्य शक्ति, बुद्धि आदि दृष्टि से असमान होते है। व्यक्ति अपनी योग्यता और परिश्रम के अनुसार कम या अधिक धन उपार्जन करते हैं। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में समानता सम्भव नही है। जब योग्यता और परिश्रम से उपार्जित धन समानता लाने के लिये छीन कर दूसरे को दिया जाता है, यह अनैतिक होगा। ऐसी समानता भी स्थाई नहीं होगी।

योगदान

लोकतान्त्रिक समाजवाद (विशेषत:इससे सम्बन्धित समष्टिवाद) की साम्यवादी, व्यक्तिवादी आदि विभिन्न द्रष्टिकोणों से आलोचना हुई है। इस आलोचना में बहुत कुछ तथ्य है, किन्तु इतना सब होते हुए भी लोकतान्त्रिक समाजवाद में गुणों का बाहुल्य है। परिमाणस्वरूप यह समाजवादी सम्प्रदायो में सबसे अधिक महत्व अर्जित किये हुए है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद अन्य समाजवादी विचारधाराओं से अधिक व्यावहा-हारिक, एवं स्थाई सिद्ध हुआ है। सिन्डीकलवाद, गिल्ड समाजवाद आदि कभी

भी प्रभावशाली और सफल नहीं हो सके। ऐसी स्थिति में लोकतान्त्रिक समाजवाद ही सर्वाधिक उपयोगी प्रतीत लगता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद मध्य-मार्गीय विचारधारा है। यह पूंजीवादी और सर्वसत्ताधारी विचारधाराओं का सर्वोत्तम विकल्प है। लोकतान्त्रिक समाजवाद इन दोनों की बुराइयों और अतिवादिता को त्याग कर एक नई प्रणाली का प्रतिपादन करता है।

लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था लोकतन्त्र को पूर्ण बनाने का महत्वपूर्ण साधन है। वैसे लोकतन्त्र में कई दोष हैं, लेकिन ये दोष समाजवादी सहयोग से बहुत कुछ दूर हो जाते हैं। यह लोकतन्त्र को स्थाई और प्रभावशाली बनाने के लिये उत्तम कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोकतन्त्र सर्वोत्तम प्रणाली है, समाजवादी कार्यक्रम इसके दोषों का उन्मूलन कर गुणों में अभिवृद्धि करता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद हिंसा, क्रान्ति, वर्ग-संघर्ष पर न होकर विकासवादी, संवैधानिक साधनों पर आधारित है। ये साधन स्वयं में ही नैतिक है तथा मनुष्य के चतुर्मुखी विकास में ऐसे साधनों का सदैव ही महत्व रहा है। शान्तिपूर्ण साधनों से उपलब्ध लक्ष्य स्थाई होते हैं।

आजकल विश्व में दो प्रकार की ही समाजवादी व्यवस्थाएं प्रचलित हैं। प्रथम, अधिनायकवादी तथा सर्वसत्ताधारी समाजवाद जिसके अन्तर्गत साम्यवाद तथा कुछ अफ्रीकी राज्यों में प्रचलित समाजवादी व्यवस्था को ले सकते है। किन्तु इनमें साम्यवाद ही सबसे प्रमुख एवं प्रभावशाली है। द्वितीय, लोकतान्त्रिक समाजवाद, जिसका प्रचलन एवं प्रभाव लोकतान्त्रिक राज्यों में विशेषकर है। ये दोनों व्यवस्थाएं विश्व में एक दूसरे का विकल्प बनने का प्रयत्न कर रहीं हैं।

पाठ्य-ग्रन्थ

1. कोकर, फ्रान्सिस, — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अध्याय 4, प्रजातान्त्रिक एवं विकासवादी समाजवादी
2. Ebenstein, W., — Today's isms, Chapter IV, Democratic Socialism'

3	गेटिल, रेमन्ड गारफील्ड,	राजनीतिक चिन्तन का इतिहास अध्याय 22, लोकतान्त्रिक समाजवाद का उदय
4.	Hallowell, J. H.,	Main Currents in Modern Political Thought Chapter 13, Socialism after Marx.
5.	जोड, सी. ई. एम.,	आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका अध्याय 3, समाजवाद : विशिष्टत. समष्टिवाद से सम्बन्धित
6.	Sabine, G.H ,	A History of Political Theory Chapter XXXII, Liberalism Modernized.
7.	Stankiewicz, W J. (Ed.),	Political Thought Since World-War II Part IV, Section I, Democratic Socialism.

⊙

11

धर्म-निरपेक्षवाद

Secularism

धर्म और राज्य के सम्बन्धों की व्याख्या

धर्म-निरपेक्षवाद का अध्ययन करने से पूर्व दो बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रथम, 'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का अर्थ तथा इसका किस भावार्थ में प्रयोग किया जाता है। द्वितीय, क्या धर्म-निरपेक्षवाद एक पूर्ण विचारधारा है?

शब्दावली

सेक्यूलरिज्म (Secularism) का हिन्दी भाषा में निश्चित भाव व्यक्त करने वाले शब्द का अभी तक चयन नहीं हो पाया है। सेक्यूलरिज्म के लिए हम 'धर्म-निरपेक्षता' का या 'धर्म-निरपेक्षवाद' शब्द प्रयोग करें, यह स्पष्ट कहना असम्भव है। प्रचलन में 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द का ही प्रयोग होता है, जब कि 'धर्म-निरपेक्षवाद' सेक्यूलरिज्म का लगभग सही शाब्दिक रूपान्तर प्रतीत होता है। लेकिन यदि सही भावार्थ को लिया जाय तो सेक्यूलर शब्द के लिए 'साम्प्रदाय-निरपेक्षता' अधिक उपयुक्त है। सेक्यूलर शब्द के निकट साम्प्रदाय अधिक जान पड़ता है न कि धर्म, क्योंकि सेक्यूलरिज्म शब्द का प्रयोग धर्म में साम्प्रदायवाद के विकास के सन्दर्भ में ही हुआ था।

आचार्य विनोबा भावे ने भी सेक्यूलर शब्द के निश्चित भाव व्यक्त करने वाले शब्द को खोजने का प्रयत्न किया है। उन्होंने 'सेक्यूलर' के लिए 'वेदान्ती' शब्द चुना है। उनके ही शब्दों में, "हमारी सरकार वैदिक नहीं है बल्कि वेदान्ती है। वेदान्त में किसी उपासना का निषेध नहीं है। जितनी उपासनाएँ हैं, सबको वह समान भाव से देखता है; फिर भी उसने निज की कोई उपासना नहीं रखी। इसलिए अगर हम वेदान्ती सरकार कहें, तो कुछ अच्छा अर्थ प्रकट होता है।"[1]

---

1. विनोबा: व्यक्तित्व और विचार, पृ० 408.

आचार्य विनोबा भावे का 'वेदान्ती' शब्द उपयुक्त हो सकता है किन्तु इसका प्रचलन नहीं है। हिन्दी भाषा में किसी पूर्ण मान्य शब्द के अभाव में प्रस्तुत अध्याय में प्रचलित एवं सर्व-विदित शब्द 'धर्म-निरपेक्षता' का ही प्रयोग किया गया है; यद्यपि अलग-अलग संदर्भों में 'सेक्यूलरवाद' साम्प्रदाय-निरपेक्षता' आदि शब्दों की भी अवहेलना नही की है।

वाद सम्बन्धी विवाद

सेक्यूलर (Secular-धर्मरनिपेक्ष) शब्द के साथ इज्म (ism-वाद) और जुड़ा हुआ है। दोनों को मिलाकर सेक्यूलरिजम (Seculatism) बनता है। इससे निश्चय ही यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या धर्म-निरपेक्षवाद एक पूर्ण वाद या विचारधारा की श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है ? इस प्रश्न का अधिक मनन किया जाय तो यह एक विवाद बन जाता है। वास्तव मे धर्म-निरपेक्षवाद की गणना एक व्यापक विचारधारा के अन्तर्गत नही की जा सकती। अन्य विचार-धाराऐ जैसे आदर्शवाद, व्यक्तिवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि समाज के प्रत्येक पहलू का मनन एवं विवेचन करती हैं। यह बात धर्म-निरपेक्षवाद मे नही कही जा सकती। धर्म-निरपेक्षवाद का उद्देश्य समाज की आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था की प्रत्यक्ष स्थापना करना नही है। इसका सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष रूप से धर्म एवं राजनीति से है। बाद में अवश्य ही अन्य पक्ष सम्बन्धित हो जाते हैं।

यहाँ इसकी तुलना अन्य विचारधाराओं से नहीं की जा सकती। लेकिन इतना अवश्य है कि धर्म-निरपेक्षवाद ऐसा विचार है जिसके अन्तर्गत धर्म व राजनीति के सम्बन्ध के विषय में निश्चित एवं स्पष्ट अध्ययन आता है जिसका सदियो से विकास हुआ है तथा प्रत्येक शासन व्यवस्था में इसके महत्त्व की अवहेलना नही की जा सकती। कोई भी राज्य धर्म-निरपेक्षवाद के बिना प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता। धर्म-निरपेक्षता के बिना जनतन्त्र व्यवस्था की कल्पना ही नही की जा सकती है।

'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का प्रचलन

जॉर्ज हॉलीओक (George Jacob Holyoake, 1817-1906)

'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग इंग्लैण्ड के जॉर्ज हॉलीओक ने किया। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे धर्म-निरपेक्ष को एक सिद्धान्त तथा सुधार आन्दोलन का रूप देने का श्रेय प्रमुखतः हॉलीओक को ही था।

हॉलीओक एक प्रगतिशील सुधारवादी तथा ओवन (Robert Owen 1771-1858) के यूटोपियायी समाजवाद के समर्थक थे। बरमिंघम (Birmingham, जहाँ ये पैदा हुए तथा समूचे इंग्लैण्ड में इन्होंने चर्च संगठन में कई त्रुटियां देखीं। उस समय चर्च के संगठन मे सामाजिक सेवा का नितान्त अभाव था और धीरे-धीरे चर्च आदि के प्रति इनकी श्रद्धा लगभग समाप्त सी हो गई। 1841 के लगभग हॉलीओक ने ईश्वर के प्रति भी श्रद्धा का त्याग कर दिया तथा ईश्वर-निन्दा (Blasphemy) के अपराध मे इन्हे कारावास भोगना पड़ा। तदुपरान्त हॉलीओक और कुछ सहयोगियो ने धर्म-निरपेक्ष आन्दोलन प्रारम्भ किया। 'The Reatorer' में 1851 में इन्होने धर्म-निरपेक्षवाद (Secularism) शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया। वास्तव मे हॉलीओक ईश्वर या चर्च विरोधी नही थे, वे इन से सम्बन्धित त्रुटिपूर्ण प्रभावों के कट्टर आलोचक थे। उन्होने हमेशा यह सम्भव बनाने का प्रयत्न किया कि धर्म-निरपेक्षता के सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक उद्देश्य ईश्वर विरोधी न हों बल्कि सभी सम्प्रदायों के उदार अनुयायी पक्षपात रहित धर्म-निरपेक्षता आन्दोलन में योगदान दें।[2]

'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का आजकल जिस सरलता से प्रयोग किया जाता है, इसका अर्थ स्पष्ट करना उतना आसान नहीं। इस जटिलता के कई कारण हैं, प्रथम, इस विचार का अनुचित ढ़ग से प्रयोग किया गया है। वे राज्य जो पूर्णत: धर्म-सापेक्ष थे, उनके लिए भी धर्म-निरपेक्ष कहा गया। प्राचीन इजराइल राज्य धर्म-निरपेक्ष कहलाता था किन्तु वास्तव में वह धर्म पर आधारित राज्य व्यवस्था थी। यहूदी लोग इजराइल को अपने देवता यहोवा का ही राज्य समझते थे। वहाँ के विधि-विधान को यहूदी धर्म से पृथक नहीं किया जा सकता था। इसी प्रकार ईसाई धर्म के अभ्युदय से पूर्व रोम साम्राज्य भी धर्म-निरपेक्ष कहलाता था यद्यपि वहाँ धर्म-निरपेक्षता जैसी कोई बात नही थी। इस प्रकार की भ्रान्तियाँ असमंजस में डाल देती हैं।

द्वितीय, साम्यवादी राज्य भी धर्म-निरपेक्ष कहे जाते हैं। साम्यवाद धर्म विरोधी विचारधारा है तथा साम्यवादी व्यवस्था धर्म विहीन प्रणाली है जहाँ धर्म के अस्तित्व, प्रभाव आदि को स्वीकार नही किया जाता। दूसरी ओर भारत जैसा धर्म प्रधान देश है जहाँ उचित धार्मिक मान्यताओं को शासन प्रणाली से दूर नही किया जा सकता किन्तु फिर भी धर्म-निरपेक्ष है।

---

2. James Hastings, (Ed) Encyclopaedia of Religion and Ethics, vol; XI, T.T. Clark, Edinburgh, 1934, p. 348.

तृतीय, वे राज्य जहाँ का समाज धर्म प्रिय होते हुए भी धर्म-निरपेक्ष है, उनमें भी अलग-अलग धर्म-निरपेक्ष व्यवस्थाऐं दृष्टिगोचर होती है। अमरीकी धर्म-निरपेक्षता, ब्रिटिश धर्म-निरपेक्षता, भारतीय धर्म-निरपेक्षता में बहुत कुछ विभिन्नताऐं हैं। इंग्लैंड का सम्राट या साम्राज्ञी अभी भी 'धर्म रक्षक' (Defenderof Faith) समझे जाते हैं। एंग्लीकन् चर्च अभी भी वहाँ का राज्य-धर्म है। लॉर्ड सभा में पादरियों का भी विशेष प्रतिनिधित्व रहता है। इस व्यवस्था के होते हुए भी इग्लैंड पूर्ण रूप से धर्मनिरपेक्ष है। अन्य शब्दों में, आजकल परिस्थितियोवश राज्य का नाम मात्र का कोई राज-धर्म होते हुए भी वह धर्म-निरपेक्ष रह सकता है।

इन कारणो से धर्म-निरपेक्षता की समान एवं एकरूपेण व्याख्या करना, या, समान धर्म-निरपेक्ष सिद्धान्तों के अन्तर्गत सभी राज्यो को लाना असम्भव है। फिर भी कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनके बिना कोई भी राज्य धर्म-निरपेक्ष कहलाने का दावा नही कर सकता।

धर्म-निरपेक्ष राज्य के तत्त्वो को समझने के पहले यह आवश्यक है कि धर्म निरपेक्ष या धर्म-निरपेक्षता का अर्थ समझ लिया जाय। कुछ प्रमुख ज्ञान कोषों, ग्रन्थों आदि में इसकी निम्नलिखित परिभाषाएं दी गई हैं.—

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका

> "गैर अध्यात्मिक जो धार्मिक अथवा आध्यात्मिक विषयो से सम्बन्धित न हो, कोई भी चीज जो धर्म अथवा धर्म सम्बन्धी चीजो से भिन्न, विरुद्ध या सम्बंधित न हो, सासारिक जो आध्यात्मिक या धार्मिकता के विरोत हो" धर्म-निरपेक्ष है। [3]

एक धर्म ज्ञान कोष में धर्म-निरपेक्षता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह वह सामाजिक नैतिकता है जो:—

प्रथम, बिना धर्म के मानव सुधार की प्राप्ति,
द्वितीय, धार्मिक विश्वास तथा संस्थाओं द्वारा मानव जीवन को नियन्त्रित करने का विरोध,
तृतीय, समाज कल्याण गतिविधियों तथा संस्थाओं का धर्म-आधार के बिना मार्ग दर्शन के लिए एक सकारात्मक दृष्टिकोण है।

---

3 "Non- Spiritual, having no concern with religious or spiritual matters, anything which is distinct, opposed to, or not connected with religion or ecclesiastical things, temporal, as opposed to spiritual or ecclesiastical.
Encylopaedia Britanica, vol. XX, 1955, p 264.

धार्मिक संस्थाएं इस शब्द का प्रयोग गैर-धार्मिक संस्थाओं के लिए एक व्यंगात्मक ढंग से अपमानित करने के लिए भी करती रहीं हैं। 4

न्यू इंग्लिश डिक्सनरी मे 'धर्म-निरपेक्षता' का अर्थ धर्म से सम्बन्ध का अभाव व्यक्त करता है। 5

धर्म एवं नैतिक ज्ञान कोष

"धर्म-निरपेक्षवाद को एक आन्दोलन कहा जा सकता है जो आशय से नैतिक, निषेधात्मक रुप में धार्मिक तथा जिसके राजनीतिक और दार्शनिक पूर्व-प्रवृति हो।"6

ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्सनरी

"धर्म-निरपेक्ष वह सिद्धान्त है जिसमे नैतिकता इसी जीवन में मानव कल्याण के विचार पर आधारित होनी चाहिये। वे विचार जो ईश्वर या परलोक से सम्बन्धित हैं, पृथक रखा जाता है।" 7.

भारत के प्रमुख राष्ट्रवादी मुस्लिम बदरुद्दीन तैयबजी के विचार भी इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय हैं। धर्म- निरपेक्षवाद का अर्थ, तैयबजी ने लिखा है, व्यक्तित्व का विनाश तथा एकरुपता थोपना नहीं है किन्तु धर्म (या विश्वास) के विषय मे विवी शासन को समान ढंग से कार्यान्वित करना है। धर्म निरपेक्ष-वाद एक वृहद् परगोला है जिसके अन्तर्गत कई रंग रुप और सुगन्ध के हजारों फूल खिलते हैं। 8

4. Ferm Vergilus (Ed.), An Encyclopaedia of Religion, peter owen Ltd, London. p. 700.
5. Secularity means 'absence of connexion with religion'. New English Dictionary, Vol. VIII, Part II, p. 366.
6 "Secularism may be described as a movement intentionally ethical, negatively religious, with political and philosophical antecedents" Encyclopaedia of Religion and Ethic, Vol. XI, 1934. p. 347.
7 "The doctrine that morality should be based solely on regard to the well- being of mankind in the present life, to the exclusion of all considerations drawn from belief in God or in a future state" Oxford English Dictionary
8 Tyabji, B, The Self in Secularism, pp. 1-2.

उपरोक्त परिभाषाओं के विवेचन से यह तत्व बिलकुल स्पष्ट है कि कोई भी विचार या संस्थाएं जो धर्म से सम्बन्धित नही है, या, धर्म के प्रभाव से मुक्त है धर्म-निरपेक्ष कहलाते हैं।

धर्म-निरपेक्ष राज्य
The Secular State

'धर्म-निरपेक्ष' का अर्थ समझने के बाद 'धर्म-निरपेक्ष राज्य' की व्याख्या आसान हो जाती है। धर्म-निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जो धर्म से पृथक है, धर्म से सम्बन्धित नहीं है, धर्म को समर्पित नही है। इस सम्बन्ध में एक लेखक ने लिखा है, कि सामान्य शब्दो में धर्म-निरपेक्ष राज्य को धर्म तथा राज्य के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य तथा धर्म या धार्मिक संस्थाएं एक दूसरे से पृथक रहते हैं।[9]

अमरीकी विद्वान डॉनेल्ड स्मिथ (Donald E. Smith) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक-India as a Secular State—में धर्म-निरपेक्ष राज्य की निम्नलिखित परिभाषा दी है:—

> "धर्म-निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जो धर्म की व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्वतन्त्रता का वचन देता है, धार्मिक भेदभाव के बिना व्यक्ति से नागरिक के रूप में व्यवहार किया जाता है, जो संवेधानिक दृष्टि से किसी धर्म विशेष से नही जुड़ा है, न वह धर्म मे अभिवृद्धि (या प्रोत्साहन) और न हस्तक्षेप करता है।"[10]

धर्म-निरपेक्ष राज्य से सम्बन्धित उपरोक्त विचारों की व्याख्या करने से कुछ विशेषताएं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से स्पष्ट होती हैं। जेकस मेरीटेन (Jacques Maritain) ने अपनी पुस्तक—Man and the State—में धर्म-निरपेक्ष राज्य के निम्नलिखित तत्व उल्लेख किये हैं:—

---

9 Luthera, V.P., The Concept of Secular State and India, p 15

10 "The secular state is a state which guarantees individual and corporate freedom of religion, deals with the individual as a citizen irrespective of his religion, is not constitutionally connected to a particular religion nor does it seek either to promote or interfere with religion"
Smith, D E, India as a Secular State, p. 4.

प्रथम, राजनीतिक सत्ता धार्मिक सत्ता का अंग नहीं हैं;
द्वितीय, राज्य के अन्तर्गत सब नागरिक बिना किसी भेदभाव के समान हैं;
तृतीय, प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत धार्मिक स्वतन्त्रता होती है; और
चतुर्थ, धर्म को किसी व्यक्ति के ऊपर शक्ति द्वारा नहीं थोपा जा सकता।
(पृ० 147)

सामान्यतः धर्म-निरपेक्ष राज्य के निम्नलिखित पक्ष पूर्ण स्पष्ट हैं:—

राज्य तथा धर्म का प्रथक्कीकरण (Separation of State and religion)

चर्च तथा राज्य की प्रथकता का अर्थ संवैधानिक प्रावधानों द्वारा विधि निर्माण तथा कार्यकारिणी द्वारा ऐसी कार्यवाही पर प्रतिबन्ध लगाना है जिनके फलस्वरूप राज्य के प्रशासनिक कार्य और चर्च के प्रशासनिक या संस्था सम्बन्धी कार्यों का समन्वय होता हो।11. धर्म-निरपेक्ष राज्य में धर्म न तो सरकारी शाखा की तरह कार्य करता है और न धर्म राज्य के मामलों में कोई भी प्रभाव रखता हैं। इसके अलावा धर्म तथा राज्य समानता के आधार पर भी किसी तरह सम्बन्धित नहीं रहते। धर्म तथा राज्य को अपने-अपने क्षेत्रों में बिना पारस्परिक हस्तक्षेप के पूर्ण विकास की स्वतन्त्रता होती है। धार्मिक संगठन अपनी व्यवस्था, अपने पदाधिकारियों का चयन, अपने नियमों का निर्माण अपनी शैक्षणिक संस्थाओं का सचालन आदि स्वंय करते हैं। यह विचार 'स्वतन्त्र राज्य में स्वतन्त्र धर्म संगठन' (A free church in a free state) तथा 'चर्च राज्य का नहीं किन्तु राज्य में है' आदि सिद्धान्तों पर आधारित है। 12

सूक्ष्म मे, राज्य तथा धर्म की प्रथकता निम्नलिखित सिद्धान्त पर आधारित है—

प्रथम, राज्य तथा धर्म के अलग अलग कार्यक्षेत्र (Two spheres of actions)।

द्वितीय, राज्य तथा धर्म संगठनों का एक दूसरे के मामलो में अहस्तक्षेप (Non-intervention)।

तृतीय, राज-धर्म का अभाव (Absence of state-religion)। राज्य का स्वंय का कोई धर्म नहीं होता। शासन किसी धर्म विशेष सिद्धान्तो के अनुसार नहीं चलाया जाता है।

11. Morrison, Charles C, Getting Down to Cases, an article published in The Christian Century, December 10, 1947.
12. Stroke, A P; Chuurh and State in the United States, vol III; p 376.

चतुर्थ, धार्मिक तटस्थता (Religious neutrality) राज्य की दृष्टि में सब धर्म समान रहते हैं। वह किसी भी धर्म का पक्ष नहीं लेता तथा सब धर्मों को समान सुरक्षा प्रदान करता है।

धार्मिक स्वतन्त्रता (Freedom of religion)

राज्य में किस प्रकार की तथा किस सीमा तक धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है इसके ऊपर धर्म-निरपेक्षता का स्वरूप निर्भर करता है। धार्मिक स्वतन्त्रता के व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों ही पक्ष होते हैं तथा धर्म-निरपेक्षता को समझने के लिये इनकी व्याख्या महत्वपूर्ण है।

व्यक्तिगत धार्मिक स्वतन्त्रता

व्यक्तिगत धार्मिक स्वतन्त्रता के दो प्रमुख पक्ष है। प्रथम, व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म मे विश्वास रखने की स्वतन्त्रता जिसे अन्त.करण की स्वतन्त्रता (Freedom of concience) भी कहते हैं। यह मनुष्य का बिलकुल व्यक्तिगत मामला होता है तथा यह पूर्ण (absolute) स्वतन्त्रता है। लास्की के अनुसार मनुष्य को किसी भी धर्म मे श्रद्धा रखने का अधिकार है। जब तक उसका धार्मिक व्यवहार सार्वजनिक शान्ति के लिये भय न हो, राज्य उसकी स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप नही कर सकता। यदि राज्य चाहे तो भी हस्तक्षेप करना अव्यावहारिक होगा। मेकाइवर (R.M.MacIver) ने लिखा है कि "राज्य एक साथ ही सर्वव्यापी तथा सीमित होता है, यह सर्वव्यापी है क्योंकि इसके कानून इसके अन्तर्गत रहने वाले सभी पर लागू होते हैं। यह सीमित है क्योंकि यह समस्त मानव हितो को नियमित नही कर सकता।"[13]

द्वितीय, अन्त.करण की स्वतन्त्रता की पूर्ति के लिए जब व्यक्ति वाह्य कार्य करता है इस प्रकार की स्वतन्त्रता को धार्मिक स्वतन्त्रता कहते हैं। इस स्वतन्त्रता को राज्य द्वारा विशेष परिस्थितियो, सामाजिक नैतिकता, शांति एवं व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए सीमित किया जा सकता है। लेकिन ये सीमाऐ उचित ही होनी चाहिऐ। अधिक अंकुश लगाने से धार्मिक स्वतन्त्रता ही समाप्त हो जाती है। उचित सीमाओ को धार्मिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र में हस्तक्षेप नही कहा जाता। विश्व के कई संविधानो में इन दोनो के मध्य अन्तर स्पष्ट किया गया है।

---

13 MacIver, R. M, The Modern State, p. 173,
Laski, H.J, An Introduction to Politics, p 40.

संगठित अथवा सामूहिक धार्मिक स्वतन्त्रता (Corporate religious freedom)

धर्म के सामूहिक रुप से तात्पर्य है कि व्यक्तियों को अपने धर्म का पालन करने के लिए संगठन आदि बनाने की स्वतन्त्रता होती है। ये धार्मिक संस्थाएें या संगठन अपने आन्तरिक मामलो की व्यवस्था करने में पूर्ण स्वतन्त्र होने चाहिये। धर्म सिद्धान्त निश्चित करने, विभिन्न प्रकार के संगठन स्थापित करने, संस्थाओ के नियम बनाने तथा अनुशासन आदि के विषय में राज्य का हस्तक्षेप नही होना चाहिये। इस सम्बन्ध मे राज्य का हस्तक्षेप धर्म-निरपेक्षता के विरुद्ध समझा जाता है। यदि इन बातो मे राज्य हस्तक्षेप करता है तो धार्मिक संस्थाओ और सरकारी विभागो मे फिर कोई अन्तर ही नही रहता। संयुक्त राज्य अमेरिका मे न्यायालयों ने चर्च के आन्तरिक मामलो मे राज्य द्वारा हस्तक्षेप करने के प्रयासो को स्पष्टतः अस्वीकार किया है। यहाँ तक कि चर्च के धार्मिक विवादो पर भी न्यायालयो के क्षेत्राधिकार को स्वीकार नहीं किया गया है।

धर्म-निरपेक्ष राज्य मे धर्मों को स्वयं संगठित करने, धार्मिक सिद्धान्तो में विश्वास एवं उस विश्वास को व्यवहारिक रुप देने की स्वतन्त्रता होती है। व्यक्ति धार्मिक मामलो मे विवाद करता है, जो धार्मिक तथ्य स्वीकार नहीं करता उन्हे रद्द कर सकता है; वह एक धर्म के सिद्धान्तो को मान सकता है या धर्म का त्याग भी कर दे, आदि सभी बातो की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। इन बातों मे राज्य कही भी हस्तक्षेप नही करता। इसके अतिरिक्त राज्य नागरिकों को किसी धर्म विशेष को स्वीकार करने के लिए बाध्य नही कर सकता, न वह व्यक्तियो पर कोई धार्मिक कर आदि लगा सकता है।

धार्मिक स्वच्छन्दता बनाम सीमाएँ

उपरोक्त अध्ययन से यह अर्थ कदापि नही लगाना चाहिये कि धार्मिक संगठन अपने मामलों में स्वच्छन्दता पूर्वक मनमानी करते रहे तथा राज्य उन्हें एक सामान्य दर्शक की तरह देखता रहे। धर्म-निरपेक्षता धर्म के नाम पर हर प्रकार के काम की अनुमति नही देता। सामाजिक नैतिकता, राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था की समय-समय पर आवश्यकताऐं धार्मिक स्वतन्त्रता की मर्यादाएं निर्धारित कर देती हैं। धार्मिक संगठनों को राज्य के सामान्य कानूनों का पालन करना होता है। राज्य द्वारा समस्त समाज पर जो कर आदि लगाये जाते हैं धार्मिक संस्थाऐं स्वयं को उनसे मुक्त नही समझ सकती।

धार्मिक संस्थाओं की स्वतन्त्रता का अर्थ यह भी नहीं लगाना चाहिये कि इनके अन्तर्गत असामाजिक कार्य होते रहें तथा समाज विरोधी तत्व अपना अड्डा बना लें। ऐसे मामलों में राज्य हस्तक्षेप कर सकता है।

यही नहीं विशेष परिस्थितियों में राज्य धार्मिक पूजा, उपासना के मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है। उदाहरण के लिये यदि धर्म मानव बलि आदि की स्वीकृति देता है तो राज्य इस प्रथा को पूर्णतः समाप्त कर सकता है। ऐसे कार्य को धार्मिक मामलो में हस्तक्षेप नही कहा जा सकता है।

नागरिकता (Citizenship)

धर्म-निरपेक्ष राज्य में समस्त व्यक्तियों को धर्म आधार के बिना नागरिक माना जाता है। नागरिकता प्राप्त करने में धर्म न तो महत्वपूर्ण है, न अयोग्यता है। व्यक्ति किस धर्म का पालन करता है इससे उसके अधिकार और कर्त्तव्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। राज्य के द्वारा नागरिको को जो अधिकार दिये जाते हैं सभी धर्म के लोग उनका समान उपभोग करते है। धर्म के आधार पर व्यक्तियों को प्रथम या द्वितीय श्रेणी के नागरिक या गैर-नागरिको में विभाजित नही किया जाता। बिना धार्मिक भेदभाव के समस्त नागरिकों को राज्य के सर्वोच्च पद एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करने का समान अधिकार होता है।

धर्म-निरपेक्ष राज्य का विकास

आजकल आधुनिक विचार या संस्थाओ के उदभव की यदि खोज करनी होती है तो सामान्यतः हम प्राचीन ग्रीक के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं, क्योंकि उस समय के प्रमुख विचारकों की विचार जगत को ऐसी देन हैं जिन्हे हम आधुनिक मानते हैं। किन्तु धर्म-निरपेक्षता के सम्बन्ध में वे यह श्रेय प्राप्त नही कर सके। अरस्तु ने राजनीति शास्त्र को नैतिकशास्त्र से प्रथक किया लेकिन राज्य और धर्म की प्रथकता के विषय में उसने कुछ नही कहा। राज्य और धर्म को उस समय प्रथक करना सम्भव भी नही था। ग्रीक के राज्य सर्वव्यापी समाज-राज्य (Society-States) थे, जिनके अन्तर्गत राज्य मनुष्य जीवन के धर्म सहित समस्त पहलुओं पर नियन्त्रण रखता था। वास्तव में ग्रीक के नगर राज्यों का विकास धर्म पर आधारित था। उनका विकास कुछ प्रसिद्ध मन्दिरों के ही इर्द-गिर्द हुआ था। प्रत्येक नगर राज्य किसी विशेष देवी या देवता का नगर कहलाता था। ऐथेना (Athena) ऐथेन्स नगर राज्य; डेमेटर (Demeter) एल्यूसिस (Eleusis) नगर राज्य; हेरा (Hera) सेमॉस

(Samos) नगर राज्य, पोसायडॉन (Poseidon) पोसेयडॉनिया (Poseidonia) नगर राज्य तथा अपोलो (Apollo) अपोलोनिया (Apollonia) नगर राज्य के देवता थे। इन देवताओं की पूजा का उत्तरदायित्व राज्यों पर ही रहता था। अपने अपने नगर राज्य के देवता की पूजा करना नागरिक बनने की प्रमुख योग्यता थी। राज्य का प्रमुख न्यायाधीश वहाँ का मुख्य पुजारी या पादरी भी होता था। अन्य शब्दों में ग्रीक के नगर राज्यों को किसी भी दशा में धर्म-निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। उस समय इस विचारधारा का किसी भी रूप में विकास नहीं हुआ था।[14]

इसी भाँति रोमन सम्राट भी स्वयं में ईश्वर तुल्य थे तथा उनकी पूजा की जाती थी। रोमन साम्राज्य की नागरिकता प्राप्त करने के पहले सम्राट की स्तुति करना आवश्यक था। व्यक्तियों के नैतिक तथा धार्मिक कर्तव्य राज्य में निहित थे। सम्राट अन्तिम रूप में राज्य का प्रतीक समझा जाता था, जिसमें धार्मिक तथा सिविल शक्तियाँ दोनों का ही समन्वय हुआ था।[15]

इस समय राज्य एवं धर्म के मध्य भेद करने की प्रवृत्ति का अभाव था। यूनानी विचारकों की तरह इस समय के रोमन विचारक ईश्वर एवं राज्य के प्रति कर्त्तव्यों और निष्ठा में भेद नहीं मानते थे।

ईसाई धर्म के अभ्युदय से राज्य, धर्म तथा व्यक्तियों के सम्बन्धों में आमूलभूत परिवर्तनों का प्रारम्भ हुआ। ईसाई धर्म के प्रवर्तक यीशु ने अपने प्रवचनों में मनुष्य जीवन के धार्मिक तथा दूसरे पक्षों के भेद को व्यक्त किया। उन्होंने मनुष्य और ईश्वर तथा मनुष्य और राज्य के सम्बन्धों को अलग-अलग बतलाया। मनुष्य के आध्यात्मिक तथा गैर-आध्यात्मिक जीवन रूपी द्वैतवाद का समर्थन किया। ईसाई धर्मावलम्बियों के धार्मिक जीवन पर उन्होंने सम्राट के अधिकार को स्वीकार नहीं किया।

लेकिन दूसरी ओर रोमन सम्राट जूलियस सीजर (Julius Caesar, 100-44 B. C.) अपने राज्य के नागरिकों के धार्मिक जीवन पर नियन्त्रण बनाये हुए था। जो लोग सीजर के प्रति अपनी धार्मिक श्रद्धा व्यक्त नहीं करते थे, उन्हें कठोर यातनाएं भोगनी पड़ती थी। इस स्थिति के सन्दर्भ में सन् 70 में सन्त मार्क (Saint Mark) ने अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कहा:—

---

14. Barker, E., Principles of Social and Political Theory, pp. 11-14
15. Sabine, G. H. A History of Political Theory, p. 166

Render therefore unto Caesar the things that are Caesar's;
And unto God the things that are God's.
(जो कार्य सम्राट के क्षेत्राधिकार में आते हैं उन्हे सम्राट को;
जो ईश्वर से सम्बन्धित हैं उन्हे ईश्वर को अर्पित करो।)

इसका तात्पर्य था कि मनुष्य के गैर-धार्मिक कार्य सरकार के अन्तर्गत आते हैं तथा धार्मिक कार्यों पर चर्च का आधिपत्य है। यही से धर्म-निरपेक्ष राज्य का दर्शन प्रारम्भ होता है। इसने मानव जीवन के दो कार्यों और उद्देश्यों को स्पष्ट किया। इसमें राज्य और चर्च के अधिकारो के विभाजन का समर्थन किया गया जो अभी तक रोमन सम्राट में ही निहित थे। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि अब अपने-अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत दो सस्थाएं (राज्य और चर्च) प्रथक-प्रथक कार्य करेंगी जो अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होंगी।[16]

इन्ही विचारों को सन्त पीटर (Saint Peter), रोम के सर्व प्रथम पादरी, ने अन्य शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा—ईश्वर से भय करो, सम्राट का सम्मान करो।

(Fear God, honour the king)

यद्यपि इस प्रकार के विचार समकालीन . वातावरण मे तो गूंजने लगे, ईसाई धर्मानुयायियों के साथ कठोर व्यवहार चलता रहा। किन्तु इसी समय धार्मिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र मे एक महत्वपूर्ण विकास हुआ। सम्राट कॉन्स्टेन्टाइन महान (Emperor Constantine the Great, 272 or 274-337 A.D.) ने सन 313 में मिलान शहर (इटली का एक-प्रसिद्ध नगर) के निकट एक प्रसिद्ध घोषणा की कि "पूजा स्वतन्त्रता की किसी को मनाही नही की जायेगी, प्रत्येक व्यक्ति का मस्तिष्क एवं इच्छा दैवी कार्यों को अपनी इच्छानुसार व्यवस्थित करने के लिये स्वतन्त्र होगा।" इस घोषणा को मिलान पत्र' अथवा 'धार्मिक स्वतन्त्रता पत्र' (Edict of Milan or Edict of Toleration) के नाम से जाना जाता है।

मिलान पत्र का महत्व केवल शब्दों तक ही सीमित रहा। सम्राट कॉन्स्टेन्टाइन द्वारा ईसाई धर्म स्वीकार करने के बाद उसके उत्तराधिकारियो के शासन काल में स्थिति में विपरीत परिवर्तन हुआ। ईसाई धर्म की महत्ता में

16 Sabine, G H., History of Political Theory, pp. 7-8;
Barker, E, Principles of Social and Political Theory, pp, 7-8.

अत्यधिक वृद्धि हुई। अब ईसाई धर्म रोमन साम्राज्य का राज-धर्म बन गया। दूसरे धर्मावलम्बियों के मन्दिरों को बन्द करवा दिया गया। लेकिन चर्च के सम्बन्ध में साम्राटों की शक्तियों में कोई न्यूनता नहीं आई।

कालान्तर में यह स्थिति बदलने लगी। पांचवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे ट्यूटन (Teuton) जातियों ने रोम पर आक्रमण कर उसे अपने आधिपत्य मे कर लिया। ट्यूटन विजय से रोम साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हुआ। रोम साम्राज्य अब पूर्व तथा पश्चिम क्षेत्रों में विभाजित हो गया। साम्राज्य की राजधानी रोम से हटाकर कुस्तुनतुनियां (टर्की) बना दी गई। रोम में सम्राट की अनुपस्थिति, ट्यूटनो द्वारा ईसाई धर्म स्वीकार करने आदि से चर्च के प्रमुख में अभिवृद्धि हुई। इसी समय रोम मे पोप (एक संस्था के रूप मे) का अभ्युदय हुआ और शनैः शनैः लौकिक सत्ता (Temporal power) पर भी चर्च संगठन का पर्याप्त नियन्त्रण हो चला। इससे कई शताब्दियों तक धर्म-निरपेक्ष चिन्तन का मार्ग अवरुद्ध हो गया, ज्ञान का विकास दब गया तथा राजनीति दर्शन की प्रगति रुक गई।[17]

सन्त अगस्टाइन तथा दो-राज्य सिद्धान्त—

इन परिस्थियों के मध्य भी ईसाई धर्म के तत्वाधान में धर्म-निरपेक्ष भावना का कुछ सीमा तक विकास हुआ। संत अगस्टाइन (Saint Augustine, 354-430) के विचार यद्यपि इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं थे, उन्होने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'डी सिविटेट डी' (De Civitate Dei) में दो राज्यों की धारणा का प्रतिपादन करते हुए लिखा कि—

"मानव दो राज्यों का सदस्य होता है। एक राज्य वह है जिसमें उसने इस संसार मे जन्म लिया है। यह पृथ्वी का राज्य है। दूसरा स्वर्ग का राज्य (The city of God) है। चूंकि मानव प्रवृति के दो रूप उसकी आत्मा तथा शरीर है, अतः वह स्वर्गीय राज्य तथा पृथ्वी के राज्य दोनों का नागरिक होता है। इसी प्रकार मनुष्य के हित भी दो प्रकार के होते हैं—प्रथम, वह जिसका सम्बन्ध उसके शरीर से रहता है, वे सासारिक हैं, दूसरे वह हैं जिनका सम्बन्ध उसकी आत्मा से होता है, वे स्वर्ग के राज्य से सम्बद्ध हैं।"[18]

---

17. गेटिल, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ. 115.
18. Quoted, Foster, Masters of Political Thought, Vol. I, p. 197.

संत अगस्टाइन के 'दो राज्यों' सम्बन्धी विचार काफी महत्वपूर्ण माने जाते हैं जिसके अन्तर्गत वे 'पृथ्वी का राज्य तथा स्वर्ग का राज्य' की विवेचना करते हैं। इससे उन्होंने दो जीवन प्रणालियां, आध्यात्मिक और भौतिक, के मध्य भेद स्थापित किया है। मध्ययुग में धर्मसत्ता तथा राज्यसत्ता के बीच जब संघर्ष प्रारम्भ हुआ तो दोनो पक्षों के समर्थकों ने अगस्टाइन के विचारों से अपने पक्ष की पुष्टि करने के प्रयत्न किये। अगस्टाइन के विचारो में न केवल चर्च की स्वतन्त्रता ही अन्तर्निहित थी अपितु लौकिक सरकार की भी, विशेषतः जब तक कि वह अपने समुचित अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत कार्य करती रहती है।[19]

पोप गिलेसियस प्रथम और दो सत्ता सिद्धान्तः—

जैसे-जैसे धर्म तथा सत्ता में सघर्ष बढ़ता चला, चर्च संगठन मे कुछ ऐसे व्यक्ति थे जिनका विचार था कि दोनों सत्ताओं और व्यवस्थाओं में पारस्परिक सहयोग की भावना बनी रहनी चाहिये। पारस्परिक सहचर के आधार पर दोनो एक दूसरे के कार्यों मे तब तक हस्तक्षेप न करें जब तक कि उनके आचरण तथा प्रशासन त्रुटिपूर्ण न हो जायें। पांचवी शताब्दी मे इस विचारधारा का प्रतिपादन किसी सीमा तक पोप गिलेसियस प्रथम ने अपने 'दो तलवारो के सिद्धान्त' (Doctrine of Two Swords) द्वारा किया। पोप गेलेसियस प्रथम के अनुसार एक ही व्यक्ति के हाथो में दोनो सत्ताओं (धार्मिक तथा लौकिक) का सम्मिश्रण होना मूलतः ईसाई धर्म के विरुद्ध था।

उन्होंने राज्य सत्ता के चर्च पर क्षेत्राधिकार को पूर्णतः अस्वीकार किया। ईसाई धर्म के सर्वव्यापी प्रभाव के अन्तर्गत गेलेसियस प्रथम ने कहा कि शासकों को आत्मिक जीवन की प्राप्ति के लिये पादरियों की आवश्यकता होती है तथा पादरियों को सांसारिक मामलो को व्यवस्थित करने के लिए राज्य सत्ता द्वारा निर्मित नियमों की आवश्यकता होती है। इन विचारो को पोप गिलेसियस प्रथम ने कुस्तुन्तुनिया में स्थित रोमन सम्राट को एक पत्र में लिख कर व्यक्त किया। पोप ने लिखा—

'महान सम्राट,

"इस संसार का शासन करने वाली दो प्रमुख शक्तियाँ हैं : धर्माधिकारियों की पवित्र सत्ता तथा राजसी सत्ता, जिनके अन्तर्गत धर्मा-

---

19. Foster, E M., Masters of Political Thought, Vol. I, p. 197.
Maxey, Chester C., Political Philosophies, p. 103.
Sabine, G. H, A History of Political Theory. p. 171.

अन्य मानवों की अपेक्षा आपका स्तर उच्चतर है, तथापि आपको उनके समक्ष जो धार्मिक मामलों का नियमन करने के लिये उत्तरदायी हैं, झुकना पड़ता है। सार्वजनिक शान्ति तथा व्यवस्था मे सम्बद्ध मामलों में धार्मिक नेता आपके आदेशों का पालन करते हैं। यह इसलिये कि ऐसे आदेश देने की शक्ति आपको ईश्वर द्वारा प्रदान की गई है। परन्तु आपको भी उन अधिकारियों के आदेशों का पालन करना चाहिये जिन्हे आध्यात्मिक जीवन के रहस्यों का निर्वचन करने का अधिकार प्राप्त है।" 20

'दो तलवारो अथवा दो सत्ताओं' का गेलेसियन सिद्धान्त धार्मिक और लौकिक सत्ता के पृथक अस्तित्व को केवल स्वीकार ही नही करता किन्तु उन दोनों के अलग-अलग कार्य-क्षेत्रों को भी मान्यता देता है जो एक दूसरे के अधिकारों में हस्तक्षेप न करें।21

इस प्रकार धर्म-निरपेक्षता को सैद्धान्तिक रूप मे तो मान्यता प्राप्त सी होने लगी, धर्म सत्ता तथा लौकिक सत्ता के भेद को आदर्श तो माना गया लेकिन यह विचार केवल पोप और सम्राटों को सन्तुष्ट या उनके विरोधी विचारों को समन्वय करने का प्रयत्न था। व्यवहार मे धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना अभी तक नही हो पाई थी। चर्च तथा राज्य के कार्य एक दूसरे के पूरक थे तथा उन्हे अलग-अलग करना असम्भव था। "चर्च एक राज्य चर्च था तथा राज्य एक चर्च राज्य था।"22

आगे आने वाली कुछ शताब्दियो मे चर्च और राज्य के संघर्ष ने पूर्णतः शक्ति संघर्ष का रूप धारण कर लिया। 800 ई. मे पोप लियो तृतीय (Pope Leo III) ने शार्लमेन (Charlemagne) का पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) के प्रथम सम्राट के रूप में राज्याभिषेक किया। इस कार्य ने पोप की प्रमुखता को व्यक्त किया। लेकिन शार्लमेन ने अपने पुत्र का राज्याभिषेक पोप द्वारा नहीं; स्वयं ही ने किया। कालान्तर में सम्राट को राज्याभिषेक द्वारा अधिकार देने की परम्परा ने एक विवाद का रूप धारण कर लिया। यह कार्य पोप अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत मानता था तथा अयोग्य सम्राटों का

20 Quoted, Smith, D E., India As a Secular State, p 10.
21. Ehler Z., Sydney, and Morrall, J. B, Church and State Through the Centuries, p 10.
22. Dawson, Christopher, Medieval Essays, p 78

धर्म बहिष्कृत कर उन्हें उनके पद से हटाने का अधिकार भी सुरक्षित रखता था। चर्च अधिकारियों की नियुक्ति में भी पोप अपना अधिकार मानता था। ग्यारहवी शताब्दी मे पोप ग्रेगरी सप्तम (Pope Gregory VII, 1073-1085) तथा सम्राट हेनरी चतुर्थ (Henry IV) मे प्रथम सत्ता संघर्ष हुआ जिसमें सम्राट हेनरी को अपमानित होना पडा। लेकिन तीन वर्ष बाद ही हेनरी ने रोम पर आक्रमण किया तथा पोप ग्रेगरी सप्तम को पदच्युत कर दूसरे पोप की नियुक्ति की। इस घटना से धर्म सत्ता तथा चर्च संगठन का पतन प्रारम्भ हुआ।

तेरहवी शताब्दी के अन्त मे पोप बोनीफेस (Boniface VIII, Pope, 1294-1303) अष्टम तथा फ्रान्स के सम्राट फिलिप में एक और संघर्ष प्रारम्भ हुआ। पोप बोनीफेस अष्टम ईसाई धर्म के अन्तर्गत लौकिक सत्ता का कोई भी आदेश बिना पोप की स्वीकृति के न्याय सगत नही मानता था। सम्राट फिलिप चतुर्थ ने बोनीफेस की इस धारणा का प्रतिरोध किया।

फिलिप ने धार्मिक क्षेत्र मे अपनी सत्ता मे वृद्धि कर धार्मिक संस्थाओ पर पोप के विरोध के होते हुए भी कर लगाये। इस संघर्ष में लौकिक सत्ता की धर्म सत्ता पर पूर्ण तथा स्थाई विजय हुई। 1303 में बोनीफेस की मृत्यु के उपरान्त फ्रान्स के राजतन्त्र ने उसके स्थान पर नये पोप का निर्वाचन कराने तथा पोप का प्रधान कार्यालय रोम से एवीनन (Avignon) मे स्थानान्तरित कराने में सफलता प्राप्त की। इसने पोप के प्रभुत्व को बहुत कुछ सीमित कर दिया।

धर्म-निरपेक्ष विचारधारा के विकास मे मारसीलियो ऑफ पेडुवा (Marsiglio of Padua, 1270-1342) का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मारसीलियों ने अपनी पुस्तक डिफेन्सर पेसिस (Defensor Pacis, 1324) में धर्म-निरपेक्ष सत्ता की स्वतंत्रता का समर्थन किया। यही नहीं उसने इस विचार का भी प्रतिपादन किया कि राज्य आत्मनिर्भर एवं सर्व-व्यापक संस्था है, जो धार्मिक संस्थाओं को भी उस तरह नियमित कर सकता है जिस प्रकार व्यापार या कृषि। मारसीलियों ने नागरिक अधिकारों को धर्म पर आधारित नही माना। उसके अनुसार—

> "नागरिकों के अधिकार जिस धर्म का वे पालन करते हैं उससे स्वतन्त्र हैं; कोई भी मनुष्य अपने धर्म के कारण दन्डित नही किया जा सकता।"[23]

---

23. Pfeffer, Leo, Church, State and Freedom, p 18.

मध्ययुग के समस्त विचारको में मारसीलियो सर्व प्रथम चिन्तक है जो चर्च सत्ता को पूर्णतया लौकिक सत्ता के आधीन मानने के तर्क देता है। वह यह भी कहता है कि चर्च संगठन तथा चर्च-सत्ता पूरी तरह लौकिक एवं मानवीय है।

नवीन परिस्थितियाँ तथा धर्म-निरपेक्षता

चौदहवी, पन्द्रहवी तथा सोलहवी शताब्दी में व्यक्ति, धर्म तथा राज्य के चिन्तन क्षेत्र मे अधिक सक्रियता आई। चौदहवी शताब्दी के उत्तरार्ध तथा पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध का शतक राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मध्य युग का अन्त माना जाता है। इस चरण में चर्च सुधार तथा पोप विरोधी धारणाओं का प्राधान्य रहा। चर्च सुधार तथा पोप की सत्ता को मर्यादित करने का एक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसे कनसीलियर आन्दोलन (Conciliar Movement) कहा जाता है।

पुनर्जागृति और धर्म-निरपेक्षता

पन्द्रहवी शताब्दी के उत्तरार्ध से पुनर्जागृति काल (Renaissance) प्रारम्भ हुआ। मनुष्य नवीन ज्ञान से प्रभावित हुए। इस युग की प्रमुख विशेषताएं; मेकआइवर के अनुसार, यह थी मनुष्य ही अध्ययन एवं ज्ञान का केन्द्र एवं उद्देश्य बना। अध्ययन का आधार मानववाद था न कि धर्मशास्त्रो पर आधारित अन्धविश्वास। आलोचनात्मक तथा तार्किक पद्धति का विकास हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ कि ज्ञान को उसके गुण और तर्क (Reason) के आधार पर ग्रहण करना चाहिये। परिणामस्वरूप धर्म-प्रभाव को काफी धक्का लगा। वास्तव मे पुनर्जागृति से ही राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप बदलने लगा और उसमें आधुनिक चिन्तन की प्रवृत्तियाँ आने लगी। इनमे धर्म-निरपेक्षता भी एक प्रमुख प्रवृत्ति थी। इस सम्बन्ध में मेकियावली के विचार अधिक उग्र थे। वह राजनीति के प्रभाव से मुक्त किसी भी व्यवस्था का समर्थक नही था।[24]

यह युग साहसिक खोज का भी था। यूरोप के लोगो ने बाहर जाकर नई-नई बस्तियों तथा व्यापारिक मार्गो की खोज की। 1486 मे अफ्रीका के ठीक दक्षिण छोर पर उत्तम आशा अन्तरीप (Cape of Good Hope) तथा 1492 में कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज; 1498 में वास्को डि गामा का भारत आना और 1519 मे एक पुर्तगाली नाविक मैगेलन (Magellan) के दल द्वारा विश्व की परिक्रमा करना इस समय की विशेष घटनाएं थी। यूरोप के लोग अन्य महाद्वीपों मे गये, वहाँ नई-नई सभ्यताओं और धर्मों के सम्पर्क में

---

24. MacIver, R. M., The Modern State, pp. 171-73; Federico Chabod, Machiavelli and the Renaissance, p 93.

आये। यूरोप वापस आकर इन्होंने रोमन कैथोलिक भ्रान्तियाँ, जैसे ईसाई धर्म ही अकेला और एक सच्चा धर्म है, समस्त विश्व ईसाई धर्म का ही पालन करता है, ईसाई राज्य के अतिरिक्त विश्व में और अन्य कोई राज्य नही है, आदि धारणाओं का खन्डन किया।

खोजों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रादुर्भाव तो हुआ ही, भिन्न-भिन्न देशों के लोगों में पारस्परिक सम्पर्क भी बढ़ा। ये लोग विभिन्न धर्मों के अनुयायी थे। भारत, चीन आदि देशों से व्यापार करना तथा अन्य धर्मावलम्बियो के साथ व्यापार सम्बन्ध स्थापित करना तभी सम्भव था जब कि धार्मिक सहिष्णुता को स्वीकार किया जाय। धार्मिक कट्टरता से व्यापारिक सहयोग असम्भव था।

धर्म सुधार आन्दोलन और धर्म-निरपेक्षता

सोलहवीं शताब्दी में धर्म सुधार आन्दोलन (Reformation) का अभ्युदय हुआ। यह आन्दोलन पोप तथा अन्य पादरियो के नीच आचरणो और धार्मिक उपेक्षा के विरुद्ध हुआ। इस आन्दोलन से ईसाई धर्मावलम्बी दो खेमों में विभाजित हो गये। एक तो वे जो पोप का समर्थन कर रहे थे तथा दूसरे वे जो चर्च व्यवस्था में सुधार चाहते थे। ये सुधार समर्थक प्रोटेस्टेन्ट कहलाये जाने लगे।

धर्म सुधार आन्दोलन (Reformation) का प्रमुख लक्ष्य रोमन केथोलिक चर्च में सुधार करना था न कि धर्म-निरपेक्षता का समर्थन। किन्तु आगे चलकर रिफोरमेशन ने धर्म-निरपेक्षता के क्षेत्र में भी व्यापक योगदान दिया तथा ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई जिनके अन्तर्गत धर्म-निरपेक्ष राज्यों की स्थापना सम्भव हो सकी।

ईसाई धर्म का विभाजन सिर्फ इन दो सम्प्रदायों तक ही सीमित नहीं रहा, वह धीरे-धीरे कई छोटे-छोटे सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। इन सम्प्रदायों की भिन्न तथा कभी-कभी परस्पर विरोधी धर्म व्यवस्था थी। इस प्रकार यूरोप के अनेक राज्यो में कई छोटे-छोटे सम्प्रदायो के प्रादुर्भाव से एक नई परिस्थिति उत्पन्न हुई। जब किसी राज्य में सिर्फ एक ही धर्म के अनुयायी थे तब तक तो कोई समस्या नहीं थी। लेकिन जब राज्य की जनता केथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट आदि में विभाजित थी तो राज्य न तो केथोलिक और न ही प्रोटेस्टेन्ट का समर्थन कर सकता था। जहाँ किसी सरकार ने इस परिस्थिति में किसी एक सम्प्रदाय का समर्थन किया, वही कई प्रकार की आन्तरिक समस्याएं उत्पन्न हुई। इंग्लैंड में मेरी ट्यूडर (Mary Tudor, 1553-58) जो कट्टर कैथोलिक थी, देश की एकता तथा शान्ति व्यवस्था बना कर नही रख सकी।

रिफोरमेशन ने मध्ययुगीय सार्वभौम, विश्वव्यापी ईसाई साम्राज्य की भ्रान्ति को पूर्णत: खण्डित कर दिया । अब कई अलग-अलग स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ । इन राज्यों में कुछ रोमन कैथोलिक तथा कुछ प्रोटेस्टेन्ट धर्म के समर्थक थे । ईसाई धर्म के इन दोनों सम्प्रदायों के समर्थन में यूरोप में धार्मिक युद्ध भी हुए । 1588 में इग्लैण्ड तथा स्पेन का आरमेडा युद्ध (Armada) क्रमश: प्रोटेस्टेन्ट तथा कैथोलिक राज्यों के मध्य था ।

लगभग सभी राज्यों में धार्मिक विभिन्नता दृष्टिगोचर होने लगी थी । राज्य की नागरिकता अब किसी एक समान धर्म पर आधारित नहीं रही, सभी सम्प्रदायों के व्यक्ति नागरिक थे । जैसाकि सेबाइन (Sabine G.H.) ने उल्लेख किया है कि उन परिस्थितियों में धार्मिक सहिष्णुता के अलावा कोई विकल्प ही नहीं था । उस समय यह भी स्वीकार किया जाने लगा कि विभिन्न सम्प्रदायों के व्यक्ति भी एक सामान्य राजनीतिक व्यवस्था के प्रति निष्ठावान हो सकते थे ।[25]

इन्हीं परिस्थितियों का समकालीन विचारों पर भी प्रभाव पड़ा तथा धर्म निरपेक्षता को व्यापक समर्थन मिलने लगा । बोदां (Bodin) ने लिखा कि "जिस राज्य में पहिले ही दो या तीन धर्म विद्यमान हों, राज्य द्वारा धार्मिक एकरूपता थोपना व्यर्थ होगा । ऐसा करना गृह-युद्ध की ओर जाना होगा जिससे राज्य निर्बल होगा ।"[26]

इन परिस्थितियोंवश धर्म-निरपेक्षता से सम्बन्धित कुछ बातों की आवश्यकता प्रतीत हुई । प्रथम, विभिन्न सम्प्रदायों में पारस्परिक सहिष्णुता की आवश्यकता द्वितीय, राज्य द्वारा सब सम्प्रदायों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करना । तृतीय, राज्य द्वारा किसी सम्प्रदाय से अपना गठबन्धन न रखना ।

परिणामस्वरूप यूरोप में दो प्रकार की व्यवस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ । प्रथम, किन्हीं-किन्हीं राज्यों में किसी चर्च विशेष को राज-धर्म की मान्यता दी गई, पर साथ ही साथ अन्य धर्मावलम्बियों को भी धार्मिक स्वतन्त्रता थी । राजकीय चर्च को कुछ विशेष सुविधाएं प्राप्त थीं । इस प्रकार की राजकीय-चर्च व्यवस्था का प्रादुर्भाव इंगलैंड में हुआ । एलिजाबेथ प्रथम ने एंग्लीकन चर्च (Church of England) की स्थापना की । दूसरी व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य

25 Sabine, G H, A History of Political Theory, p 357.
26. Mc Govern, W.W., From Luther to Hitler, p 65.

में सब धर्म संगठनों को समान समझा जाता था। जिसे ज्यूरिसडिक्सनलिज्म (*Jurisdictionalism*) कहा जाता था। लेकिन इन दोनों व्यवस्थाओं को धर्म-निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता था। राज्य, चर्च या कई चर्च के मामलों को व्यवस्थित तथा नियन्त्रित करते थे।

बोसांके (Bernard Bosanquet) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक—The Philosophical Theory of the State—में लिखा है कि चर्च [illegible] धर्म के पारस्परिक विभाजन से चर्च तथा राज्य की [illegible] प्रारम्भ नही हुई, वरन् राज्य को अपनी पूर्ण स्वतन्त्र इच्छा [illegible] प्रदर्शित करना सम्भव हो सका। (पृ. 265) धर्म-निरपेक्षता के [illegible] के प्रभाव में भी वृद्धि हुई।

संयुक्त राज्य अमेरिका और धर्म-निरपेक्षता

क्वेकर्स (Quakers) तथा कैथोलिक अनुयायियों का प्रवेश वर्जित था या उनपर कानूनी प्रतिबन्ध लगाये गये थे। रूहोड द्वीप (Rbode Island) का संस्थापक (Roger Williom) धार्मिक स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था। राज्य के विषय में इनके विचार मूलतः धर्म-निरपेक्ष थे। 27 यह उपाय चर्च तथा राज्य के प्रथक्कीकरण सिद्धान्त पर आधारित थे तथा सन् 1663 में रूहोड द्वीप के चार्टर के अन्तर्गत समस्त धर्मावलम्बियों को धार्मिक स्वतन्त्रता दी गई। अमरीकी धर्मनिरपेक्षता में रूहोड द्वीप का बहुत ही महत्व रहा है।

रॉजर विलियम के अलावा इस क्षेत्र में विलियम पेन (William Penn) का भी योगदान रहा है। विलियम पेन ने पेनस्लेवानिया की स्थापना के उपरान्त यहाँ अधिक से अधिक व्यक्तियों को बसाने के लिये एक विज्ञापन निकाला जिसके अनुसार सभी धर्मावलम्बियों को धार्मिक स्वतन्त्रता का वचन दिया गया। अन्य उपनिवेशों में जहाँ अन्य धर्मविलम्बियों का दमन किया जाता था बहुत से लोग पेनस्लेवानिया में आकर बस गये। इस उपनिवेश में यूरोप के लगभग सभी चर्चों की स्थापना हुई।

अमेरिका में धर्म-निरपेक्षता को व्यापक मान्यता अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में प्राप्त हुई। जब संयुक्त राज्य की स्थापना हुई तो 'राज्य बनाम धर्म' के विषय में काफी विवाद हुआ। ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि जिन तेरह उपनिवेशों द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थापना हुई उनमें ईसाई धर्म के कई सम्प्रदाय महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर चुके थे। स्वाधीन अमेरिका किस सम्प्रदाय को राज्य संरक्षण प्रदान करे! उन परिस्थितियों में यह निर्णय करना एक समस्या थी। किसी एक धर्म को राज-धर्म का स्तर देने का तात्पर्य अमरीकी राष्ट्र की स्थापना विघटित नीव पर करना था।

रूहोड द्वीप तथा पेनस्लेवानिया में धर्म-निरपेक्ष के सफल प्रयोग भी संविधान निर्माताओं के समक्ष विकल्प के रूप में थे, जिससे वे प्रभावित होते प्रतीत हुए।

अमरीकी क्रान्ति के नेताओं पर लॉक (John Locke, 1632-1604) के विचारों का बड़ा प्रभाव था। लॉक धार्मिक सहिष्णुता का प्रबल समर्थक था जिसके विषय में उसने अपने सहिष्णुता पत्रों (Letters of Toleration) में विचार व्यक्त किये। अमरीकी संविधान निर्माताओं ने लगभग लॉक के ही उदार विचारों का अनुसरण किया। अमरीकी स्वाधीन क्रान्ति के प्रमुख विचारक जेम्स मेडिसन (James Madison, 1751-1836), जो बाद में राष्ट्रपति

---

27. Dauson, Christipher; Religion and Culture, p 204

भी बने, ने लिखा था कि धर्म राजनीतिक व्यवस्था से पूर्ण मुक्त है तथा धर्म की स्थापना राज्य के लिये आवश्यक नहीं है। [28]

अमेरिका के नवीन संविधान में ईश्वर (God) का कही भी उल्लेख नही हैं। संविधान के छटवे अनुच्छेद के अंतंगत उल्लखित है कि संयुक्त राज्य अमेरिका मे किसी भी पद या सार्वजनिक ट्रस्ट के लिये धार्मिक परीक्षा या योग्यता का प्रावधान नहीं होगा।

1791 में अमेरिका में चर्च तथा राज्य का अंतिम रूप में पूर्ण पृथक्कीकरण हुआ। जेम्स मेडिसन द्वारा प्रस्तावित इस वर्ष अमरीकी संविधान के प्रथम संशोधन में उल्लेख किया गया कि—

> "कॉंग्रेस (अमरीकी संसद) किसी धर्म को स्थापना के लिये कोई विधि निर्माण नही करेगी, न धर्म के स्वतन्त्र प्रयोग पर प्रतिबन्ध ही लगायेगी।" [29]

अमरीकी संविधान में प्रथम संशोधन के सम्मिलित होने के फलस्वरूप विश्व में प्रथम धर्म-निरपेक्ष राज्य को स्थापना हुई। इस संशोधन द्वारा धर्म और सरकार का प्रथक्कीकरण तथा धर्म व्यक्तिगत मामले के रूप मे स्वीकार किया गया।[30] 1802 में राष्ट्रपति जेफरसन (Thomas Jafferson, 1743-1826) ने डेनबरी बेपटिस्ट संघ (Danbury Bapist Association) को एक पत्र में लिखते हुए उल्लेख किया कि संविधान का प्रथम संशोधन चर्च और राज्य के मध्य 'प्रथक्कीकरण की दीवार' (Wall of Separation) स्थापित करता है। [31] इससे राज्य द्वारा धर्म के विषय में कानून बनाना या कार्यपालिका द्वारा किसी भी प्रकार की कार्यवाही आदि करने पर प्रतिबन्ध लग गया। अन्य शब्दों में राज्य तथा चर्च के बीच किसी भी प्रकार के प्रशासनिक सम्बन्ध नही रह सकते। अमरीकी राज्यों में भी धर्म-निरपेक्षता का प्रभाव बड़ी शीघ्र गति से बढ़ा। मे सेचुसेट (Massachusetts) अंतिम राज्य था जहाँ 1833 में राज्य तथा चर्च की प्रथकता को प्राप्त किया गया।

अमरीकी न्यायालय ने भी कुछ महत्वपूर्ण निर्णयों मे धर्म-निरपेक्षता के औचित्य को पूर्णत: स्वीकार किया है। एवरसन बनाम बोर्ड आफ ऐजूकेशन

28 Pfeffer, Leo, Church, State and Freedom, pp. 99-100.

29. "Congress Shall make no law respecting an establishment of religion or prohibiting the free exercise thereof."

30. Pfeffer, Leo, Church, State and Freedom, p. 119.

31. Ibid, p. 224.

(Eversom V. Board of Education) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने एक महत्वपूर्ण निर्णय मे कहा कि—

> "न तो राज्य और न संघीय सरकार किसी चर्च की स्थापना कर सकती है। दोनो ही द्वारा किसी एक या सब धर्मों को अनुदान देने या एक धर्म को दूसरे धर्म के ऊपर प्राथमिकता देने सम्बन्धित कानून निर्मित नही किये जा सकते। कोई भी धार्मिक गतिविधियों या सस्थाओं, जिन्हे किसी भी नाम से पुकारा जाता हो, वे किसी भी रूप मे अपने धर्म की शिक्षा या व्यवहार रूप देते हों, की सहायता के लिये छोटी या बडी राशि मे किसी भी तरह का कर नहीं लगया जा सकता है। न तो राज्य सरकार और न संघीय सरकार, गुप्त या खुले रूप मे, धार्मिक संगठनो या समूहों के मामले मे भाग ले सकती है।"[32]

और भी अन्य निर्णयों[33] में भी उच्चतम न्यायालय ने धर्म-निरपेक्षता के विभिन्न पक्षों को स्पष्ट किया तथा अमेरिका में धर्म-निरपेक्षता के विषय में किसी भी पहलू को संदिग्ध नही छोड़ा।

टर्की और धर्म-निरपेक्षता

प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त टर्की द्वारा धर्म-निरपेक्षता ग्रहण करना एक महत्वपूर्ण राजनीतिक विकास समझा जाता है। यह महत्वपूर्ण इसलिये और भी है कि धर्म-निरपेक्षता स्वीकार करने के पहिले टर्की की जो धार्मिक स्थिति थी उस दशा में धर्म-निरपेक्षता के पथ की ओर बढ़ना वास्तव मे एक साहसिक कदम था। टर्की की धर्म-निरपेक्षता का प्रभाव एशिया के अन्य राज्यों पर भी पड़ा। पं. जवाहरलाल नेहरू ने जब (1933 में) धर्म-निरपेक्षता शब्द का प्रयोग किया, वह टर्की के ही सन्दर्भ मे था।

---

32 Quoted, Luthera, V. P., The concept of the Secular State and India, pp 25-26

33 कुछ प्रमुख निर्णय निम्नलिखित हैं:—
  (i) McCollum V. Board of Education
  (ii) Zorach V. Clauson
  (iii) Watson V Jones.
  (iv) Kedroff V. St Nickolas Cathedral.
  इन निर्णयो के संक्षिप्त विवरण के लिए देखिए—
  Luthera, V. P. The Concept of the Secular State and India, pp 25-32.

गणराज्य बनने से पहले टर्की ऑटोमान वंश के सुल्तान द्वारा शासित किया जाता था। इस्लाम राज्य-धर्म था तथा सर्वत्र सामाजिक राजनीतिक क्षेत्र में इस्लाम का ही अधिशासन था। धर्म के क्षेत्र मे टर्की की श्रेष्ठता इस्लाम जगत में सर्वोच्च थी। टर्की का सुल्तान केवल शासक ही नही था, किन्तु इस्लाम का धर्मगुरु (खलीफा) भी था। वह विश्व के समस्त इस्लाम अनुयायियों को जिहाद अथवा धर्मयुद्ध (Jehad) के लिये आव्हान कर सकता था।

टर्की धर्म-निरपेक्ष राज्य के लिये अनुकूल भी नही था। वहाँ की अज्ञान, रूढ़िवादी, कट्टर धर्मपन्थी जनता इस प्रकार के सुधार के लिये तैयार भी नही थी। यहाँ के अत्यधिक व्यक्ति इस्लाम के अनुयायी है। इस्लाम द्वारा धर्म-निरपेक्ष सिद्धान्तो को स्वीकार करना असम्भव समझा जाता है। वहाँ की जनता ने इस प्रकार के सुधार के लिये कोई आन्दोलन भी नही किया था। टर्की कभी भी पश्चिमी उपनिवेशवाद के अन्तर्गत नही रहा। यूरोप मे प्रचलित धार्मिक तटस्थता सम्बन्धी विचारो का टर्की पर कोई प्रभाव नही पड़ा था।

लेकिन टर्की का राष्ट्रवादी आन्दोलन निश्चय ही यूरोपीय विचारो से प्रभावित रहे बिना न रह सका। मुस्तफा कमाल टर्की को एक प्रगतिशील धर्म-निरपेक्ष राज्यों की श्रेणी मे लाने के बहुत उत्सुक थे और इस सम्बन्ध में वे कई सुधार चाहते थे। सन् 1924 मे टर्की से खलीफा पद की समाप्ति करदी गई। 1925 मे इस्लाम धर्म पर आधारित सभी राजकीय आज्ञाओ को समाप्त कर दिया गया। 1926 मे इस्लाम पर आधारित कानूनो के स्थान पर स्विटजरलैंड का सिविल कोड, इटली तथा जर्मनी के फोजदारी तथा व्यापारिक कानून लागू किये गये।

1924 मे टर्की का जो नया संविधान बनाया गया उसमे इस्लाम को राज-धर्म स्वीकार किया गया था। लेकिन 1928 मे एक संशोधन के द्वारा यह प्रावधान समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार टर्की धर्म-निरपेक्षता के मार्ग पर अग्रसर हुआ।

भारत और धर्म-निरपेक्षता

भारत में धर्म-निरपेक्ष विचार एवं व्यवहार का प्रादुर्भाव कब हुआ? इस सम्बन्ध मे मतभेद हैं। पणिक्कर ने धर्म-निरपेक्षता को भारत में अंग्रेज शासन की देन माना है, जो यूरोपीय परम्परा पर आधारित है।[34] तो क्या धर्म-निरपेक्षता के क्षेत्र में अतीत भारत का कोई योगदान नही है? यह भी एक

34. Panikkar, K. M, The State and the Citizen, p 28

विवादपूर्ण विषय है तथा विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से इस प्रश्न का विवेचन किया है।

प्राचीन भारत में धर्म की उन्नति या वृद्धि राज्य का एक प्रमुख उद्देश्य माना जाता था। सम्राट धार्मिक संस्थाओं की सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझता था। धर्म अभिवृद्धि के लिये मन्दिरों का निर्माण तथा धार्मिक कार्यों को अनुदान दिया जाना राज्य के प्रमुख कार्यों में से एक था। लेकिन शासन व्यवस्था धार्मिक रूढ़ियों (dogmas) पर आधारित नहीं थी। राज्य में सब धर्मावलम्बियों के साथ दयालुता का बर्ताव किया जाता था तथा उन्हें समय-समय पर आर्थिक सहायता भी दी जाती थी। धर्म-निरपेक्षता का यह स्वरूप उस समय विद्यमान था।[35]

वैदिक युग मे सम्राट धार्मिक कार्यों को स्वयं नहीं करता था। धार्मिक कार्य ब्राह्मणों या पुरोहितों के द्वारा किये जाते थे। उस समय की वर्ण व्यवस्था इस प्रकार के कार्य विभाजन पर ही आधारित थी। क्षत्रिय वर्ग, जिस वर्ग के सम्राट हुआ करते थे, का कार्य राज्य प्रशासन चलाना तथा देश की रक्षा करना था। परन्तु धार्मिक एवं अध्यात्मिक कार्य ब्राह्मण-वर्ग के द्वारा ही संचालित होते थे। पुरोहित सम्राट का धर्म-गुरु भी होता था तथा सम्राट अपने राज्याभिषेक के अवसर पर पुरोहित के समक्ष तीन बार झुक कर प्रणाम करता था। लेकिन पुरोहित का शासन व्यवस्था में कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं था।[36] यह व्यवस्था भी किसी न किसी रूप में एक धर्म-निरपेक्ष परम्परा थी। पुरोहित या ब्राह्मण वर्ग ने राज्य व्यवस्था पर अधिकार करने का कभी भी प्रयत्न नहीं किया।

राज्य तथा धर्म सम्बन्धों के विषय में कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में एक तरह से क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किये हैं। कौटिल्य ने राजनीति तथा धर्मशास्त्र को अलग किया है। वह राज्य का सम्बन्ध केवल राजशास्त्र से ही मानता है जिसका उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना तथा शक्ति बनाये रखना है।[37] कौटिल्य का अर्थशास्त्र, पणीक्कर लिखते हैं, पूर्णतः धर्म-निरपेक्ष राज्य प्रस्तुत करता है जिसका मुख्य आधार शक्ति था।[38] कौटिल्य राज्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये धर्म को एक साधन रूप में प्रयोग करने की भी सिफारिश करता है।

---

35. Anjaria J. J. The Nature and Grounds of Political Obligations in the Hindu State, p 280,
Smith, D. E , India as a Secular State, p. 57.
36 Altekar A S , State and Government in Ancient India, Banaras, 1949, pp 31—35, 48.
37. Ghosal, U. N , A History of India Political Ideas, p 102,
38. Panikkar, opp. cit., p. 116.

प्राचीन भारत में जिस प्रकार से धार्मिक स्वतन्त्रता प्रचलित थी उससे वास्तव में धर्म-निरपेक्षता का एक प्रमुख तत्व प्रस्तुत होता है। राज्य ने व्यक्तियों पर कभी भी कोई धर्म नही थोपा और न ही किसी धार्मिक साम्प्रदाय का दमन ही किया। हिन्दू दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की आध्यात्मिक मुक्ति कई साधनों से प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार हिन्दू समाज में कई परस्पर-विरोधी धर्म साम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ है। जैनधर्म, बुद्धधर्म काफी लोकप्रिय बने। देश में धार्मिक सहिष्णुता थी तथा धर्म के नाम पर यूरोप की तरह कभी युद्ध नहीं हुए। मैक्स वेबर (Max Waber) के अनुसार भारत में दर्शन तथा धार्मिक विचारकों को जितनी स्वतन्त्रता थी वह पश्चिमी देशों में कुछ समय पहिले तक प्राप्त नही थी।[39]

मुस्लिम युग में धर्म-निरपेक्षता का स्वरूप

सातवी शताब्दी से भारत में मुसलमानों का आगमन प्रारम्भ हुआ। मुस्लिम समाज धर्म तथा राजनीति का समन्वय था। इसके अन्तर्गत सिद्धान्त या व्यवहार में लौकिक एवं धार्मिक पहलुओं में कोई अन्तर नही था। प्रारम्भ में मुस्लिम समुदाय खलीफा तथा इस्लाम से मार्ग निर्देशित होता था। आगे चलकर दिल्ली सल्तनत (1211-1504) तथा मुगल साम्राज्य (1526-1757) के अन्तर्गत विश्व इस्लाम एकता लगभग समाप्त हो गई तथा भारत में मुस्लिम स्वयं की व्यवस्था अपनाने लगे। लेकिन जो भी व्यवस्था इन्होंने अपनाई उसका आधार इस्लाम धर्म ग्रन्थ ही थे।

भारत में मुसलमानों की धार्मिक नीति बादशाहों के व्यक्तिगत दृष्टिकोण पर निर्भर करती थी। सल्तनत काल मे रुढ़िवादी सुन्नियों का ही बोलबाला था तथा शिया, इस्माइली आदि को घोर कष्ट उठाने पड़े थे। यही दशा हिन्दुओं की थी। हिन्दुओं की सार्वजनिक पूजा पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये गये। उन्हे मन्दिर आदि बनाने की अनुमति नही थी। फिरोज तुगलक (1351-1388) ने जहाँ भी नई भुमि पर आधिपत्य किया वहीं पर इस्लाम विजय के उपलक्ष में मन्दिरों को खन्डित किया। सिकन्दर लोदी (1488-1517) ने शान्तिकाल में भी मन्दिरों को पूरी तरह खन्डित किया।[40] 1669 में औरंगजेब ने एक आदेश के अन्तर्गत सभी मन्दिरों को तुड़वाने की आज्ञा दी।

सल्तनत युग तथा कई मुगल बादशाहों के शासन काल में हजारों हिन्दूओं का शक्ति द्वारा इस्लाम के लिये धर्म परिवर्तन किया गया। शाहजहा ने इस्लाम

---

39. Quoted, Smith, D. E, India As a Secular State, pp 61-62.
40. Sharma, S.R, The Religious Policy of the Moghul Emperors, pp 45.

धर्म ग्रहण करवाने के लिये एक विशेष पदाधिकारी की नियुक्ति की थी। औरंगजेब के समय धर्म परिवर्तन का कार्य बड़े पैमाने पर चला। हिन्दुओ पर एक विशेष धर्म कर जजिया (jizya) लगाया जाता था तथा सामान्यत. उन्हे किसी भी बड़े पद पर नियुक्त नही किया जाता था।

केवल अकबर ही एक उदार मुसलमान शासक था। सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता, शासन में उच्च पदो पर सब धर्मावलम्बियो की नियुक्त, सभी धर्म संस्थाओ के निर्माण मे योगदान देना अकबर की धार्मिक नीति के प्रमुख तत्व थे। जब समकालीन यूरोप मे धार्मिक युद्ध, अशान्ति थी, भारत में सर्वत्र धार्मिक शान्ति विद्यमान थी। बहुत बड़ी सीमा तक धर्म-निरपेक्षता के तत्व अकबर के शासन मे दृष्टिगोचर होते थे। समकालीन परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुऐ धार्मिक सहिष्णुता के क्षेत्र में अकबर आधुनिक युग का प्रथम तथा सम्भवतः महानतम प्रयोगकर्त्ता था।41 प्रो. हुमायू कबीर का मत है कि अकबर प्रथम शासक था जिसने धर्म-निरपेक्ष राज्य-सिद्धान्त के निर्माण का प्रयत्न किया।42

अंग्रेजी शासन काल और धर्म-निरपेक्षता

भारत मे अंग्रेजी नीति साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी उद्देश्यो से प्रेरित थी। वे सही रूप मे भारत के शासक के रूप में उभरना चाहते थे। वे स्वयं भी ईसाई धर्म के प्रबल अनुयायी थे। इन तत्वो ने भारत में अंग्रेजो की धार्मिक नीति को प्रभावित किया। प्रारम्भिक वर्षों में ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने भारतीय धर्मों के मामलो मे अहस्तक्षेप तथा धार्मिक तटस्थता की नीति अपनाई। 1662 मे अंग्रेजी व्यवस्था ने बम्बई मे यह आदेश निकाला कि वे जबरदस्ती धर्म परिवर्तन नही करेगे, न स्थानीय परम्पराओं मे हस्तक्षेप तथा न ही हिन्दू क्षेत्रो मे गायो को काटेंगे।43

लेकिन ईस्ट इन्डिया कम्पनी के तत्वाधान में अंग्रेजो ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ईसाई धर्म का प्रसार प्रारम्भ किया। यद्यपि यह कार्य 1705 से ही प्रारम्भ हो गया था, पर 1813 में ईसाई मिशन को कार्य करने का कानूनी अधिकार दिया गया। वैसे अंग्रेजी सरकार धार्मिक मामलों में तटस्थ नीति का अनुसरण कर रही थी, पर ईसाई धर्म की अनुयायी अंग्रेज सरकार के लिये यह सर्वथा सम्भव नही था। सरकार शिक्षा संस्थाओ को जो अनुदान देती थी

41. Opp Cit, p. 60
42. Abid Hussain, The National Culture of India, p 21,
Humayun Kabir, The Indian Heritage, p. 67.
43. Smith, D. E, India As a Secular State, p 66.

उसमें मिशनरी संस्थाओ को व्यापक सहायता दी जाती थी। लार्ड वेलेजली के कार्यकाल में ईसाई धर्म के प्रचार में सरकार ने काफी योगदान दिया।44

अंग्रेजी सरकार ने भारत में कुछ ऐसे कार्य भी किये जो अच्छे तो थे लेकिन रुढ़िवादियों ने उसे शंका की दृष्टि से देखा तथा उन्हे धर्म मे हस्तक्षेप समझा। लार्ड विलियम वेन्टिक द्वारा 1829 मे सती प्रथा बन्द करना भी इस प्रकार के सुधारों की श्रेणी में आता है।

अंग्रेजी शासन की धर्म-निरपेक्षता के क्षेत्र में एक प्रमुख देन कानून के समक्ष समानता स्थापित करना था। अग्रेजो द्वारा निर्माण कानून बहुत कुछ हिन्दू तथा मुसलमानों की परम्पराओ पर आधारित थे। समस्त नागरिको को एक ही फौजदारी कानून की व्यवस्था कर अग्रेजो ने भारत मे धर्म-निरपेक्षता की नीव डाली।

1850 में अंग्रेजी सरकार द्वारा एक कानून पास किया गया जिसका नाम- Caste Disabilities Removal Act—था। इस कानून के अनुसार धर्म से अलग होने, धर्म परिवर्तन करने से व्यक्ति के सम्पत्ति उत्तराधिकार पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा। हिन्दू तथा मुस्लिम धर्म के अन्तर्गत धर्म परिवर्तन करने वाला व्यक्ति अपनी सन्तान का संरक्षक नही रह सकता था। इस कानून के द्वारा यह अयोग्यता समाप्त कर दी। इस कानून को धार्मिक स्वतन्त्रता के कानून की संज्ञा दी गई, किन्तु वास्तव में इसके पीछे अंग्रेजी सरकार का उद्देश्य उन व्यक्तियों को संरक्षण देना था जिन्होंने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था।

1857 की क्रान्ति के समय 'धर्म खतरे मे है' का नारा बुलन्द हुआ। क्रान्ति-दमन के पश्चात महारानी विक्टोरिया की घोषणा (1858) महत्त्वपूर्ण है। इस घोषणा के द्वारा ईसाई धर्म की महत्ता को सर्वाधिक रूप से स्वीकार किया गया। किन्तु साथ ही साथ धर्म-आधार पर भेदभाव के बिना सब व्यक्तियों को कानून द्वारा समान सुरक्षा तथा धार्मिक मामलों मे प्रशासन द्वारा हस्तक्षेप न करने का वचन दिया गया।

1857 की क्रान्ति के उपरान्त भारत में अंग्रेजी सरकार द्वारा संवैधानिक सुधारो का कार्य प्रारम्भ हुआ। इन सुधारो का उद्देश्य भारत को जन-तान्त्रिक स्वाधीनता की ओर ले जाना नही था। लेकिन आंशिक रूप मे चुनाव तथा प्रतिनिधि व्यवस्था को स्वीकार किया। धीरे-धीरे भारत मे

44. opp. cit., p. 69.

इन संवैधानिक प्रावधानों के प्रति असन्तोष बढ़ा तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। अंग्रेजी सरकार ने धर्म को 'विभाजन और प्रशासन' (Divide and Rule) नीति के साधन रूप में प्रयोग किया। मिन्टो-मॉर्ले सुधारों (1909) द्वारा अंग्रेजी सरकार के सक्रिय सहयोग से मुस्लिम साम्प्रदायवाद को बड़ा प्रोत्साहन मिला। सब धर्मावलम्बियों को सरकार प्रत्येक क्षेत्र में समुचित प्रतिनिधित्व देने लगी। यहाँ तक कि चपरासियों की नियुक्तियाँ भी विभिन्न सम्प्रदायों के अनुपात को ध्यान में रख कर की जाती थीं।[45] इसका तात्पर्य धर्म-निरपेक्षता नहीं, बल्कि राजनीतिक चाल थी। शनैः शनैः मुसलमानों को प्रथक निर्वाचन क्षेत्र, विभिन्न व्यवस्थापिकाओं में सुरक्षित स्थानों की व्यवस्था, प्रथक प्रान्त और अन्त में प्रथक राज्य मिलना सब कुछ अंग्रेजों की धार्मिक नीति का ही परिणाम था।

अंग्रेजी युग में भारत का लगभग एक तिहाई भाग देशी रियासतों के शासन के अन्तर्गत था। देशी रियासतों में अंग्रेजों का सामान्यतः प्रत्यक्ष शासन नहीं था। अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत इन रियासतों पर राजे-महाराजे शासन करते थे। रियासतों के धार्मिक मामलों में अंग्रेजों सरकार का सामान्यतः कोई हस्तक्षेप नहीं था। जहाँ भी शासक हिन्दू थे वहाँ हिन्दू धर्म सिद्धान्त मान्य थे। किन्तु सभी धर्मावलम्बियों के साथ सहिष्णुता का बर्ताव किया जाता था। प्रमुख धर्म संस्थाओं का नियन्त्रण रियासतों की सरकारों के द्वारा ही किया जाता था। धार्मिक संस्थाओं के निर्माण के लिये राजाओं द्वारा अनुदान दिया जाता था तथा इनके कार्य चलाने के लिये भूमि आदि भी दी जाती है। इन अनुदानों में हिन्दू संस्थाओं को अधिक हिस्सा प्राप्त होता था। यह कहा जा सकता है कि देशी रियासतों में धार्मिक उदारता होते हुए भी धर्म-निरपेक्षता के आंशिक तत्व विद्यमान थे। लगभग ऐसी ही व्यवस्था मुस्लिम रियासतों, जैसे हैदराबाद, भोपाल आदि, में थी।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम का आधार धर्म-निरपेक्षता था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress) की छत्रछाया में धर्म-निरपेक्ष नेतृत्व का पूर्णतः विकास हुआ। सभी वर्ग के व्यक्तियों ने स्वाधीनता की प्राप्ति में योगदान दिया। सभी समस्याओं को धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण से देखा गया। कांग्रेस द्वारा खिलाफत आन्दोलन का समर्थन इसका उदाहरण है। कांग्रेस ने सदैव ही अंग्रेजों द्वारा भारत में किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक व्यवस्था का विरोध

45. Tyabji, Badr-ud-din, Self in Secularism, p. 3.

किया। मुस्लिम लीग द्वारा प्रतिपादित दो-राष्ट्र सिद्धान्त (Two-nation Theory) के विरोधस्वरूप धर्म-निरपेक्षता को और भी बल मिला।

भारतीय समाज बहुलवादी (Pluralist) समाज है, इसमें जगह-जगह पर विभिन्नताएं विद्यमान हैं। इस अनेकता को एकता के सूत्र में बाधने के लिये भारत में समय-समय पर समन्वय प्रक्रियाएं चलती रही हैं। स्वाधीनता संग्राम के समय तथा स्वाधीनता के बाद धर्म-निरपेक्षता के अतिरिक्त और कोई विकल्प नही था। इसके द्वारा ही प्रगति, एकता स्वतन्त्रता तथा समानता आदि की उपलब्धि सम्भव थी। इस प्रकार धर्म-निरपेक्षता हमारी राजनीतिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण आधार बन गया है।[46]

स्वाधीन भारत और धर्म-निरपेक्षता

भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है, किन्तु हमारे संविधान मे 'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का कही भी उल्लेख नही हुआ है। संविधान सभा में कुछ सदस्यों ने यह प्रयत्न किया कि 'धर्म-निरपेक्ष' शब्द को संविधान में स्थान मिले लेकिन 'उद्देश्य प्रस्ताव' (Objectives R·solution) में भी इस शब्द को सम्मिलित नही किया गया। सम्भवतः'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का भावार्थ स्पष्ट नहीं है तथा भारत जैसा धर्म-प्रधान देश संकुचित अर्थ में धर्म-निरपेक्ष बन भी नहीं सकता। पण्डित जवाहर लाल नेहरु ने, जो भारत में धर्म-निरपेक्षता के प्रबल समर्थक थे, इस उलझन को स्वीकार किया था। उन्होने कहा कि भारत में जिस प्रकार की धर्म-निरपेक्षता है उसे व्यक्त करने के लिए 'सेक्यूलर' (Secular) शब्द अधिक उपयुक्त नही। इसलिये अन्य उपयुक्त शब्द के अभाव मे यह शब्द ही प्रचलित सा हो गया है। भारत में धर्म-निरपेक्षता का जो स्वरुप है वह हमारे संविधान के विभिन्न प्रावधानों की व्याख्या से स्पष्ट होता है।

धर्म-निरपेक्षता सम्बन्धी संवैधानिक प्रावधानों का विवेचन करने से पहिले यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि पिछड़े हुए वर्ग या जातियों का न तो अलग धर्म है और न वे अल्प संख्यकों की श्रेणी मे ही आते हैं। वे सभी हिन्दू हैं और हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं। कुछ लेखकों, जैसे आरनोल्ड स्मिथ,ने पिछड़े हुए वर्ग

---

[45] भारत में धर्म-निरपेक्षता पर दिल्ली में 1-2 नवम्बर 1965 को एक परिचर्चा आयोजित की गई। इसमें धर्म-निरपेक्षता से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर विचार किया गया जिसका अध्ययन भारत में धर्म-निरपेक्षता को समझने में सहायक होगा।

या जातियों को भी एक धार्मिक वर्ग समझकर धर्म-निरपेक्षता के अध्ययन में सम्मिलित किया है, जो त्रुटिपूर्ण ही नहीं, खतरनाक भी है।

नागरिकता

भारतीय संविधान की प्रस्तावना (Preamble) में समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय; विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म एवं उपासना की स्वतन्त्रता तथा समान अवसरों की प्राप्ति का दृढ़ संकल्पव्यक्त किया गया है। इस संकल्प की अभिव्यक्ति संविधान के भिन्न-भिन्न प्रावधानों में भी होती है। प्रस्तावना को सर्वप्रथम कार्यरूप नागरिकता सम्बन्धी प्रावधानों में दिया गया जिसके अन्तर्गत केवल इस प्रकार की अर्थात् भारतीय नागरिकता, को स्वीकार किया गया है। अनुच्छेद 11 के अन्तर्गत संसद् ने 1955 में जो नागरिकता अधिनियम (Indian Citizenship Act, 1955) स्वीकार किया, उसमें भी एक ही सामान्य नागरिकता को पुनः दोहराया गया। धर्म के आधार पर नागरिकों को किसी उच्च या निम्न श्रेणी में नहीं रखा गया है। कोई भी नागरिक उच्च से उच्च पद पर आसीन हो सकता है।

मूल अधिकार

मूल अधिकारों के भाग में धर्म-निरपेक्ष व्यवस्था का जो भी स्वरूप है उसमें उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। धर्म के आधार पर नागरिकों में किसी भी प्रकार का भेदभाव न करना धर्म-निरपेक्षता की एक प्रमुख विशेषता है। संविधान के निम्नलिखित अनुच्छेदों द्वारा उल्लेख किया गया है कि—

(i) राज्य धर्म के आधार पर नागरिकों में भेदभाव नहीं करेगा। (अनुच्छेद 15)

(ii) धर्म के आधार पर किसी नागरिक के लिए सरकारी नौकरी या पद के लिए अयोग्यता नहीं होगी और न ही किसी प्रकार का भेदभाव किया जायगा। (अनुच्छेद 16)

(iii) सार्वजनिक हित में राज्य द्वारा आवश्यक सेवा के लिए धर्म के आधार पर भेद-भाव नहीं किया जायगा। (अनुच्छेद 23)

(iv) शैक्षणिक संस्थाएं, जो राज्य से पूर्ण या आंशिक अनुदान प्राप्त करती हैं, धर्म के आधार पर प्रवेश निषेध नहीं किया जा सकता। (अनुच्छेद 29)

(v) शैक्षणिक संस्थाओं को अनुदान देते समय राज्य धर्म या भाषा के आधार पर भेदभाव नही करेगा। (अनुच्छेद 30-2)

(vi) अनुच्छेद 25 से 28 तक धार्मिक स्वतंत्रता से सम्बन्धित अधिकार दिये गए हैं। ये अधिकार बहुत व्यापक हैं जिनका धार्मिक अल्पसंख्यको की सन्तुष्टि की दृष्टि से उल्लेख किया गया है। व्यक्तिगत धार्मिक स्वतत्रता तथा सामूहिक धार्मिक स्वतन्त्रता का भी सविधान मे स्पष्ट उल्लेख किया गया है। सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता एवं स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए सभी व्यक्तियों को अंत: करण की स्वतन्त्रता तथा किसी भी धर्म को अंगीकार करने, उसका अनुसरण करने तथा प्रचार करने का अधिकार दिया गया है। (अनुच्छेद 25) इस अनुच्छेद मे दी गई सीमाओ के अन्तर्गत प्रत्येक धार्मिक वर्ग और संस्थाओं को निम्नलिखित अधिकार प्रदान किए गए हैं—

(अ) धार्मिक तथा धर्मार्थ हेतु संस्थाओ की स्थापना;
(ब) धार्मिक मामलों की स्वयं व्यवस्था करना;
(स) धार्मिक संस्थाओं से सम्बन्धित चल एवं अचल सम्पत्ति का अर्जन एवं स्वामित्व प्राप्त करना।

अनुच्छेद 27 मे कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति को ऐसे कर देने के लिए बाध्य नही किया जा सकता जिसका प्रयोग किसी धर्म विशेष अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण के लिए किया जाय।

अनुच्छेद 28 के अनुसार राज्य द्वारा पूर्ण सहायता प्राप्त संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा प्रदान नही की जायेगी। इसी अनुच्छेद के एक और भाग में उल्लेख किया गया है कि राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त या अनुदान प्राप्त शैक्षणिक संस्था में कोई भी व्यक्ति उसकी या उसके अभिभावक की स्वीकृति के बिना धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने या धार्मिक पूजा कर ने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा।

सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक अधिकारों के अन्तर्गत भी ऐसे प्रावधान हैं जिनका धर्म-निरपेक्षता पर प्रभाव पड़ता है। नागरिकों के किसी भी वर्ग को जिनकी स्वयं की भाषा, लिपि और संस्कृति है, सुरक्षित बनाये रखने का अधिकार होगा। (अनुच्छेद 29-1)

समस्त अल्पसंख्यकों को अपनी इच्छानुसार शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना और संचालित करने का अधिकार होगा। (अनुच्छेद 30-1)

चुनाव व्यवस्था

अनुच्छेद 325 के अन्तर्गत देश में सामान्य चुनाव क्षेत्रों की व्यवस्था है। धर्म, जाति के आधार पर सामान्य चुनाव सूची से न तो कोई व्यक्ति अयोग्य होगा और न ही किसी विशेष चुनाव सूची में सम्मिलित करने के लिए मांग या दावा कर सकेगा। तदुपरान्त संसद् ने निर्वाचन सम्बन्धी जो भी कानून बनाये हैं उनके द्वारा साम्प्रदायिकता को भड़काना, धर्म, जाति आदि के आधार पर समर्थन प्राप्त करने की अपील करना आदि को चुनाव भ्रष्टाचार तथा निर्वाचन अपराध माना गया है।

यही नहीं बल्कि राजनीतिक दल इस प्रकार का कोई भी चुनाव-चिन्ह नही ले सकते, जिससे धार्मिक भावनाओ को उभारने के आधार पर मत प्राप्त किये जा सके।

इन समस्त संवैधानिक प्रावधानों के होते हुए भी भारत वैसा धर्म-निरपेक्ष राज्य नहीं है जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका। हमारे संविधान में इस प्रकार के कई प्रयोजन हैं जिनके द्वारा राज्य और धर्म में किसी न किसी रूप मे सम्बन्ध स्थापित होता है। राज्य तथा धर्म के मध्य कोई विशेष दीवार नही है। हमारा उद्देश्य एक सन्तुलित व्यवस्था की स्थापना करना था जिसके अन्तर्गत देश की धर्म-प्रधानता भी बनी रहे, किन्तु धार्मिक स्वतन्त्रता का उपभोग समाज के वृहद हित को ध्यान में रखते हुए किया जाय। मूल अधिकारो के अध्याय में कई स्थलो पर उल्लेख है कि "सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य[47]" को ध्यान में रखते हुए ही धर्म सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग किया जा सकता है। मूल अधिकारों के अध्याय मे निम्नलिखित विषयो पर राज्य को कानून बनाने का अधिकार दिया गया है:—

(अ) धार्मिक व्यवहार से सम्बन्धित आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक तथा अन्य धर्म-निरपेक्ष गतिविधियों को नियन्त्रित एवं सीमित करना।

(ब) सामाजिक कल्याण, सामाजिक सुधार या हिन्दू धर्म संस्थाओं को सभी वर्गों को खोलने के लिये।[48]

सविधान के अन्तर्गत वे धार्मिक मान्यताएं जो असमानता व्यक्त करती है, समाप्त कर दिया गया है। इसी उद्देश्य से असपृश्यता का पूर्ण रूप से उन्मूलन कर दिया गया है।[49]

---

47. अनुच्छेद 25 (1), अनुच्छेद 26.

48. अनुच्छेद 25 (2).

49 अनुच्छेद 17.

संवैधानिक प्रावधानों के अन्तर्गत धार्मिक संस्थाओं के विवादों को सुलझाने, उनके प्रशासन, सम्पत्ति आदि को राज्य अपने अधिकार में ले सकता है, या, अन्य रूप में नियन्त्रित कर सकता है। धार्मिक संस्थाओं में जब भी अव्यवस्था हुई है, या उनकी गतिविधियों से शान्ति एवं व्यवस्था को खतरा उत्पन्न हुआ है, सरकार ने उन्हें व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। राजस्थान में नाथद्वारा का श्रीनाथ जी के मन्दिर की व्यवस्था राज्य द्वारा ही की जाती है। तामिलनाडु मे सरकार ने धार्मिक संस्थाओं में सुधार हेतु कई विधेयको का निर्माण किया है। अभी एक वर्ष पहले दिल्ली गुरुद्वारा में विरोधी गुटों की गतिविधियों से इस धार्मिक संस्था की सामान्य एवं दैनिक पूजा-उपासना में बाधाएं उत्पन्न हुई। इससे शान्ति एवं व्यवस्था भी खतरे में पड़ गई थी। परिणामस्वरूप केन्द्र सरकार ने पुरानी व्यवस्था को समाप्त कर एक नई समिति की स्थापना की। इसका उद्देश्य गुरुद्वारा में सुधार करना था, न कि किसी प्रकार का हस्तक्षेप।

राज्य द्वारा इस प्रकार की गतिविधियों का औचित्य एक अन्य आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है। भारत में अधिकांश जनता हिन्दू है। ईसाई धर्म की भांति हिन्दू धर्म तथा अन्य भारतीय धर्म संगठित नहीं है जिनकी स्वयं को सभी प्रकार की व्यवस्था हो इसलिये धार्मिक संस्थाओं में सुधार आदि का उत्तरदायित्व राज्य पर ही आता है। यदि इस प्रकार के राज्य हस्तक्षेप को समाप्त करना है तो पहले हिन्दू धर्म को संगठन रूप में ढालना, उसे व्यवस्थित करना तथा उसके अनेक सिद्धान्तों को निश्चित करना होगा।

कुछ ऐसे भी संवैधानिक प्रावधान हैं जो राज्य तथा धर्म के सहयोगात्मक सम्बन्ध व्यक्त करते हैं। अनुच्छेद 290 (अ) के अन्तर्गत केरल सरकार द्वारा धार्मिक संस्थाओं और मन्दिरों को कुछ अनुदान देने की व्यवस्था है। देशी रियासतों के विलयीकरण के समय भी संघीय सरकार ने बहुत सी रियासतों में प्रचलित धार्मिक फन्ड तथा ट्रस्ट आदि को भी राशि देते रहने की व्यवस्था को स्वीकार किया था।

राज्य द्वारा धार्मिक अल्पसंख्यकों की शैक्षणिक संस्थाओं को अनुदान दिया जाता है। राज्य यह भी देखेगा कि इस अनुदान का सही प्रयोग हो। इससे किसी न किसी रूप में राज्य का नियन्त्रण स्थापित होता है।

राज्य संस्कृत शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिये भारी राशि खर्च करता है। संस्कृत शिक्षा का हिन्दू धर्म से घनिष्ट सम्बन्ध है तथा उच्च स्तर पर हिन्दू धर्म के विशिष्ट ग्रन्थों का ही अध्ययन कराया जाता है।

संविधान के अन्तर्गत किसी धर्म विशेष की सहायता के लिये किसी भी व्यक्ति को कर देने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में सीतलवाद (M. C. Setalvad) का मत है कि राज्य धर्म के लिये कर ले सकता है यदि वह सब धर्मों के लिये हो और सब धर्म समान समझे जायें। लेकिन अभी तक राज्य ने इस प्रकार का कभी कोई कर नहीं लगाया है।[50]

लेकिन इस प्रकार के कई अवसर आये हैं जबकि राज्य ने धार्मिक सम्मेलनों आदि को किसी न किसी रूप में पर्याप्त सहायता दी है। 1955 में दिल्ली में आयोजित बौद्धधर्म सम्मेलन, 1964 में बम्बई में ईसाई सम्मेलन आदि अवसरों पर भारत तथा राज्य सरकारों ने पर्याप्त सहायता दी तथा देश के सर्वोच्च पदाधिकारियों ने सहयोग प्रदान किया। अजमेर में ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती के उर्स के अवसर पर राज्य सरकार मेले से सम्बन्धित व्यवस्था करती है। यह व्यवस्था सरकार द्वारा नियुक्त एक विशेष अधिकारी के निर्देशन में की जाती है।

कुछ ऐसे भी आलोचक हैं जिनके द्वारा भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य स्वीकार करना तो दूर रहा, उनका मत है कि भारतीय संविधान साम्प्रदायिक दृष्टिकोण पर आधारित है। उदाहरणार्थ, सरकार अलग-अलग धर्म अनुयायियों के लिये अलग-अलग विधि निर्माण कर सकती है। यद्यपि राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में उल्लेख है कि राज्य समस्त देश के लिये एक ही सिविल कोड' तैयार करेगा।[51] इस दिशा मे हम ने कोई विशेष कार्यवाही नही की है। सम्भवतः इस सम्बन्ध मे हम राजनीतिक स्वार्थों के कारण सतर्कता और सन्तुष्टिकरण की नीति अपना रहे हैं।[52]

संविधान सभा मे सम्पूर्ण देश के लिये सामान्य सिविल कोड पर विचार होते समय सदस्यो ने माग की थी कि एक ही प्रकार का सिविल कोड समस्त नागरिको पर लागू होना चाहिये। किन्तु यह प्रस्ताव ठुकरा दिया गया।[53] आलोचक मानते हैं कि इससे साम्प्रदायिक भावना को प्रोत्साहन मिला। गो संरक्षण के विषय में भी लगभग यही कहा जाता है।

---

50. Setalvad, M C, Secularism in India, a talk broadcast over the A I R on January 31 and February 1, 1966.
51. अनुच्छेद 44.
52. Desai, A R, Recent Trends in Indian Nationalism, pp. 106-07
53. Markandan, K C, Directive Principles in the Indian Constitution, pp. 190-197.

इन आलोचकों के विचार पूर्णतः सत्य नहीं हैं। सम्पूर्ण देश के लिये एक ही सिविल कोड का सृजन एक आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिये हमें सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये। लेकिन कुछ धर्मावलम्बियों ने इस सम्बन्ध में शंकाएं व्यक्त की हैं। ये शंकाए रुढ़िवादी होने के साथ-साथ कभी स्वार्थ हित पर अधिक आधारित हैं। फिर भी वे इसे अपने धार्मिक मामला में हस्तक्षेप न समझें, इसलिये सर्वप्रथम हिन्दुओं से सम्बन्धित सिविल कोड का निर्माण हुआ। यह बात अब बिलकुल स्पष्ट है कि हिन्दू समाज गतिशील है इसमे धर्म-निरपेक्षता के आधार पर परिवर्तन किये जा सकते है। डा. गजेन्द्रगडकर (भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश) ने हिन्दू कोड बिल को धर्म-निरपेक्षता की विजय कहा है।[54] किन्तु ये परिवर्तन हिन्दू समाज तक ही सीमित नहीं रहने चाहिये। सम्पूर्ण देश के लिये एक ही सिविल कोड इस समय की आवश्यकता है, जो देश की एकता और भारतीयकरण की ओर एक महत्वपूर्ण कदम होगा।

धर्म के सम्बन्ध में राज्य के इन अधिकारों का एक तरह से क्षेत्राधिकारी राज्य (Juridictional State) की संज्ञा दी है।[55] क्षेत्राधिकारी राज्य तथा धर्म-निरपेक्ष राज्य में कोई विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु क्षेत्राधिकारी राज्य में राज्य तथा धर्म के अलग-अलग कार्य-क्षेत्र (two spheres of actions) स्पष्ट नहीं होते। राज्य का धर्म सगठनों पर भी किसी सीमा तक क्षेत्राधिकार होता है।

इस सम्बन्ध में सतीलवाद के विचार उल्लेखनीय हैं। भारत में जो भी धर्म-निरपेक्षता है, उन्होंने कहा है कि—

> "संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जिसमें राज्य तथा धर्म को प्रथकता का उल्लेख है या राज्य का कोई धर्म नहीं होगा। इसके विपरीत संविधान में धार्मिक विश्वासों को मान्यता की प्रवृत्ति है यदि वे सामान्य सामाजिक हित के विरुद्ध नहीं है तथा सब धर्मों को समान समझा जाता है।"[56]

हमने समाज को अन्धविश्वास तथा पिछड़े युग से निकाल कर प्रगति पथ पर लाने के लिये कभी-कभी धर्म-निरपेक्ष सिद्धान्तों की अवहेलना की है। लेकिन यह

---

54. Gajendragadkar, P. B, Secularism under Indian Democracy, Convocation Address, University of Rajasthan, December 18,1965.
55. Luthera. V P, The Concept of the Secular State and India, p 150.
56 Setalvad, M C., Secularism in India, In Aspects of Democratic Government and Politics in India by Bombwall and Chaudhari,p 54.

कोई बुरी बात नहीं है। धर्म-निरपेक्षता के नाम पर अन्धविश्वास, असमानता, पिछड़ेपन, रुढ़िवादिता को संरक्षण देने का तात्पर्य धर्म-निरपेक्षता पर ही आघात करना है। हमारे देश की सामाजिक दशा को देखते हुए हमने जो भी व्यवस्था अपनाई है वह उत्तम है। इसे हम भारतीय धर्म-निरपेक्षता (Indian Secularism) कह सकते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि देश की एकता में विश्वास तथा नागरिक एवं सार्वजनिक जीवन में हम सब भारतीय हैं, न कि हिन्दू, मुसलमान या ईसाई।57

निष्कर्ष

जहाँ तक भारत और धर्म-निरपेक्षता का प्रश्न है, निम्नलिखित बातें पूर्णरूप से स्पष्ट होती हैं:—

प्रथम, हमने धर्म-निरपेक्ष सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन नहीं किया है क्योंकि हमारा यह उद्देश्य भी नही था।

द्वितीय, भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाने का तात्पर्य धर्म-विहीन समाज की स्थापना करना नही था।

तृतीय, भारत मे सभी धर्मों के सम्बन्ध में राज्य तटस्थ या निष्पक्ष है।

चतुर्थ, व्यक्तियों को समान नागरिकता तथा अधिकारों पर धार्मिक आधार पर भेदभाव, योग्यता या अयोग्यता को स्वीकार नहीं किया गया है।

पंचम, राज्य सब धर्मों की समुचित प्रगति के लिये सहायक हो सकता है।

छठा, राज्य धर्म के मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है यदि इससे देश की एकता, शान्ति, व्यवस्था, सामाजिक नैतिकता, या प्रगति का विरोध होता है। लेकिन राज्य ने जहा भी हस्तक्षेप किया है उससे व्यक्तिगत धर्म-विश्वास पर कभी भी प्रभाव नहीं पड़ा है।

---

57. Presiding speech, Shri M. C. Chagla, Lala Lajpat Rai Birth Centenary, New Delhi, Nov. 21, 1965
श्री छागला ने इसी प्रकार के विचार अपनी पुस्तक—An Ambassador Speaks में व्यक्त किये हैं। इस सम्बन्ध मे श्री छागला की इस पुस्तक का पृ. 6 देखिये।

अन्त में, भारत में अधिकतम जनता हिन्दू धर्म की अनुयायी है अथवा उन धर्मों के अनुयायियों का प्रबल बहुमत है जिनका प्रादुर्भाव इसी देश में हुआ है। देश में अधिकतम नेतृत्व इनका होना व्यावहारिक है और इस प्रकार विभिन्न राजकीय अवसरों पर इन धर्मों की परम्पराओं को प्राथमिकता मिलना भी स्वाभाविक है, तथा इनकी अभिव्यक्ति होती भी है। इससे धर्म-निरपेक्षता पर कोई आँच नहीं आनी चाहिये। अल्प-संख्यक धर्मावलम्बियों का उद्देश्य इस राष्ट्रीय या प्राकृतिक तथ्य को चुनौती देना नहीं होना चाहिये, उन्हें मूलतः यह देखना चाहिये कि वे अपने धर्म का पालन पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ कर रहे हैं, अल्प-संख्यक होते हुए भी वे समान नागरिक हैं तथा बिना भेदभाव के समस्त अधिकारों का उपभोग कर रहे हैं।

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Bombwall and Chaudhary, (Ed.) — Aspects of Democratic Government and Politics in India. Chapter 4, Secularism in India by M. C. Setalvad.
2. Burns, E. M., — Ideas in Conflict. Chapter XI, Religious Foundations of Political Theory.
3. Luthera, V. P., — The Concept of the Secular State and India.
4. Maritan, Jacques., — Man and the State. Chapter VI, Church and State.
5. Smith, D. E., — India as a Secular State.
6. Tyabji, Badr-ud-din — The self in Secularism.

12

गांधीवाद

सत्य एवं अहिंसा के नवीन आयाम

गांधीवाद का अध्ययन करने से पहले कुछ बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। सर्वप्रथम, क्या गांधीवाद, कोई 'वाद' है? इसका उत्तर 'हां' या 'ना' दोनों में हो हो सकता है। महात्मा गांधी हाब्स, लॉक, रूसो, मिल, हीगल, ग्रीन आदि की भाँति *शास्त्रीय अर्थ में राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अध्ययन कक्ष* या एकान्त में बैठकर या किसी विश्व विद्यालय की कुर्सी को सुशोभित कर अपने विचारों का प्रतिपादन नही किया।

महात्मा गांधी एक कर्मयोगी तथा व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनके सामने सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न भारत की स्वाधीनता का था। अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष चलाने की किस प्रणाली को अपनाया जाय? स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त देश की शासन प्रणाली का क्या स्वरूप हो? देश के समक्ष जो तमाम सामाजिक एवं आर्थिक समस्याएं थीं उनका क्या समाधान हो? अपने जीवन, भारतीय समाज तथा विश्व में जो भी समस्याएं देखी, उन समस्याओं के सम्बन्ध में उन से जो पूछा गया उस सम्बन्ध में गांधी जी ने अपने विचार व्यक्त किये। साथ ही साथ उन्होंने अपने विचारों को कार्यरूप देने का भी प्रयत्न किया जो विश्व के समक्ष आदर्श बन गये।

महात्मा गांधी ने कुछ पुस्तकें तथा काफी संख्या में लेख लिखे। नवजीवन प्रकाशन, हरिजन पत्रिका, यंग इण्डिया, हिन्द स्वराज, आर्यन मार्ग (Aryan Path) आदि लगभग उन्हीं के विचारों को प्रसारित करने के लिये सुरक्षित थे। इतना सब होते भी हुए उन्होंने अपने विचारों को किसी 'वाद' का रूप नहीं दिया। इस सम्बन्ध में मार्च 1936 में सावली सेवा संघ में प्रवचन करते हुए गांधी जी ने कहा था—

"गांधीवाद नाम की कोई वस्तु नहीं है। मैं अपने बाद कोई सम्प्रदाय नहीं छोड़ना चाहता। मैं किन्हीं नये सिद्धान्तों या किसी मत को चलाने का दावा नहीं करता। मैंने तो केवल अपने ढंग से आधार-

भुत सच्चाइयों को अपने नित्य प्रति के जीवन एवं समस्याओं पर लागू करने का प्रयत्न किया है। मैंने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे सब अन्तिम नहीं हैं। मैं कल ही उन्हे परिवर्तित कर सकता हू। विश्व को सिखाने के लिये मेरे पास कुछ नही है। सत्य और अहिंसा उतने ही पुरातन हैं जितने कि पर्वत के शिखर। मैंने तो केवल इन दोनों को यथासम्भव विस्तृत क्षेत्र मे प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। आप इसे गांधीवाद न कहें, इसमें कोई वाद नही है।"[1]

गाधीवाद की स्पष्ट व्याख्या करना सम्भव नही है। महात्मा गाधी ने सम्भवतः सभी समस्याओ पर अपने विचार व्यक्त किये। उनके विचारो का क्षेत्र इतना व्यापक था कि उन्हे किसी एक वाद तक सीमित रखना असम्भव है। वे व्यक्ति वादी, अराजकतावादी, बहुलवादी, समाजवादी सब कुछ थे। इसलिये गाधीवाद को किस वाद मे सम्मलित किया जाय या किस रुप में अलग रखा जाय, सम्भव नही है। गाधीवाद मे कई विचारधाराओ का समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

गाधीवाद कभी भी एक क्रमबद्ध दर्शन नही बन पाया। गाधीजी के जीवन मे कई उतार चढ़ाव आये। कभी वे सत्याग्रह मे, कभी जेल, मे तथा कभी नाना प्रकार के संवैधानिक सम्मेलनो मे व्यस्त रहे। इस प्रकार गांधीजी को अपने विचारो को एक दार्शनिक के रुप मे व्यवस्थित करने का समय ही नही मिल सका।

गांधीजी ने अपने विचारों को न तो कभी पूर्ण माना और न उन्होंने उन्हे अन्तिम रूप दिया। उन्हे अपनी आत्मकथा लिखने में भी काफी हिचक थी। जिस चीज को वे सिद्धान्तरूप मानते थे, यदि वैसा मानना छोड़ दे तब उन सिद्धान्तो का क्या होगा? यदि इन सिद्धान्तों में आगे परिवर्तन करना पड़ा तो?[2] और वास्तव में वे अहिंसा तथा सत्याग्रह को एक विकसित विज्ञान मानते थे।[3] इन कारणों से गाधीजी किसी भी विषय मे अन्तिम शब्द नहीं कहना चाहते थे। वे जीवन पर्यन्त सत्य का प्रयोग करते रहे।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि महात्मा गांधी के विचारों ने कोई निश्चितरूप ही नही लिया हो। सत्य तथा अहिंसा के सिद्धान्त प्रगतिशील होते हुए भी स्थायित्व ग्रहण कर चुके थे। ये ही गाधीवाद की जान थे। अपनी आत्मकथा की प्रस्तावना मे गांधीजी ने लिखा है.—

1 Sitaramayya, B P, Gandhi and Gandhism, p 26

2 गांधी मो. क, सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. ४ (प्रस्तावना)

3 Dhawan, G N, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p. 6

"अपने प्रयोगों के सम्बन्ध में मैं किसी तरह की सम्पूर्णता का दावा नही करता। जैसे विज्ञान-शास्त्री अपने प्रयोग अत्यन्त नियम, विचार सहित और सूक्ष्मतापूर्वक करता है, फिर भी उससे उत्पन्न हुए परिणामों को वह अन्तिम नहीं कहता, अथवा यह नही कहता कि यही सच्चे परिणाम हैं, इस सम्बन्ध में वह सशंक नही तटस्थ रहता है, वैसे ही अपने प्रयोगो के विषय मे मेरा भी मानना है। मैंने खूब आत्म निरीक्षण किया है, प्रत्येक भाव को जाचा है, उसका विश्लेषण किया है, पर उससे पैदा हुए परिणाम सबके लिए अन्तिम ही हैं अथवा यही सही हैं, ऐसा दावा मैं कभी करना नही चाहता। हा, एक दावा जरूर करता हूं कि मेरी नजरो मे ये सही हैं और इस समय तो आखिरी से लगते हैं।"[4]

गांधीजी के अनुयायियो, टीकाकारो ने उनके विचारो को क्रमबद्ध करने का प्रयत्न किया है। देश-विदेशो मे उनके विचारो पर शोध ग्रन्थ लिखे गये। परिणामस्वरूप गांधीजी के विचारो ने एक वाद जैसा रूप ग्रहण कर लिया। आज गाधीवादी सिद्धान्तो का एक संग्रह सा बन गया है। उनके प्रत्येक अनुयायी अपने विचारो को गाधीवाद की कसौटी पर परखते हैं तथा समस्त सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं का समाधान उनके विचारो में पाते है। गाधीवाद एक नैतिक मापदण्ड सा बन गया है। जीवन के प्रत्येक पहलू मे हमें क्या करना या नही करना चाहिये इस सम्बन्ध में गाधी जी के विचार मार्ग-दर्शन और कार्य-पद्धति का काम करते हैं। डा. पट्टाभि सीतारमैय्या के शब्दो मे गाधीवाद एक जीवन-शैली या जीवन दर्शन है जो एक नई दिशा की ओर संकेत करता है।[5]

प्रभाव एवं पूर्ववर्ती दर्शन

महात्मा गांधी ने स्वयं को एक मूल विचारक मानने का कभी भी दावा नही किया। सत्य अहिंसा के क्षेत्र मे उन्होने जो भी योगदान दिया वह एक प्रकार से प्राचीन परम्परा को ही आगे बढ़ाना था। उनके विचारो की व्यापकता और विभिन्नता को देखते हुए उनके विचार-श्रोत किसी एक देश या काल तक ही सीमित नहीं थे। उन्हे जहाँ जो भी अच्छा लगा, ग्रहण किया। इतना सब

---

4 गाधी, मो. क., सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ.5.

5. Sitaramayy, B. P, Ibid, p 35

होते हुए भी उन पर भारत की परम्परा एवं संस्कृति का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि गांधीवाद में भारतीयता के दर्शन होते हैं।

महात्मा गांधी ने सत्य एवं अहिंसा के जो प्रयोग किये उसकी परम्परा अति प्राचीन है। भारत में सत्य और अहिंसा की जड़ें जितनी गहरी और मजबूत हैं शायद ही किसी अन्य देश मे हों। गांधीजी के विचारों के श्रोत ऋग्वेद, जो प्राचीनतम ग्रन्थों में से एक है, तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध हो सकते हैं। ऋग्वेद में वर्णाश्रम धर्म ने, जिसके अन्तर्गत शूद्र भी अपने कर्मों के द्वारा ब्राह्मण बन सकता था, गांधीजी को प्रभावित किया। उपनिषदों मे अहिंसा की महत्ता पर सदैव जोर दिया गया है। पातन्जलि के योगशास्त्र में अहिंसा को कभी भी नकारात्मक या हिंसा का त्याग ही नही माना, बल्कि सरल मानवों के मध्य सद्भावना प्रेरित करने वाला तत्व स्वीकार किया। उनका कथन था—

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः

अर्थात् जैसे ही अहिंसा पूर्णता के प्राप्त होती है अपने चारों ओर शत्रुता समाप्त हो जाती है।

सत्य और अहिंसा की परम्परा रामायण और महाभारत में और भी विकसित हुई। रामायण से गांधीजी का साक्षात्कार बचपन में ही हो गया था। उन्हें राम रक्षा स्तोत्र कंठस्थ था जिसका वे नित्य प्रात: स्नान के बाद पाठ किया करते थे। अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है कि "जिस चीज का मेरे मन पर गहरा असर पड़ा वह था रामायण का पारायण .. मैं आज तुलसीदास की रामायण को भक्ति मार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूं।[6]

महाभारत को गांधी जी ने युद्ध ग्रन्थ नहीं माना है। उनके अनुसार महाभारत के रचियता वेद व्यास ने इस ग्रन्थ में युद्ध और हिंसा की निन्दा कर उसकी व्यर्थता पर जोर दिया है। युद्ध के पश्चात विजेता में भी ग्लानि एवं पश्चाताप की भावना प्रदर्शित होती है। साथ ही साथ महाभारत में प्रत्यक्ष रूप से भी अहिंसा का उपदेश मिलता है। घायल भीष्म पितामह को मृत्यु शैय्या पर पड़े हुए कहते बतलाया गया है—

अहिंसा परमो धर्मः अहिंसा परमं तपः
अहिंसा परम सत्यम, ततो धर्मः प्रवर्तते

अर्थात् अहिंसा सर्वोच्च धर्म है, सर्वोत्तम तप है, सबसे बड़ा सत्य है जिससे समस्त कर्तव्यों का उद्भव होता है।

6. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 38-39.

महाभारत में विशेषतः गीता से गांधीजी को सर्वाधिक प्रेरणा मिली । गीता के प्रति उनका इतना प्रेम और श्रद्धा थी कि गीताजी के लगभग तेरह अध्याय उन्होंने कंठस्थ कर लिये थे। गीता के प्रभाव के विषय में गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "मेरे लिये तो यह पुस्तक आचार की एक प्रौढ़ पथ-प्रदर्शिका बन गई। वह मेरा धार्मिक कोष हो गई.. उसके अपरिग्रह, समभाव वगैरा शब्दों ने मुझे पकड़ लिया.. दूसरी शब्द का अर्थ गीताजी के अभ्यास के फल-स्वरूप विशेष रूप से समझ में आया । विधान शास्त्र के लिये आदर बढ़ा.... अपरिग्रही होने में, समभावी होने में हेतु का,हृदय का परिवर्तन आवश्यक है, यह मुझे दीपक की भांति स्पष्ट दिखाई दिया ।"[7]

गाधीजी ने स्वयं भागवद् गीता की टीका लिखी थी । उनकी गीता की व्याख्या नवीन प्रकार की है । वह गीता को अपने जीवन का 'आध्यात्मिक सन्दर्भ ग्रन्थ' (Spritual Reference Book) मानते थे ।[8] वे जब कभी भी अपने लिये मानसिक उलझन या समस्याओं में फंसा पाते तब गीता अध्ययन से उन्हें सदैव सान्त्वना एवं समस्याओं का समाधान मिला । सत्य और अहिंसा के बारे में गीता से उन्होंने बहुत कुछ सीखा ।[9]

जैन दर्शन में अहिंसा का प्रमुख स्थान है । अहिंसा के बिना जैन धर्म कुछ भी नहीं है । गांधीजी का परिवार वैष्णव था फिर भी जैन मुनियों के सत्संग में आता रहा । इसके अतिरिक्त जैन धर्म का प्रभाव जितना गुजरात में है भारत के अन्य भाग में नहीं । यही गाधीजी पैदा हुए तथा जीवन के प्रारम्भिक वर्ष बिताए । इस प्रकार अहिंसा का गाधीजी के जीवन पर बचपन से ही प्रभाव पड़ा ।

जैन धर्म की भाँति बौद्ध धर्म में भी अहिंसा का महत्व है । इसके साथ-साथ इसका पवित्रता से प्रारम्भ होकर प्रेम में अन्त होता है । बौद्ध अनुयायी विश्व की सभी प्रकार की पीड़ा एवं यातना का भार सहने की शपथ लेता है । बौद्ध धर्म में अहिंसा का अर्थ प्रेम तथा दूसरो को हानि न पहुंचाना है ।

---

7. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ०329-30.

8 Gandhi and Mahadev Desai, *The Geeta According to Gandhi* pp. 122-123.

9 Kriplani, J B., Gandhi, His Life and Thought, p. 338

बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को सम्राट अशोक ने साकार किया । कलिंग युद्ध (सम्भवतः 262 ईसा के पूर्व) के बाद सम्राट अशोक हिंसा का त्याग करते हैं, इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासकार वेल्स (H. G Wells) लिखते हैं कि इतिहास मे अशोक ही ऐसे एक सम्राट हुए हैं जिन्होने विजय के बाद युद्ध न करने की शपथ ली ।[10] अशोक की अहिंसा के प्रति लगन, जन-सेवा-भाव तथा शिला-लेखों के सूत्रों ने गांधीजी को काफी विचार प्रेरणा दी ।

गांधीजी की नैतिक और राजनीतिक विचारधारा पर लाओ त्से (Lao Tse) और उनके समकालीन कनफ्यूशियस (Confucious, about 551-478 B.C.) की शिक्षाओं का भी प्रभाव पड़ा । लाओ त्से का कहना था कि "जो मेरे प्रति अच्छे हैं मैं उनके प्रति अच्छा हूं जो मेरे प्रति अच्छे नही हैं उनके प्रति भी मैं अच्छा हूं । इस प्रकार सभी अच्छे हो जायेंगे ।" "जो मेरे प्रति सच्चे हैं मैं उनके लिये सच्चा हूं, जो मेरे प्रति सच्चे नहीं है मैं उनके लिये भी सच्चा हूं और इस प्रकार सभी सच्चे होते जायेंगे ।" लाओ त्से ने नम्रता की उपमा जल से देते हुए कहा कि सर्वोत्तम मनुष्य जल के समान है । जल सभी वस्तुओं को लाभ पहुंचाता है, वह उनके साथ प्रतियोगिता नहीं करता । जल ऐसे निम्नतम स्थानों पर रहता है जहा कोई भी रहना पसन्द न करेगा ।

गांधीजी ने कनफ्यूशियस से वह सिद्धान्त सीखा जिसके अनुसार मनुष्यो को दूसरे के प्रति वैसा व्यवहार नही करना चाहिये जैसा व्यवहार वे स्वयं दूसरो के द्वारा अपने प्रति न चाहते हो । दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार करो जैसा तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें ।

गांधीजी को गैर-हिन्दू श्रोतो मे से बाइबिल मे दी गई शिक्षाओं (Sermon on the Mount) ने काफी प्रभावित किया । गांधीजी का कहना था कि जब उन्होने इसे पहली बार पढ़ा तो यह सीधा ही उनके मन में उतर गया । अहिंसक प्रतिरोध (non-violent resistance) की शिक्षा उन्हें ईसा मसीह के इन शब्दों मे मिली—

"भगवान उन्हे क्षमा कीजिये क्योंकि वे नही जानते कि वे क्या कर रहे हैं ।"

"यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो उसके सामने दूसरा गाल भी कर दो ।"

---

10 Wells, H G, The Outline of History, 1932, p. 400,

"अपने शत्रुओं को प्यार करो।"

"बद्दुआ देने वालों को दुआ दो।"

"जो तुम से घृणा करते हैं उनके साथ नेकी करो।"

"जो तुम्हारे साथ अत्याचार करते हों उनके लिये तुम भगवान से प्रार्थना करो।"

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी के एक मित्र रेवरेन्ड डोक (Rev. J. J. Doik) का कहना है कि गांधीजी ने सत्याग्रह की प्रेरणा न्यू टेस्टामेन्ट (New Testament) और विशेषकर 'सर्मन ऑफ दी माउन्ट' से ली।[11]

सामान्यतः इस्लाम धर्म को हिंसा और शक्ति के साथ जोड़ा जाता है। किन्तु गांधीजी ने इस्लाम को एक शान्ति के धर्म के रूप मे मान्यता दी है। यह सत्य है कि इस्लाम के अनुयायियों ने दूसरे धर्मावलम्बियों पर अत्याचार किये हैं, तलवार के जोर से दूसरों पर अधिकार जमाने तथा इस्लाम प्रसार का प्रयत्न किया। गांधीजी को इस्लाम में जो अच्छी बात लगी वह व्यक्तियों मे भ्रातृत्व की भावना थी। मोहम्मद साहब के प्रति भी गांधी जी की श्रद्धा थी। उन्होंने कुरान का खूब मनन किया तथा उसमें कई स्थलो पर उन्हे शान्ति, प्रेम, *उदारता, सहिष्णुता के सन्दर्भ मिले।*[12]

यह नहीं कहा जा सकता कि इस्लाम ने गांधीजी पर कोई विशेष प्रभाव छोड़ा। चूंकि वे सब धर्मों का आदर तथा सभी धर्मों के मूल सिद्धान्तों में विश्वास करते थे, गांधीजी का इस्लाम के प्रति आदर भाव होना स्वाभाविक ही था। इसके अतिरिक्त, भारत में हिन्दू और मुसलमानों की अधिक संख्या होने के कारण उनमें एकता और सहिष्णुता की भावना भरने के लिये भी उन्होंने इस्लाम का समर्थन किया। खिलाफत आन्दोलन (1918-20) मे टर्की के खलीफा का समर्थन धार्मिक भावना से नहीं जितना कि राजनीति तथा भारत मे *हिन्दू-* मुस्लिम एकता में अभिवृद्धि करने के उद्देश्य से था।

धर्म-निरपेक्ष विद्वानों में से थोरो (David Thoreau, 1817-62), रस्किन (John Ruskin, 1819-1900), और टालस्टाय (Count deo *Tolstoi, 1828-1910) ने गांधीजी को सबसे अधिक प्रभावित किया।* उनके

---

11. आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ० 706.
12. Young India, Vol. III, pp. 43-44.

सविनय अवज्ञा आन्दोलन, कर-विरोध, तथा राज्य के विषय में अराजकतावादी विचारों पर अमरीकी अराजकतावादी थोरो की ही प्रतिछाया थी। थोरो की पुस्तक —Essay on Civil Disobedience—के विचार कि "जनहित करने वाले सभी व्यक्तियों और संस्थाओं के साथ अधिकतम सहयोग, और यदि वे अहित करें तो असहयोग" को गाधीजी ने पूर्णतः आत्मसात किया था। थोरो की पुस्तक के भारतीय संस्करण की भूमिका में महात्मा गाधी ने लिखा है कि "मैं इस आदर्श को हृदय से स्वीकार करता हूँ कि वह सरकार सर्वोत्तम होती है जो कम से कम शासन करती है .. .. इसका अर्थ अन्ततोगत्वा यह होता है और जिस पर मेरा पूरा विश्वास है कि वह सरकार सबसे अच्छी होती है जो बिल्कुल ही शासन नही करती।"13

जॉन रस्किन (John Ruskin) की पुस्तक—Unto This Last—का गाधी जी के जीवन पर बड़ा प्रभाव पडा। इसने उनके विचारो में बड़ा परिवर्द्धन किया। इस पुस्तक से उन्होंने यह सबक सीखा कि—

(i) व्यक्ति का कल्याण सभी व्यक्तियों के कल्याण में निहित है।

(ii) एक वकील के कार्य की महत्ता भी एक नाई के कार्य के ही बराबर है। इस प्रकार सभी को अपने कार्य से आजीविका कमाने का अधिकार है।

(iii) एक श्रमिक तथा खेतिहर का जीवन ही वास्तव में जीवित योग्य रहने वाला जीवन है।14

रस्किन के विचारों से गाधीजी ने शारीरिक श्रम की महत्ता को ग्रहण किया। आगे चल कर जब उन्होने 'सर्वोदय' समाज की स्थापना के विषय में जो विचार व्यक्त किये वह रस्किन की इस पुस्तक पर ही आधारित थे। 'Unto This Last' का तात्पर्य ही 'सर्वोदय' है।

महात्मा गाधी टॉलसटॉय के विचारो के अति निकट थे। गाधीजी टॉलसटॉय के बहुत प्रशंसक थे तथा अपने जीवन में टॉलसटॉय से बहुत कुछ ग्रहण किया। टॉलसटॉय की पुस्तक—The Kingdom of God is Within you (अर्थात् ईश्वर का राज्य तुम्हारे भीतर है)—का गाधीजी ने उस समय ही मनन कर लिया था जिस समय वे दक्षिण अफ्रीका में थे। इसने गांधीजी में अहिंसा के प्रति भावना की दृढ़ स्थापना की। अहिंसा

13. आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ. 709-10.

14 Dhawan, Gopinath, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p. 31.

और प्रेम टॉलस्टॉय के विचारों के मूल आधार थे जिन्हें गांधीजी ने पूर्णतः स्वीकार किया। सितम्बर 7,1910, को टॉलस्टाय ने गांधीजी को जो पत्र लिखा उसमें टॉलस्टॉय ने प्रेम को जीवन का सर्वोच्च विधान बतलाया जो मानव में आत्मा की एकता तथा एक दूसरे के प्रति सद्भाव व्यक्त करता है।[15]

गांधीजी ने यदि ग्रन्थों में गीता से सर्वाधिक प्रेरणा ली तो व्यक्तियों में उन पर सबसे अधिक प्रभाव बम्बई के एक जैन कवि एवं सुधारक रायचन्द भाई का पड़ा। इंग्लैंड से आने के बाद गांधीजी इनके निकटतम सम्पर्क में आये। जिस प्रकार गांधीजी मानसिक उलझन तथा समस्याओं का समाधान पाने के लिए गीता का अध्ययन करते थे उसी प्रकार वे श्री रायचन्दजी से निरन्तर परामर्श और निर्देशन लेते रहते थे।

रायचन्द भाई का गांधीजी से जब सम्पर्क हुआ उस समय कवि की उम्र 25 साल की थी तथा हीरे जवाहरात के प्रसिद्ध व्यापारी थे। पहली ही भेंट में गांधीजी बिना प्रभावित हुए न रह सके। रायचन्द भाई की जिस बात पर गांधीजी मुग्ध हुए "वह था उनका गम्भीर शास्त्र ज्ञान, उनका शुद्ध चारित्र्य और उनकी आत्म दर्शन की उत्कट लगन।"[16] गांधीजी को कई धर्म आचार्यों से सम्पर्क बढ़ाने का अवसर मिला किन्तु, गांधीजी के शब्दों में, "जो छाप मुझ पर रायचन्द भाई ने डाली वह दूसरा कोई न डाल सका। उनके बहुतेरे वचन सीधे मेरे अन्तर में उतर जाते थे।"[17]

सभी व्यक्तिगत प्रभावों के विषय में गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में उल्लेख किया है:—

> "मेरे जीवन पर गहरी छाप डालने वाले आधुनिक मनुष्य तीन हैं—रायचन्द भाई ने अपने सजीव सम्पर्क से, टॉलस्टॉय ने अपना 'बैकुण्ठ तेरे हृदय में है' नामक पुस्तक से, और रस्किन ने 'अनटू दिस लास्ट' (सर्वोदय) नामक पुस्तक से मुझे मुग्ध कर दिया।"[18]

---

15. Dhawan, Gopinath, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi. pp 32–33.
16 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ 109-110.
17. उपरोक्त, पृ. 109-110.
18. उपरोक्त, पृ. 112

गांधीवाद का आध्यात्मिक आधार

यदि महात्मा गाधी के जीवन एवं कार्यों को समझना है तो इसके लिये उनके आध्यात्मिक एवं धार्मिक विचारो को समझना अति आवश्यक है । क्योंकि उन्होंने अत्याचार, अन्याय के विरुद्ध जो भी संघर्ष किया इसके लिये उन्हे आध्यात्मिक आदर्शों से ही शक्ति प्राप्त हुई ।[19]

धर्म के विषय मे गांधीजी के विचार बड़े उदार तथा संकीर्णता से पूर्ण परे हैं ? हिन्दू धर्म के अनुयायी होते हुए भी उनके मन में सब धर्मो के प्रति आदर था। उनका कहना था कि सब धर्मों में कुछ समान सत्य हैं और इस प्रकार सब धर्म ठीक है। धर्म, गाधीजी के अनुसार, अलग अलग मार्गों की तरह हैं जो अंत मे एक ही आदर्श की ओर ले जाते है। यदि हम विभिन्न मार्गों से अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर लेते है तो अलग अलग मार्गों पर चलने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये ।

सब धर्मों में सत्यता होते हुए भी महात्मा गांधी किसी भी धर्म को पूर्ण नही मानते थे। सभी धर्मों का प्रतिपादन मनुष्यो के द्वारा ही किया गया है। जब मनुष्य ही पूर्ण नहीं है तो उनके द्वारा चलाये गये धर्म भी कैसे पूर्ण हो सकते हैं। धर्मों के विषय में उनका निष्कर्ष था कि सब धर्म सही है; सब धर्मो मे त्रुटिया भी हैं।

गाधीजी सब धर्मों को समान समझते थे। धर्मों की समानता उनकी धार्मिक सहिष्णुता का आधार था। किसी भी धर्म को दूसरो के मुकाबले में श्रेष्ठ अथवा घटिया मानना भूल है। इस प्रकार कोई धर्मावलम्बी अपने धर्म को श्रेष्ठ मानकर उसका प्रकार करें, सही धर्म यह कभी भी निर्देश नही देता। विशेषतः गाधीजी धर्म परिवर्तन के कट्टर विरोधी थे।

सब धर्मों को समान आदर देते हुए भी गाधीजी हिन्दू धर्म के सच्चे अनुयायी थे। "हिन्दू धर्म" गाधीजी ने कहा था, "जैसा कि मैं समझता हूं, मेरी आत्मा को पूर्ण सन्तुष्टि देता है, मेरे पूरे जीवन को भर देता है, और उससे मुझे सान्त्वना मिलती है।" 21

---

19. Kriplani, J.B. Gandhi His Life and Thought, p. 336,
20. Ibid., p. 339
21. Young India, Vol. II, pp. 1078-79.,
सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ० 962,

हिन्दू धर्म की मान्यताओ से ओत-प्रोत होते हुए भी गाधीजी ने रूढ़िवादिता को स्वीकार नही किया। हिन्दू धर्म के विभिन्न तत्वो की उन्होने वैज्ञानिक एवं नवीन व्याख्या कर उसे जन-सेवा की ओर मोड़ने का प्रयत्न किया।

हिन्दू धर्म मे पाखण्ड, ऊंच-नीच, जातियं तथा कई उप-सम्प्रदायो ने अपना स्थान जमा लिया था। गाधीजी ने इन कुरीतियो को हिन्दू धर्म से दूर करने का भरसक प्रयत्न किया।

गांधीजी आत्मा के अमरत्व तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को मानते थे। हिन्दुओ का विश्वास है कि शरीर नश्वर है, तथा आत्मा अमर है। मनुष्य अपने जीवन मे जो भी अच्छे बुरे कार्य करता है उसके अनुसार उसे मृत्योपरान्त नया जीवन धारण करना पड़ता है। जन्म-मरण का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। इस चक्र से छुटकारा केवल मोक्ष द्वारा ही हो सकता है। मोक्ष ही मानव जीवन का अन्तिम साध्य है। किन्तु महात्मा गांधी संसार को छोड़ सन्यास द्वारा मोक्ष का समर्थन नहीं करते थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य मानव जाति की सेवा करके ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। एक स्थान पर उन्होने लिखा है कि "मैं राष्ट्र की जो सेवा करता हूं वह मेरी उस साधना का अंग है जिसे मैं अपनी आत्मा को शरीर के बन्धन मे मुक्त कराने के लिए किया करता हूं।"[22]

महात्मा गाधी कभी-कभी उपवास आदि भी किया करते थे। कोई-कोई उपवास तो उनके ऐतिहासिक थे जो सप्ताहो तक चले। उपवास के पीछे गाधीजी का विचार था कि इससे मस्तिष्क केन्द्रित एवं संतुलित रहता है तथा इसका विचार शुद्धता पर भी व्यापक असर पड़ता है। कभी-कभी अपने कार्यों के प्रति उन्हे ग्लानि होती या उनके सहयोगी और समर्थक कोई गलत काम कर लेते, उसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर समझ कर पश्चाताप के रूप में वे उपवास को ही एक मुख्य साधन मानते थे।[23] गाधीजी ने लिखा है कि "उपवासादि संयमी मार्ग में एक साधन के रूप में आवश्यक हैं, पर वही सब कुछ नहीं हैं। अगर शरीर के उपवास के साथ मन का उपवास न हो तो वह दम्भ मे परिणत हो जाता है और हानिकारक सिद्ध हो सकता है।"[24]

---

22. Harijan, December 24, 1934, p 393, Delhi Diary vol. I, p 185
23. Kriplani J B, Gandhi: His Life and Thought, p 343.
24. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा पृ. 829.

गो-प्रतिपालन हिन्दू-धर्म का प्रमुख तत्व है। गांधीजी के अनुसार "गौरक्षा के मानी हैं गोवंश-वृद्धि, गोजाति सुधार, बैल से सीमित काम लेना, गोशाला को आदर्श दुग्ध-शाला बनाना इत्यादि।"[25] गांधीजी ने देश मे कई स्थानों पर गोशालाएं खोली तथा अपने आदर्शों के अनुसार चलने का प्रयत्न किया एवं करवाया भी। पर इस सम्बन्ध में उन्हें जिस सफलता की अपेक्षा थी वह न मिल सकी। भारतीय संविधान में राज्य के नीति निर्देशन तत्वों में (धारा 48) के अन्तर्गत) गोरक्षा का प्रयोजन है किन्तु हमने इस विषय में कोई कारगर कदम नही उठाया है। यही नहीं गोरक्षा के सिद्धान्त को अक्सर राजनीति में घसीटने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे गोरक्षा लाभ के स्थान पर हानि ही हुई है।

महात्मा गांधी का ईश्वर में अडिग विश्वास था तथा ईश्वर के अनन्य उपासक थे। लेकिन उनकी व्याख्या परम्परागत हिन्दू दार्शनिकों से भिन्न है। वे ईश्वर को कई रूपो में देखते थे तथा ईश्वर की प्राप्ति के कई साधन मानते थे। वे सत्य को ईश्वर मानते थे तथा सत्य पर आग्रह करना ईश्वर की उपासना के ही बराबर समझते थे। एक स्थान पर उन्होने नैतिकता को ही ईश्वर माना है। कही-कहीं उन्होने प्रेम को ईश्वर बतलाया है।[26] किन्तु गांधीजी को ईश्वर के साक्षात दर्शन दरिद्रनारायण में होते थे। वे दरिद्रों की सेवा या व्यापक रूप में समस्त प्राणियों की सेवा को ईश्वर की सेवा ही मानते थे। समाज में रामराज्य या सर्वोदय समाज की स्थापना करने का तात्पर्य ईश्वर से साक्षात्कार करने के लिये अग्रसर होना था।[27] ईश्वर के विषय में गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है:—

> परमेश्वर की व्याख्याएं अनगिनत हैं; क्योंकि उसकी विभूतियां भी अनगिनत हैं। ये विभूतियां मुझे आश्चर्य में डाल देती हैं। मुझे तनिक देर के लिये मोह भी लेती हैं। पर मैं पुजारी तो सत्य-रूपी परमेश्वर का हूं। वही एक सत्य है और अन्य सब मिथ्या है। यह सत्य मुझे मिला नही; पर मैं इसका शोधक हूं। इसकी शोध में अपनी प्यारी-से-प्यारी वस्तु भी त्यागने को तैयार हूं।"[28]

---

25 सत्य के प्रयोग अथवा आत्म-कथा, पृ 534.

26. हरिजन, अगस्त 28, 1947, पृ. 285.

27. Delhi Diary, Prayer Speeches, from 10.9.47 to 30.1.48, p. 98.

28 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, प्रस्तावना पृ. 6.

गांधीजी को धर्म का अधिक महत्व इसलिये और था क्योंकि यह मानव जीवन की गतिविधियों को नैतिक आधार प्रदान करता है। जो धर्म मनुष्य के नैतिक स्तर में वृद्धि नहीं कर सकता वह धर्म व्यर्थ है।29

महात्मा गांधी राजनीति का आध्यात्मीकरण (Spiritualisation of politics) करना चाहते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि यदि राजनीति को मानव जाति के लिये श्राप न होकर आशीर्वाद होना है तो उसे उच्चतम नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिये।30 यही कारण था कि वे धर्म को इतना महत्व देते थे। वास्तव में गांधीजी धार्मिक अधिक और राजनीतिक कम थे। उन्होंने एक प्रसंग में कहा था कि "बहुत से धार्मिक व्यक्तियों जिनसे मैं मिला हूँ, छुपे हुए तौर पर राजनीतिज्ञ हैं। किन्तु मैं जो राजनीतिज्ञ का वेष रखता हूँ, हृदय से एक धार्मिक व्यक्ति हूँ।"31 धर्म के बिना राजनीति मृत्यु-जाल है जो आत्मा का हनन कर देती है।32

महात्मा गांधी यह तो मानते ही थे कि मनुष्य राजनीतिक समाज में रहता है और इसलिये राजनीति अवगुण होते हुए भी उससे दूर नहीं रहा जा सकता। "यदि मैं राजनीति में भाग लेता हूँ," गांधीजी ने एक स्थल पर कहा था, "इसका केवल यही कारण है कि राजनीति हम सब से सांप के घेरे की भांति लिपटी हुई है जिससे कितनी भी चेष्टा की जाये बाहर नहीं निकला जा सकता। मैं उस राजनीति रूपी सर्प से लड़ना चाहता हूँ। मैं राजनीति में धर्म को प्रविष्ट करने की चेष्टा कर रहा हूँ।"33 इसका यही तात्पर्य था कि गांधीजी धर्म को राजनीति से अलग नहीं करना चाहते थे क्योंकि धर्म राजनीति के विषैलेपन को दूर कर आध्यात्मिक रूप तथा नैतिक आधार प्रदान करता है।

---

29 Dhawan, Gopinath, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p. 5.

30 आशीर्वादम, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 709.

31. *Speeches and Writings of Mahatma Gandhi*, p. 40

32. Dhawan, Gopinath, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi p. 38.

33. Romain Rolland, Mahatma Gandhi, London, 1924, p 98.

सत्याग्रह सिद्धान्त (The Theory of Satyagraha)

दक्षिण अफ्रीका मे महात्मा गाधी को एक आन्दोलन में कूदना पड़ा। वे भारतीय जो दक्षिण अफ्रीका चले गये थे उनके साथ वहाँ बड़ा अमानवीय व्यवहार किया जाता था। वे अनेक प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अयोग्यताओं से ग्रसित थे। वहां रहने वाले भारतीयों को इन अयोग्यताओं से मुक्त कराने हेतु महात्मा गाधी एक ऐसी पद्धति की खोज में थे जो जीवन के मूल नैतिक सिद्धान्तो पर आधारित हो। वे चाहते थे कि जो सिद्धान्त व्यक्तिगत जीवन को निर्देशित करते हैं वे ही सामूहिक एवं सामाजिक जीवन को नई दिशा प्रदान करें। हरिजन पत्रिका मे गाधीजी ने लिखा था:—

> "व्यक्ति की दो अन्तरात्माएँ नही हो सकती— एक व्यक्तिगत एव सामाजिक और दूसरी राजनीतिक। मानवीय कार्यों के सभी क्षेत्रो मे एक ही नैतिक संहिता का पालन किया जाना चाहिये। .... हमें सत्य और अहिंसा को केवल व्यक्तिगत व्यवहार के लिये ही नही, वरन् संघों, समुदायों और राष्ट्रों के व्यवहार का सिद्धान्त बनाना है।"[34]

इसलिये गाधीजी ने सत्य, अहिंसा और न्याय पर आधारित एक आन्दोलन का सूत्रपात किया। जो स्थिति दक्षिण अफ्रीका में थी लगभग वही भारत में थी। भारत अंग्रेजों के उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, तथा शोषण-नीति से दबा जा रहा था। वास्तव में सत्याग्रह आन्दोलन का प्रयोग एक व्यापक तथा निश्चित विज्ञान के रूप मे गाधीजी ने भारतीय स्वाधीनता संग्राम मे ही किया।

सत्याग्रह शब्द की उत्पत्ति

दक्षिण अफ्रीका के लोग गोरी सरकार का विरोध पैसिव-रेजिस्टेन्स (passive resistence) द्वारा करते थे। पैसिव-रेजिस्टेन्स का वहां पर संकुचित अर्थ किया जाता था। उसे निर्बलों का ही हथियार माना जाता था। उसमे द्वेष की भी गुंजाइश थी और उसका अंतिम स्वरूप हिंसा में प्रकट हो सकता था। गांधी जी को न तो पैसिव-रेजिस्टेन्स शब्द ही पसंद आया और न ही उसमे सम्बन्धित उसका व्यावहारिक रूप। भारतवर्ष में अंग्रेजों के विरुद्ध संग्राम परिचय देने के लिये वे किसी नये शब्द की खोज में थे लेकिन उन्हें कोई उचित शब्द सूझ नही रहा था। अतः उपयुक्त नामावली की खोज के लिये

34. हरिजन मार्च 2, 1934.

गांधीजी ने छोटा सा पुरस्कार रख कर "इन्डियन ओपिनियन" के पाठको में इसके लिये प्रतियोगिता आयोजित की। इस प्रतियोगिता के माध्यम से 'सदाग्रह' शब्द सामने आया। सदाग्रह शब्द को अधिक स्पष्ट करने के विचार से गांधी जी ने 'य' शब्द और बढ़ा कर 'सत्याग्रह' शब्द बनाया।[35] सत्याग्रह शब्द भारतीय स्वाधीनता संग्राम के संदर्भ मे अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय हुआ।

सत्याग्रह का अर्थ सत्य की खोज है। सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ सत्य पर अटल रहना है। महात्मा गांधी सत्याग्रह का जो अर्थ समझते थे उसके अनुसार यह सत्य पर आरूढ़ रह कर प्रेमपूर्वक स्वयं कष्ट उठाने के लिये तत्पर रहना है। सत्य का उपासक सत्य को हिंसात्मक साधनो से सिद्ध करने का कभी प्रयास नही करेगा। सत्याग्रह सत्य की प्राप्ति का अहिंसात्मक साधन है। सत्याग्रही आत्म-कष्ट द्वारा विरोधी को गलत मार्ग से हटाने का प्रयत्न करेगा। वह घृणा का प्रेम से, असत्य की सत्य से, हिंसा की अहिंसा द्वारा विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है। यह अत्याचारी से घृणा नही करता किन्तु अत्याचारी को अपने अन्याय को बनाये रखने में सहायता देने से मना करता है। गाधीजी ने इसे प्रेम बल तथा आत्म बल कहा है।

सत्याग्रह का एक अहिंसात्मक शस्त्र के रूप में प्रतिपादन करना गाधीजी के आध्यात्मिक विचारों का ही विस्तार है। उनका कहना था कि समस्त प्राणी ईश्वर की संतान हैं, इसलिये उनमें ईश्वरीय तत्व विद्यमान रहता है। मनुष्य के साथ हिंसा करने का अर्थ उसमें निहित ईश्वरीय शक्तियों का अपमान करना होगा।

गाधीजी की धारणा थी कि मनुष्य में ईश्वरीय शक्तिया निहित हैं। व्यक्ति चाहे कितना ही भ्रष्ट और पतित क्यों न हो उसका नैतिक सुधार किया जा सकता है। उसकी नैतिक चेतना जाग्रत कर व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन को गाधी जी सत्याग्रह द्वारा असम्भव नही मानते थे।

गांधी का विश्वास था कि हिंसा के द्वारा कभी विजय नही हो सकती। यदि हिंसा के माध्यम से विजय उपलब्ध हो भी जाये तो वह कभी स्थाई नहीं रह सकती। हिंसा के द्वारा किसी भी समस्या का समाधान नहीं होता; संघर्ष

---

35. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा पृ. 809.

निरंतर बना रहता है क्योंकि पराजित पक्ष सदैव बदला लेने का प्रयत्न करता है। इसके विपरीत अहिंसात्मक प्रतिरोध से किसी भी पक्ष की हार नहीं होती। विरोधी अपनी भूल को स्वयं समझ लेता है और स्वेच्छापूर्वक नया व्यवहार प्रारम्भ करता है।

सत्याग्रह सिद्धान्त के अन्तंगत जीवशास्त्र सम्बन्धी उस सिद्धान्त को कोई स्थान नहीं है जिसके अन्तंगत सबल को ही जीने का अधिकार होता है। यह हाब्स के उन विचारों को भी अस्वीकार करता है जिसके द्वारा यह माना जाता है कि मनुष्य का जीवन सबों का सबों के प्रति संघर्ष है। सत्याग्रह सिद्धान्त इन सबके विपरीत प्रेम, पारस्परिक सहयोग, सामाजिकता तथा मानव प्रकृति में विश्वास रखता है। सत्याग्रह उस वेदान्त सिद्धान्त को स्वीकार करता है जिसके द्वारा 'समस्त मानव जीवन को एक' (all life is one) समझा जाता है। या, जैसा कि ईसाई धर्म में उल्लेख किया गया है कि 'हम सब एक दूसरे के सदस्य हैं' (we are members one of another) सत्याग्रह के बिलकुल अनुकूल है।[36]

युगों से यह प्रमाणित लगता है कि सामाजिक नैतिकता, राजनीतिक, तथा अंतर-सामुदायिक नैतिकता से काफी आगे बढ़ी हुई है। राजनीति में विभिन्न समुदायों के मध्य सम्बन्ध स्वार्थ, अविश्वास, घृणा, धोखा, हिंसा तथा युद्ध द्वारा निर्देशित होते हैं। जो सबल है वही अधिकारयुक्त होता है। एक राष्ट्र जब अपने हित का अपेक्षा अपने पड़ोसी राज्य के हित का ध्यान रखता है तो उसे मूर्ख समझा जाता है। आजकल राज्य अपनी समस्याओं का समाधान उन साधनों द्वारा करना चाहते हैं जिनके द्वारा समस्याओं का समाधान कभी नहीं होता। बुराई को बुराई के द्वारा नहीं सुधारा जा सकता तथा घृणा को घृणा के द्वारा नहीं जीता जा सकता। गांधीजी का सुझाव था कि मनुष्य जाति को ऐसे विकल्प की खोज करनी चाहिए जो चालाकी से परिपूर्ण, कूटनीति, हिंसा और युद्ध का स्थान ले ताकि विश्व मे अन्याय, निरंकुशता और क्रूरता समाप्त हो जाय। वास्तव में गांधीजी ने इस सम्बन्ध में स्वयं ही सत्याग्रह द्वारा मार्ग प्रशस्त किया। गांधीजी के अनुसार हिंसा और युद्ध का सत्याग्रह ही एक ऐसा विकल्प है जो प्रेम और अहिंसा पर आधारित समस्त प्रकार की समस्याओं को सुलझाने में पूर्ण समर्थ है।[37]

---

36. Kriplani, J. B., Gandhi His Life and Thought, p. 345.
37. Ibid., pp. 346-47.

युद्ध के समर्थकों का दावा है कि युद्ध से मनुष्य एवं राष्ट्र में देशभक्ति, अनुशासन साहस और वीरता जैसे सद्गुणों का अभ्युदय होता है। गांधीजी के अनुसार इन सद्गुणों का विकास करना युद्ध का ही एकाधिकार नहीं है। किसी प्रकार का विनास किये बिना ही सत्याग्रह भी इन सभी गुणों को विकसित करने की क्षमता रखता है। सत्याग्रह द्वारा केवल वीरता और साहस ही नहीं, वरन् भयहीनता की भी शिक्षा मिलती है। युद्ध में भाग लेने वाला दूसरों को मृत्यु के घाट उतारना चाहता है, किन्तु स्वयं मृत्यु से डरता है। उसे यह भी भय रहता है कि उसके साथी उसे कहीं छोड़ कर न चले जाय। सत्याग्रही सिपाही निडर होता है उसे मृत्यु का डर नहीं होता। उसका संघर्ष खुले मैदान मे होता है। वह चोरी छिपके वार नहीं करता। सत्याग्रही की अन्तिम विजय निश्चित रहती है क्योंकि उसके पास अहिंसा का ऐसा सर्वश्रेष्ठ अस्त्र रहता है जिसका विश्व में कोई समता नहीं है। गांधी जी के ही शब्दों में:—

"अहिंसा मानव जाति के पास महानतम अस्त्र है। यह उन समस्त अस्त्रो से शक्तिशाली है जिनका निर्माण मनुष्य ने विनास के लिये किया है।"[38]

गांधीजी सत्य और अहिंसा के द्वारा अपने विरोधी में सुधार करना चाहते थे। सत्याग्रह की एक विशिष्टता यह है कि इसके द्वारा बुरे आदमी का नहीं बुराई का प्रतिरोध किया जाता है और वह भी घृणा द्वारा वरन् प्रेम से। डा० राधाकृष्णन ने इस विषय में लिखा है:—

"सत्याग्रह प्रेम पर आधारित है न कि घृणा पर; अपने विरोधी का प्रेम तथा पीड़ा सहकर हृदय-परिवर्तन करना है। यह पाप का प्रतिरोध करता है पापी का नहीं।"[39]

सत्याग्रह के विभिन्न रूप

सत्याग्रह का तात्पर्य निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive resistence) नहीं है। निष्क्रिय प्रतिरोध के अन्तर्गत अहिंसा का प्रयोग एक नीति के रूप में किया जाता है। किन्तु परिस्थितियावश हिंसा का प्रयोग वर्जित नहीं है। गांधीजी ने निष्क्रिय

38. Quoted by J B Kriplani in Gandhi, His Life and thought, p. 350.
39. Radhakrishnan, S, (Ed), Mahatma Gandhi, 100 Years, p 4,

प्रतिरोध को सत्याग्रह के रूप में स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बलों का अस्त्र है। इसके विपरीत सत्याग्रह सबलो का अस्त्र है जिसके अन्तर्गत अहिंसा को धर्म के रूप में ग्रहण किया जाता है, तथा हिंसा हर परिस्थिति और रूप में वर्जित है।

महात्मा गांधी सत्याग्रह को एक ऐसे वट वृक्ष की तरह मानते थे जिसकी अनेक शाखाएं होती हैं। सत्याग्रह साधन के सम्बन्ध मे निम्नलिखित प्रमुख पद्धतियो को गांधीजी ने स्वीकार किया था —

असहयोग (Non-co-operation)

असहयोग का अर्थ है कि जिसके विरुद्ध सत्याग्रह किया जाता है उसके साथ सहयोग न करे. उससे अपने सम्बन्ध तोड़लें, तथा ऐसा कोई कार्य न करे जिससे अनैतिक कार्यों को सहयोग अथवा प्रोत्साहन मिले। अंग्रेजों के विरुद्ध 1920-21, 1930-31; तथा 1942 में गाधीजी के द्वारा चलाये गये आन्दोलन असहयोग की ही अभिव्यक्ति थे। इन आन्दोलनो मे देशवासियो से अपील की गयी कि वे अंग्रेजी सरकार से किसी भी प्रकार का सहयोग न करे। असहयोग अभिव्यक्ति कई तरीको से हो सकती है जैसे—

हड़ताल

इसके अन्तर्गत विरोधस्वरूप सत्याग्रही कार्य को बन्द कर देते हैं। इसका उद्देश्य सरकार एवं सम्बन्धित संस्था को अपने पक्ष मे प्रभावित करना है। हड़ताल का प्रयोग कभी-कभी किसी कार्य के प्रति नाराजगी प्रकट करने के लिये भी किया जाता है। साइमन आयोग के आगमन के समय समस्त देश में हड़ताल की गई।

प्रदर्शन

प्रदर्शन किसी नीति या कार्य के विरोध में जन-दृष्टि की अभिव्यक्ति है। स्वाधीनता आन्दोलन के समय देश भर में अंग्रेजो के विरुद्ध प्रदर्शन हुआ करते थे।

बहिष्कार

ने अंग्रेजी वस्त्रों का बहिष्कार किया। इसके अलावा अंग्रेजी दफ्तरों, न्यायालयों आदि का भी बहिष्कार किया गया। यह सब असहयोग प्रदर्शित करता है।

घरना

घरना का अर्थ जन निन्दा द्वारा किसी चीज की बुराइयों को बतलाना तथा उन पर प्रतिबन्ध लगाने की मांग करना है। विदेशी वस्त्रो तथा शराब की दुकानों के आगे घरना रखकर इन वस्तुओं के दोषो को बतलाकर उन्हे बन्द करने या बहिष्कार करने की सलाह देना घरना के अन्तर्गत आता है।

सविनय अवज्ञा (Civil disobedience)

सविनय अवज्ञा असहयोग की तुलना में अधिक उग्र तथा अधिक सक्रिय एवं आक्रामक अस्त्रहै। इसका अर्थ अनैतिक कानूनों का उल्लंघन करना है। वे सरकार-निर्मित कानून जिन्हे जनता अनैतिक तथा शोषण का साधन समझती है, उन्हे न मानना, उन्हे जानबूझ कर तोड़ना ही सरकार की अवज्ञा करना है। सविनय अवज्ञा का कार्य छिपकर नही होता तथा अवज्ञा करने वाला दण्ड से बचने का प्रयत्न नही करता। वह दण्ड का निर्भीकतापूर्वक स्वागत करता है।

हिजरत

गाधीजी के द्वारा समर्थित सत्याग्रह का एक अन्य रूप हिजरत था। हिजरत का तात्पर्य है कि व्यक्ति अपनी इच्छा से अपने स्थाई निवास स्थान छोड़कर चले जायें। गाधीजी ने हिजरत का प्रयोग उन लोगो के लिये बतलाया जो यह अनुभव करते थे कि उनको कुचला और दबाया जा रहा है तथा उस स्थान पर वे आत्मसम्मान की रक्षा नही कर सकते क्योकि उनमें शक्ति का अभाव है। गाधीजी ने बारदोली के लोगों से 1928, जूनागढ़, विट्ठलगढ़ के लोगों से 1939 में हिजरत करने के लिये कहा। इसी प्रकार 1935 मे उन्होंने कैथा के हरिजनो को परामर्श दिया कि वे अपना स्थान छोड़ कर चले जायें क्योकि हिन्दुओ का उनके प्रति अत्याचारपूर्ण व्यवहार था।

सत्याग्रही अनुशासन

सत्य एवं अहिंसा के पुजारी का उच्च नैतिक स्तर होना अति आवश्यक है। सत्याग्रह आत्मशक्ति पर आधारित होता है तथा सत्याग्रही की नैतिकता ही उसे आत्मबल प्रदान करती है। गाधीजी चाहते थे कि सत्याग्रह के पुजारी को एक

विशेष अनुशासन तथा आचार संहिता के अन्तर्गत रहना चाहिये जिससे उसमें शक्ति, संयम, आत्म-शुद्धि तथा अन्य गुणों का पूर्ण विकास हो सके।

ब्रह्मचर्य

एक सत्याग्रही के लिये ब्रह्मचर्य पालन करना अति आवश्यक है। परम्परागत अर्थ में ब्रह्मचर्य का तात्पर्य अविवाहित रहना है। पर गांधीजी ने ब्रह्मचर्य की बड़े व्यापक रूप में व्याख्या की है। उनके अनुसार "ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन-वचन-काया से सब इन्द्रियों का संयम।"[40] यह प्रत्येक क्षेत्र में स्वयं पर नियन्त्रण रखना है। यह वह मानसिक स्थिति एवं साधना है जब सत्य और अहिंसा का सेवक एकाग्रचित होकर अपने उद्देश्यों की प्राप्ति करता है।

ब्रह्मचर्य का तात्पर्य अविवाहित रहना नहीं है। एक विवाहित व्यक्ति भी ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। गांधीजी के अनुसार विवाह सम्बन्ध मनुष्य के लिये आवश्यक एवं स्वाभाविक है। किन्तु विवाह एक अनुशासन एवं शुद्धि का साधन होना चाहिये। "एक आदर्श विवाह का उद्देश्य शारीरिक सम्बन्धों द्वारा आध्यात्मिक एकता प्राप्त करना है। मानवीय प्रेम ईश्वरीय एवं विश्व प्रेम के लिये आगे बढ़ने का मार्ग है।[41] ब्रह्मचर्य का पालन स्त्री एवं पुरुष दोनों ही समान रूप से कर सकते हैं।

गांधीजी का विचार था कि यदि ब्रह्मचर्य का पालन करना हो तो स्वादेन्द्रियों पर काबू प्राप्त करना चाहिये। "मेरा अनुभव है," गांधीजी ने लिखा है, "कि जीभ को जीत लेने पर ब्रह्मचर्य का पालन अतिशय सरल है।"[42] "इन्द्रियाँ ऐसी बलवान हैं कि उन्हे चारों ओर से, ऊपर से और नीचे से—(इस प्रकार) दसों दिशाओं से घेरा जाय तभी वे वश में रहती हैं।"[43]

उपवास

सत्याग्रही के लिये महात्मा गांधी समय-समय पर उपवास का भी सुझाव देते हैं। स्वास्थ्य सिद्धान्त के आधार पर उपवास का महत्व तो होता ही है, किन्तु एक सत्याग्रही के लिये यह आत्म-शुद्धि, आत्म-बल, एकाग्रचित्तता और शान्ति का अमूल्य साधन है।

---

40. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 263.
41. Young India, May 21, 1931, p. 115.
42. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 261.
43. उपरोक्त, पृ. 262.

ब्रह्मचर्य स्थिति में इन्द्रिय दमन के लिये उपवास से बड़ी सहायता मिलती है। उपवास की सच्ची उपयोगिता वहीं होती है जहां मनुष्य का मन भी देह दमन का साथ देता है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए महात्मा गांधी समय-समय पर उपवास किया करते थे।[44]

सत्याग्रही का जीवन सादगीपूर्ण होना चाहिये। उसमें अस्तेय तथा अपरिग्रह आदि के प्रति पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिये। तभी वह सामूहिक सत्याग्रह में जन-साधारण का नेतृत्व कर सकेगा।

अहिंसा का दर्शन (The philosophy of non-violence)

सत्याग्रह का मूल आधार अहिंसा का सिद्धान्त है। राजनीति और मानव जीवन को अहिंसा की शिक्षा और व्यवहार महात्मा गांधी की सबसे बड़ी देन है। उन्होंने 1920 में लिखा था "जिस प्रकार हिंसा पशुओं की विधि है, उसी प्रकार अहिंसा मानव जाति की विधि है....यह वह लक्ष्य है जिसकी ओर मानव समाज स्वाभाविक और अनजाने तौर पर बढ़ता जाता है। मेरे लिये अहिंसा केवल एक दार्शनिक सिद्धान्त ही नहीं है। यह जीवन का ताना-बाना है.... यह मस्तिष्क की वस्तु न होकर हृदय की चीज है।"

महात्मा गांधी साध्य और साधन की एकता में विश्वास करते थे। ईश्वर में उनका विश्वास था ही, सत्य को वे ईश्वर का स्वरूप मानते थे। इसका तात्पर्य 'राम नाम ही सत्य है'। सत्य की प्राप्ति सिर्फ अहिंसा के द्वारा ही हो सकती है। वैसे सत्य और अहिंसा को वे अभिन्न साध्य और साधन मानते हैं। किन्तु मूलतः सत्य साध्य है और अहिंसा साधन।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि सत्य और अहिंसा के विषय में महात्मा गांधी मूल विचारक नहीं थे। भारत में प्राचीन काल से ही इनकी परम्परा रही है, लेकिन गाधीजी ने इस प्राचीन परम्परा को बनाये रखने के साथ-साथ अहिंसा को एक नया एवं व्यापक भावार्थ प्रदान किया। प्राचीन ऋषियों की तरह वे अहिंसा को मोक्ष का साधन मानते थे। डा० धवन ने इस सम्बन्ध में गांधीजी के विचारों को व्यक्त करते हुए लिखा है—

---

44 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 263,

"अहिंसा का अर्थ है हिंसा को छोड़ने का प्रयत्न, जो जीवन में अनिवार्य है। अहिंसा का लक्ष्य है मनुष्य को शारीरिक बंधन से छुड़ाना, ताकि वह ऐसी स्थिति प्राप्त कर सके जिसमें नाशवान शरीर के बिना जीवन सम्भव हो।"[45]

व्यक्तिगत मोक्ष को साधन के रूप में स्वीकार करने के साथ-साथ गांधी जी ने अहिंसा का प्रयोग बड़े पैमाने पर राजनीतिक और सामाजिक अन्याय से लड़ने के लिये किया। उन्होंने अहिंसा को सामाजिक क्रान्ति का एक साधन बनाने का प्रयत्न किया।

अहिंसा के विषय में परम्परागत धारणा प्रायः निषेधात्मक रही है। अहिंसा जिसका तात्पर्य हिंसा का अभाव है, निषेधात्मक ही प्रतीत होता है। नकारात्मक दृष्टि से अहिंसा का अर्थ है —

(i) किसी प्राणी की हत्या न करना;

(ii) किसी को शारीरिक कष्ट न पहुंचना;

(iii) किसी को मानसिक कष्ट न पहुंचाना; और

(iv) किसी के प्रति अपने मन में घृणा अथवा द्रोह का भाव भी न रखना।

ये सभी निषेधात्मक अहिंसा व्यक्त करते हैं। अन्य शब्दों में, अहिंसा का अर्थ है संसार की किसी भी वस्तु को मनसा, वाचा, और कर्मणा क्षति न पहुंचाना।[46] इसका मतलब है कठोर शब्द न बोलना, कड़ी बात न कहना; ईर्ष्या, क्रोध, घृणा और क्रूरता से बचना। विशेषतः इसका अर्थ है कि किसी व्यक्ति को अपने शत्रु के प्रति भी बुरे विचार नहीं रखने चाहिए।

किन्तु अहिंसा के सकारात्मक अर्थ को गांधीजी ने प्राथमिकता दी थी। सकारात्मक रूप में अहिंसा का सर्वोच्च रूप सब मनुष्यों, बल्कि सब प्राणियों के प्रति सक्रिय प्रेम एवं सद्भावना है।[47]

---

45. Dhawan, G. N., The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p 64.
46. हरिजन, सितम्बर 7, 1935.
47. Young India, vol. II, p. 286.

महात्मा गांधी अहिंसा को मानव का प्राकृतिक गुण मानते थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य स्वाभावतः अहिंसा प्रिय है तथा परिस्थितियोवश ही वह हिंसावान बनता है। मनुष्य की अहिंसात्मक प्रवृति इस बात से प्रमाणित हो जाती है कि आदिम काल का नरभक्षी व्यक्ति आज सभ्य और सुसंस्कृत प्राणी बन गया है। इस प्रकार समस्त मानव इतिहास में मनुष्य की अहिंसात्मक वृत्ति का विकास हुआ है और इसी कारण मानव जाति निरंतर बढ़ती जा रही है। गांधीजी का विचार था कि अहिंसा के आधार पर ही एक सुव्यवस्थित समाज की स्थापना और मानव प्रगति निर्भर है। यह समस्त जीवों का शाश्वत नियम है।

अहिंसा को गांधीजी ने सब शक्तियों से अधिक शक्तिशाली माना है। यह आत्मिक एवं आध्यात्मिक बल का प्रतीक है। अहिंसा में कठोर हृदय को भी पिघलाने की शक्ति है। यह विद्युत से अधिक निश्चयात्मक और ईथर (ether) से भी अधिक शक्तिशाली है।"[48] बड़ी से बड़ी हिंसा का अहिंसा से मुकाबला किया जा सकता है।

कभी-कभी अहिंसा का अर्थ बुराई को न रोकना, या बुराई के सामने झुक जाना, या चुपचाप अन्याय को सहन करते रहना समझा जाता है। यह धारणा गलत है। अहिंसा किसी भी रूप या परिस्थिति में बुराई या अत्याचार को सहन करने, या उसके समक्ष समर्पण करना नहीं, वरन् आध्यात्मिक बल द्वारा प्रतिरोध का आदेश है।

गांधी जी का विश्वास था कि अहिंसा के सफल प्रयोग के लिये हमेशा जन समूह की आवश्यकता नहीं होती। उनके अनुसार एक व्यक्ति ही इसका प्रयोग उसी प्रकार कर सकता है जिस प्रकार लाखों व्यक्ति कर सकते हैं। आत्म बल और नैतिक साहस वाला एक व्यक्ति हजार व्यक्तियों का काम कर सकता है। सत्याग्रह में सत्याग्रहियों की संख्या का महत्व नहीं, एक या थोड़े से ही सत्याग्रही सत्य की लड़ाई जीतने के लिये काफी हैं।

अहिंसा द्वारा सत्याग्रह चलाने का तात्पर्य दबाव डालना या आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, नैतिक या किसी भी दृष्टि से बल प्रयोग नहीं है। वह अपने प्रतिद्वन्दियों के हृदय परिवर्तन की अपील करता है। इसका तात्पर्य विरोधी को

---

48 हरिजन, मार्च 14, 1939, पृ० 39,

धमकी देना या उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न भी नहीं है, यह विरोधी को अपनी सच्चाई से प्रभावित कर उसे अपनी बात स्वीकार कराने के लिये बाध्य करता है।

महात्मा गांधी निम्नलिखित तीन प्रकार की अहिंसा का उल्लेख करते हैं: —

अ. प्रबुद्ध अहिंसा (Enlightened non-violence)

यह साधन-सम्पन्न तथा वीर व्यक्तियों की अहिंसा है। अहिंसा के इस रूप को दुखद आवश्यकता के कारण नहीं, वरन् नैतिक धारणाओं में अडिग विश्वास के कारण ही स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार की अहिंसा स्वीकार करने वाले व्यक्ति में प्रहार करने की पूर्ण क्षमता होती है, किन्तु वह विरोधी के प्रति प्रहार करने का इच्छुक नहीं होता। ऐसे अहिंसक व्यक्ति अहिंसा को एक धर्म के रूप में ग्रहण करते हैं तथा किसी भी परिस्थिति में वे मानव-एकता तथा भ्रातृत्व-भावना का त्याग नहीं करते। गांधीजी इसे सर्वोत्कृष्ट अहिंसा कहते थे। अहिंसा के इस स्वरूप को राजनीति में ही नहीं, अपितु जीवन के समस्त पहलुओं में दृढ़तापूर्वक अपनाना चाहिए।[49]

ब. समयोचित अहिंसा (non-violence based on expediency)

अहिंसा के इस रूप को जीवन के किसी भी क्षेत्र में विशेष आवश्यकतानुसार एक नीति के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह निर्बल एवं असहाय व्यक्ति का निष्क्रिय प्रतिरोध (passive resistence) है जो अहिंसा को नैतिक विश्वास एवं उसमें श्रद्धा के कारण ग्रहण नहीं करता। ऐसा व्यक्ति सिर्फ अपनी निर्बलता के कारण ही हिंसा का प्रयोग नहीं करता। अहिंसा का यह रूप प्रबुद्ध अहिंसा जैसा शक्तिशाली साधन नहीं हो सकता। फिर भी यदि ईमानदारी, साहस और सावधानीपूर्वक इसका प्रयोग किया जाय, तो कुछ सीमा तक वांछित सफलता भी प्राप्त हो सकती है।[50]

अपेक्षा भाग खड़ा होता है। गांधीजी कायरता के बिलकुल ही पक्ष में नही थे। उनके ही शब्दों में "कायरता और अहिंसा आग और पानी की भांति एक साथ नही रह सकते।"[51]

साध्य एवं साधन (The end and the means)

साधनों की पवित्रता, सत्य और अहिंसा का एक अभिन्न तत्व है। मानव *जीवन का, गांधीजी के अनुसार,* अन्तिम उद्देश्य स्वयं को जानना, या स्वयं से साक्षात्कार करना, या ईश्वर को आमने-सामने देखना, *या पूर्ण सत्य की प्राप्ति, या मोक्ष प्राप्त करना* है। आध्यात्मिक एकता (spiritual unity) में उनका विश्वास था; समस्त मानव प्राणी उसी एकता के विभिन्न अंश हैं, इसलिए मानव सेवा आध्यात्मिक मोक्ष का तात्कालीन उद्देश्य है। ईश्वर से *साक्षात्कार ईश्वर द्वारा निर्मित प्राणियों के माध्यम से ही सम्भव है।* गांधीजी ने, इस प्रकार मनुष्य मात्र की सेवा को मोक्ष का सबसे महत्वपूर्ण और व्यावहारिक साधन माना है।

महात्मा गांधी 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण' वाले उपयोगितावादी सिद्धान्त को स्वीकार नही करते। इसका तात्पर्य इक्यावन व्यक्तियों के कल्याण हेतु उनन्चास व्यक्तियों की अवहेलना करना ही होगा। यह सिद्धान्त *मानव की आध्यात्मिक एकता के विरूद्ध, हृदयहीन तथा अमानवीय है।* सत्य और मानवीय सिद्धान्त तो सिर्फ सर्व-कल्याण है। जिसे गांधीजी 'सर्वोदय' कहा करते थे।[52] इसमें समस्त व्यक्तियों के कल्याण की बात को स्वीकार किया जाता है। सर्वोदय, गांधीजी की समस्त विचारधारा का साध्य था।

महात्मा गांधी के अनुसार साध्य एवं साधन अभिन्न हैं। साधन हमेशा साध्य के अनुरूप होना चाहिए। उन्होने अधिनायकवादी साधन, जिसके अन्तर्गत किसी भी प्रकार के साधन अपनाये जा सकते हैं। *कभी भी स्वीकार नहीं किये।* गांधी जी के विचारों में अच्छे साध्यों की प्राप्ति पवित्र साधनो द्वारा ही होनी चाहिए। साध्य और साधन दोनों का नैतिक होना आवश्यक है। साधनों की अनैतिकता निश्चित रूप से साध्य को भ्रष्ट कर देती है। गांधीजी का कहना था "साधन एक

---

51. हरिजन, नवम्बर 4, 1939 पृ. 331.
52. Delhi Diary, vol. I, p. 201.

बीज की तरह है और साध्य एक पेड़ है। साधन और साध्य में वह सम्बन्ध है जो बीज और पेड़ में।" अतः साधनों की पवित्रता पर ही साध्य की श्रेष्ठता निर्भर करती है।[53]

राजनीति के क्षेत्र में गांधीजी ने साधनों की नैतिकता पर अधिक जोर दिया। यहाँ तक कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद एवं शोषण के विरुद्ध, स्वराज्य प्राप्ति के लिए, वे हिंसा और असत्य का प्रयोग करने के लिए तैयार नही थे। गांधीजी ने कहा था—

> "मेरे जीवन दर्शन में साधन और साध्य एक दूसरे के पूरक हैं। कुछ कहते हैं कि साधन आखिर में साधन ही हैं। मैं कहूँगा कि साधन ही अन्त में सब कुछ हैं। जैसे साधन हैं वैसे ही साध्य होंगे। साध्य और साधनों के मध्य अलगाव की कोई दीवार नहीं है। वास्तव में ईश्वर ने हमें थोड़ा बहुत नियन्त्रण साधनों पर ही दिया है, साध्य पर बिलकुल नहीं।"[54]

राज्य के प्रति दृष्टिकोण: अहिंसात्मक राज्य की कल्पना

महात्मा गांधी दार्शनिक थे, किन्तु राज्य के वर्तमान या भावी स्वरूप को स्पष्टतःउहोने कही लिपिवद्ध नही किया। भविष्य की कल्पना उन्हें असामयिक प्रतीत होती थी। उन्होंने अहिंसा पर आधारित राज्य की रूपरेखा के विषय मे लिखना उचित नही समझा। उनका कहना था कि अहिंसा पर आधारित समाज का जब निर्माण होगा तो वह अवश्य ही आज के समाज से पूर्णतः भिन्न होगा। यद्यपि गांधीजी ने इस सम्बन्ध में अपने विचारों को व्यापक रूप से प्रस्तुत नहीं किया, फिर भी उनके विचार-सागर में से राज्य सम्बन्धी विचारों का संकलन किया जा सकता है।

गांधीजी एक दार्शनिक अराजकतावादी थे। वे राज्य को कई कारणों से अस्वीकार करते हैं। राज्य के विरोध में गांधी जी के निम्नलिखित तर्क थे :—

---

53. Young India, vol. II, pp. 364, 435, 956.
54. Quoted by J. B. Kriplani in Gandhi : His Life and Thought, p.349.

प्रथम, दार्शनिक आधार पर राज्य का विरोध करते हुए गांधीजी का विचार था कि राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास में सहायक नही होता। राज्य सत्ता की अनिवार्यता व्यक्तिगत कार्य के नैतिक महत्व का अपहरण कर लेती है। व्यक्ति का नैतिक विकास राज्य पर नही किन्तु उसकी आंतरिक इच्छाओं पर निर्भर करता है। अधिक से अधिक राज्य मनुष्य की बाह्य दशाओं को प्रभावित कर सकता है।

द्वितीय, राज्य एक हिंसामूलक संगठन है और इस प्रकार सत्य और अहिंसा के समस्त पहलुओं का विरोधी है। एक अहिंसा के पुजारी होने के नाते महात्मा गांधी हिंसा पर आधारित किसी भी संस्था को स्वीकार नही कर सकते थे। इसके साथ-साथ वे राज्य को हिंसात्मक इसलिये और मानते थे, क्योंकि यह निर्धन वर्ग के शोषण में सहायक होता है। गांधीजी के शब्दो मे—

> "राज्य केन्द्रित और संगठित रूप में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति एक चेतनशील आत्मवान प्राणी है किन्तु राज्य एक ऐसा आत्महीन यन्त्र है जिसे हिंसा से प्रथक नही किया जा सकता क्योंकि इसकी उत्पत्ति ही हिंसा से हुई है।"[55]

तृतीय, राज्य के कार्य क्षेत्र मे आजकल निरन्तर वृद्धि हो रही है। राज्य का बढ़ता हुआ कार्य क्षेत्र व्यक्ति मे स्वावलम्बन और आत्मविश्वास के गुणो को विकसित नही होने देता। इस सम्बन्ध में गांधीजी ने एक स्थान पर लिखा है :—

> "मै राज्य की शक्तिओ मे वृद्धि को बड़े भय तथा शंका की दृष्टि से देखता हूँ, क्योंकि बाह्य रूप से राज्य देखने में शोषण का विरोधी तथा भलाई का कार्य करता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु व्यक्तित्व का विनाश कर यह मनुष्य जाति को अधिक से अधिक हानि पहुँचाता है। हम ऐसे अनेक उदाहरण जानते हैं जहां मनुष्य ने एक संरक्षक के रूप में कार्य किया है, किन्तु हमे ऐसा कोई उदाहरण नही मिलता जहां राज्य का अस्तित्व वास्तव में दरिद्रो के कल्याण के लिये रहा हो।"[56]

---

55. Bose, N. K, Studies in Gandhism, p. 202; Young India, July 2, 1931, p. 162.
56. Bose, N. K, Studies in Gandhism, pp 202--04

एक आदर्श रूप में महात्मा गांधी राज्य उन्मूलन के पक्ष में थे। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में व्यावहारिकता के आधार पर वे एकदम तथा हिंसाद्वारा राज्य को समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। वे मनुष्य को किञ्चित् इतना पूर्ण नहीं मानते थे कि वह बिना राज्य के अपनी व्यवस्था स्वयं संचालित कर सके। "मनुष्य जाति उस स्थल पर निवास करती है जहाँ पुष्टि के पाशविक राज्य और नैतिक राज्य की सीमा मिलती है।"[57] इसलिये समाज में राज्य तथा हिंसा का पूर्णरूपेण बहिष्कृत करना सम्भव नहीं।

राज्य-विहीन समाज की स्थापना के विषय में गांधीजी की कुछ बातें स्पष्ट थी। प्रथम, वे विकासवादी थे। ऐसे समाज की रचना के लिये यदि एक-एक कदम भी आगे बढ़ा जाय तो गांधीजी इसे सन्तोषजनक मानते थे। द्वितीय, जब तक राज्य-विहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती गांधीजी राज्य के अधिकारों को पूर्णतः सीमित करने के पक्ष में थे। राज्य को एक आवश्यक बुराई मानकर गांधीजी ने उसके प्रभाव और शक्ति को कम से कम करने का प्रयत्न किया। उनका सुझाव था कि राज्य को कम से कम कार्य अपने हाथ में लेने चाहिये तथा व्यक्ति के जीवन में न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिये। वे अमरीकी अराजकतावादी हेनरी थोरो के इस विचार से सहमत थे कि "सर्वोत्तम सरकार वह है जो कम से कम शासन करती है।"

तृतीय; उन्होंने सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर बल दिया। सत्ता का केन्द्रीकरण सदैव ही हानिकारक रहा है। विकेन्द्रीकरण के विषय में गांधीजी को भारत के प्राचीन स्वावलम्बी ग्राम-समाजों से प्रेरणा मिली। उनका नारा था-'गांव को वापस चलो' (Back to the village) क्योंकि वे ग्राम-स्वराज में ही भारत की आत्मा का प्रतिबिम्ब देखते थे। राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी ग्रामों का चित्र-चित्रण करते हुए गांधीजी ने लिखा है:—

> मेरे ग्राम स्वराज्य का आदर्श यह है कि प्रत्येक ग्राम एक पूर्ण गणराज्य हो। अपनी आवश्यक वस्तुओं के लिये वह अपने पड़ोसियों पर निर्भर नहीं रहे। इस प्रकार खाने के लिये अन्न और कपड़ों के

---

57. Young India, Vol. I, p 250.

लिए रुई की फसल पैदा करना, प्रत्येक ग्राम का पहला कार्य होगा। ग्राम की अपनी नाट्यशाला, सार्वजनिक भवन और पाठशाला भी होनी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा अंतिम कक्षा तक अनिवार्य होगी। यथासम्भव प्रत्येक कार्य सहकारिता के आधार पर किया जायगा। गाव का शासन पाँच व्यक्तियों की पचायत द्वारा संचालित होगा। पंचायत ही गाव की व्यवस्थापिका सभा, कार्यपालिका तथा न्याय-पालिका सब कुछ होगी।"[58]

चतुर्थ, गांधीजी ने राज्य के सम्प्रभु सिद्धान्त का भी खंडन किया। वे राज्य को सम्प्रभु-सम्पन्न एवं सर्व-शक्तिशाली संस्था मानने के लिये कभी तैयार नहीं थे। गिल्ड समाजवादियों तथा बहुलवादियो की भांति गांधीजी राज्य को समाज में अन्य संस्थाओं जैसा ही समझते थे। राज्य के एक संस्था के रूप में उतने ही अधिकार हैं जितने दूसरी संस्थाओ के। गांधीजी द्वारा सम्प्रभु सत्ता पर प्रहार उनके राज्य सम्बन्धी अन्य विचारो का ही विस्तार है।

प्रजातन्त्र एवं प्रतिनिधि प्रणाली

विदेशी शासन को समाप्त करने के साथ-साथ गाधीजी देश में सभी प्रकार के शोषण से रहित लोकतान्त्रिक व्यवस्था को स्थापना करना चाहते थे। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए गाधीजो ने राष्ट्रीय आन्दोलन काल में ही रचनात्मक कार्यक्रमो को प्रारम्भ कर दिया था।"[59]

महात्मा गाधी लोकतन्त्र की परम्परागत प्रणालियों के आलोचक थे। पश्चिमी राज्यों में लोकतन्त्र केवल नाम का ही है। ये लोकतन्त्र व्यवस्थाएँ हिंसा, अस्त्र-शस्त्रो की होड़, पूंजीवाद, शोषण, राजनीतिक अस्थिरता, राज-नीतिक भ्रष्टाचार तथा, नेतृत्व की निर्धनता (poverty of leadership) पर आधारित हैं।[60]

---

58 Harijan, July 28, 1946, p. 236

59. Kriplani, J. B., Gandhi: His Life and Thought, p. 352.

60 Fischer, Louis, A Week with *Gandhi*, pp. 82-83.

संसदीय व्यवस्था एवं प्रतिनिधि प्रणाली को भी गांधीजी ने अपनी आलोचना से अछूता नहीं छोड़ा। इंग्लैंड की संसद को गांधीजी ने एक 'बांझ औरत' की संज्ञा दी जो किसी कार्य के योग्य नहीं है। संसद के सदस्य अपने स्वार्थ से प्रेरित होते है तथा संसद भिन्न-भिन्न मंत्रिमंडलों के प्रति अपनी श्रद्धा का परिवर्तन करती रहती है।[61] इसी प्रकार आधुनिक प्रतिनिधि प्रणाली को गांधीजी ने त्रुटिपूर्ण बतलाया है। आजकल के प्रतिनिधि वास्तव में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में गाधी जी कुछ समय के लिये संसदीय व्यवस्था बनाये रखने के पक्ष में थे, किन्तु वे इस व्यवस्था में परिवर्तन चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि संसद या संसदीय सरकार अपने हाथों में शक्ति संचय कर ले। संसद एवं सरकार को जनहित मे बड़े ही व्यवस्थित एवं अनुशासित ढंग से कार्य करना चाहिये।

महात्मा गाधी अप्रत्यक्ष प्रतिनिधि प्रणाली के पक्ष में थे, किन्तु उनकी प्रतिनिधि प्रणाली का दूसरा ही स्वरूप था। उनके अनुसार भारत के सात लाख ग्राम अपने लिये जन-इच्छा के अनुसार संगठित करेंगे। ये ग्राम मिलकर अपने-अपने जिलो की शासन व्यवस्था का प्रबंध करेंगे। जिलों के द्वारा प्रान्तों के प्रशासन का चयन होगा। अंत मे प्रान्तो के द्वारा राष्ट्रीय सरकार का संगठन एवं चयन किया जायेगा। गांधीजी का विचार था कि इस व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक इकाई का महत्व होगा। सबसे पहले वे अपने शासन का प्रबन्ध करेंगे और साथ ही साथ अगली सीढ़ी वाले क्षेत्र के प्रशासन में भी योगदान देंगे।[62]

मतदाताओं की योग्यता के विषय में भी गाधीजी के विचार उल्लेखनीय हैं। वे प्रत्येक स्त्री-पुरुष जिसकी आयु इक्कीस वर्ष की हो चुकी है मतदान के योग्य मानते हैं। सम्पत्ति या पद या शैक्षणिक आधार को वे मतदाता की योग्यता का आधार स्वीकार नहीं करते। उनके विचार से वह व्यक्ति जो शारीरिक श्रम करता है, वही वास्तव में मतदान के योग्य होना चाहिए। इस प्रकार गांधीजी श्रम-मताधिकार के पक्ष में थे[63]।

---

61. Dhawan, G. N., The Political Philsophy of Mahatma Gandhi, p. 295
62 Fischer, Louis, A Week with Gandhi, p 55;
Harijan, July 26, 1942, p. 238.
63 Harijan, January 2, 1937, p 273.

लिए रुई की फसल पैदा करना, प्रत्येक ग्राम का पहला कार्य होगा। ग्राम की अपनी नाट्यशाला, सार्वजनिक भवन और पाठशाला भी होनी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा अंतिम कक्षा तक अनिवार्य होगी। यथासम्भव प्रत्येक कार्य सहकारिता के आधार पर किया जायगा। गाव का शासन पाँच व्यक्तियों की पचायत द्वारा संचालित होगा। पंचायत ही गाव की व्यवस्थापिका सभा, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका सब कुछ होगी।"[58]

चतुर्थ, गांधीजी ने राज्य के सम्प्रभु सिद्धान्त का भी खंडन किया। वे राज्य को सम्प्रभु-सम्पन्न एवं सर्व-शक्तिशाली संस्था मानने के लिये कभी तैयार नही थे। गिल्ड समाजवादियों तथा बहुलवादियों की भाति गाधीजी राज्य को समाज मे अन्य संस्थाओं जैसा ही समझते थे। राज्य के एक संस्था के रूप में उतने ही अधिकार हैं जितने दूसरी संस्थाओं के। गाधीजी द्वारा सम्प्रभु सत्ता पर प्रहार उनके राज्य सम्बन्धी अन्य विचारों का ही विस्तार है।

प्रजातन्त्र एवं प्रतिनिधि प्रणाली

विदेशी शासन को समाप्त करने के साथ-साथ गाधीजी देश में सभी प्रकार के शोषण से रहित लोकतान्त्रिक व्यवस्था को स्थापना करना चाहते थे। इस उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए गाधीजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन काल मे ही रचनात्मक कार्यक्रमो को प्रारम्भ कर दिया था।"[59]

महात्मा गांधी लोकतन्त्र की परम्परागत प्रणालियो के आलोचक थे। पश्चिमी राज्यों में लोकतन्त्र केवल नाम का ही है। ये लोकतन्त्र व्यवस्थाएँ हिंसा, अस्त्र-शस्त्रों की होड़, पूंजीवाद, शोषण, राजनीतिक अस्थिरता, राजनीतिक भ्रष्टाचार तथा, नेतृत्व की निर्धनता (poverty of leadership) पर आधारित हैं।[60]

---

58 Harijan, July 28, 1946, p. 236

59. Kriplani, J. B., Gandhi: His Life and Thought, p. 352.

60 Fischer, Louis, A Week with Gandhi, pp. 82-83.

संसदीय व्यवस्था एवं प्रतिनिधि प्रणाली को भी गांधीजी ने अपनी आलोचना से अछूता नहीं छोड़ा। इंग्लैंड की संसद को गाधीजो ने एक 'बांझ औरत' की संज्ञा दी जो किसी कार्य के योग्य नही है। संसद के सदस्य अपने स्वार्थ से प्रेरित होते है तथा संसद भिन्न-भिन्न मंत्रिमंडलों के प्रति अपनी श्रद्धा का परिवर्तन करती रहती है।[61] इसी प्रकार आधुनिक प्रतिनिधि प्रणाली को गाधीजी ने त्रुटिपूर्ण बतलाया है। आजकल के प्रतिनिधि वास्तव में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में गाधी जी कुछ समय के लिये संसदीय व्यवस्था बनाये रखने के पक्ष में थे, किन्तु वे इस व्यवस्था में परिवर्तन चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि संसद या संसदीय सरकार अपने हाथों में शक्ति संचय कर ले। संसद एवं सरकार को जनहित में बड़े ही व्यवस्थित एवं अनुशासित ढंग से कार्य करना चाहिये।

महात्मा गांधी अप्रत्यक्ष प्रतिनिधि प्रणाली के पक्ष में थे, किन्तु उनकी प्रतिनिधि प्रणाली का दूसरा ही स्वरूप था। उनके अनुसार भारत के सात लाख ग्राम अपने लिये जन-इच्छा के अनुसार संगठित करेंगे। ये ग्राम मिलकर अपने-अपने जिलों की शासन व्यवस्था का प्रबंध करेंगे। जिलों के द्वारा प्रान्तो के प्रशासन का चयन होगा। अंत में प्रान्तों के द्वारा राष्ट्रीय सरकार का संगठन एवं चयन किया जायेगा। गांधीजी का विचार था कि इस व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक इकाई का महत्व होगा। सबसे पहले वे अपने शासन का प्रबन्ध करेंगे और साथ ही साथ अगली सीढ़ी वाले क्षेत्र के प्रशासन मे भी योगदान देंगे।[62]

मतदाताओं की योग्यता के विषय में भी गाधीजी के विचार उल्लेखनीय हैं। वे प्रत्येक स्त्री-पुरुष जिसकी आयु इक्कीस वर्ष की हो चुकी है मतदान के योग्य मानते हैं। सम्पत्ति या पद या शैक्षणिक आधार को वे मतदाता की योग्यता का आधार स्वीकार नही करते। उनके विचार मे वह व्यक्ति जो शारीरिक श्रम करता है, वही वास्तव में मतदान के योग्य होना चाहिए। इस प्रकार गांधीजी श्रम-मताधिकार के पक्ष मे थे[63]।

61. Dhawan, G. N., The Political Philsophy of Mahatma Gandhi, p. 295
62 Fischer, Louis, A Week with Gandhi, p. 55;
Harijan, July 26, 1942, p. 238.
63 Harijan, January 2, 1937, p. 273.

लिए रुई की फसल पैदा करना, प्रत्येक ग्राम का पहला कार्य होगा। ग्राम की अपनी नाट्यशाला, सार्वजनिक भवन और पाठशाला भी होनी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा अंतिम कक्षा तक अनिवार्य होगी। यथासम्भव प्रत्येक कार्य सहकारिता के आधार पर किया जायगा। गांव का शासन पाँच व्यक्तियों की पंचायत द्वारा संचालित होगा। पंचायत ही गाव की व्यवस्थापिका सभा, कार्यपालिका तथा न्याय-पालिका सब कुछ होगी।"58

चतुर्थ, गाधीजी ने राज्य के सम्प्रभु सिद्धान्त का भी खंडन किया। वे राज्य को सम्प्रभु-सम्पन्न एवं सर्व-शक्तिशाली संस्था मानने के लिये कभी तैयार नहीं थे। गिल्ड समाजवादियों तथा बहुलवादियों की भांति गाधीजी राज्य को समाज में अन्य संस्थाओं जैसा ही समझते थे। राज्य के एक संस्था के रूप में उतने ही अधिकार हैं जितने दूसरी संस्थाओं के। गाधीजी द्वारा सम्प्रभु सत्ता पर प्रहार उनके राज्य सम्बन्धी अन्य विचारों का ही विस्तार है।

प्रजातन्त्र एवं प्रतिनिधि प्रणाली

विदेशी शासन को समाप्त करने के साथ-साथ गांधीजी देश में सभी प्रकार के शोषण से रहित लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए गांधीजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन काल में ही रचनात्मक कार्यक्रमों को प्रारम्भ कर दिया था।"59

महात्मा गाधी लोकतन्त्र की परम्परागत प्रणालियों के आलोचक थे। पश्चिमी राज्यों में लोकतन्त्र केवल नाम का ही है। ये लोकतन्त्र व्यवस्थाएँ हिंसा, अस्त्र-शस्त्रों की होड़, पूंजीवाद, शोषण, राजनीतिक अस्थिरता, राज-नीतिक भ्रष्टाचार तथा, नेतृत्व की निर्धनता (poverty of leadership) पर आधारित हैं।60

---

58 Harijan, July 28, 1946, p. 236

59. Kriplani, J. B., Gandhi: His Life and Thought, p. 352.

60. Fischer, Louis, A Week with Gandhi, pp. 82-83.

संसदीय व्यवस्था एवं प्रतिनिधि प्रणाली को भी गांधीजी ने अपनी आलोचना से अछूता नहीं छोड़ा। इंग्लैंड की संसद को गाधीजी ने एक *'बांझ औरत' की संज्ञा दी जो किसी कार्य के योग्य नहीं है। संसद के सदस्य* अपने स्वार्थ से प्रेरित होते है तथा संसद भिन्न-भिन्न मंत्रिमंडलों के प्रति अपनी श्रद्धा का परिवर्तन करती रहती है।[61] इसी प्रकार आधुनिक प्रतिनिधि प्रणाली को गाधीजी ने त्रुटिपूर्ण बतलाया है। आजकल के प्रतिनिधि वास्तव में जनता का प्रतिनिधित्व नही करते।

भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में गाधी जी कुछ समय के लिये संसदीय व्यवस्था बनाये रखने के पक्ष में थे, किन्तु वे इस व्यवस्था मे परिवर्तन चाहते थे। वे नही चाहते थे कि संसद या संसदीय सरकार अपने हाथों में शक्ति *संचय कर ले। संसद एवं सरकार को जनहित में बड़े ही व्यवस्थित एवं* अनुशासित ढंग से कार्य करना चाहिये।

महात्मा गाधी अप्रत्यक्ष प्रतिनिधि प्रणाली के पक्ष मे थे, किन्तु उनकी प्रतिनिधि प्रणाली का दूसरा ही स्वरूप था। उनके अनुसार भारत के सात लाख ग्राम अपने लिये जन-इच्छा के अनुसार संगठित करेंगे। ये ग्राम मिलकर अपने-अपने जिलों की शासन व्यवस्था का प्रबध करेंगे। जिलो के द्वारा प्रान्तो के प्रशासन का चयन होगा। अंत मे प्रान्तों के द्वारा राष्ट्रीय सरकार का संगठन एवं चयन किया जायेगा। गांधीजी का विचार था कि इस व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक इकाई का महत्व होगा। सबसे पहले वे अपने शासन का प्रबन्ध करेंगे और साथ ही साथ अगली सीढ़ी वाले क्षेत्र के प्रशासन मे भी योगदान देंगे।[62]

मतदाताओं की योग्यता के विषय में भी गाधीजी के विचार उल्लेखनीय हैं। वे प्रत्येक स्त्री-पुरुष जिसकी आयु इक्कीस वर्ष की हो चुकी है मतदान के *योग्य मानते हैं। सम्पत्ति या पद या शैक्षणिक आधार को वे मतदाता को* योग्यता का आधार स्वीकार नहीं करते। उनके विचार से वह व्यक्ति जो शारीरिक श्रम करता है, वहीं वास्तव में मतदान के योग्य होना चाहिए। इस प्रकार गांधीजी श्रम-मताधिकार के पक्ष में थे[63]।

---

61. Dhawan, G. N, The Political Philsophy of Mahatma Gandhi, p. 295
62. Fischer, Louis, A Week with Gandhi, p 55;
    Harijan, July 26, 1942, p. 238.
63. Harijan, January 2, 1937, p. 273.

महात्मा गांधी व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को साधन मानते हैं। सैद्धान्तिक रूप मे महात्मा गाधी राज्य का उन्मूलन चाहते हैं। व्यवहार में वे राज्य के अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसकी सत्ता को सीमित एवं विकेन्द्रित करने के पक्ष मे है। यह सब कुछ उनके विचारों के अनुकूल ही है, क्योंकि वे व्यक्ति के विकास के सामने किसी प्रकार की बाधा नही चाहते। इसलिये राज्य के जिस अस्तित्व को वे स्वीकार करते हैं उसका उद्देश्य व्यक्ति का ही विकास करना है। वे राज्य को न तो गौरवान्वित करने के पक्ष में हैं और न ही वे उसे किसी भी प्रकार साध्य मानने को तैयार हैं।

अधिकार तथा कर्त्तव्य

गांधीवादी विचारों में अधिकारों का आधार मनुष्य की दैवी प्रकृति है। मनुष्य में ईश्वर का अंश विद्यमान है। मनुष्य अपनी नैतिक प्रकृति का विकास करके मोक्ष प्राप्त करना अपने जीवन का उद्देश्य समझता है, अतः ईश्वरीय नियमों का पालन करने का मनुष्य को जन्म सिद्ध अधिकार होगा। गाधीजी के अनुसार मनुष्य के सभी अधिकार इस प्रमुख अधिकार से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य का नैतिक व्यक्तित्व प्रत्येक दृष्टि से अ-उल्लंघनीय है।

महात्मा गाधी ने अधिकार और कर्त्तव्यों के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। एक दृष्टिकोण से उन्होंने कर्त्तव्यों को अधिक महत्व दिया। उनका कहना था कि अधिकार कर्त्तव्यों से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये, अधिकार उसे स्वतः मिल जायेंगे। गांधीजी के शब्दो में:—

> "यदि हम अपने कर्त्तव्यों का पालन करें, तो हमें अपने अधिकारों की खोज में दूर नहीं जाना पड़ेगा। यदि हम कर्त्तव्यो को पूरा किये बिना अधिकारों के पीछे दौड़ने लगें तो वे मृग-मरीचिका की भांति हम से दूर भागते जायेंगे। कर्म कर्तव्य हैं, फल अधिकार हैं।"[64]

महात्मा गाधी स्वतंत्रता अधिकार के प्रबल समर्थक थे। उनका कहना था कि व्यक्ति को आचरण तथा अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए, यदि उनकी स्वतंत्रता दूसरो को स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करती। मनुष्य की स्वतन्त्रता पर केवल सामाजिक कर्तव्यों का ही अंकुश हो सकता है। गांधी जी अपने विचार

---

64 Gandhi, M. K., To the Princes and their People, p 10

विरोधियों का भी सम्मान करते थे तथा उन्हे विरोध करने के लिए प्रोत्साहित करते थे। स्वराज्य के मामले को लेकर गाधीजी और पंडित जवाहरलाल नेहरु में मतभेद उत्पन्न हो गये थे। जनवरी 16, 1928, को साबरमती आश्रम से पंडित नेहरु को एक पत्र में इन मतभेदों के विषय में लिखा:—

"मैं यह चाहता हूँ कि आप को मेरे विचारों के विरुद्ध खुला संघर्ष करना चाहिये। क्योंकि अगर मैं गलत हूँ तो मैं देश की अपार क्षति कर रहा हूँ, और इस प्रकार जब इसका आपको पता चल जाय तो आप को मेरे विरुद्ध विद्रोह अवश्य करना चाहिए।"[65]

महात्मा गांधी के अनुसार बहुसंख्याकों को अल्पसंख्यकों के विचारो का दमन करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। वे अल्पसंख्यकों के दृष्टिकोण का आदर करते थे। उनका कहना था कि यदि अल्पसंख्यक अपने दृष्टिकोण को उचित समझते हैं तो उसे मनवाने का उन्हे पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक स्थल पर उन्होंने कहा था:—

"बहुसंख्यक शासन को सीमित क्षेत्र मे ही स्वीकार किया जा सकता है, अर्थात् व्यापक रूप में व्यक्ति को बहुसंख्यकों का आदेश मान लेना चाहिए। किन्तु हर विषय में बहुसंख्यकों के सामने समर्पण करना दासता है।"[66]

जहाँ तक धर्म और नैतिकता का सवाल है, गांधीजी का कहना था कि इन मामलों में बहुसंख्यकों के आदेश का कभी भी पालन नही करना चाहिये चाहे उसके परिणाम कुछ भी क्यों न हों।

समानता का अधिकार गांधीवाद का एक तार्किक तत्व है। वे सभी प्राणियो में एक सी आत्मा तथा समान नैतिक तत्वों का विद्यमान होना मानते थे, इसलिये प्रत्येक दृष्टि से सब मनुष्य समान हैं। राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रो मे गांधीजी का विचार था कि सभी को नस्ल, धर्म, लिंग आदि के भेदभाव के बिना समान अधिकार मिलने चाहिए। भारतीय सामाजिक जीवन में अस्पृश्यता (untouchability), तथाकथित नीच जातियों (हरिजनो) के प्रति जो व्यवहार था

65. Nehru, Jawahar Lal, A Bunch of Old Letters, Asia Publishing, House, Bombay, 1958, pp. 56-58.
66. Young India, Vol. I, p 864.

वह समानता के अधिकार पर एक कलंक था। पिछड़े हुए वर्ग के उत्थान के लिये, तथा अस्पृश्यता के विरुद्ध महात्मा गांधी ने जो संघर्ष किया, मानव इतिहास में शायद ही किसी ने किया हो। इस सम्बन्ध में उनके विचारो की अभिव्यक्ति भारतीय संविधान के तृतीय खंड मे पूर्णतः होती है।

अपराध एवं दण्ड

गांधीजी के अनुसार समाज की असफलताओं एवं बुराइयों के कारण ही मनुष्य अपराध करता है। अहिंसात्मक राज्य में अपराध हो सकते हैं, किन्तु अपराधियो के साथ अपराधियों जैसा व्यवहार नही किया जायेगा। अहिंसात्मक राज्य की व्यवस्था नैतिक शक्ति पर आधारित होगी। इसलिये अपराध सम्बन्धी समस्याओ का अहिंसात्मक ढ़ंग से ही समाधान किया जायेगा।

सामान्यतः महात्मा गांधी अपराधी को, चाहे उसने हिंसात्मक अपराध ही क्यों न किया हो, बन्दीगृह मे रखकर दण्ड देने के पक्ष मे नहीं थे। वैसे वे दण्ड व्यवस्था को ही उचित नही मानते थे। किन्तु यह एक आदर्श था। पर जो भी दण्ड व्यवस्था अहिंसात्मक राज्य अपनायेगा वह प्रतिकार या आतंक पैदा करने के उद्देश्य से नहीं दी जायेगी। गांधीजी के अनुसार दण्ड सुधारवादी सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिये। इस दण्ड प्रणाली मे अपराधी को यातना देना, डराना, धमकाना आदि का अन्त हो जायेगा। मृत्यु दण्ड का प्रश्न ही नहीं उठता। मृत्यु दण्ड अहिंसा सिद्धान्त के पूर्ण विपरीत है।

सुधारवादी दण्ड व्यवस्था में अपराधी को सुधारने का पूर्ण प्रयत्न किया जायेगा। बन्दीगृहों को सुधारगृहों, वर्कशॉप तथा शैक्षणिक संस्थाओं मे परिवर्तित कर देना चाहिये। गांधीजी का विचार था कि अपराधियों के हृदय-परिवर्तन का प्रयत्न होना चाहिये। जिस समय उन्हे बन्दीगृहों में रखा जाय तो उन्हे किसी कला आदि का प्रशिक्षण देना चाहिये, ताकि वहाँ से जाने के बाद अपराधी स्वावलम्बी और एक अच्छे नागरिक की भांति अपना जीवन व्यतीत कर सकें।[67]

गांधीवादी राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रीयवाद

महात्मा गांधी सही अर्थों मे राष्ट्रवादी थे। उनका सारा जीवन भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में बीता। उन्होने देश का राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय पोशाक, राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध

67. Dhawan, G. N, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, pp. 304-306.

मार्ग दर्शन किया,लेकिन गाधी जी सकीर्ण या उग्र राष्ट्रवाद के उपासक नहीं थे। स्वदेशी सिद्धान्त के सन्दर्भ में गांधी जी ने कहा कि यह बड़ा व्यापक सिद्धान्त है, जो निकट पड़ोस से लेकर सम्पूर्ण विश्व को अपने में समेटे हुए है। इसलिये उनके अन्तर्राष्ट्रीयवाद तक पहुंचने के लिये कई संस्थाओं की सेवा आवश्यक थी। उनका कहना था कि मनुष्य, परिवार,पड़ोस,गांव, प्रदेश,राष्ट्र इन सब को पार करके ही अंतर्राष्ट्रवाद के आदर्श तक पहुंच सकता है। उनका विश्वास था कि मनुष्य राष्ट्रवादी हुए बिना अंतर्राष्ट्रवादी नही हो सकता। अंतर्राष्ट्रवाद तभी सम्भव हो सकता है जबकि पहले राष्ट्रवाद एक तथ्य बन जाये, तथा विभिन्न देशों के लोग संगठित होकर एक व्यक्ति के रूप मे कार्य करने लगे। वे भारत की सेवा को भी अंतर्राष्ट्रीयता का एक अंग मानते थे। उन्ही के शब्दों मे:—

"मैं भारतवर्ष का उत्थान इसलिये चाहता हूं ताकि सम्पूर्ण विश्व का हित हो सके। मैं भारतवर्ष का उत्थान दूसरे राष्ट्र के विनाश पर नही चाहता। मैं उस राष्ट्र-भक्ति की निन्दा करता हूं जो हमें दूसरे राष्ट्रों के शोषण तथा मुसीबतों से लाभ उठाने के लिये प्रोत्साहित करती है।" 68

इस प्रकार गाधीजी की राष्ट्रीयता ही अंतर्राष्ट्रीयता थी। किन्तु आक्रामक राष्ट्रवाद की उन्होंने भर्त्सना की। वे साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी थे। उन्होने इस सिद्धान्त का खंडन किया कि पिछड़े हुए राष्ट्रों की प्रगति एवं स्वतंत्रता दूसरे राज्यों के संरक्षण में रह कर ही सम्भव है। उनका विश्वास था कि प्रत्येक राष्ट्र स्वराज्य के लिये उपयुक्त होता है।

महात्मा गाघी राज्यसत्ता के विषय मे सार्वभौमवादी नही थे। उनका आदर्श था कि संसार के विभिन्न राज्य अपने लिये एक विश्व संगठन मे लीन कर समग्र एवं एकीकृत मानव समाज की स्थापना करें। यह इसलिये और आवश्यक था कि कोई राष्ट्र शेष संसार से पृथक रह कर प्रगति नही कर सकता। मानव जाति का कल्याण इसी में है कि सब राज्य मिलकर सहयोग स्थापित करें। प्राचीन हिन्दू आदर्श की भांति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श में उनकी पूर्ण श्रद्धा थी।

---

68. Young India, April 4, 1929.

आर्थिक विचार

महात्मा गांधी के आर्थिक दर्शन के मूल मंत्र अस्तेय (non-stealing) अपरिग्रह ((non-possession), रोटी के लिये श्रम (bread-labour) और स्वदेशी (swadeshi) आदि सिद्धान्त हैं। ये सब सिद्धान्त सत्य और अहिंसा में निहित हैं।

अस्तेय व्रत (vow of non-stealing)

सत्य का पालन एवं समस्त मानव जाति को प्रेम करने वाला कभी भी चोरी नही करेगा। अस्तेय अथवा चोरी न करने के सिद्धान्त की महात्मा गाधी ने व्यापक व्याख्या की है। इसका तात्पर्य किसी दूसरे की वस्तु उसकी आज्ञा के बिना लेना ही नहीं, किन्तु इसके अलावा इसका और भी व्यापक अर्थ है। एक व्यक्ति उन चीजों की प्राप्ति करे जिनकी उसे आवश्यकता नहीं; दूसरे की वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा करना; अपनी इच्छाओं में निरंतर वृद्धि करना; भविष्य में किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये पहले से ही प्रयत्न करना आदि ऐसे उदाहरण हैं जो अस्तेय व्रत के विरूद्ध हैं। वे माता-पिता जो अपने बच्चों से छिप कर कोई चीज खाते हैं, गाधीजी के अनुसार, यह भी एक प्रकार की चोरी है। महात्मा गाधी की अर्थ व्यवस्था वास्तव में अति आवश्यक और पारस्परिक कल्याण की वस्तुओ की उपलब्धि पर आधारित है। [69]

अपरिग्रह व्रत (vow of non-possession)

अपरिग्रह अस्तेय व्रत का ही विस्तार है। इसका तात्पर्य उन वस्तुओं का परित्याग है जिनकी तत्काल भविष्य में आवश्यकता न हो। पूर्ण अपरिग्रह का अर्थ पूर्ण त्याग है। इसके अंतर्गत व्यक्ति को न तो घर न कपड़े और न कल के लिये अन्न का संग्रह रखना चाहिये तथा दैनिक भोजन के लिये भगवान पर निर्भर करे। इस प्रकार अपरिग्रह का आशय भौतिक वस्तुओं पर निर्भर न रह कर व्यक्तिगत सम्पति का अंत करना है। गाधी जी का यह विचार वास्तव मे साम्यवादियों से भी अधिक उग्र है। [70]

---

69. Dhawan,G.N., The Political Philosophy of Mahatma Gandhi,p 83.
70 Ibid, p. 84

गांधीजी के अनुसार पूर्ण अपरिग्रह अव्यावहारिक है, लेकिन यदि हम शनैः शनैः अपरिग्रह के क्षेत्र में प्रयत्न करें तो हम एक सीमा तक समाज में वह समता प्राप्त कर सकते हैं जो अन्य साधनों से नहीं की जा सकती।71

गांधीजी यह भी स्वीकार करते थे कि किसी सीमा तक सुविधा एवं आराम की वस्तुएँ सत्याग्रही के नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति के लिये आवश्यक हैं। किन्तु इन आवश्यकताओं की संतुष्टि एक निश्चित सीमा तक ही होनी चाहिये, अन्यथा वह सत्याग्रही को शारीरिक और बौद्धिक दृष्टि से पतित कर देगी। सत्याग्रही को अपनी आवश्यकताओं में वृद्धि नही करनी चाहिये। उसकी आवश्यकताएँ केवल उसकी सामान्य सुविधा के ही अनुपात में होनी चाहिये। वे वस्तुएँ जो दूसरे व्यक्तियों को उपलब्ध न हों सत्याग्रही को ग्रहण नही करनी चाहिये। *सत्याग्रही सिर्फ उन वस्तुओं को ले सकता है जिनकी दूसरों को आवश्यकता नहीं हो।* ऐसी वस्तुओं की प्राप्ति करना किसी भी प्रकार की हिंसा एवं शोषण से सम्बन्धित नहीं होनी चाहिये।

ट्रस्टीशिप सिद्धान्त अथवा आदर्श (Ideal of Trusteeship)

अपरिग्रह व्रत के साथ ही गांधीजी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त जुड़ा हुआ है। गांधी जी का विश्वास था कि बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना से, या किसी अन्य प्रकार से, सम्पत्ति का संचय समाज के अन्य सदस्यों के सहयोग के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार धनवान एवं साधन-सम्पन्न व्यक्तियों को दूसरों का शोषण कर अपने हित में धन व्यय करने का कोई अधिकार नही होना चाहिये।

वैसे महात्मा गांधी, यदि अहिंसा द्वारा सम्भव हो सके तो समस्त सम्पत्ति को समाज हित में लेने के पक्ष मे थे। लेकिन जब तक साधन-सम्पन्न व्यक्ति यह करने को तैयार न हो, उन्हें अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना चाहिये। वे अपनी सम्पत्ति के ऊपर समाज की ओर से स्वयं को एक संरक्षक अथवा ट्रस्टी समझे तथा सम्पत्ति का प्रयोग समाज हित में करें।

ट्रस्टी को स्वयं भी सामाजिक कार्यकर्त्ता समझना चाहिये तथा ट्रस्टी के रूप में वे जो सेवा करें उसी अनुपात में उन्हें पारिश्रमिक मिलना चाहिये। उन्हें कितना पारिश्रमिक मिले इसका निर्धारण राज्य करेगा।

---

71. Bose, N. K., Studies in Gandhism, Calcutta, 1947, p. 201,

मूल ट्रस्टी (original turstee) को अपना उत्तराधिकारी चुनने का अधिकार हो तथा अन्तिम रूप में राज्य की स्वीकृति आवश्यक होनी चाहिये। इस प्रकार गांधीजी व्यक्ति एवं राज्य दोनों को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करते हैं। एक ट्रस्टी का उत्तराधिकारी सिर्फ समाज ही हो सकता है।

महात्मा गांधी उत्तराधिकार में प्राप्त या बिना परिश्रम के धन के विरोधी थे। जब कोई व्यक्ति अपनी ट्रस्ट-सम्पत्ति का दुरुपयोग करता है तब गांधीजी का सुझाव था कि राज्य न्यूनतम शक्ति का प्रयोग कर उस ट्रस्ट को अपने अधिकार में लेकर सुधारने का प्रयत्न करे।

महात्मा गांधी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का विवेचन करने से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं:—

प्रथम, यह सिद्धान्त वर्तमान व्यवस्था को समता पर आधारित व्यवस्था में परिवर्तन करने का प्रयत्न है। यह पूंजीवाद को कोई संरक्षण प्रदान नहीं करता बल्कि उसे स्वयं को सुधारने का एक अवसर प्रदान करता है।

द्वितीय, यह सम्पत्ति के निजी स्वामित्व को स्वीकार नही करता।

तृतीय, यह सम्पत्ति के विषय में समाज हित को ध्यान में रखते हुए राज्य हस्तक्षेप की स्वीकृति देता है।

चतुर्थ, इसके द्वारा मनुष्यों के न्यूनतम और अधिकतम आय को निश्चित करने का सुझाव मिलता है।

पंचम, आर्थिक उत्पादन सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित होना चाहिये न कि किसी की व्यक्तिगत इच्छाओं द्वारा।

ट्रस्टीशिप सिद्धान्त के विरुद्ध आलोचकों का कथन है कि पूंजीपति इस सिद्धान्त से प्रभावित नही हो सकते। वे अहिंसात्मक तरीकों से अपनी व्यवस्था में परिवर्तन नहीं करेगें। ट्रस्टीशिप सिद्धान्त पूंजीपतियों को अपनी स्थिति दूसरे ढंग से सुदृढ़ करने में सहायता देगा। इस प्रकार यह सिद्धान्त न तो प्रभावशाली है और न व्यावहारिक। गांधीजो ने इन आलोचनाओं का पूर्ण खन्डन किया है। उन्हीं के शब्दों में :—

"मेरा ट्रस्टीशिप सिद्धान्त कोई क्षणिक तथा निश्चय ही किसी प्रकार का छल नहीं है। मुझे विश्वास है कि यह अन्य सिद्धान्तों के

बाद में प्रकाशित होगा। इसके पीछे दर्शन और धर्म की शक्ति है। यदि धनी व्यक्ति इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य नहीं करता तो इससे, यह सिद्धान्त गलत नहीं हो जाता, यह उस धनी व्यक्ति की कमजोरी ही प्रदर्शित करता है। इस सिद्धान्त के अलावा और कोई सिद्धान्त अहिंसा के अनुरूप नहीं हो सकता।''[72]

शारीरिक श्रम अथवा रोटी के लिये श्रम (bread labour)

रोटी के लिये श्रम सम्बन्धी अर्थशास्त्र का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने खाने और पहनने के लिये शारीरिक श्रम करना चाहिये। रोटी जीवन की परम आवश्यकता है, इसलिये इसे प्राप्त करने के लिये उत्पादक श्रम करना आवश्यक है। जो व्यक्ति बिना शारीरिक श्रम के भोजन करता है वह चोर है, क्योंकि वे व्यक्ति जो कोई शारीरिक श्रम किये बिना ही अपनी आवश्यकताओं में निरन्तर वृद्धि करते हैं, वे दूसरों के श्रम का शोषण करते हैं।

चूंकि भोजन आवश्यकताओं में भी सबसे आवश्यक है, कृषि से सम्बन्धित श्रम ही आदर्श शारीरिक श्रम होगा। यदि यह सम्भव न हो सके तो व्यक्ति को अन्य आवश्यकताओं से सम्बन्धित श्रम जैसे, चरखा कातना, बढ़ई का कार्य, लोहार का कार्य करना चाहिये। इन सबमें गांधीजी की प्राथमिकता चरखा कातने को थी।

गांधीजी के अनुसार मस्तिष्क का कार्य (intellectual labour) शारीरिक श्रम के अन्तर्गत नही आता। शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति शारीरिक श्रम से ही होनी चाहिए। बौद्धिक श्रम का महत्व अवश्य है किन्तु यह शारीरिक श्रम का विकल्प नहीं हो सकता। किसी भी व्यक्ति को शारीरिक श्रम से छुटकारा नही मिलना चाहिये। वास्तव में शारीरिक श्रम बौद्धिक कार्य को और निखार देता है। गांधीजी का विचार था कि शारीरिक श्रम तथा बौद्धिक श्रम दोनों के लिये समान वेतन या पारिश्रमिक होना चाहिये।

रोटी के लिये श्रम को गांधीजी सर्वश्रेष्ठ सामाजिक सेवा मानते थे, किन्तु यह स्वेच्छा पर आधारित होना चाहिए। यदि मनुष्य ने शारीरिक श्रम की महत्ता को समझ लिया तो किसी भी देश में भोजन और कपड़े का अभाव नहीं

---

72. Quoted by Dhawan, G. N., The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p. 86.

हो सकता। इसके अलावा शारीरिक श्रम से शरीर स्वस्थ रहता है तथा बीमारी आदि भी पास नहीं आने पाती। रोटी के लिये श्रम बुद्धि और शरीर दोनों में समन्वय स्थापित करता है।"73

मशीनयुगीय सभ्यता का विरोध

महात्मा गांधी बड़ी-बड़ी मशीनों के व्यापक प्रयोग तथा मशीनयुगीय सभ्यता के विरोधी थे। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मशीन प्रयोग का वे पूर्णतः विरोध करते थे। उनका विश्वास था मशीन का प्रयोग तब तक ठीक है जब तक वह मनुष्य की सेवा करे, मनुष्य में गुलामी और आलस्य की प्रवृत्ति में वृद्धि न करे। वे छोटी-छोटी मशीनों के प्रयोग का स्वागत करते थे क्योंकि इससे श्रम की बचत होती है। भारत के सन्दर्भ में उनका कहना था कि बड़े पैमाने पर मशीनों का उस समय तक प्रयोग नहीं होना चाहिये जब तक भारत की महान एवं असीमित जन-शक्ति और पशु-शक्ति का उपयोग न कर लिया जाय।

मशीनयुगीय सभ्यता से, गांधीजी के अनुसार, नैतिकता का पतन हुआ है। मशीन औद्योगीकरण को जन्म देती है। औद्योगीकरण से शोषण को प्रोत्साहन मिलता है; बेकारी में वृद्धि होती है क्योंकि मनुष्य के श्रम का स्थान मशीनें ले लेती हैं; उत्पादन विशेष क्षेत्रों में केन्द्रित हो जाता है; तथा केन्द्रीकृत उत्पादन के परिणामस्वरूप राजनीतिक शक्ति का भी केन्द्रीकरण हो जाता है, जो लोकतन्त्र व्यवस्था की प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध करता है। इसके अलावा, इससे पारिवारिक एकता और बड़े परिवार के प्रति श्रद्धा को बड़ा धक्का लगता है। अन्य शब्दों में, गांधीजी का विचार था कि मशीन और मानव शक्ति का इस प्रकार समन्वय किया जाय कि मशीन को मनुष्य का स्थान न लेने दिया जाय तथा वह मानव व्यक्तित्व को न कुचल दे।74

कुटीर उद्योगों का समर्थन

औद्योगीकरण और मशीनीकरण का विकल्प, गांधीजी के अनुसार, कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देने में है। भारत की पूर्ण जन-शक्ति को रोजगार देने, आर्थिक

---

73. इस सम्बन्ध में गांधीजी के विचारों के लिये देखिये—
Harijan, June 1, 1935; Harijan, June 1, 1939; Harijan, September 7, 1947.
74. आशीर्वादम् राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ. 723.

तिस को केन्द्रीकरण से बचाने, तथा आर्थिक स्वावलम्बन के लिये गांधीजी का सुझाव था कि कुटीर उद्योगों का जाल सम्पूर्ण देश में फैला देना चाहिये। प्रत्येक घर एक छोटा-मोटा कुटीर उद्योग का रूप ग्रहण करे। कुटीर उद्योगों में गांधीजी ने चरखा तथा खादी के उपयोग का सबसे अधिक समर्थन किया। एक बार उन्होंने वचन दिया था कि यदि देश चर्खा और खादी को अपनाले तो भारत को एक वर्ष में स्वराज्य मिल सकता है। उनके लिये चरखा एक गृह उद्योग ही नहीं, वरन् अहिंसा का एक मूल स्तम्भ तथा स्वराज्य का सकाधन था।[75]

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था

गांधीजी के आर्थिक विचारों का आधार ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था थी। राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में वे चाहते थे कि प्रत्येक गांव या ग्राम-समूह में अपने उद्योग व धन्धे और उनका स्व-शासित अस्तित्व हो। भारत के गांव अपनी आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा करने में स्वयं समर्थ हों।

स्वदेशी सिद्धान्त (Doctrine of Swadeshi)

गांधी दर्शन में 'स्वदेशी' एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। वैसे स्वदेशी का तात्पर्य अपने देश की या देश में निर्मित वस्तु से है। अन्य सिद्धान्तों की भांति गांधीजी ने 'स्वदेशी' की भी व्यापक व्याख्या की है। गांधीजी इसे एक धार्मिक अनुशासन मानते थे। स्वदेशी का उद्देश्य राजनीतिक न होकर आध्यात्मिक है, जो मनुष्य को दूसरे प्राणियों के साथ आध्यात्मिक एकता स्थापित करने में सहायता प्रदान करता है। जीवन का अंतिम उद्देश्य सांसारिक बंधनों से आत्मा को मुक्ति दिलाना है। जब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक मनुष्य को चाहिये कि ईश्वर द्वारा बनाये गये अन्य प्राणियों की सेवा कर ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करे। स्वदेशी सिद्धान्त इस ओर मार्ग प्रदर्शन करता है। यह दूसरे प्राणियों की सेवा करने की एक विधि बतलाता है। इसी आधार पर गांधीजी ने स्वदेशी की यह परिभाषा दी है:—

> "स्वदेशी हममें वह चित्तवृत्ति (spirit) है जो हमें दूर के क्षेत्रों को छोड़कर अपने निकट रहने वालों की सेवा के लिये बाध्य करती

---

75. Tandulkar, D. G., Mahatma, Life of Mohandas Karamchand Gandhi, vol. V, p. 321.

है। स्वदेशी चित्तवृत्ति हमें दूसरों को छोड़कर अपने पास-पड़ोसियों की सेवा की आज्ञा देती है। केवल शर्त यह है कि जिस पड़ोसी की इस प्रकार सेवा की गयी है वह भी अपने पड़ोसियों की इसी प्रकार सेवा करे।"76

स्वदेशी एक उच्च स्तर की आध्यात्मिक देश-भक्ति है। इसका तात्पर्य है कि हम दूसरे देश की अपेक्षा अपने देश की सेवा को प्राथमिकता दें तथा देश के अन्तर्गत हम दूरस्थ रहने वालों की अपेक्षा निकट रहने वालों की सेवा करें। स्वदेशी की व्याख्या करते हुए सी. एफ एन्ड्रयूज (C. F. Andrews) ने लिखा है:—

"महात्मा गांधी के लिए स्वदेशी वह सिद्धान्त है कि प्रत्येक चीज़ की अपेक्षा अपने निकट क्षेत्र को प्राथमिकता दी जाय; तथा मनुष्य की जन्म-भूमि दूसरो की अपेक्षा पहिले श्रद्धा की पात्र है। इसके अलावा गांधीजी के लिये इसका यह भी तात्पर्य था कि अपने धर्म को छोड़ दूसरे धर्म को अंगीकार करने की तो कल्पना भी नहीं होनी चाहिये।" 77

स्वदेशी सिद्धान्त के अनुसार हमें स्वयं की आदर्श संस्थाओं का अनुसरण करना चाहिये। लेकिन इसका तात्पर्य उनका अंधानुकरण नहीं होना चाहिये। यदि आवश्यक हो तो उनमें दूसरों के अनुभव से सुधार करने के लिये तैयार रहना चाहिये।

स्वदेशी का सिद्धान्त अपने पड़ोसियों से लेकर सम्पूर्ण विश्व को अपने में समा लेता है। सेवा की चक्र-वृद्धि धीरे-धीरे क्षमता के अनुसार होती रहती है। जब हम अपने निकटस्थ लोगों की सेवा कर चुकें तो फिर अपने ग्राम, क्षेत्र, देश तथा अंत में समस्त विश्व की सेवा के लिये आगे बढ़ना चाहिये। स्वदेशी के अनुसार सेवा क्षेत्र केवल अपने समुदाय तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति इसके अंतर्गत आ जाती है।

स्वदेशी सिद्धान्त में गांधीजी ने दूर के लोगों की अपेक्षा अपने निकटस्थ व्यक्तियों की सेवा करने का जो सुझाव दिया है उसके उन्होंने कई कारण दिये

---

76. Harijan, March 23, 1947, p. 79.
77. Andrews, C. F., Mahatma Gandhi's Ideas, George Allen and Unwin Ltd., London, 1949. p. 118.

हैं। मनुष्यों में सेवा-सामर्थ्य सीमित होती है इसलिये यदि वह निकटस्थ व्यक्तियों की सेवा कर ले तो वह भी पर्याप्त होगा। विश्व के विषय में हमारा ज्ञान भी पर्याप्त नहीं होता, इस प्रकार विश्व की सेवा करना आसान भी नहीं है। यदि कोई व्यक्ति केवल दूर रहने वालो की ही सेवा करता है तब वह अपने निकट रहने वालों की सेवा नहीं कर सकता। गांधीजी गीता की पंक्तियों को इस सम्बन्ध में उद्धृत किया करते थे जिसका तात्पर्य है कि मनुष्य को अपने कर्त्तव्य या स्वधर्म पालन करते हुए मृत्यु को प्राप्त होना उत्तम है। यह बात स्वदेशी के साथ भी सत्य है।

स्वदेशी के सांस्कृतिक,आध्यात्मिक,भौतिक,राजनीतिक और सामाजिक आदि कई पक्ष हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र में स्वदेशी सिद्धान्त का तात्पर्य भारत में ग्रामीण सभ्यता में पूर्ण आस्था रखना है। आध्यात्मिक एवं नैतिक क्षेत्र में स्वदेशी का तात्पर्य भारत की दार्शनिक परम्पराओं का पालन करना है। धर्म के विषय में स्वदेशी का आशय अपने प्राचीन धर्म का पालन करना है। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में स्वदेशी का तात्पर्य अपने देश की संस्थाओ में सुधार कर उन्हें आधुनिक बनाना, शिक्षा के क्षेत्र में प्राचीन आदर्शों का पालन करना है।

आर्थिक स्वदेशी का तात्पर्य स्वावलम्बन से है। प्रत्येक ग्राम तथा देश अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं मे स्वावलम्बी हो। विदेशो से केवल उन्ही वस्तुओं का आयात करना चाहिये जो जीवन विकास के लिये आवश्यक हों। एक व्यापकरूप में स्वदेशी का तात्पर्य अपने घर या देश में निर्मित वस्तुओं के प्रयोग से है-लेकिन आवश्यकतानुसार बाहर से भी वस्तुएं मंगायी जा सकती हैं।

स्वदेशी सिद्धान्त की यह माग है कि विदेशी वस्त्रो का प्रयोग न करना, क्योकि हम अपने देश में अपनी आवश्यकता अनुसार कपड़े का निर्माण कर सकते हैं। खादी उद्योग का विकास स्वदेशी की आत्मा है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को आजीविका कमाने का साधन प्राप्त हो सकता है।

सामाजिक विचार

स्वाधीनता आन्दोलन के साथ-साथ महात्मा गाधी ने सामाजिक सुधारो के प्रति भी अधिक ध्यान दिया। उनका कहना था कि समाज सुधार का काम राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के साथ-साथ चलना चाहिए। इसलिये गांधीवादी विचारधारा में रचनात्मक कार्यों को बहुत महत्व दिया गया है।

है। स्वदेशी चित्तवृत्ति हमें दूसरों को छोड़कर अपने पास-पड़ोसियों की सेवा की आज्ञा देती है। केवल शर्त यह है कि जिस पड़ोसी की इस प्रकार सेवा की गयी है वह भी अपने पड़ोसियों की इसी प्रकार सेवा करे।"76

स्वदेशी एक उच्च स्तर की आध्यात्मिक देश-भक्ति है। इसका तात्पर्य है कि हम दूसरे देश की अपेक्षा अपने देश की सेवा को प्राथमिकता दें तथा देश के अंतर्गत हम दूरस्थ रहने वालों की अपेक्षा निकट रहने वालों की सेवा करें। स्वदेशी की व्याख्या करते हुए सी. एफ. एन्ड्रूज (C. F. Andrews) ने लिखा है:—

> "महात्मा गांधी के लिए स्वदेशी वह सिद्धान्त है कि प्रत्येक चीज की अपेक्षा अपने निकट क्षेत्र को प्राथमिकता दी जाय; तथा मनुष्य की जन्म-भूमि दूसरो की अपेक्षा पहिले श्रद्धा को पात्र है। इसके अलावा गांधीजी के लिये इसका यह भी तात्पर्य था कि अपने धर्म को छोड़ दूसरे धर्म को अंगीकार करने की तो कल्पना भी नहीं होनी चाहिये।" 77

स्वदेशी सिद्धान्त के अनुसार हमें स्वयं की आदर्श संस्थाओं का अनुसरण करना चाहिये। लेकिन इसका तात्पर्य उनका अंधानुकरण नहीं होना चाहिये। यदि आवश्यक हो तो उनमें दूसरो के अनुभव से सुधार करने के लिये तैयार रहना चाहिये।

स्वदेशी का सिद्धान्त अपने पड़ोसियों से लेकर सम्पूर्ण विश्व को अपने में समा लेता है। सेवा की चक्र-वृद्धि धीरे-धीरे क्षमता के अनुसार होती रहती है। जब हम अपने निकटस्थ लोगों की सेवा कर चुकें तो फिर अपने ग्राम, क्षेत्र, देश तथा अंत में समस्त विश्व की सेवा के लिये आगे बढ़ना चाहिये। स्वदेशी के अनुसार सेवा क्षेत्र केवल अपने समुदाय तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति इसके अंतर्गत आ जाती है।

स्वदेशी सिद्धान्त में गांधीजी ने दूर के लोगों की अपेक्षा अपने निकटस्थ व्यक्तियों की सेवा करने का जो सुझाव दिया है उसके उन्होंने कई कारण दिये

76. Harijan, March 23, 1947, p. 79.
77. Andrews, C. F., Mahatma Gandhi's Ideas, George Allen and Unwin Ltd., London, 1949. p. 118.

हैं। मनुष्यों में सेवा-सामर्थ्य सीमित होती है इसलिये यदि वह निकटस्थ व्यक्तियों की सेवा कर ले तो वह भी पर्याप्त होगा। विश्व के विषय में हमारा ज्ञान भी पर्याप्त नहीं होता, इस प्रकार विश्व की सेवा करना आसान भी नहीं है। यदि कोई व्यक्ति केवल दूर रहने वालों की ही सेवा करता है तब वह अपने निकट रहने वालो की सेवा नहीं कर सकता। गांधीजी गीता की पंक्तियों को इस सम्बन्ध में उद्धृत किया करते थे जिसका तात्पर्य है कि मनुष्य को अपने कर्त्तव्य या स्वधर्म पालन करते हुए मृत्यु को प्राप्त होना उत्तम है। यह बात स्वदेशी के साथ भी सत्य है।

स्वदेशी के सांस्कृतिक,आध्यात्मिक,भौतिक,राजनीतिक और सामाजिक आदि कई पक्ष हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र में स्वदेशी सिद्धान्त का तात्पर्य भारत में ग्रामीण सभ्यता में पूर्ण आस्था रखना है। आध्यात्मिक एवं नैतिक क्षेत्र में स्वदेशी का तात्पर्य भारत की दार्शनिक परम्पराओं का पालन करना है। धर्म के विषय में स्वदेशी का आशय अपने प्राचीन धर्म का पालन करना है। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में स्वदेशी का तात्पर्य अपने देश की संस्थाओं में सुधार कर उन्हें आधुनिक बनाना, शिक्षा के क्षेत्र में प्राचीन आदर्शों का पालन करना है।

आर्थिक स्वदेशी का तात्पर्य स्वावलम्बन से है। प्रत्येक ग्राम तथा देश अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं में स्वावलम्बी हो। विदेशों से केवल उन्ही वस्तुओं का आयात करना चाहिये जो जीवन विकास के लिये आवश्यक हों। एक व्यापकरूप में स्वदेशी का तात्पर्य अपने घर या देश में निर्मित वस्तुओं के प्रयोग से है-लेकिन आवश्यकतानुसार बाहर से भी वस्तुएं मंगायी जा सकती हैं।

स्वदेशी सिद्धान्त की यह मांग है कि विदेशी वस्त्रों का प्रयोग न करना, क्योंकि हम अपने देश में अपनी आवश्यकता अनुसार कपड़े का निर्माण कर सकते हैं। खादी उद्योग का विकास स्वदेशी की आत्मा है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को आजीविका कमाने का साधन प्राप्त हो सकता है।

सामाजिक विचार

स्वाधीनता आन्दोलन के साथ-साथ महात्मा गांधी ने सामाजिक सुधारों के प्रति भी अधिक ध्यान दिया। उनका कहना था कि समाज सुधार का काम राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के साथ-साथ चलना चाहिए। इसलिये गांधीवादी विचारधारा में रचनात्मक कार्यों को बहुत महत्व दिया गया है।

सामाजिक सुधार के क्षेत्र में महात्मा गांधी के विचार वर्ण-व्यवस्था, अस्पृश्यता, स्त्री-उत्थान, शिक्षा तथा साम्प्रदायिक एकता के विषय में अधिक महत्वपूर्ण हैं।

वर्ण-व्यवस्था के विषय में महात्मा गाधी का दृष्टिकोण अन्य समाज सुधारकों से भिन्न था। सामान्यतः वर्ण-व्यवस्था को जाति-पांति के भेदभाव से जोड़ा जाता है। किन्तु गाधीजी वर्ण-व्यवस्था को एक वैज्ञानिक व्यवस्था तथा सामाजिक विकास के लिये आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार वर्ण-व्यवस्था सामाजिक असमानता को प्रोत्साहित करने में सहायक नहीं होनी चाहिये। वे वर्ण-व्यवस्था को जन्म और कर्म दोनों ही दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण मानते थे। जन्म के दृष्टिकोण से व्यक्ति को अपना पैतृक पेशा नही छोड़ना चाहिए, क्योंकि सामाजिक उपयोगिता का प्रत्येक कार्य आवश्यक होता है। भंगी के काम का भी उतना ही महत्व है जितना कि प्रशासक, तकनीशियन, अध्यापक आदि के काम का। कर्म के आधार पर, गाधीजी के अनुसार, कोई भी व्यक्ति किसी भी वर्ण से सम्बन्धित हो सकता है।

अस्पृश्यता हिन्दू समाज में सदियों से चली आ रही थी, जो एक प्रकार से सामाजिक अभिशाप सिद्ध हुई। इसने देश की एकता को विघटित किया, सामाजिक असमानता को प्रोत्साहित किया तथा निर्बल वर्ग के शोषण में सहायक हुई। गांधीजी ने इस सामाजिक कलंक को मिटाने का भागीरथी प्रयत्न किया। उन्होंने अस्पृश्यता को एक पाप बतलाया जिसका अंत होना ही चाहिए। उन्होंने शूद्रों को प्रतिष्ठित एवं सम्मानित करने का पूर्ण प्रयत्न किया। वे उन्हें 'हरिजन' नाम से सम्बोधित करते थे। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि हरिजनों को मन्दिरों में प्रवेश करने तथा समाज के अन्य वर्गों के साथ पूजा एवं उपासना का अधिकार होना चाहिये।

महात्मा गांधी साम्प्रदायिक एकता के प्रबल समर्थक थे। धर्म के सम्बन्ध मे उनके विचार उदार थे ही। वे सब धर्मोको आदरसमान दृष्टि से देखते थे तथा सभी को एक मोक्ष का साधन मानते थे। इसलिये उनका कहना था कि धर्म के आधार पर आपस में लड़ना बुद्धिहीनता है। उनका विश्वास था कि साम्प्रदायिक एकता, विशेषकर हिन्दु-मुस्लिम एकता के बिना, न तो सामाजिक प्रगति हो सकती है और न स्वराज ही मिल सकता है। राजनीति में वे धर्म-निरपेक्षता के समर्थक थे। महात्मा गांधी की सभाओं में जो प्रार्थनाएं होती थीं वे साम्प्रदायिक एकता की ही अभिव्यक्ति हैं।

स्त्री-सुधार के क्षेत्र में गांधीजी ने पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, देवदासी प्रथा आदि बुराइयों का डटकर विरोध किया। वे स्त्रियों को जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों के समान अधिकार देने के पक्ष में थे। वे कहा करते थे स्त्रियों को अबला कहना उनका अपमान करना है। कुछ गुणों में स्त्रियां पुरुषों से भी अधिक आगे होती हैं। नैतिक बल, त्याग, सहन-शक्ति और अहिंसा स्त्रियों में पुरुषों से अधिक देखने को मिलती है। उनका कहना था कि यदि अहिंसा हमारे जीवन का अंग बन गया तो भविष्य स्त्रियों के हाथों में होगा।

महात्मा गांधी मदिरापान के विरुद्ध थे। मद्य-निषेध गांधीवाद के सामाजिक कार्यक्रम का अंग है। मद्य-निषेध के विषय में राजकीय सरकारों ने कुछ प्रयत्न अवश्य किये है किन्तु आजकल इस विषय में ढिलाई आती जा रही है।

महात्मा गांधी ने देश को एक नई शिक्षा प्रणाली दी जिसे बुनियादी शिक्षा (Basic Education) कहते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा भारतीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में बुनियादी शिक्षा एक महत्वपूर्ण योगदान था। बुनियादी शिक्षा की निम्नलिखित विशेषताएं हैं:—

(i) बुनियादी शिक्षा दस्तकारी के आधार पर होनी चाहिये।

(ii) शिक्षा स्वावलम्बी हो ताकि विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के साथ-साथ स्वयं का खर्च भी चला सके।

(iii) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिये।

इन शिक्षा-सिद्धान्तों को हम आज भी मान्यता देते हैं।

गांधीवाद तथा मार्क्सवाद

महात्मा गांधी के कुछ समर्थक जिनका झुकाव साम्यवाद की ओर भी है, गांधीवाद और मार्क्सवाद (तथा साम्यवाद भी) में कोई विशेष अन्तर नहीं मानते। विशेषत: वे गांधीवाद और मार्क्सवाद की कुछ प्रमुख समानताओं का उदाहरण देते हैं। उनका कहना है कि गांधीवाद और मार्क्सवाद राज्य-रहित समाज में विश्वास करते है। दोनों विचारधाराएं सभी प्रकार के शोषण के विरूद्ध है। दोनों ही व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा लाभ को कोई मान्यता नहीं देते। वे सम्पत्ति के सामाजीकरण के पक्ष में हैं।

गांधीवाद और मार्क्सवाद में कुछ बाह्य समानता अवश्य प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में इनमें कोई समान आधार नहीं है। किशोरीलाल मशरूवाला ने अपनी पुस्तक 'गांधी और मार्क्स' में इन दोनों विचार धाराओं की भिन्नता के विषय में लिखा है:—

> "गांधीवाद और साम्यवाद एक दूसरे से इतने भिन्न हैं जैसे लाल से हरा रंग भिन्न होता है; यद्यपि हम जानते है कि आंख के उस रोगी को जिसे रंग भेद की पहचान नहीं होती, दोनों समान प्रतीत हो सकते हैं। दोनों विचारधाराएं बेमेल हैं; उनका अन्तर मूलभूत है और वे एक दूसरे की कट्टर विरोधी हैं।" 78

मानव स्वभाव के विषय में दोनों दर्शनों के दृष्टिकोणों में भिन्नता है। महात्मा गांधी पूंजीपतियों के हृदय परिवर्तन में आस्था रखते थे तथा उनका विश्वास था कि पूंजीपति अपनी सम्पति का प्रयोग स्वार्थ में नहीं सामाजिक हित में करेंगे। मार्क्सवाद पूंजीपतियों को शोषक, अत्याचारी, स्वार्थी मानता है,जो स्वेच्छा से नहीं,हिंसात्मक तरीकों से ही अपनी सम्पत्ति का परित्याग करेंगे।

धर्म एवं राजनीति के सम्बन्ध में मार्क्सवाद और गांधीवाद दो अलग-अलग ध्रुव जैसे हैं। इस ध्रुवीकरण का कारण था कि मार्क्स मूलतः भौतिकवादी तथा धर्म विरोधी था। गांधी जी ने कहा था कि जहां तक मार्क्सवाद "हिंसा तथा ईश्वर के निषेध पर आधारित है, यह मुझे अस्वीकृत है।" मार्क्सवाद के विपरीत गांधीवाद आत्मा, ईश्वर के प्रति श्रद्धा तथा धर्म सिद्धान्तों पर आधारित है। गांधीवादी भवन धर्म-नीव पर स्थापित है। धर्म से पृथक राजनीति, गांधी जी के लिये, मौत का फन्दा जैसी थी। वे मार्क्स की तरह धर्म का राजनीति से किसी भी तरह बहिष्कार करने को तैयार नहीं थे। अन्य शब्दों में, मार्क्सवाद भौतिकवादी है, जबकि गांधीवाद को आध्यात्मवाद से अभिन्न नहीं किया जा सकता।

मार्क्सवाद के अन्तर्गत साम्यवादी व्यवस्था राज्य-विहीन होगी, किन्तु वास्तव में मार्क्सवाद पर आधारित व्यवस्था समग्रवादी होती है जिसमें व्यक्ति और समाज के सम्पूर्ण जीवन को नियन्त्रण में रखा जाता है। गांधीवादी आदर्श

78. गांधीवाद और मार्क्सवाद की तुलना के लिये किशोरीलाल मशरूवाला की यह पुस्तक उत्तम विवेचन प्रस्तुत करती है, जो विशेष अध्ययन के लिये उपयोगी सिद्ध होगी।

समाज में राज्य को कोई स्थान नही है लेकिन व्यावहारिक व्यवस्था के रूप में राज्य को एक आवश्यक बुराई माना जाता हैं। गांधीवादी राज्य कम से कम कार्य तथा व्यक्ति के जीवन में कम से कम हस्तक्षेप करने वाली संस्था होगा।

गाधीवाद विकेन्द्रित प्रजातंत्र का समर्थक है जहां सत्ता ग्रामों और पंचायतों में विभाजित होगी। गाधीजी राज्य, किसी वर्ग विशेष या किसी राजनीतिक दल के अधिनायकत्व में विश्वास नहीं करते। मार्क्सवादी, क्रान्ति के उपरान्त सर्वहारा तानाशाही की स्थापना चाहते हैं। मार्क्सवाद पर आधारित साम्यवादी व्यवस्था में वास्तविक सत्ता मुट्ठी भर साम्यवादी नेताओं के हाथों में रहती है, जन-साधारण में नही।

मार्क्सवाद बड़े-बड़े उद्योगा का विरोध नही करता। मार्क्सवादी-भौतिकवादी समाज के लिये बड़े-बड़े उद्योगों का विकास आवश्यक है। मार्क्सवादी विचारधारा श्रमिक समर्थक है तथा औद्योगिक मजदूर वर्ग इसे आसानी या अन्धानुभाव से ग्रहण करने वाला माना जाता है। इसलिये बड़े-बड़े उद्योगों का मार्क्सवाद-साम्यवाद आदि में और भी महत्वपूर्ण स्थान है।

इसके विपरीत गाधीवाद बड़े-बड़े उद्योगों तथा मशीनी सभ्यता के विरुद्ध हैं। गाधीवाद घरेलू उद्योग तथा छोटी-मोटी मशीनों द्वारा चालित उद्योगों का समर्थक है।

गांधीवाद मार्क्सवाद की तुलना में अधिक व्यापक विचारधारा है। मार्क्सवाद एक तरह से श्रमिकों का दर्शन है। इसमें भौतिकवाद को ही प्राथमिकता दी गयी है। जब कि गाधीवाद दरिद्र वर्ग का, जिसमें श्रमिक भी सम्मिलित है, कल्याण चाहता है। साथ ही साथ इसमें समस्त वर्गों के कल्याण की बात कही जाती है। गांधीवाद का उद्देश्य सर्वोदय है।

गांधीवाद प्रेम और सहयोग के सिद्धान्त में आस्था रखता है तथा सभी वर्गों में समानता एवं सामंजस्य स्थापित करने पर बल देता है। मार्क्सवाद वर्ग-संघर्ष हिंसा, तथा पूंजीपतियों के प्रति घृणा पर आधारित है।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि गांधीवाद हिंसा रहित साम्यवाद है। इससे यह आभास होता है कि यदि मार्क्सवाद से हिंसा (क्रान्ति) के तत्व को निकाल दिया जाय तो मार्क्सवाद एवं गाधीवाद में कोई अन्तर नहीं रहेगा। इसमे सन्देह नही कि गांधीजी ने साधन पर सबसे अधिक बल दिया तथा

मार्क्सवाद से हिंसा के अभाव वाला तत्व अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। मार्क्सवाद से हिंसा को अलग करने से मार्क्सवाद एक विष-रहित सर्प जैसा हो जायगा। किन्तु हिंसा-रहित मार्क्सवाद और गांधीवाद में फिर भी व्यापक अन्तर विद्यमान रहता है, दोनों में मौलिक भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। मार्क्सवाद और गांधीवाद साधनों के विषय में पूर्णतः स्पष्ट हैं। मार्क्सवाद क्रान्ति पर आधारित है। पूंजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन के लिये इसमें वर्ग-संघर्ष, हिंसा तथा सभी प्रकार के साधन मान्य हैं। इसके विपरीत गांधीवाद पवित्र एवं नैतिक साधनों पर आधारित है। अच्छे साध्यों की प्राप्ति अच्छे साधनों द्वारा ही होनी चाहिये। ये साधन सत्य एवं अहिंसा से पृथक नहीं हो सकते। वास्तव में सत्याग्रह मार्क्सवादी क्रान्ति से भी अधिक प्रभावी सिद्ध हुआ। 79

एक उल्लेखनीय पुस्तक—Indian Way To Socialism—में गांधीवाद और मार्क्सवाद के विषय में निम्नलिखित विवरण दिया है:—

"मार्क्सवाद भौतिकवाद पर आधारित है। मार्क्सवाद में समस्त सामाजिक परिवर्तनों की कुंजी मानव जीवन के भौतिकवादी आधार में निहित हैं; दूसरी ओर गाधीजी के अनुसार सामाजिक प्रगति का आधार पदार्थ (matter) नहीं बल्कि विचार (mind) है। मार्क्स आर्थिक तर्कों पर समाजवाद के अवश्यम्भावीपन को सिद्ध करता है; जबकि गाधीजी नैतिक आधारो पर। मार्क्स के अनुसार इच्छाओं में वृद्धि एक अच्छा उद्देश्य है; गांधीजी का आदर्श इच्छाओं पर नियंत्रण रखना है। वर्ग-संघर्ष तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त-मार्क्स के अनुसार, समाजवाद की प्राप्ति की ओर आवश्यक कदम है; किन्तु गांधीजी सत्याग्रह एवं ट्रस्टीशिप में विश्वास रखते हैं। इन तथा अन्य मतभेदों के होते हुए भी मार्क्स तथा गांधीजी लाभ प्रवृत्ति वाले पूंजीवादी समाज के विरोधी थे तथा दोनों ने ही शोषित तथा निर्धनों के कल्याण हेतु अपने लिए समर्पित कर दिया था।"80

---

79. Kriplani, J.B., Gandhi: His Life and Thuoght, pp 416-17.
80. Kamla Gadre, Indian Way to Socialism, Vir Publishing House, New Delhi, 1966, p. 27.

मार्क्सवादी तथा गांधीवादी आदर्श में कुछ समताएं हो सकती हैं, किन्तु मार्क्सवाद पर आधारित साम्यवादी राज्यों में जिस प्रकार की शासन व्यवस्था अभी प्रचलित है, इसमें तथा गांधीवाद में कोई भी सामान्य आधार नहीं हो सकता।

क्या गांधीजी समाजवादी थे ?

गांधीवाद और साम्यवाद में व्यापक अन्तर पहिले ही स्पष्ट है। महात्मा गांधी के विचारों के विषय मे यह कुछ निश्चयतापूर्वक ही कहा जाता है कि वे समाजवादी थे। गांधीवादी चिन्तकों में यह भी एक विवादास्पद प्रश्न बन गया है। कुछ गांधीवादी समर्थकों, जैसे श्री मोरारजी देसाई, ने महात्मा गाधी को समाजवादी माना है, तथा श्री राजगोपालाचारी एवं आचार्य कृपलानी जैसे गांधीवादियों ने इसका विरोध किया है।

डा. मजुमदार का कथन है कि महात्मा गांधी ने अपने जीवन के अन्तिम दो वर्षों में भारत में एक समाजवाद राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया। वे गांधीजी के समाजवादी विचारों की खोज 1910 से करते हैं, जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में जोहेन्सबर्ग के निकट टॉलस्टॉय फार्म (Tolstoy Farm) की स्थापना की। इस फार्म पर लगभग बयालीस पुरुष, महिलाएं तथा बच्चे रहते थे। प्रत्येक को प्रतिदिन कुछ शारीरिक श्रम करना पड़ता था। फार्म पर सभी सम्प्रदाय के लोग थे, वे एक साथ भोजन करते थे तथा परिवार की तरह रहते थे।[81]

इसके विपरीत कमला गर्दे द्वारा लिखित पुस्तक—Indian Way to Socialism[82]—में गांधीवाद के समाजवादी दावे का पूर्ण खन्डन किया गया है। इस पुस्तक ने ट्रस्टीशिप सिद्धान्त पर बड़ा ही कड़ा प्रहार किया है। इस सिद्धान्त को एक सनक तथा समाजवाद से कोसों दूर बतलाया गया है।

महात्मा गांधी से कई बार पूछा गया कि क्या वे समाजवादी हैं ? इस सम्बन्ध में उनके उत्तरों की व्याख्या 'हाँ' तथा 'ना' दोनों में ही की जा सकती है। वास्तव में गांधीजी ने इसका स्पष्ट उत्तर कभी नहीं दिया। सम्भवतः वे

---

81. Majumdar, B.B, Gandhian Concept of State, p. 182.
82. Published by Vir Publishing House, New Delhi, 1966, The preface f this book is by Dr. V. K. R. V. Rao.

अपने लिये दोनों पक्षों में रखना चाहते थे। इस प्रकार इस विवाद की अनिश्चितता में वृद्धि करने में गांधीजी स्वयं ही उत्तरदायी थे।

1927 और 1929 के मध्य पं. जवाहरलाल नेहरू बड़े प्रभावशाली ढंग से गणतान्त्रिक समाजवाद के पक्ष में अपने विचार व्यक्त कर रहे थे। उस समय गांधीजी ने पं. जवाहरलाल नेहरू से आग्रह किया कि वे इस सम्बन्ध में कोई शीघ्रता न करें तथा पश्चिमी समाजवाद का अन्धा अनुसरण न करें।[83] एक स्थल पर उन्होंने कहा—

> "मेरे समाजवाद का तात्पर्य सर्वोदय है। मैं समाजवाद की स्थापना अन्धे, बहरे और गूंगों की राख के ऊपर नहीं करना चाहता। पश्चिमी समाजवाद में इन लोगों को कोई स्थान नहीं। उनका मुख्य उद्देश्य केवल भौतिक प्रगति है।"[84]

महात्मा गांधी के समाजवादी होने के विषय में दो बातें स्पष्ट हैं। प्रथम, जैसा कि पाश्चात लेखक समाजवाद का अर्थ समझते हैं महात्मा गांधी उस अर्थ में समाजवादी नहीं थे। कभी-कभी वे अपने लिये समाजवादी कहते थे जिसका श्रोत वे ईशोपनिषद (Isopanishad) तथा भगवत् पुराण को मानते थे। भागवत में उल्लेख है :—

> यावद् भ्रियते जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
> अधिकमं योऽभिमन्येत सः स्तेनो दण्डमर्हति॥

अर्थात एक व्यक्ति सिर्फ उतना ही प्राप्त करने का अधिकारी है जितना उसके पेट के लिये आवश्यक है। जो इससे अधिक लेता है वह चोर है, तथा जो एक चोर को दण्ड मिलता है वह उसे भी मिलना चाहिये।[85]

द्वितीय, गांधीजी जब अपने लिये समाजवादी कहते थे उसका तात्पर्य यह था किन्हीं क्षेत्रों में उनके तथा समाजवादी विचार मेल खाते थे। जैसे, दोनों ही समानता, स्वतन्त्रता, निर्धन वर्ग का उत्थान का समर्थन करते हैं।

83. Nehru, Jawahar Lal, A Bunch of Old Letters, pp. 55--56
84. Tandulkar, D G., Mahatma, : Life of Mohandas Karamchand Gandhi, 1953, vol. VII, pp. 190--91.
85. Majumdar, B. B., *Gandhian Concept of State*, p. 183.

समाजवाद की तरह महात्मा गांधी भूमि पर निजी स्वामित्व के विरोधी थे। या, यह कहना उपयुक्त होगा कि वे सभी प्रकार की निजी सम्पत्ति के विरुद्ध थे। उनके विचार से 'सम्पत्ति समाज की, भूमि गोपाल की'' है। अन्य शब्दों में, वे सम्पत्ति के सामाजीकरण के पक्ष में थे।

इसके अलावा दोनों ही विचारधाराएँ—

(i) प्रजातन्त्र में विश्वास करती है;

(ii) मानवतावादी हैं;

(iii) शोषण के विरुद्ध है; तथा

(iv) समाज के सभी वर्गों के हितों का ध्यान रखती हैं।

लेकिन ये समानताएँ दोनों विचारधाराओं को एक ही नहीं बना देतीं। दोनों में मूलभूत अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रथम, समाजवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिये राज्य एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण माध्यम माना जाता है। किन्तु महात्मा गांधी सैद्धान्तिकरूप से राज्य संस्था में ही विश्वास नहीं करते। सिर्फ व्यावहारिक दृष्टि से वे राज्य की सीमित उपयोगिता स्वीकार करते हैं, पर वह भी एक आवश्यक बुराई के रूप में।

द्वितीय, समाजवाद सामान्यतः केन्द्रीकरण को प्रोत्साहित करता है, जब कि गांधीवाद विकेन्द्रित व्यवस्था का समर्थक है।

तृतीय, समाजवाद मूलतः भौतिकवादी है जबकि गांधीवाद आध्यात्मवादी है।

इस भिन्नता का तात्पर्य यह नहीं है कि गांधीवाद और समाजवाद दो विरोधी विचारधाराएँ हैं। वास्तव में गांधीवाद एक व्यापक विचारधारा है तथा उसकी अलग-अलग दृष्टिकोण से व्याख्या की जाय तो वह सभी विचारधाराओं के निकट है। किन्तु गांधीवाद न तो मार्क्सवाद है और न समाजवाद। गांधीवाद सिर्फ गांधीवाद ही है।

मूल्यांकन

गांधीवाद जितना व्यापक विचार-समूह है उतनी ही व्यापक इसकी समीक्षा हुई है। गांधीवाद की आलोचना विभिन्न दृष्टिकोणों से हुई है। यद्यपि आलोचकों के तर्कों में सत्यता का अंश तो है, उन्हें पूर्णतः सही नहीं माना जा सकता।

वैसे गांधीजी ने एक उच्च कोटि के मनोवैज्ञानिक होने का परिचय दिया है, पर आलोचकों का कहना है कि मानव स्वभाव के सम्बन्ध में उनके विचार मनोवैज्ञानिक आधार पर सही नहीं कहे जा सकते। गांधीजी व्यक्ति में केवल अच्छाइयों का ही दर्शन करते हैं और इसी आधार पर उन्होंने सिद्धान्त रूपी मीनारें खड़ी की हैं। किन्तु मानव स्वभाव के विषय में सत्यता यह है कि उसमें अच्छे और बुरे दोनों पक्ष होते है। सभी लोगों से सत्य, अहिंसा, त्याग, सहयोग, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि की अपेक्षा करना एक भूल होगी।

गांधीवादी दर्शन के विरुद्ध एक मुख्य आक्षेप यह है कि यह वास्तविकता से परे तथा कल्पना प्रधान है। इसमें आदर्शवाद की प्रमुखता और व्यावहारिकता का अभाव है। गांधीजी द्वारा सत्य, अहिंसा के सिद्धान्त; उनके राज्य सम्बन्धी विचार; स्वदेशी एवं ट्रस्टीशिप सिद्धान्त आदि में आदर्श तत्वों की मात्रा अधिक है। गांधीजी अहिंसा पर अधिक बल देते हैं तथा विदेशी आक्रमण का सामना करने और विदेशी नियन्त्रण से मुक्ति पाने के लिये वे अहिंसात्मक साधनों का सुझाव देते हैं। सीमित रूप मे यह प्रभावकारी हो सकता है। परन्तु हिटलर या साम्यवादी शासन या सैनिक शासन,अथवा वियतनाम से विदेशी सैनिकों के नियन्त्रण से मुक्ति प्राप्त करना आदि अहिंसात्मक साधनों द्वारा सम्भव नहीं हो सकता। बांगला देश में पाकिस्तानी सैनिकों के समक्ष सत्याग्रही साधनो का प्रभावशाली होना बहुत कुछ संदिग्ध था। इसी प्रकार अहिंसात्मक राज्य में पुलिस और सेना से अहिंसा की अपेक्षा नहीं की जा सकती। महात्मा गांधी का अहिंसा-सिद्धान्त विवेक पर नही, आस्था पर आधारित है। इस सिद्धान्त को धर्म के रूप में वे ही स्वीकार कर सकते हैं जिन्हें ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म आदि में श्रद्धा हो। अहिंसा का प्रयोग महात्मा गाधी जैसे हो व्यक्ति कर सकते हैं, यह सामान्य एवं औसत आदमी के बस की बात नहीं।

महात्मा गांधी ने वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध मे जो विचार व्यक्त किये हैं वे वर्तमान समय के अनुकूल नहीं। वर्ण व्यवस्था मध्ययुगीय समाज के लिये उपयुक्त हो सकती थी, किन्तु आज उद्योग-धन्धों के स्वरूप, मनुष्य के स्वभाव एवं रुचि

आदि में इतना परिवर्तन हुआ है कि वर्ण-व्यवस्था का पालन आसान नहीं रहा। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने पैतृक पेशे तक ही सीमित रहे तो उसकी और समाज दोनों की ही प्रगति अवरूद्ध हो जायगी। आज का समाज मूलतः औद्योगिक समाज है। जिसका प्रबन्ध वर्ण-व्यवस्था के आधार पर नही हो सकता। नित नये नये उद्योग धन्धों की स्थापना होती है और यदि हर एक व्यक्ति अपना पेशेवर काम ही करता रहे तो नवीन उद्योगों में काम कौन करेगा ? इसके साथ-साथ यह भी सम्भव नहीं है कि हर व्यक्ति में अपने पूर्वजों के पेशे को चलाने की पूर्ण क्षमता हो।

महात्मा गांधी ने सामान्यतः बड़े-बड़े उद्योगों का विरोध तथा कुटीर उद्योगों का समर्थन किया है। इसमें सन्देह नहीं की कुटीर उद्योगों का भी महत्व होता है, लेकिन इनसे देश का पूर्ण आर्थिक विकास नहीं हो सकता। आज के युग में किसी भी देश के पूर्ण आर्थिक विकास के लिये बड़े-बड़े उद्योग आवश्यक हैं। आज कल जनसंख्या में वृद्धि हो रही है, मनुष्यों और भिन्न-भिन्न देशों की आवश्यकताओं में जिस अनुपात से वृद्धि हो रही है उस अनुपात से आर्थिक प्रगति बड़े-बड़े उद्योगों के बिना नहीं हो सकती।

गांधीवाद में अन्तर्विरोध भी दृष्टिगोचर होता है। गांधीजी पूंजीवाद तथा उससे उत्पन्न आर्थिक विषमता एवं शोषण का विरोध करते हैं। किन्तु पूंजीवादी व्यवस्था के विकल्प के रूप में वे ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का सुझाव देते हैं। ट्रस्टीशिप सिद्धान्त अप्रत्यक्ष रूप से पूंजीवाद का संरक्षक होगा। सैद्धान्तिक रूप से वे राज्य का विरोध करते हैं किन्तु व्यवहारिक रूप में वे सीमित राज्य का समर्थन करते हैं। फिर राज्य को चाहे किसी भी रूप में स्वीकार क्यों न किया जाय यह पूर्ण रूप से अहिंसक नहीं हो सकता।

गांधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त को पूर्ण समाजवादी सिद्धान्त होने का दावा किया जाता है। ट्रस्टीशिप सिद्धान्त पूंजीपतियो से उनकी पूंजी को सामाजिक हित में प्रयोग करने की अपेक्षा करता है। यह आदर्श तो ठीक है किन्तु व्यवहारिक नहीं। पूंजीपति एक शेर की तरह है जिसे घास खाने के लिए तैयार नहीं किया जा सकता। ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त में गांधीजी यूटोपियन समाजवादियों के अधिक निकट हैं।

गाधीजी के अन्तर्राष्ट्रीय विचार एक अच्छा आदर्श प्रस्तुत करते हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्व-बान्धुत्व, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में पूर्ण आस्था रखते हैं। ये सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का आधार हैं तथा आज भी मान्य हैं। किन्तु

गांधीजी वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का सही मूल्यांकन नहीं कर सके। वे राष्ट्रीय हित को कोई विशेष महत्व नही देते। आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई भी राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित की अवहेलना नही कर सकता। सम्भवतः गांधीजी इस स्थिति से परिचित होते हुए भी हमारे समक्ष केवल एक आदर्श ही रखते हैं।

गांधीवाद की सबसे अधिक महत्ता उसके मानववाद (Humanism) में निहित है। मानववादी दृष्टिकोण गांधीवाद में सर्वत्र बिखरा हुआ है। यद्यपि गांधीजी मूलतः धर्म-निष्ठावान तथा ईश्वर में अटूट श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति थे, उनके विचारों का केन्द्र मनुष्य ही था। वे मनुष्य की सर्वमुखी प्रगति, आध्यात्मिक एवं सीमित भौतिकवाद सहित, चाहते थे। यह प्रगति कुछ सीमित व्यक्तियों तक ही नहीं किन्तु समाज के सभी वर्गों को समेटे हुए होनी चाहिये। सर्वोदय उनका उद्देश्य था।

महात्मा गांधी ने उन सभी सिद्धान्तों को ठुकरा दिया जिसमें सम्पूर्ण समाज की भलाई की बात नहीं कही जाती। उपयोगितावाद एक उदारवादी विचार-धारा थी किन्तु इसका यह विचार-सूत्र 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख'— गांधीजी को मान्य नहीं था। वे 'अन्तिम व्यक्ति तक' (Unto This Last) या सर्वोदय मे विश्वास करते थे। उनका सर्वोदय समाज शिखर-वर्ग (summit class) से नहीं, निर्धन वर्ग से प्रारम्भ होता है, जिसमे साधारण से साधारण तथा अवाछनीय व्यक्ति तक की भी अवहेलना नही होती चाहिये। इस प्रकार गांधीजी ने पूर्व सिद्धान्तो को पूर्ण करने में योगदान दिया। उनके विचारो से यह प्रेरणा मिलती है कि विधि एवं नीतियो का निर्माण किसी वर्ग विशेष या बहुमत के लिये ही नही, वरन् सम्पूर्ण समाज के हित के लिये होना चाहिये। इसमें भी निर्धन वर्ग, जिसे वे 'दरिद्र-नारायण' कहते थे, को प्राथमिकता होनी चाहिये।

महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को नवीन आयाम प्रदान किये। सामान्यतः सत्य और अहिंसा को न तो व्यक्तिगत और न सार्वजनिक जीवन में कोई विशेष महत्व दिया जाता है। महात्मा गांधी ने अपने व्यवहार और कार्य से यह सिद्ध कर दिया कि सत्य और अहिंसा व्यक्तिगत व्यवहार का आधार तो है ही, सार्वजनिक क्षेत्र मे भी इसकी अवेहलना नही की जा सकती।

सत्य और अहिंसा के आधार पर गांधीजी ने सार्वजनिक जीवन को एक धार्मिक आधार प्रदान किया। धर्म एवं राजनीति का समन्वय करने का तात्पर्य

धर्मपेक्ष विचारों का प्रतिपादन करना नहीं था। गांधीजी के अनुसार धर्म नैतिकता का प्रमुख एवं प्रधान श्रोत है। यदि राजनीति या सम्पूर्ण सार्वजनिक जीवन को नैतिक तथा पवित्र बनाना है तो धर्म के वैज्ञानिकतत्वों को ग्रहण करना ही होगा। महात्मा गाधी ने राजनीति का आध्यात्मिकरण (Spiritualisation of Politics) करने का जो प्रयत्न किया वह आज की स्वार्थपरायण राजनीति के कचड़े को साफ करने मे अत्यन्त सहायक हो सकता है। डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने लिखा है कि गांधी जी एक क्रान्तिकारी चिन्तक थे, उन्होने राजनीति को शुद्ध बनाने के लिये मानव स्वभाव के परिवर्तन में महत्वपूर्ण योगदान दिया।[86]

महात्मा गाधी ने सत्य और अहिंसा जैसे मूक सिद्धान्त एवं अस्त्रों को एक महान शक्ति के रूप में प्रयोग किया। अहिंसा को गाधी जी एक ऐसी शक्ति मानते थे जिसके द्वारा पारिवारिक जीवन से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तक प्रत्येक परिस्थिति में प्रयोग किया जा सकता है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद को भारत से उखाड़ फेंकने में सत्याग्रही साधनों का महत्वपूर्ण योगदान रहा था। आज भी अन्याय के विरुद्ध सत्याग्रह का प्रयोग किया जाता है। अमेरिका मे अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिये बहुत मे नीग्रो नेताओ द्वारा, तथा अफ्रीका मे श्वेत शासन के विरुद्ध समय समय पर विभिन्न सत्याग्रही साधनों का प्रयोग अब एक सामान्य सा प्रचलन बनता जा रहा है।

महात्मा गाधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन जिस कुशलता से किया उसने स्वतन्त्रता प्राप्ति का किसी सीमा तक सरल बना दिया। उन्होंने यह बिलकुल समझ लिया कि अंग्रेजी साम्राज्य का सामना सिर्फ सत्य और अहिंसा से ही किया जा सकता। इसके अलावा राष्ट्रीय कांग्रेस को भी उन्होंने एक समन्वयपरक संस्था बनाये रखा। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय कांग्रेस पार्टी में कई बार सैद्धान्तिक एवं व्यक्तिगत मतभेद हुए किन्तु गांधी जी में विभिन्न तथा विरोधी विचारों को एकरूप एवं समन्वय करने की अपूर्व क्षमता थी। डा. राजेन्द्रप्रसाद ने लिखा है कि इस क्षमता के ही कारण कांग्रेस पार्टी कई बार विघटित होते होते बची। कांग्रेस पार्टी के मंच पर सभी विचारधाराओं को एकत्रित कर एकरूप बनाना गांधीजी के ही वश की बात थी।[87]

86. Radha Krishnan, S., Mahatma Gandhi, 100 Years. p 1.
87. Pyarelal, Mahatma Gandhi: The Last Phase, Vol I, p. X (from Introduction by Dr. Rajendra Prasad)

स्वराज प्राप्ति तथा भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन करने में महात्मा गाधी ने एक अत्यन्त ही निपुण आन्दोलन-कौशल (tactician), दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, और अनुभवी मनोवैज्ञानिक व्यक्ति का परिचय दिया। भारतीय जनता का नेतृत्व करने के लिये यह आवश्यक था कि व्यक्ति सही अर्थ मे भारतीय परम्परा का प्रतीक हो। नेतृत्व करने वाला व्यक्ति नैतिक शक्ति में दूसरों से श्रेष्ठ होने के साथ साथ सामान्य एवं साधारण जनता से अलग न हो। सत्य एवं अहिंसा का राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रयोग कर महात्मा गांधी ने एक महान एवं श्रेष्टतर आत्म शक्ति का उपयोग किया जिसने साम्राज्यवादियों को घुटने टेकने के लिये विवश ही नही किया बल्कि प्रतिद्वन्दियों ने भी गाधी जी की प्रशंसा की। दक्षिण अफ्रीका में उनके प्रमुख विरोधी जनरल स्मट्स (F. M. Smuts) ने भी गाधी जी को 'विश्व का एक महान व्यक्ति' बतलाया।[88] गांधी जी के नेतृत्व के विषय में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एवं परमाणु शक्ति के जनक अलबर्ट आयन्स्टीन (Albert Einstein) ने एक बार कहा था:—

> "गाधी ने यह प्रदर्शित कर दिया कि एक शक्तिशाली मानव समूह को, चालाकी या चालबाजी द्वारा ही नही, जैसा कि सामान्य *राजनीति में किया जाता है, किन्तु जीवन आचरण के श्रेष्ट नैतिक* उदाहरण द्वारा संगठित किया जा सकता है। इस पूर्ण नैतिक पतन के युग मे गाधी ही एक ऐसे राजनीतिज्ञ थे जो राजनीतिक क्षेत्र में उच्च मानवीय सम्बन्धों पर दृढ़ रहे।"[89]

महात्मा गाधी यह भी अच्छी तरह समझते थे कि भारतीय जनता से किस प्रकार अपील की जाय तथा किस प्रकार उनके मस्तिष्क को प्रभावित किया जाय। इसलिए उन्होने सबसे पहिले स्वयं और जनता के मध्य दूरी को समाप्त किया। उन्होने अपने लिए भारत के निर्धन एवं दलित वर्ग से पूरी तरह मिला लिया। गांधीजी ने निर्धन वर्ग जैसी ही वेष भूषा को ग्रहण किया तथा एक दिन में अपने भोजन मे कभी भी पाच खाद्य चीजों से अधिक न खाने का प्रण लिया था।[90]

---

88. Pyarelal, Mahatma Gandhi, The Last Phase, Vol. I, p. II; आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खन्ड, पृ. 709.
89. Quoted by Louis Fischer in The Life of Mahatma Gandhi, Jonathan Cape, London, 1951, pp. 22-23.
90. Kulkarni, V. B., The Indian Triumvirate, p. 227., Kriplani, J. B, Gandhi: His Life and Thought, p. 344.

उनकी भाषण पद्धति पूर्णतः भारतीय शैली पर आधारित थी। प्रार्थना सभाओं में अपने विचार व्यक्त करना, धार्मिक उदाहरण देकर सामान्य जनता को समझा कर उन्हें विश्वस्त करना आदि से भारतीय जनता बिना प्रभावित हुए न रह सकी। महात्मा गांधी ने भारतीयकरण का सही स्वरूप प्रस्तुत किया। परिणामस्वरूप वे बड़े लोकप्रिय हुये तथा लगभग सम्पूर्ण देश का प्रभावशाली नेतृत्व कर सके।

गांधीजी के आदर्श समाज में राज्य अनावश्यक है। किन्तु आदर्श समाज की प्राप्ति जब हो सकती है यदि व्यक्ति पूर्ण हो तथा दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों को समझे। गांधीजी का विचार था कि इस अवस्था की प्राप्ति में काफी समय लगेगा। इसलिए तब तक के लिए राज्य अनावश्यक होते हुए भी आवश्यक है। गाधीजी ने राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में ही स्वीकार किया है। चूंकि राज्य एक बुराई है इसलिए इसमें सुधार आवश्यक है। व्यावहारिक रूप में गांधी जी जिस राज्य को स्वीकार कर सकते हैं वह 'अहिंसात्मक राज्य' (non-violent state) ही हो सकता है।[71]

राज्य के विषय में गांधीजी के विचार अराजकतावादी हैं। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि तत्कालीन परिस्थितियों में राज्य के बिना सिर्फ कार्य ही नहीं चल सकता, वरन् राज्य को व्यापक अधिकार भी देने पड़ते हैं। आज-कल प्रत्येक राज्य विभिन्न सकारात्मक कार्य करता है ताकि जन-कल्याण में अभिवृद्धि हो सके। यहां तक तो गांधीवाद परिस्थितियों के अनुकूल नहीं लगता। किन्तु गांधीवाद में जो सत्यता है उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इसमें सन्देह नहीं कि राज्य के व्यापक अधिकार होने चाहिए परन्तु इतने व्यापक नहीं कि राज्य अधिनायकवादी बन जाय तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अतिक्रमण होता रहे। गांधीवाद का महत्व इसी क्षेत्र में है। वे तत्वतः राज्य की अधिनायकवादी प्रवृत्ति के जितने विरुद्ध थे उतने राज्य संस्था के नहीं।

महात्मा गाधी ने आर्थिक एवं राजनीतिक दोनों ही क्षेत्रों में स्वतन्त्रता एवं समानता को सन्तुलित करने का प्रयत्न किया। सम्भवतः आलोचक इस तथ्य को समझने में त्रुटि करते हैं। गांधीवाद का यह तत्व तो पूर्ण विदित है कि वे

91. Ghosal, H. R., In Gandhian Concept of State, edited by Majumdar, Bihar University, Patna 1957, p. 156.

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे। किन्तु वे यह भी स्वीकार करते थे कि आर्थिक स्वतन्त्रता एवं समानता के बिना अन्य सभी अधिकार खोखले एवं व्यर्थ हैं। यही कारण है कि उन्होंने व्यक्ति, ग्राम, तथा देश को आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनाने के लिए कई योजनाओं को कार्यरूप दिया। उनका स्वदेशी सिद्धान्त, गृह उद्योगों का समर्थन, चरखा एवं कताई का महत्व, वर्ण व्यवस्था का पेशेवर आधार, शिक्षा एवं श्रम का सम्बन्ध स्थापित करना आदि, इसी धारणा की अभिव्यक्ति हैं। किन्तु वे आर्थिक प्रगति का उस सीमा तक ही समर्थन करते थे जहां तक कि वह मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक हो। वे व्यक्ति या राज्य को भौतिकवादी नहीं बनने देना चाहते थे।

विश्व के सभ्य समाज तथा लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं को महात्मा गांधी का एक और मुख्य योगदान साधनों के क्षेत्र में है। उन्होंने इस विचार को कभी भी मान्यता नहीं दी कि अच्छे साध्यों की प्राप्ति किसी भी प्रकार के साधनो द्वारा हो सकती है। उनकी द्रष्टि में साध्य तो श्रेष्ठ होनी ही चाहिये किन्तु उनकी प्राप्ति भी पवित्र साधनों से होनी चाहिये। यदि साधन ठीक नहीं हैं तो उपलब्ध साध्यों का कोई महत्व नहीं।

भारत में कई समाज सुधारक हुए हैं। महात्मा गांधी इन समाज सुधारकों में सम्भवतः सबसे महान थे। उन्होंने समाज से ऊंच-नीच, छुआ-छूत, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, तथा देवदासी प्रथा का डट कर विरोध किया। महिला उत्थान के अलावा उनकी विशेष दिलचस्पी हरिजन उद्धार, नशाबन्दी तथा गौ-वध पर प्रतिबन्ध लगाने में थी। भारत में दलित वर्ग, पिछड़ी जातियों तथा हरिजनों के लिये जितना कार्य गांधी जी ने किया अन्य किसी समाज सुधारक ने नहीं किया। इनके लिये तो वे एक पेगम्बर जैसे ही थे।

गांधी जी ने श्रम को जो महत्ता दी तथा उनका **'रोटी के लिये श्रम'** सिद्धान्त अपने आप में क्रान्तिकारी विचार हैं। भारत में सामान्यतः शिक्षित वर्ग में शारीरिक श्रम के प्रति घृणा पाई जाती है। उनमें **'बाबूगीरी'** या 'साहबपन' की बू निरन्तर घर करती जा रही है। गांधी जी ने इस मनोविज्ञान की घोर निन्दा की। वे नहीं चाहते थे कि भारतीयों में शारीरिक श्रम के प्रति उदासीनता हो, तथा देश में श्रम करने वालों की उपेक्षा हो। आज के सन्दर्भ में श्रम की प्रतिष्ठा और भी महत्वपूर्ण है।

गांधीवाद के योगदान के विषय में आचार्य कृपलानी के समग्र विचारों को देना उचित प्रतीत होता है। निष्कर्ष रूप में आचार्य कृपलानी ने लिखा है —

> "राजनीति का सत्य, अहिंसा और साधनों की पवित्रता द्वारा आध्यात्मीकरण करके, अन्याय एवं निरकुंशता का सत्याग्रह द्वारा सामना कर, तथा अपने रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा गांधी जी ने सामाजिक, राजनीतिक, और आर्थिक जीवन का संयोग एवं समन्वय करने का प्रयत्न किया, तथा प्रभावकारी लोकतन्त्र की स्थापना कर उन्होंने न्याय और समानता पर आधारित समाज की नींव डालकर विश्व शान्ति के लिये मार्ग प्रशस्त किया।" 92

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Andrews, C.F., Mahatma Gandhi's Ideas,
2. आशीर्वादम्, एडी, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड अध्याय 24, महात्मा गांधी की राजनीतिक विचारधारा
3. Bose, N K., Studies in Gandhism.
4. Dhawan, Gopinath, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi.
5. Fischer, Louis, The Life of Mahatma Gandhi.
6. गांधी, मोहनदास करमचंद्र, सत्य के प्रयोग अथवा आत्म-कथा
7. Kriplani, J. B., Gandhi: His Life and Thought.
8. Kulkarni, V.B., The Indian Triumvirate Chapter 7, Gandhi: An Appraisal

---

92. Kriplani, J. B, Gandhi ; His Life and Thought, p 356.

9. Majumdar B.B.,(Ed.), Gandhian Concept of State.

10. Mashruwala, K.G., Gandhi and Marx.

11. Pyarelal, Mahatma Gandhi, The Last Phase, Vols. I, II.

12. RadhaKrishnan, S. (Ed.), Mahatma Gandhi: 100 Years.

13. Tandulkar, D. G., Mahatma, Vols. V and VII.

13

सर्वोदय

क्रान्ति का समग्र-दर्शन[1]

स्वाधीनता के उपरान्त सर्वोदय दर्शन ने भारतीय जन-मानस को काफी प्रभावित किया है। स्वाधीनता संग्राम के युग में देशवासियों की आकांक्षा थी कि स्वतन्त्र भारत में एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना की जाय जो स्वतन्त्रता, समता और न्याय पर आधारित हो। महात्मा गांधी इन आकांक्षाओं के मूर्तरूप थे जिन्हें उन्होंने 'सर्वोदय' शब्द में व्यक्त किया। वे चाहते थे कि सत्य एवं अहिंसा पर आधारित वर्ग-विहीन जाति-विहीन तथा शोषण-मुक्त समाज की स्थापना की जाय जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह को अपने सर्वाङ्गीण विकास के अवसर एवं साधन प्राप्त हों। यही सर्वोदय का लक्ष्य था, यही गांधीवाद का रचनात्मक पक्ष था।[1]

विकास

सर्वोदय का आदर्श हमारे लिये कोई नया नहीं है। विचार के साथ-साथ यह शब्द भी प्राचीन है। दो हजार वर्ष पूर्व जैनाचार्य समंतभद्र ने सर्वोदय-तीर्थ की भावना व्यक्त करते हुए कहा था:—

'सर्वापदामंतकरं निरंतं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव'

(सर्वोदय अन्तरहित [और] सब आपत्तियों का विनाशक [है] यह तेरा तीर्थ-निस्तारक ही [है]।)

गीता में 'सर्वभूतहिते रताः' का भी तात्पर्य सर्वोदय है। ऋषियों की यह प्रार्थना सैकड़ों वर्ष पुरानी है, जिसमें कहा गया है कि—

---

1 सर्वोदय के विषय में डा० इन्दु टिक्कर की पुस्तक का नाम 'क्रान्ति का समग्र दर्शन' है। यह शीर्षक इस पुस्तक पर ही आधारित है।

'सर्वेऽपि सुखिनः संतु । सर्वे संतु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यंतु । मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात् ।।
(सब ही सुखी हों । सब नीरोग हों । सब मंगलो का दर्शन करें । कोई भी दुःख न पायें।)

रस्किन (John Ruskin) की पुस्तक—Unto This Last का गांधीजी के विचारों तथा सर्वोदय दर्शन के विकास मे महत्वपूर्ण स्थान है । रस्किन की इस पुस्तक का सार है कि—

1. ईमानदारी के प्रति श्रद्धा रखना तथा धन का ईमानदारी के साथ ही उपार्जन करना चाहिये ।

2. डाक्टर, लेखक या सिपाही आदि सभी की देश के लिये समान सेवा होती है ।

3. *सम्मान का मूल सद्भावना और सहानुभूति है ।*

4. समाज में विद्रोह सम्पत्ति के दुरुपयोग पर निर्भर करता है ।

5. निर्धन का शोषण चोरी है ।

रस्किन के इन विचारो का गाधीजी ने त्रि-सूत्री सार इस प्रकार दिया है :
प्रथम, *व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में ही निहित होता है ।*

द्वितीय, वकील के कार्य की कीमत भी नाई के काम की कीमत के समान ही है, क्योकि हर एक को अपने व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलाने का समान अधिकार है ।

तृतीय, श्रमिक का अर्थात् किसान अथवा कारीगर का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट जीवन है ।[2]

लेकिन जिस विचार का गाधीजी पर विशेष प्रभाव पड़ा वह था कि "सम्पत्ति निर्धनो की ओर बहनी चाहिये ।" रस्किन ने लिखा था—

> "सम्पत्ति तो नदी की तरह प्रवाहशील होती है । नदी समुद्र की ओर अर्थात् उतार की तरफ बहती है । उसी तरह सम्पत्ति का प्रभाव भी उतार की दिशाओं में अर्थात् गरीबो की ओर बह निकले, तो वह निःसन्देह जीवनदायी एवं सुखदायी सिद्ध होगा ।"[3]

---

2. शंकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ. 43.
3. उद्धृत, शंकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ. 25.

यह विचार रस्किन की पुस्तक का मूलमन्त्र था तथा यही गांधीजी का सर्वोदय था।

जिस अर्थ में आज सर्वोदय एक प्रेरक शक्ति बन गया है, उस अर्थ में उसका सर्वप्रथम उपयोग गांधीजी ने ही किया था। रस्किन की पुस्तक का उन्होंने गुजराती में संक्षिप्त अनुवाद किया था तथा इसकी भूमिका में गांधीजी ने लिखा है :—

> "रस्किन की इस पुस्तक का मैंने शब्दशः अनुवाद नहीं किया है, केवल सार दिया है। प्रत्येक शब्द का अनुवाद किया जाता, तो यह सम्भव था कि बाइबल आदि ग्रन्थों के कितने ही दृष्टांत पाठकों की समझ में न आते। मूल अंग्रेजी पुस्तक के नाम का भी शब्दशः अनुवाद नहीं किया है; क्योंकि उसका भी अर्थ केवल वही पा सकते हैं जिन्होंने अंग्रेजी में बाइबल पढ़ी है; और इस पुस्तक का उद्देश्य तो सबका उदय यानी उत्कर्ष करने का ही है, अतः मैंने इसका नाम 'सर्वोदय' रखा है।"4

इस प्रकार सर्वोदय 'शब्द' और 'विचार' दोनों का ही अभ्युदय हुआ। आगे चलकर भारतीय स्वाधीनता संग्राम के सन्दर्भ में जैसे-जैसे 'स्वराज' के आन्तरिक तत्वों में विस्तार हुआ वैसे-वैसे ही रचनात्मक कार्यों के सन्दर्भ में सर्वोदय के विभिन्न सूत्रों का विकास होता चला गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद ही गांधीजी अपने आन्दोलन के दूसरे और वृहत्तर पहलू को कार्यान्वित करने के लिये किसी राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम की अपने मन में योजना बना रहे थे। महात्मा गाधी को यह अवसर नहीं मिल पाया कि वे समाज बदलने और उसके पुनर्निर्माण की अपनी अहिंसक पद्धति का दर्शन करा सकते। 'स्वराज' को व्यावहारिक रूप देने का जैसे ही अवसर आया, मौत ने उन्हे हमारे बीच से छीन लिया। इसमें सन्देह नही कि भावी रचनात्मक कार्य के लिये गांधीजी ने बहुत कुछ कहा और लिखा। साथ ही साथ उन्होंने अपने भावी कार्यक्रमों की बुनियाद डालना लगभग उसी समय से प्रारंभ कर दिया था।

---

4. उद्धृत, शंकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ. 8.

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व 'स्वराज्य' शब्द से लोगों को प्रेरणा मिलती रही। 'स्वराज्य' शब्द इतना व्यापक था कि इसमें देश का स्वाधीनता संग्राम, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रम सभी सन्निहित थे। फिर भी गांधीजी अपने रचनात्मक कार्यक्रम तथा स्वराज्य के उपरान्त 'मेरे सपनों का भारत' को एक नये ही शब्द में ढालना चाहते थे। अन्त मे उन्हे वह शब्द मिल गया जिसे सर्वोदय कहते हैं। सर्वोदय वास्तव मे स्वराज्य के आगे की कड़ी है।

सर्वोदय, गांधीवाद का रचनात्मक विस्तार है। गांधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम ऐसे समाज की स्थापना का कार्यक्रम है जो प्रेम और अहिंसा का व्यावहारिक स्वरूप हो। देश जैसे-जैसे स्वतन्त्रता के निकट आता गया गांधीजी अपने रचनात्मक कार्यक्रम को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न करने लगे। यहाँ दो बातों का उल्लेख आवश्यक है।

प्रथम, स्वतन्त्रता संग्राम में गांधीजी ने अपना सर्वस्व जीवन न्यौछावर कर दिया था। वे राष्ट्र कर्णधार थे, उनके मार्गदर्शन से देश स्वतन्त्र हुआ। किन्तु अपने आदर्श के अनुरूप देश का पुनर्निर्माण करने के लिये सत्ता अपने हाथ मे नही ली। द्वितीय, उनका प्रस्ताव था कि स्वाधीनता के उपरान्त कांग्रेस को राजनीतिक क्षेत्र से हटकर स्वयं को 'लोक सेवा संघ' में समेट लेना चाहिये। सच्चे गांधीवादी अनुयायियों को इनसे बड़ी प्रेरणा मिली। किन्तु इसी समय गाधीजी हमारे बीच नही रहे। उनकी मृत्यु के बाद उनके विचार ही उनकी अन्तिम इच्छा और वसीयत बन गये।

महात्मा गांधी के विचार दूरगामी तथा श्रेष्ठ आदर्श की अभिव्यक्ति थे। जैसा कि डा. राधाकृष्णन ने लिखा है, उनके विचार ऐसे नही थे कि उनकी मृत्यु के बाद उनका रंग उतर जाय या मुरझा जायें।[5] डा. राजेन्द्र प्रसाद की कामना थी कि कोई राष्ट्र या व्यक्ति अवश्य ही जागृत होगा जो गांधीजी द्वारा चलाये गये सत्य के प्रयोगों को आगे बढ़ाकर उन्हे पूरा करेगा ताकि उनके उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके।[6] कॉंग्रेस पार्टी के प्रमुख नेताओं ने सत्ता से अलग होना व्यावहारिक नहीं समझा। आखिर फिर देश का शासन कौन चलाता?

---

5. Radhakrishnan S., (Ed), Mahatma Gandhi, 100 Years, p. 1.
6. Pyarelal, Mahatma Gandhi, the Last Phase, vol. I, Introduction by Dr. Rajendra Parsad, p. XVI.

है। ऐसा सुख प्राप्त करने में नीति के नियम भंग होते हों तो इसकी अधिक परवाह नहीं की जाती। इसी तरह बहुसंख्यक लोगों को सुख देने का उद्देश्य रखने के कारण पश्चिम के लोग थोड़ों को दुःख पहुँचाकर भी बहुतों को सुख दिलाने में कोई बुराई नहीं मानते। इसका फल हम पश्चिम के सभी देशों में देख रहे हैं। किन्तु पश्चिम के कितने ही विचारवानों का कहना है कि बहुसंख्यक मनुष्यों के शारीरिक और आर्थिक सुख के लिए यत्न करना ही ईश्वर का नियम नहीं है। केवल बहुसंख्यकों के लिए ही यत्न करें तथा उसके लिए नैतिक नियमों को भंग किया जाय, यह ईश्वरीय नियम के विरुद्ध आचरण है।"[7]

गांधीजी के विचारों से स्पष्ट है कि वे 'बहुमत का सुख' या 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' वाले सिद्धान्तों को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। उनका ध्येय तो समाज के सभी व्यक्तियों का सुख है, जिसे वे सर्वोदय कहते थे।

इस समय सर्वोदय के अग्रणीय विचारक आचार्य विनोबा भावे ने सर्वोदय की एक दूसरे ही दृष्टिकोण से व्याख्या कर उसे व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। सर्वोदय की व्याख्या करते हुए विनोबा भावे ने कहा है—

> "सर्वोदय का एक बहुत ही सरल और स्पष्ट अर्थ है। हम जैसे-जैसे इसका प्रयोग करते जायेंगे, वैसे-ही-वैसे उसके और भी अर्थ निकलेंगे। लेकिन यह उसका कम से कम अर्थ है। इसी से यह प्रेरणा मिलती है कि हमें अपनी कमाई का खाना चाहिए, दूसरों की कमाई का नहीं खाना चाहिए। हमें अपना भार दूसरे पर नहीं डालना चाहिए।"[8]

यहाँ विनोबा भावे ने स्वयं श्रम की महत्ता को सर्वोदय का प्रमुख तत्व माना है। मनुष्य को अपने जीवनयापन के लिये दूसरे के श्रम का शोषण नहीं करना चाहिये। एक अन्य सन्दर्भ में उन्होंने कहा है कि मनुष्य को भौतिकवादी नहीं होना चाहिये। उसे स्वर्ण-माया का दास बन कर नहीं रहना चाहिये। सम्पत्ति एवं संग्रह मनुष्यों के पारस्परिक प्रेम में बाधा है। "लेकिन हम एक सादी सी बात समझ लें तो वह सध जायगा। हर एक

---

7. शंकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ. 7.

8. विनोबा : व्यक्तित्व और विचार. पृ. 347.

व्यक्ति दूसरे की फिक्र रखे और अपनी फिक्र भी ऐसी न रखे, जिससे दूसरे को तकलीफ हो। परिवार में भी यही चलता है। परिवार का यह न्याय समाज पर लागू करना कठिन नहीं, आसान होना चाहिये। इसी को 'सर्वोदय' कहते हैं।[9]

सर्वोदय के प्रमुख व्याख्याता शंकरराव देव ने सर्वोदय को निम्नलिखित ढंग से स्पष्ट किया है:—

> "सर्वोदय का सीधा और सरल अर्थ है 'सबका उदय'-'सबका विकास' अर्थात् 'सबका हित'। 'अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख' वाला तत्त्वज्ञान सर्वोदय स्वीकार नही करता। हमारी संस्कृति में मनुष्य को सब भूतो के हित में रत रहना चाहिये-'सर्वभूत-हिते रताः'। एक मनुष्य का हित दूसरे मनुष्य के हित के विपरीत नहीं हो सकता, सबका हित एक दूसरे के हित के अनुकूल ही हो सकता है, यह सर्वोदय का विचार है।"[10]

सुप्रसिद्ध गांधीवादी एवं सर्वोदय चिन्तक दादा धर्माधिकारी सर्वोदय की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि—

> "सर्वोदय का नाम भले ही नया हो, पर उसका अर्थ सबका जीवन सम्पन्न हो, इतना ही है। जीवन का अर्थ है कि विकास हो, अभ्युदय हो, उन्नति हो। विकास हो, इसलिये 'सर्वोदय'। लेकिन पुराने जमाने में 'अभ्युदय' शब्द का प्रयोग 'ऐच्छिक वैभव' इतने अर्थ तक ही सीमित था। इसलिये गांधीजी ने केवल 'उदय' शब्द का प्रयोग किया। एक साथ समान रूप से सबका उदय हो, यही सर्वोदय का उद्देश्य है।"[11]

सर्वोदय दर्शन

जिस प्रकार गांधीजी ने अपने विचारों को किसी 'वाद' का रूप नही दिया, उसी प्रकार सर्वोदय चिन्तकों ने भी सर्वोदय को किसी 'वाद' या दर्शन के

---

9. उपरोक्त, पृ. 347.
10. शंकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ. 5.
11. दादा धर्माधिकारी, सर्वोदय दर्शन, पृ. 23.

रूप में प्रस्तुत नहीं किया। वैसे सर्वोदय के विभिन्न स्वरूपों का समग्रता से स्पर्श करने वाला एक नया दर्शन खड़ा करने का प्रयत्न किया जाय तो यह आसानी से हो सकता है। लेकिन सर्वोदय विचारक स्वयं ही यह नहीं चाहते। यह चीज भी अपने में एक महत्वपूर्ण संकेत रखती है। "जो मानव के दुःख निवारण का कायल होता है, वह कभी तर्कप्रधान दर्शन का ढ़ाचा, वाद या 'आइडियालॉजी' तैयार करने में नही लगता। आगे चल कर ये ही स्वतन्त्रचेता मनुष्य के लिये पंजर (पिजड़े) बन जाते हैं तथा प्रवाही जीवन के सहज विकास में रुकावट डालते हैं।" 12

यह पहिले ही स्पष्ट है कि सर्वोदय दर्शन का आधार गाधीवाद ही है। आधुनिक परिस्थितियो में यह गाधीवाद का ही विकसित रूप है। इस प्रकार सर्वोदय दर्शन के सूत्र गाधीवादी सिद्धान्तों से अभिन्न हैं। गांधीवाद की भांति सर्वोदय का मूल सत्य एवं अहिंसा है। इसमें ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, स्वदेशी, ट्रस्टीशिप आदि सभी सिद्धान्तों को पूर्णतः स्वीकार किया गया है। राज्य, विकेन्द्री-व्यवस्था, व्यक्ति-महत्व आदि के विषय में सर्वोदय गांधीवाद का ही विस्तार है। किन्तु कुछ पक्षो मे सर्वोदयी चिन्तकों ने अभिवृद्धि की है, जिससे सर्वोदय का अपना स्वयं का एक विकसित रूप हमारे सामने आता है। अगले कुछ पृष्ठो में इन्ही पक्षों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

राज्य विलयन:

राज्य के विषय में महात्मा गांधी के विचार आदर्शवादी और व्यावहारिक दोनों ही थे। एक आदर्श के रूप मे वे राज्य के पूर्ण उन्मूलन के पक्ष में थे। एक व्यावहारिक होने के नाते वे फिलहाल राज्य के अधिकारों को अत्यन्त ही सीमित कर देना चाहते थे। किन्तु सर्वोदयी विचारकों ने इस सम्बन्ध में पूर्णतः अराजकतावादी आदर्श ग्रहण कर लिया है।

सर्वोदयी चिन्तकों का विश्वास है कि राज्य संस्था के होते हुए, सर्वोदयी समाज की स्थापना नहीं हो सकती। वे राज्य के कार्य-क्षेत्र और उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को गहरी शंका और भय की दृष्टि से देखते हैं। इसके अलावा,

---

12 इन्दु टिकेकर, क्रान्ति का समग्र दर्शन, पृ. 2.

वे सत्ता के विकेन्द्रीकरण का भी सर्वोदय समाज रचना के लिये उत्साह जनक नहीं मानते। सर्वोदय का उद्देश्य शासन से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करना है जिसके लिये राज्य का उन्मूलन आवश्यक है।

शासन-मुक्ति के विषय में प्रमुख विचार मार्क्सवादी है। मार्क्सवाद के अनुसार साम्यवादी व्यवस्था राज्य-रहित होगी। सर्वोदय उद्देश्य मार्क्सवाद से भिन्न नहीं है। किन्तु जिस प्रकार मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर आधारित कई देशों में साम्यवादी क्रान्तियां हुई हैं वे शासन राज्य उन्मूलन की ओर नहीं; अधिनायकवाद की ओर अग्रसर हुए हैं। सर्वग्रासी सत्ता के मार्ग में राज्य विलयन का मुकाम कभी नही आ सकता।

सर्वोदय विचारक मानते हैं कि सर्वोदय के अन्तर्गत राज्य विलयन सम्भव है। सर्वोदय में सत्ता, दल, नियन्त्रण आदि में कोई विश्वास नहीं किया जाता। 'सर्वोदय समाज' स्वयं ही अपनी संस्थाओं एवं सेवकों पर कोई नियन्त्रण नहीं करता। उनका कहना है कि जहाँ प्रेम एवं सहयोग है, वहाँ शासन की कल्पना नहीं की जा सकती।[13] मनुष्य जब बिना किसी प्रकार के बाह्य दबाव या अंकुश के अपने साथियों में बन्धुत्व, न्याय और सहयोग के साथ रहने के योग्य हो जायगा इसका तात्पर्य होगा कि उसका विकास हो गया है। वे मनुष्य में बिना किसी प्रकार बाह्य दबाव या अंकुश के अपने साथियों के मध्य सहयोग एवं न्यायपूर्वक रहने की क्षमता को विकास की कसौटी मानते हैं। सर्वोदयी विचारकों का कहना है कि वे इस ओर अग्रसर हो रहे हैं तथा राज्य विलयन के सिद्धान्त को सम्भव बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं।[14]

दल-विहीन व्यवस्था

अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये सर्वोदयी विचारक परम्परागत राजनीतिक साधनों में विश्वास नहीं करते। इसी कारण वे दल-पद्धति को कोई महत्त्व नही देते। सर्वोदय विचारधारा प्रचलित राजनीति से पूर्ण पृथक है। उनके निश्चित साध्य एवं निश्चित साधन सिद्धान्त हैं, इसलिये समाज के विभिन्न उद्देश्यों के अनुसार दल-निर्माण की कोई आवश्यकता नहीं। यह सम्पूर्ण समाज को अपने साथ लेकर चलने वाली विचारधारा है।

---

13 विनोबा: व्यक्तित्व और विचार, पृ. 109-10;
शंकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ. 10.

14. जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ. 49-51.

महात्मा गांधी ने अपना सारा जीवन राजनीति में बिताया, किन्तु वे परम्परागत अर्थ में राजनीतिज्ञ नहीं थे। गांधीजी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन का नेतृत्व किया तथा वे केवल इस दृष्टि से राजनीतिज्ञ थे क्योंकि इस आन्दोलन का लक्ष्य राष्ट्रीय स्वाधीनता था। वह किसी दल के लिये सत्ता का आन्दोलन नहीं था। "यदि उसका लक्ष्य सत्ता था, तो वह सत्ता पूरे भारतवर्ष की जनता के लिये थी। इसमे वे लोग भी सम्मिलित थे जो पाकिस्तान बनाने के लिये अलग हुए, और दोनो हिन्दुस्तानों मे जितने दल मौजूद थे, वे और जो भविष्य मे बनेंगे, वे भी सम्मिलित थे। गांधीजी किसी दल के नेता नही थे जो अपने दल की सत्ता के लिये लड़ते और दाँव-पेंच खेलते। यदि ऐसा होता, तो उनके मन में कांग्रेस को सत्तावादी राजनीति छोड़ने की बात कहने का कभी विचार ही न आता।"[15]

गांधीजी के निर्दलीय विचार सर्वोदय के लिये प्रेरणा है। सर्वोदय विचारधारा के प्रचार के लिये 'सर्वोदय समाज' तथा अन्य संस्थाएं जैसे 'सर्व सेवा संघ' आदि की स्थापना की गई। ये सभी गैर राजनीतिक संस्थाएँ हैं। इसका तात्पर्य है कि *'सर्वोदय समाज' स्वयं मे कोई राजनीतिक दल नहीं है।* यह एक अत्यन्त ही मुक्त संस्था है। कोई भी व्यक्ति वह चाहे किसी राजनीतिक दल का हो सर्वोदय समाज का सदस्य बन सकता है, और न ही प्रशासनिक कर्मचारियो पर ही कोई प्रतिबन्ध है। वे भी इसके सदस्य बनने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हैं।

श्री जयप्रकाश नारायण जो समाजवादी दलों के शीर्षस्थ एवं सक्रिय सदस्य रहे हैं, अब दलीय पद्धति के कटु आलोचक हैं। "दलीय राजनीति का," श्री जय प्रकाश नारायण ने लिखा है, "परम्परागत स्वभाव है। सत्ता के लिये उसमें सब तरह से निर्बल और दूषित कर देने वाले संघर्ष होते ही हैं, यही बात मुझे अधिक चिन्तित करने लगी। मैंने देखा : धन, संगठन और प्रचार के साधनों के बल पर विभिन्न दल कैसे अपने को जनता के ऊपर लाद देते हैं; कैसे जनतन्त्र यथार्थ में दलीय-तन्त्र बन जाता है; कैसे दलीय-तन्त्र अपने क्रम से स्थानिक चुनाव समितियां और निहित स्वार्थों से सम्बद्ध गुटों का राज्य बन जाता है; किस प्रकार जनतन्त्र केवल मतदान में सिमिट और सिकुड़ कर रह जाता है"[16] आज की दल पद्धति जनतन्त्र को अवास्तविक बना देती है।

---

15. जय प्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ. 45-46

16 जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ. 46.

सर्वोदय में दल पद्धति को लोकनीति और जनशक्ति के विकास में बाधक माना जाता है, सर्वोदय समाज की स्थापना में जो स्वतन्त्रता और अभिक्रम (initiative) की अत्यन्त आवश्यकता है, उसे दलीय पद्धति कुंठित कर देती है। "दलीय पद्धति लोगों को भेड़ों की स्थिति में ला देना चाहती है, जिनका एकाधिकार केवल नियत समय पर गड़ेरियों को चुन लेना है, जो उनके कल्याण की चिन्ता करेंगे।"[17] इस प्रकार इस प्रणाली में स्वतन्त्रता का कहीं दर्शन नहीं होता। यह स्वराज्य स्थापित करने और अपनी व्यवस्था अपने आप संभालने में कभी भी सहायक नहीं हो सकती।

सर्वोदय की दल-विहीन विचारधारा लोकतान्त्रिक व्यवस्था में अव्यावहारिक है, किन्तु भारत में कम से कम स्थानीय स्व-शासन सस्थाओं के चुनावों मे इसका प्रभाव अवश्य ही दृष्टिगोचर होता है। सामान्यतः भारत के सभी राजनीतिक दल यह स्वीकार करते हैं कि स्थानीय चुनावों में वे अपने प्रत्याशी खड़े न करें। कम से कम एक सीमित क्षेत्र में ही इस विचार को सैद्धान्तिक मान्यता तो मिली ही है।

लोकनीति

सर्वोदय आजकल की प्रचलित राजनीति में विश्वास नही रखता। सर्वोदयी चिन्तक आज की राजनीति को राज्य-सत्ता, पुलिस और सेना-सत्ता पर आधारित मानते हैं। "यह शस्त्र-सत्ता पर जीती है, कानून की छत्रछाया में बढ़ती है, धन-सत्ता के भरोसे पलती-पनपती है और विज्ञान के जरिये विकसित होती है। परन्तु इतने साधनो से सज्जित रहने पर भी यह शत-प्रतिशत जनता को सुखी करने में अपने को असमर्थ पाती है।"[18] आज नागरिक सम्प्रदाय और जाति से भिन्न नहीं है। वह सत्ता के लिये सारी शक्ति खर्च कर देता है।

सर्वोदयी ऐसी राजनीति का समर्थक है जो दल और सत्ता से मुक्त हो, जिसे विनोबा भावे 'लोकनीति' कहते हैं। राजनीति और लोकनीति में व्यापक अन्तर है। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए प्रमुख सर्वोदयी विचारक श्रीकृष्णदत्त भट्ट ने लिखा है:—

---

17. उपरोक्त, पृ. 47.

18. दादा धर्माधिकारी, सर्वोदय दर्शन, श्रीकृष्णदत्तभट्ट द्वारा लिखित आमुख, पृ० 90.

"राजनीति में जहाँ शासन मुख्य है, वहाँ लोकनीति में अनुशासन;राजनीति में जहाँ सत्ता मुख्य है, वहाँ लोकनीति में स्वतन्त्रता। राजनीति में जहाँ नियन्त्रण मुख्य है, वहाँ लोकनीति में संयम;राजनीति में जहाँ सत्ता व अधिकारों की स्पर्धा मुख्य है,वहाँ लोकनीति मे कर्त्तव्यों का आचरण। सर्वोदय का क्रम यही है कि शासन से अनुशासन की ओर, सत्ता से स्वतन्त्रता को ओर, नियन्त्रण से सयम की ओर, और अधिकारों की स्पर्धा की ओर से कर्त्तव्यों के आचरण की ओर बढ़ो।"[19]

क्या ससद द्वारा लोकनीति सम्भव है? गांधीवादी परम्परा का पालन करते हुए सर्वोदयी चिन्तक संसद और आधुनिक प्रतिनिधि प्रणाली के विरुद्ध हैं। वे समझते हैं कि सर्वोदय क्रान्ति संसद के द्वारा सम्भव नही है क्योंकि इसमें जिस प्रकार के प्रतिनिधि होते हैं तथा इनकी जो कार्य-पद्धति है वह संसदीय संस्थाओं को क्रान्ति के बिलकुल ही अनुपयुक्त बना देती है।

लोकनीति में सरकार को नही जनता को प्राथमिकता और प्रमुखता दी जाती है। लोकनीति की स्थापना में सरकार किसी भी तरह सहायक नहीं हो सकती। यह तो केवल अ-माध्यम से ही सम्भव है। एक प्रवचन में विनोबा भावे ने कहा है—

"सरकार इस कार्य में कुछ नहीं कर सकती। आखिरकार सरकार एक बाल्टी (bucket) जैसी है, जबकि जनता एक कुंए के समान है। यदि कुंए में ही पानी नही होगा, तो बाल्टी में कहाँ से आयेगा। हम सीधे पानी की श्रोत-अर्थात् जनता—तक जायेगे। जो कार्य सरकार नहीं कर सकती, वह जनता कर सकती है।"[20]

विकेन्द्री व्यवस्था

सर्वोदय के अन्तर्गत तत्कालीन व्यावहारिकता को ध्यान में रखते हुए विकेन्द्री व्यास्था का समर्थन किया जाता है। श्री जयप्रकाश नारायण ने अपने ग्रन्थ—'भारतीय राज्य-व्यवस्था की पुनर्रचना के कुछ सुझाव'—में विकेन्द्री व्यवस्था की व्याख्या की है। वे गांधीजी के शब्द उद्धृत करते हुए कहते हैं:—

---

19. उपरोक्त, पृ. 90
20. Suresh Ramabhai, Vinoba And His Mission, p 178

"मानवीय जगत असंख्य देहातों के व्यापक होते चले जाने वाले वर्तुलों से सम्पन्न सागर के समान रहेगा। यह रचना पिरामिड जैसी चौड़े आधार पर चोटी तक चढ़ती जाने वाली नहीं रहेगी। इसका केन्द्र रहेगा व्यक्ति, जो देहात के लिये मर मिटने को तैयार होगा। हर देहात देहातों के समूह के हित के लिये अपना स्वार्थ पीछे रखेगा और इसी तरह आखिर तक सम्पूर्ण मानव-समाज व्यापक इकाइयों का बनता चला जायगा।"[21]

इन इकाइयों को जोड़ने वाली कड़ियाँ भी रहेंगी। लेकिन इनकी हर क्षेत्र में एकता आवश्यक नहीं। इस समाज-व्यवस्था का आदर्श होगा : "आवश्यक बावतों में एकता, शंकापूर्ण अवस्था में आजादी और सभी व्यवहारों में तितिक्षा।"[22]

सर्वोदयी समाज किसी प्रकार के आर्थिक केन्द्रीयता पर आधारित नहीं होगा। तथाकथित लोकतान्त्रिक राष्ट्रों में जो केन्द्रस्थ महाकाय यन्त्रों के कन्धों पर चढ़ी हुई अर्थ व्यवस्था है, उसने शुरू से आज तक गरीबों या गरीब देशों का शोषण ही किया है।"[23] सर्वोदय में विकेन्द्रितता निहित है। राक्षसी केन्द्रित उत्पादन के बदले घर-घर व्यापक क्षेत्र में लाखों लोग उत्पादन-कार्य करें, यह उनकी दृष्टि है। सर्वोदय व्यवस्था राज्य समाजवाद नहीं जन समाजवाद होगा।

आजकल प्रचलित विकेन्द्रित राजनीति को सर्वोदयी विचारक मान्यता नहीं देते। आधुनिक राज्य में सत्ता को प्रान्तों, जिलों, नगरपालिकाओं, ग्राम-पंचायतों में वितरण तो किया जाता है, लेकिन सत्ता का केन्द्र पहले जैसा ही सबल बना रहता है। इसके अलावा जिन-जिन क्षेत्रों में सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया है, वे सभी क्षेत्र अपने लिये एक छोटा-छोटा राज्य बना लेते हैं। आज की विकेन्द्रित राजनीति मे हर एक व्यक्ति का अपना-अपना क्षेत्र और अपनी-अपनी सत्ता का छोटा मोटा केन्द्र है। यह न तो विकेन्द्रिकरण है और न लोक सत्ता।

---

21. उद्धृत, इन्दु टिकेकर, क्रान्ति का समग्र दर्शन, पृ. 41.
22. उपरोक्त, पृ. 41.
23. इन्दु टिकेकर, क्रान्ति का समग्र दर्शन, पृ० 42.

एक अन्तिम उद्देश्य के रूप में सर्वोदयी सभी प्रकार के सत्ता-केन्द्र, दलगत राजनीति, आदि को समाप्त कर वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन और राज्य-रहित समाज की स्थापना करना चाहते हैं। इस व्यवस्था में प्रशासन कम होता चला जाये, अनुशासन बढ़ता चला जाये और अंत में केवल स्व-शासन रह जाये। इस व्यवस्था में व्यक्तियों का नहीं, वस्तुओं का नियन्त्रण होगा। इस आदर्श की अभिव्यक्ति श्री जयप्रकाश नरायण ने निम्नलिखित शब्दों में की है:—

> सर्वोदय की भी एक राजनीति है; किन्तु यह राजनीति भिन्न प्रकार की है। मैंने इसको 'जनता की राजनीति' कहा है, जो सत्ता और दल की राजनीति से सर्वदा पृथक है। लोकनीति राजनीति से पृथक है। सर्वोदय की राजनीति में कोई दल नहीं होता और न सत्ता से ही उसका कोई सम्बन्ध होता है। वस्तुतः इसका लक्ष्य सत्ता के समस्त केन्द्रों को समाप्त कर देना है। जितनी अधिक यह नयी राजनीति बढ़ेगी, उतनी ही अधिक पुरानी राजनीति सिकुड़ेगी। सही अर्थ में यही होगा, राज्य का क्षय।"[24]

जन-शक्ति

भूदान तथा अन्य रचनात्मक कार्यों के पीछे एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण उद्देश्य है। सर्वोदय में राज्य तथा शक्ति को वैसे ही मान्यता प्रदान नहीं की गई है। जब राज्य का क्षय प्रारम्भ होगा तथा किसी भी प्रकार की शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होगी, उस समय सब कुछ व्यक्तियों की नैतिक शक्ति पर निर्भर करेगा। व्यक्तियों को इस स्थिति के लिये जागृत करना होगा। रचनात्मक कार्यों के पीछे सर्वोदयी कार्यकर्ताओं का यह उद्देश्य है कि देश में 'स्वतन्त्र जनशक्ति' (self-reliant power of the people) का निर्माण किया जाय ताकि व्यक्तियों में 'विचार शासन' और 'कर्तव्य विभाजन' का पूर्ण विकास हो जाय। विचार शासन का तात्पर्य शान्तिपूर्ण उपायों से दूसरों को अपने विचारों से प्रभावित कर कार्य करने की प्रेरणा देना है। कर्तव्य विभाजन का अर्थ है कि व्यक्ति बिना प्रशासन की सहायता के अपने-अपने कार्यों का विभाजन स्वयं ही करले। जब ऐसी जनशक्ति का निर्माण हो जायगा तब वर्ग-विहीन और शोषण-मुक्त समाज की रचना अधिक सम्भव हो जायगी।[25]

---

24. जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ० 69.
25. Suresh Rambhai, *Vinoba and His Mission*, pp. 106, 178-79.

'जय हिन्द' से 'जय जगत' की ओर

सर्वोदय विचारधारा का क्षेत्र केवल भारत तक ही सीमित नहीं, यह विश्व की विचारधारा है। सम्पूर्ण विश्व की उन्नति इसका लक्ष्य है। "मानवमात्र एक भ्रातृसमुदाय का अंग है। धर्म, जाति, वंश, लिंग, राष्ट्र, विचार आदि की विभिन्नताएँ मानव को मानव से अलग नहीं कर सकती। मानवता सब में समान है। इसलिये व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अधिकार हर एक को है। व्यक्ति-व्यक्ति के विकास में कोई विरोध नहीं है। बल्कि सम्पूर्ण मानव-जाति का समग्र विकास और उत्थान अविभाजित एवं एकात्म्यस्वरूप है।"[26] इस प्रकार सर्वोदय आन्दोलन का विश्वव्यापी होना स्वाभाविक ही है। एक देश में सर्वोदय तथा दूसरे में दमन एवं शोषण असह्य है।

सर्वोदय के अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष पर विचार व्यक्त करते हुए विनोबा भावे ने कहा कि "दुनिया में वेग से विचार आगे बढ रहे हैं। धीरे-धीरे सभी देशों की सरहदें टूटने वाली हैं। अब विश्व को सम्मिलित परिवार बनाने की भावनाएँ बढ़ रही हैं।[27] इसी तत्व को श्री जयप्रकाश नारायण ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

> "सर्वोदयी विश्व-समाज में वर्तमान राष्ट्रों के क्रम से बने हुए राज्यों का कोई स्थान नहीं होगा। सर्वोदय-दृष्टि विश्व दृष्टि है और गांधीजी के समुद्रीय वर्तुल के केन्द्र में खड़ा हुआ व्यक्ति विश्व-नागरिक है।"[28]

सर्वोदय का रचनात्मक पक्ष

क्रान्ति पद्धति

वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन तथा राज्य-रहित सर्वोदयी समाज की स्थापना के लिये नवीन कार्य-पद्धतियों का विशेष महत्व है। सर्वोदयी कार्य-पद्धति हिंसात्मक साधनों के विरुद्ध होने के साथ कानून की उपादेयता में भी आस्था नहीं रखती। वे कानून को भी एक प्रकार से बल प्रयोग ही समझते है। सर्वोदयी

---

26. इन्दु टिकेकर, क्रान्ति का समग्र दर्शन, पृ. 4.
27. विनोबा : व्यक्तित्व और विचार, पृ. 351.
28. जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ. 59.

विचारधारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये ऐसे साधनों का समर्थन करती है जिससे मनुष्य के जीवन में क्रान्ति आये, उसका हृदय परिवर्तन हो तथा अंत में सर्वोदयी क्रान्ति के लिये मार्ग प्रशस्त हो सके। सर्वोदयी विचारकों का कहना है कि जब तक मनुष्य का हृदय नहीं बदलता, जीवन के मूल्यों में परिवर्तन नहीं होता, तब तक कोई स्थाई क्रान्ति नहीं हो सकती। डा. राधाकृष्णन के शब्दों में "आचार्य विनोबा भावे ने जंगल के कानून को तो ठुकरा दिया। उन्होंने असेम्बली के कानून तक का सहारा नहीं लिया, वल्कि प्रेम के कानून के ऊपर उन्होंने अपनी श्रद्धा आधारित की है और यह प्रेम का ही कानून सबसे ऊंचा है।"29

शान्ति सेना

सत्याग्रह चलाने के लिये महात्मा गांधी ऐसे स्वयं-सेवकों के दल का निर्माण करना चाहते थे जो सत्य और अहिंसा पर स्वयं को न्योछावर करने के लिये सदैव तत्पर रहें। यही शान्ति सेना के गठन का आधार था। यह कहना सम्भव नहीं कि शान्ति सेना का निर्माण कब हुआ तथा इसका संगठन किस प्रकार का है किन्तु सर्वोदय समाज के सभी सदस्य एक प्रकार से शान्ति सेना के सदस्य हैं। गाधीजी के सत्याग्रही सहयोगी, विनोबा भावे के भूदान कार्यकर्त्ता सभी शान्ति सैनिक हैं।

शान्ति सेना का उद्देश्य सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का समाधान शान्ति, प्रेम, अहिंसा द्वारा करना है। ये दुर्गुणों पर प्रेम द्वारा विजय प्राप्त कर सर्वोदयी उद्देश्यों को आगे बढाने में प्रमुख योगदान देते हैं। दुर्दान्त निर्दयी डाकुओं पर सरकार की शक्ति विजय प्राप्त नहीं कर सकी। यह शान्ति सेना द्वारा ही सम्भव हो सका। जहाँ-जहाँ सरकार ने मद्य निषेध को समाप्त करने का प्रयत्न किया है वहीं-वहीं शान्ति सैनिक अड़ गये है। इस प्रकार देश की समस्याओं और सामाजिक कुरीतियों से लड़ने की शान्ति सेना की अपनी ही पद्धति है।

भूदान (भूमिदान) आन्दोलन

सर्वोदय क्रान्ति के लिए भूदान सबसे महत्वपूर्ण आधार-आन्दोलन है। भूदान का प्रारम्भ अप्रेल 1951 में आन्ध्र प्रदेश के पचमपल्ली (तेलंगाना) स्थान से हुआ। यहां कुछ हरिजन आचार्य विनोबा भावे से मिलने आये और उन्हें अपनी

29. उद्धृत, विनोबा: व्यक्तित्व और विचार, पृ. 20.

भूमिहीनता की करुण कहानी सुनाई। उन्होने विनोबा भावे को बतलाया कि यदि उन्हें 80 एकड़ भूमि मिल जाती है,'तो वे भूमि पर श्रम कर अपनी जीविका-अर्जन कर सकते हैं। विनोबा भावे ने उसी समय उपस्थित जन-समूह से पूछा कि क्या कोई व्यक्ति 80 एकड़ भूमि दे सकता है? उसी समय पच्चपपल्ली के श्री रामचन्द्र रेड्डी ने 100 एकड़ भूमि के दान की तत्काल घोषणा की। यह सबसे पहला भूमिदान था। यही से भूदान आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। इसके बाद तो भूदान ने एक गति पकड़ ली। दो वर्ष में लगभग 27,63,000 एकड़ भूमि दान के रूप में प्राप्त हुई।

देश में भूमिहीनों की समस्या सुलझाने के लिए विनोबा भावे ने पाच करोड़ एकड़ भूमि के दान प्राप्त करने की योजना बनाई। वे देश के विभिन्न भागों में पद-यात्रा करते हुए अपने साथियों के साथ जाते हैं, वहाँ सर्वोदयी विचारधारा से व्यक्तियों को अवगत कराते हैं तथा भूमिदान के लिए आग्रह करते हैं। इस सम्बन्ध में विनोबा भावे को काफी सफलता मिली है।

भूदान सफलता की समीक्षा निम्नलिखित आंकड़ो से हो सकती है।

1.	भूदान में प्राप्त भूमि-	41, 76, 814. 93 एकड़
2.	भूदान देने वाले व्यक्तियों की संख्या	5, 75, 885
3.	वितरित भूमि	11, 75, 848. 13 एकड़
4.	व्यक्तियों की संख्या जिन्हें भूमि वितरित की गई	4, 61, 681
5.	वितरण के लिए अनुपयुक्त भूमि	18, 54, 882. 17 एकड़
6.	भूमि जिसका वितरण शेष है	11, 46, 094. 63
7.	दान में प्राप्त ग्रामों की संख्या	1, 68, 108
8.	दान में प्राप्त जिलों की संख्या	47

(उपरोक्त आंकड़े—Sunday World—October 1, 1972, में सुरेश राम के एक लेख—Sarvodaya : Promise and Performance—पर आधारित हैं।)

भूदान को सर्वोदयी समाज की स्थापना में जो प्राथमिकता दी गई है उसके निम्नलिखित कारण है—

प्रथम, कृषि प्रधान देश में समाज परिवर्तन का आरम्भ भूमि की व्यवस्था से होता है।

द्वितीय, सर्वोदयी चिन्तकों का कहना है कि आज विश्व का जैसा रुख है उससे स्पष्ट है कि आगे की अर्थ-रचना अन्न-प्रधान और कृषि-प्रधान होने वाली है।

तृतीय, भूमि केवल अन्न उत्पादन का ही साधन नही है, यह बसुन्धरा भी है, समस्त खाने भूमि के नीचे हैं इस प्रकार बहुत सी वस्तुएँ मनुष्य को भूमि से ही उपलब्ध होती हैं।

इसलिए क्रान्ति का प्रारम्भ भूमि से ही होना चाहिए। भूदान का तात्पर्य केवल स्वामित्व में ही परिवर्तन करना नहीं है, इसके माध्यम से स्वामित्व के मूल आधार और उत्पादक की भूमिका मे परिवर्तन करना है। भूदान दर्शन के अन्तर्गत भूमि निजी सम्पत्ति नही हो सकती। भूमि समस्त समाज की है। एक व्यक्ति को केवल उतनी ही भूमि रखनी चाहिए जितनी कि उसे आवश्यकता है तथा जिस पर वह स्वयं श्रम कर सकता है। आवश्यकता से अधिक भूमि समाज को लौटानी चाहिए। जो भी भूमि व्यक्ति अपने पास रखता है, उस पर भी उसका व्यक्तिगत अधिकार नही है। उसे वह भूमि एक ट्रस्टी के रूप में अपने पास रखनी चाहिए।

सर्वोदय एक गतिशील (dynamic) विचारधारा है। भूदान आन्दोलन के प्रारम्भ होने के बाद देश के समक्ष जैसे-जैसे आर्थिक, सामाजिक समस्याएँ आती गयीं, सर्वोदय के स्वरूप की भी एक-एक पंखुड़ी खुलती गयी। शनैः शनैः सर्वोदय के तत्वाधान में और भी कई कार्यक्रम अपनाये गये जैसे सम्पत्ति-दान श्रम-दान, बुद्धि-दान, जीवन-दान आदि। इनके अलावा सर्वोदयी कार्य कर्त्ताओं ने मद्य-निषेध प्रचार तथा चम्बल घाटी में वर्षों से पले हुए दस्यु डाकुओ के हृदय परिवर्तन में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह की है।

सम्पत्तिदान

भूदान से भूमिहीनों के लिये कुछ भूमि का प्रबन्ध तो हो सकता था, किन्तु इन भूमिहीन निर्धनो को खेती से सम्बन्धित सामग्री खरीदने के लिये कुछ आर्थिक सहायता की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। इसलिये विनोबा भावे ने सम्पत्तिदान प्रारम्भ किया। इसका उद्देश्य है कि सम्पत्तिमान व्यक्ति कुछ धन दे, जिसे भूमिहीनो को भूमि देते समय दिया जाय, ताकि वे उस भूमि का उपयोग कर सके।

भूदान की भाँति सम्पत्ति-दान में भी विनोवा भावे छटा भाग मांगते हैं। यह भी वह दान देने वाले की स्वेच्छा पर छोड़ते है कि वह किस प्रकार अपनी

सम्पत्ति के छठे भाग का दान करता है। विनोबा जी सम्पत्तिदान लेकर फिर निर्धनों में वितरित ही नही करना चाहते,उनका कहना है कि लोग अपनी सम्पत्ति या आय का छटवा भाग समाज को दान करने का संकल्प लें, हर वर्ष उस राशि को समाज हित में व्यय करें तथ उसकी सूचना विनोबा जी को देते रहे। विनोबा भावे ने सम्पत्तिदान का सम र्थन इस आधार पर भी किया है कि इससे लोगों में अस्तेय तथा अपरिग्रह की भावना का विकास हो जो व्यक्ति के कल्याण के लिये अति आवश्यक है

ग्रामदान एवं ग्रामराज

भूदान का अगला कदम ग्रामदान है। ग्रामदान का अर्थ है ग्राम की सम्पूर्ण भूमि को अपने ही गाव या पूरे समुदाय को सौंपना। लोग अपनी भूमि का सर्वस्व ही दान करे, तदुपरांत उसका प्रयोग, व्यवस्था एवं लाभ का वितरण पूरे गाव में किया जाय।

ग्रामदान का प्रारम्भ 1952 में उत्तर प्रदेश के मानग्रोथ ग्राम के समस्त निवासियो द्वारा ग्रामदान करने के साथ प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे ग्रामदान की भावना ने लोगों को प्रभावित किया और चार वर्षो में ही 1500 ग्रामदान में प्राप्त हुए। अभी तक लगभग 1,68,108 ग्राम दान में प्राप्त हो चुके हैं।

ग्रामदान सर्वोदयी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये एक महत्वपूर्ण साधन है। सर्वोदय विचारधारा के अंतर्गत ग्रामराज की स्थापना मूल लक्ष्य है। यह ग्रामदान से ही सम्भव हो सकता है। इसका तात्पर्य होगा कि ऐसे ग्रामो की व्यवस्था व्यक्ति स्वयं करे, ग्राम की उन्नति के सम्बन्ध में निर्णय गाव द्वारा ही लिया जाय न कि सरकारी आदेश के माध्यम से। ग्राम स्वराज्य की स्थापना से लोगो में सहयोग, प्रेम की भावना का विकास होगा। इसके पीछे यह भावना है कि व्यक्तिगत भावना का अंत हो तथा पूरा ग्राम एक परिवार के रूप में रहे। जब इस प्रकार के स्वशासन की भावना का विकास क्रम चलेगा तो अंत में वर्ग-विहीन, शोषण विहीन तथा राज्य-विहीन समाज की स्थापना अधिक सुलभ हो जायेगी।

दान में प्राप्त ग्रामों की व्यवस्था के विषय में आचार्य विनोबा भावे के निम्नलिखित सुझाव महत्वपूर्ण हैं:—

प्रथम, प्रत्येक ग्राम,ग्राम सभा संगठित करे जिसका प्रत्येक व्यस्क स्त्री-पुरुष सदस्य हो।

द्वितीय, ग्राम के सभी भूमिपति अपनी भूमि का स्वामित्व ग्राम सभा को हस्तान्तरित करे।

तृतीय, प्रत्येक भूमिपति अपनी भूमि का बारहवां भाग ग्राम सभा को दान में दे ताकि उसका वितरण उस ग्राम के भूमिहीनों में किया जा सके।

चतुर्थ, प्रत्येक ग्राम में एक ग्राम-कोष की स्थापना हो, जिसमें प्रत्येक भूमिपति अपनी उत्पत्ति का एक चौथाई भाग तथा वेतन या मजदूरी प्राप्त करनेवाला एक दिन का वेतन या आमदनी का तीसवां हिस्सा उसमें जमा करें। यह राशि ग्राम व्यवस्था के लिये काम में आयेगी।

यह ग्रामदान में प्राप्त ग्रामों की आदर्श व्यवस्था की रूपरेखा है, जो व्यक्तियों को ग्रामदान के लिये और भी आकर्षित करने में समर्थ होगी।

जीवनदान

वे व्यक्ति जिनके पास ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसे वे समाज के लिये अर्पण कर सकें, ऐसे व्यक्ति सर्वोदय-साधना के लिये अपना जीवनदान कर सकते हैं। इसका तात्पर्य है कि जीवनदान करने वाले व्यक्ति अपनी बुद्धि, श्रम और शक्ति का प्रयोग भूदान एवं सर्वोदय की सेवा में लगा सकते हैं। इसके अलावा वे व्यक्ति जो सर्वोदय के लिये अधिक करना चाहते हैं अपना जीवनदान कर सकते हैं। सर्वप्रथम श्री जयप्रकाश ने अप्रैल 1954 में अपना जीवनदान किया। तत्पश्चात विनोबा जी ने भी 'भूदान-यज्ञमूलक ग्रामोद्योग प्रधान अहिंसक क्रान्ति के लिये' अपना जीवन समर्पण कर दिया। इस प्रेरणा से अनेक सर्वोदयी कार्यकर्ताओं ने अपने जीवनदान की घोषणा की।

सर्वोदय समीक्षा

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि सर्वोदय गांधीवाद का विकसित, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष है। इसलिये गांधीवाद के विषय में सामान्यतः

जो आलोचना की जाती है वह सर्वोदय के विषय में भी सही है। सर्वोदय दर्शन का दोष यह है कि यूटोपियायी विचारकों की भाँति यह मानव-स्वभाव के केवल स्वच्छ पक्ष को ही देखता है, जब की मनुष्य सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का मिश्रण है।

सर्वोदय दर्शन आदर्शवादी और काल्पनिक सा प्रतीत होता है। इसमें बहुत सीमा तक व्यावहारिकता का अभाव है। राज्य में ग्रामराज,विकेन्द्रीकरण आदि विचारों को पूर्णतः व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सकता।

सर्वोदय विचारधारा का दलगत राजनीति में विश्वास नहीं है। आदर्श रूप में यह ठीक है, किन्तु आधुनिक लोकतान्त्रिक प्रणालियों में राजनीतिक दलों के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। राजनीतिक दल लोकतान्त्रिक व्यवस्था को गतिशील बनाते हैं। वास्तव में राजनीतिक दल के अभाव में लोकतान्त्रिक व्यवस्था चल ही नहीं सकती।

सर्वोदय चिन्तक इस विचारधारा को पूर्णतः काल्पनिक नहीं मानते। उनका दावा है कि इसको व्यवहार में लाया जा सकता है। सर्वोदयी विचारक श्री कृष्णदत्त भट्ट ने लिखा है "कि सबका उदय कोरा स्वप्न, कोरा आदर्श नहीं है, वह आदर्श व्यवहार्य है, वह अमल में लाया जा सकता है। सर्वोदय का आदर्श ऊंचा है, यह ठीक है; परन्तु न तो वह अप्राप्य है और न असाध्य है। वह प्रयत्न साध्य है।"[30]

यद्यपि यह भी मान लिया जाये कि सर्वोदय में आदर्श की मात्रा अधिक है, किन्तु सर्वोदयी दार्शनिक, सर्वोदयी आदर्श को स्वयं ही उच्चता एवं पूर्णता प्रदान करना चाहते हैं। उनका कहना है कि एक सही आदर्श प्रस्तुत करना भी महत्वपूर्ण है। विनोबा भावे जीवन के सभी अंगों मे गणित की अचूकता पसंद करते हैं। वैसे त्रुटि करना मनुष्य के लिये स्वाभाविक है, लेकिन जब आदर्श त्रुटिपूर्ण होता है, तो कर्म का मूल्यांकन करने की गुन्जाइश ही समाप्त हो जाती है। मकान खड़ा करने में चूक हो सकती है, लेकिन 'ब्लू प्रिन्ट' तो सदैव; अचूक ही होना चाहिए।[31]

---

30. दादा धर्माधिकारी, सर्वोदय दर्शन, पृ० 6.
31. इन्दू टिकेकर, क्रान्ति का समग्र दर्शन, पृ० 16.

भूदान आन्दोलन के विषय में भी लोगों की शंकाएं हैं। भूदान के आधार पर लोगों की आर्थिक समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। भूदान आन्दोलन को लगभग बीस वर्ष हो चुके हैं, किन्तु भूमि समस्या मे कुछ भी सुधार नहीं हुआ है। यही कारण है कि आज सरकार भूमि तथा शहरी सम्पत्ति की सीमा का भी निर्धारण कर रही है।

यह भी सत्य है कि भूदान के अन्तर्गत कई स्थानो पर इस प्रकार की भूमि प्राप्त हुई है जो खेती के योग्य नही है। ऐसी भूमि को खेती के योग्य बनाना तथा सिंचाई व्यवस्था का प्रबन्ध करना ही एक समस्या है।

यद्यपि भूदान द्वारा भूमि सम्बन्धी सुधार उतने व्यापक न भी हो सकें, पर इसमें सन्देह नही कि भूमि के व्यापक एवं दूरगामी सुधारों के लिये यह आन्दोलन सहायक सिद्ध होगा।

भूदान आन्दोलन भारतीय जीवन पद्धति में निहित है। इसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था परिवार का ही एक वृहद रूप है। इस आन्दोलन के द्वारा यह अभिव्यक्ति होती है कि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता केवल उन्हीं द्वारा प्राप्त की जा सकती है। जो भौतिकी जीवन से जुड़े हुए नहीं हैं।[32]

भूमिदान एवं ग्रामदान आन्दोलन के पीछे निहित विचार से सरकार को भी सहायता मिलती है। इस योगदान के विषय में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि सबसे महत्वपूर्ण परिणाम जो इस आन्दोलन का निकला है वह उसके द्वारा निर्मित वातावरण का है, जो भूमि व्यवस्था सुधार के लिए कानून बनाने में सहायक होता है, क्योंकि उस विषय में वह लोगों के मानस को ही बदलता है। कानून भूमि-सुधार के लिये आवश्यक है, लेकिन जनता के मानस को बदलना मूलतः उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है।[33]

---

32. Radhakrishnan, S., Forward to Vinoba Bhave and His Mission, by Suresh Ramabhai, p. VI.

33. उद्धृत, विनोबा : व्यक्तित्व और विचार, पृ. 29.

सर्वोदयी शान्ति सेना का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान कुख्यात डाकुओं के हृदय परिवर्तन करने का है। 1960 में आचार्य विनोबा भावे के प्रयत्नों से अनेक खूंखार डाकुओं ने समर्पण किया। इसी प्रकार अप्रेल 1972 में श्री जयप्रकाश नारायण तथा अन्य सर्वोदयी कार्यकर्त्ताओं की प्रेरणा और प्रयासों से चम्बल घाटी के दो सौ से भी अधिक डाकुओं ने आत्मसमर्पण कर शान्ति एवं प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया है। यह हृदय परिवर्तन का सफल प्रयोग है। सम्भवतः इस प्रकार के उदाहरण मिलना असम्भव हैं।

सर्वोदय का महत्व केवल विचार-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं, साहित्य क्षेत्र भी उनका आभारी है। सर्वोदय साहित्य में हिन्दी भाषा के उत्तम से उत्तम शब्द देखने को मिलते हैं। मूल विचारों को प्रमाणिक एवं आकर्षित शब्दों में संवारने की प्रतिभा सर्वोदय साहित्यकारों में अद्वितीय है। सम्भवतः हिन्दी साहित्यकारों ने हिन्दी भाषा की उतनी सेवा नहीं की जितनी आज सर्वोदय साहित्य कर रहा है। सर्वोदय साहित्य में भारतीयकरण की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है।

सर्वोदय एक अराजनीतिक संस्था है, अराजनीतिक विचारधारा नहीं। वास्तव में सर्वोदय को दलगत राजनीति से, नीचे नहीं, ऊपर रहना चाहिये। सर्वोदय साहित्य का अध्ययन करने तथा सर्वोदय सेवकों से मिलने पर आभास होता है कि जितना ये राजनीति से दूर भागते हैं उतना इन्हें भागना नहीं चाहिये। गाधीजी ने राजनीति को एक सर्प-कुडेल की संज्ञा दी थी और कहा था कि परिस्थितियोंवश वे उससे संघर्ष करेंगें। उन्होने जिन राजनीतिक बातों को उचित नही समझा, उनका प्रतिरोध कर मार्ग दर्शन भी किया। सर्वोदय चिन्तन में भी हमे इस प्रतिरोध वाली भावना को नही छोड़ना चाहिये। आज हमारे देश की राजनीति मे कई विराट कुरीतियाँ एक सौत की तरह बेशर्मी और मजबूती से अड्डा बनाये बैठी हैं। आज के राजनीतिज्ञ इन कुरीतियों को आश्रय दिये हुए हैं। सर्वोदय के अन्तर्गत इन कुरीतियों को दूर करने के लिये आदर्श प्रस्तुत करना, हृदय-परिवर्तन करना आदि ही सब कुछ नही है। इन कुरीतियों का प्रतिरोध भी करना चाहिये। यह प्रतिरोध दलगत राजनीति से भी सम्बन्धित नही होगा। उदाहरणार्थ हमारे राजनीतिक तथा जीवन प्रशासन में भृष्टाचार ने कई रूप धारण कर लिये हैं। इसे दूर करना राजनीतिज्ञों के वश की बात नही। सर्वोदय को इस भृष्टाचार रूपी सर्प से जूझना चाहिये

अन्यथा यह सर्प सर्वोदय को भी निगल जायेगा। यह सब कुछ दलगत राजनीति से अलग रह कर भी हो सकता है। यदि सर्वोदय समाज यह कार्य नही कर सकता तो फिर राजनीति का शुद्धिकरण एवं आध्यात्मिकरण भी नही हो सकता।

सर्वोदय एक गतिशील दर्शन है। यह सब काल, देश, परिस्थितियों से सम्बन्धित हो सकता है। निश्चय ही इसका व्यापक क्षेत्र है। इसमें लौकिक, आध्यात्मिक, मानवतावादी सभी आयाम सन्निहित हैं। सर्वोदय में समग्रता का कोई भी आयाम नही छुट सकता।

सर्वोदय का अभ्युदय किसी वाद की प्रतिक्रियारूप में नहीं हुआ। यह किसी वाद की प्रतिक्रिया नही। जिन वादों का जन्म प्रतिक्रिया स्वरूप होता है वे न तो स्थाई होते हैं और न गतिशील। उनका कोई चिरंतन मूल्य नही होता। सर्वोदय "भारत का अपना शब्द है और भारत की अपनी वस्तु है; पर ऐसा शब्द और ऐसी वस्तु नही, जो दूसरे किसी देश या काल में लागू न हो सके। देश-काल-परिस्थिति के भेदानुसार उसकी बाह्य पद्धति में फर्क होता रहेगा। लेकिन उसका आंतरिक रूप शाश्वत रहेगा।"[34]

पाठ्य-ग्रन्थ

1. दादा धर्माधिकारी, — सर्वोदय-दर्शन
2. धवन, गोपीनाथ. — सर्वोदय तत्व-दर्शन
3. जयप्रकाश नारायण — समाजवाद से सर्वोदय की ओर
4. शंकरराव देव, — सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र
5. Suresh Ramabhai, — Vinoba and His Mission.

---

34. जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, विनोबा भावे द्वारा लिखित प्रस्तावना से, पृ. 4.

6. टिकेकर, इन्दु, क्रान्ति का समग्र दर्शन

7. वियोगी हरि, बनारसीदास
चतुर्वेदी, यशपाल जैन
आदि (सम्पादित) विनोबा : व्यक्तित्व और विचार

उपरोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त गांधीवाद (अध्याय 12) से सम्बन्धित लगभग सभी ग्रन्थ सर्वोदय विचारधारा को समझने के लिए आवश्यक एवं उपयोगी हैं।

O

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

इस पुस्तक की रचना में निम्नलिखित ग्रन्थों की सहायता की गई है जिनका उपयुक्त स्थलो पर सन्दर्भ रूप मे उल्लेख है :—

Altekar, A. S., State and Government in Ancient India, Banaras, 1949.

Andrews, C. F., Mahatma Gandhi's Ideas, George Allen & Unwin Ltd., London, 1949.

Albjerg and Albjerg ; Europe from 1914 to the Present, McGraw—Hill Book Co., New York, 1951.

Anjaria J. J., The Nature and Grounds of Political Obligations in the Hindu State, Longmans, Calcutta, 1935.

आशीर्वादम्, एडी; (अनुवाद) राजनीति-शास्त्र,द्वितीय भाग,दी अपर इंडिया पब्लिशिंग हाऊस लि., लखनऊ, 1959.

Attlee, C. R., As It Happened, Wilham Heineman Ltd. London, 1954.

Barker, Ernest; Political Thought in England, 1848 to 1914, Oxford University Press, London, 1963.

Barker, Ernest; Principles of Social and Political Theory, Oxford University Press, London, 1953.

Beer, M., A History of British Socialism, Vol II, George Allen & Unwin, London, 1953.

Bentwich, Norman; Israel, Ernest Benn Ltd. London, 1952.

Bombwall, K. R., and Choudhry L. P., Aspects of Democratic Government and Politics in India, Atma Ram & Sons, New Delhi, 1963.

Bosanquet, Bernard; The Philosophical Theory of the State, Macmillan & Co., London 1958.

Bose, N. K., Studies in Gandhism, Calcutta, 1947.

Burns, E. M., Ideas in Conflict, Methuen & Co. London, 1963.

Chagla, M. C., An Ambassador Speaks, Asia Publishing House, Bombay, 1962.

Charques, R. D., and Ewen, A. H., Profits and Politics in the Post War World an Economic Survey of Contemporary History, Victor Gollanc, London, 1934.

कोकर, फ्रान्सिस डब्ल्यू; आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, हिन्दी अनुवाद, रामनारायण यादवेन्दु एवं वृ. न. मेहता, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

Cole, G. D. H., The Simple Case for Socialism, Victor Gollancz Ltd., London, 1935.

Cole, G. D. H., A History of Socialist Thought, The Forerunners, 1789-1850, Macmillan & Co., London, 1955.

Cole, G. D. H., Vol. II, Socialist Thought, Marxism and Anarchism, Macmillan & Co., London, 1957.

Cole, G. D. H., Fabian Socialism, Allen & Unwin Ltd., London, 1943.

Cole, G. D. H., Guild Socialism, Allen & Unwin, London, 1920.

Cole, Margaret; The Story of Fabian Socialism, Murcury Books, London, 1963.

Cripps, Stafford; Why This Socialism, Victor ~ Ltd., London, 1934.

Crosland, C. A. R., The Future of Socialism, Macmillan & Co., New York, 1957.

Dawson, Christopher; Religion and Culture, Sheen & Ward, London, 1948.

दादा धर्माधिकारी; सर्वोदय दर्शन, सर्व सेवा संघ, काशी, 1957.

Delhi Diary, Prayer Speeches, from 10.9.47 to 30.1.48, Navjivan Publishing House, Ahmedabad, 1948.

Desai, A. R., Recent Trends in Indian Nationalism, Popular Book Depot, Bombay, 1960.

Deutscher, Isaac; China and the West, Oxford University Press, London, 1970.

Dhawan, Gopinath; The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, Navjivan Publishing House, Ahmedabad. 1957.

Dickinson, Lowes; Justice and Liberty, J.M. Dent & Sons, London; 1919.

Djilas, Milovan; The New Class, An Analysis of the Communist System, Thames and Hudson, London, 1957. (Sixth edition 1958).

Donnelly, Desmond; Struggle for the World, Collins, London, 1965.

Dunning, W. A., A History of Political Theories: From Rousseau to Spencer, Macmillan & Company, New York, 1948.

Ebenstein, William; Today's Isms, Prentice-Hall, Inc., New York, 1954.

Ebenstein, William; Political Thought in Perspective, McGraw-Hill, New York, 1957.

Ehler L., Sydney, and Morrall, J. B., Church and State Through the Centuries, Burns and Oates, London, 1954.

Engels, Frederick; Socialism: Utopian and Scientific, George Allen and Unwin Ltd., London, Reprint 1950.

Fainsod, Merle; How Russia is Ruled, Harward University Press, Massachusetts, 1962.

Federico, Chaisod; Machiavelli and the Renaissance, Translated by David Moore, Bowes & Bowes, London, 1958.

Fischer, Louis; The Life of Mahatma Gandhi, Jonathan Cape, London, 1951.

गांधी, मोहनदास करमचन्द; सत्य के प्रयोग अथवा आत्म-कथा, अनुवादक महावीर प्रसाद पोद्दार, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, 1951.

गेटिल, गारफील्ड रेमंड; राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, अनुवादक सत्यनारायण दुबे, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1970.

Ghosal, U. N., History of Indian Political Ideas, Oxford University Press, 1959.

Gray, Alexander; The socialist Tradition, Moses to Lenin Longmans, Green and Co., London, 1948.

Hallowell, John H., Main Currents in Modern Political Thought; Holt, Rainehart and Winston, New York, 1960.

Hitler, Adolf; Mein Kampf, (Two Volumes in one), B. C. Publishing House, New Delhi, 1968.

Hunt, R. N., Carew; The Theory and Practice of Communism—An Introduction, Geoffrey Bles, London, 1951.

Jay, Douglas; Socialism in the New Society, Longmans, London, 1962.

जयप्रकाश नारायण; समाजवाद से सर्वोदय की ओर, सर्व सेवा संघ, काशी, 1958.

जोड, सी. ई. एम; आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका, हिन्दी अनुवाद अम्बादत्त पंत, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, 1957.

Kabir, Humayun, The Indian Heritage, Asia Publishing House, Bombay, 1955.

Khrushchev Remembers, Translated by Strolse Talbott, With an Introduction, Commentary and Notes by Edward Cranckshaw, Andre Deutsch, London, 1971.

Kilzer, E., Ross, E. J., Western Social Thought, The Bruce Publishing Company, Milwaukee, U. S. A., 1954.

Kriplani, J. B., Gandhi, His Life and Thought, Government of India, 1970.

Kulkarni, V. B.. The Indian Triumvirate, Bhartiya Vidhya Bhawan, Bombay, 1969.

Labedz, Leopold (Ed.); Revisionism, Essays on the History of Marxist Ideas, George Allen & Unwin, London, 1963.

Labedz., Leopold, and Urban G. R. (Ed.); The Sino-Soviet Conflict, The Bodley Head, London, 1965.

Laidler, Harry W., History of Socialist Thought, New York, 1927.

Lanka Sundaram, A Secular State for India, Thoughts on India's Political Future, Raj Kamal Publications, Delhi, 1944.

Laski, H. J., Reflections on the Revolution of Our Time, George Allen & Unwin, London, 1946.

Laski, H. J., An Introduction to Politics, George Allen & Unwin, London, 1936.

Learner, Max; Ideas are Weapons, Viking, New York 1939.

Lenin, Y. I., What Is To Be Done (1902), Translated and edited by S. U. Ulechin and Patricia Wechin, Clevendon Press, Oxford, 1963.

Lowenthal, Richard; World Communism, The Disintegration of a Secular Faith, Oxford University Press, New York, 1964.

Luthera, V. P., The Concept of the Secular State and India, Oxford University Press, Calcutta, 1964.

Meclver, R. M., The Modern State, Oxford University Press, London, 1946.

McGovern, W M., From Luther to Hitler, George, G Harrap, London, 1941.

Marcuse, Herbest; Soviet Marxism—a Critical Analysis, Routledge & Kegan Paul, London, 1958.

Majumdar, B. B., (Ed.), Gandhian Concept of State, Bihar University, Patna, 1957.

Markandan, K. C., Directive Principles in the Indian Constitution, Allied Publishers, Bombay, 1966.

Markl, Peter H., Political Continuity and Change, Harper & Row, New York, 1967.

Maritain, Jacques, Man and the State, Hollis & Carter, London, 1954.

Mashruwala, K. G., Gandhi and Marx, Navjivan, Ahmedabad, 1954.

Mayo, Henry B., Introduction to Marxist Theory, Oxford University Press, New York, 1960.

Mohan Ram, Indian Communism; Split Within Split, Vikas Publication, Delhi, 1969.

Mujib, M., The Indian Muslims, George Allen & Unwin London, 1967.

Munro, Ion., Through Fascism to World Power, A History of the Revolution in Italy, Alexander Maclehose & Co; London, 1933.

Munro, William and Ayearst, Morley, The Governments of Macmillan & Co., New York, 1957.

Paloczi—Horvath, George; Khruschev: The Road to Power, Secker and Watburg, London. 1960.

Panikkar, K. M., The State and the Citizen, Asia Publishing House, Bombay, 1956.

Pelling, Henry (Ed.), The Challenge of Socialism, Adam and Charles Black, London, 1954.

Pfeffer, Leo; Church, State and Freedom, Beacon Press, Boston, 1953.

Pyarelal, Mahatma Gandhi, The Last Phase, Vol. I & II, Navjivan Publishing House, Ahmedabnd, 1956.

Radhakrishnan, S., (Ed.), Mahatma Gandhi: 100 Years, Gandhi Peace Foundation, New Delhi, 1968.

Ramsay MacDonald J., Socialism: Critical and Constructive, Cassell and Co. Ltd., London, 1929.

Sabine, G. H., A History of Political Theory, George G. Harrap & Co., London, 1957.

Sartori, Giovanni, Democratic Theory, Oxford & I B I Publishing Co., New Delhi, 1965.

Schapiro, Leonard, The Communist Party of the Soviet Union, Eyre and Spottiswoode, London, 1960.

Sharma, S. R., The Religious Policy of the Moghul Emperors, Oxford University Press, Culcutta, 1940.

शंकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, सर्व सेवा संघ. काशी 1956.

Smith, Donald E., India as a Secular State, Princeton, New Jersey, 1963.

Stankiewicz, W. J. (Ed.), Political Thought since World War II, Macmillan Company, London, 1964.

Stroke, A. P., Church and the State in the United State, Vol. III, Harpar, New York, 1950.

Suresh Ramabhai, Vinoba and His Mission, Sarv Seva Sangh, Sevagram Wardha, 1954.

Tandulkar, D. G., Mahatma, Life of Mohandas Karam Chand Gandhi, Jhaveri—Tandulkar, Bombay-6, 1952.

Taylor, A. J. P., Introduction to the Manifesto of the Communist Party, Penguin Book Co Middlesex 1970.

टिकेकर, इन्दु, क्रान्ति का समग्र दर्शन, सर्व सेवा संघ, वाराणसी, 1972.

Tyabji, Badr-ud-din, The Self In Secularism, Orient Longman, 1971.

विनोबा : व्यक्तित्व और विचार, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, 1971.

Walker, Richard L., China Under Communism, George Allen & Unwin, London, 1956.

Wanlass, Lawrence C., Gettell's History of Political Thought, George Allen & Unwin, London, 1953.

Watkins, Frederick M., The Age of Ideology, Political Thought, 1750 to the Present, Prentice-Hall of India, New Delhi, 1965.